बौद्धभारतीग्रन्थमाला–१२ (ख)
Bauddha Bharati Series–12 (B)

बुद्धघोसाचरियविरचितो

विसुद्धिमग्गो

[हिन्दीअनुवादसहितो]

(दुतियो भागो)

बौद्धभारती

प्रधानसम्पादक
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१२ (ख)
Bauddha Bharati Series-12 (B)

बुद्धघोसाचरियविरचितो

विसुद्धिमग्गो

[हिन्दीअनुवादसहितो]

(दुतियो भागो)

प्रधानसम्पादक
स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

Bauddha Bharati Series-12 (B)

The VISUDDHIMAGGA of SIRI BUDDHAGHOSĀCARIYA

With

Hindi Translation

(Vol. 2nd)

General Editer
Swāmi Dwārikādās Śāstrī

Translated in Hindi
By
Dr. Tapasyā Upādhyāya
Bauddha Darśana Ācarya, M. A., PH. D.

BAUDDHA BHARATI
VARANASI

B. 2546] **2002** [V. 2059

बौद्धभारतीग्रन्थमाला-१२ (ख)

आचार्यबुद्धघोषविरचित

विसुद्धिमग्ग

[हिन्दीअनुवादसहित]

[सप्तम परिच्छेद से त्रयोदश परिच्छेद तक]

(दूसरा भाग)

सम्पादक, संशोधक

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

हिन्दी-व्याख्याकार

डॉ० तपस्या उपाध्याय

बौद्धदर्शनाचार्य, एम० ए०, पीएच० डी०

बौद्धभारती

वाराणसी

बु० २५४६]　　२००२ ई०　　[वि०२०५९

पो० बॉ० नं० १०४९
वाराणसी-२२१००१. (भारत)
फोन :- (०५४२) २१००९४

P. B. No. 1049
VARANASI-221001 [India]
Ph. : (0542) 210094
E-mail : bauddhabhrti@satyam.net.in

सहायक सम्पादक :
धर्मकीर्त्ति शास्त्री
चन्द्रकीर्त्ति शास्त्री

अभिनव संस्करण : २००२

Unique Edition : 2002

Price Rs. 300/-

मुद्रक :
साधना प्रेस
काटन मिल कालोनी
वाराणसी-२२१ ००२

Printed By :
SADHANA PRESS
Cotton Mill Colony
VARANASI- 221 002

प्रकाशकीय

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः, सरितश्च महीतले।
प्रचरिष्यति लोकेऽस्मिन्, तावद्वै बौद्धभारती॥

विगत १९७७ ई० में, बौद्धभारती-ग्रन्थमाला के १२वें पुष्प के अन्तर्गत, आचार्य बुद्धघोषरचित **विसुद्धिमग्ग** (बौद्ध योगशास्त्र का मूर्धन्य ग्रन्थ) का मूल (पालि) पाठ ही प्रकाशित हुआ था।

यद्यपि विद्वानों ने इस ग्रन्थ का आशातीत समादर किया; परन्तु अध्येता छात्रों ने, साथ में हिन्दी अनुवाद न होने के कारण, इसको संगृहीत करने में कुछ उपेक्षा दिखायी। इतने अन्तराल के बाद, आज हम छात्रों की उत्कण्ठा के शमनहेतु ग्रन्थ के मूल पालि-पाठ के साथ उसका **हिन्दी रूपान्तर** भी प्रकाशित कर रहे हैं।

यह हिन्दी-रूपान्तर भगवत्कृपा से इतना सुव्यवस्थित लिखा गया है कि अब यह छात्रों के लिये ही ज्ञानवर्धक नहीं, अपितु विद्वानों के लिये भी अत्युपयोगी एवं सहायक हो गया।

यह हिन्दी-रूपान्तर विषयवस्तु का सम्यक्तया अवबोध कराने के लिये, कुछ अधिक विस्तृत हो गया है, अंतः अब इसे रूपान्तर (अनुवाद) मात्र न कहकर 'विस्तृत हिन्दी व्याख्या' कहा जाय तो भविष्णु व्याख्याकार के कठिन श्रम का उचित एवं उपयुक्त मूल्याङ्कन होगा।

इस हिन्दी व्याख्या की रचयित्री **डॉ० तपस्या उपाध्याय**, एम. ए., पीएच. डी., हिन्दी जगत् के लिये सुपरिचित ही हैं। आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि प्रो० कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' राजहंस (हरिश्चन्द्र कालेज, वाराणसी) की सुपुत्री एवं पालि साहित्य के जाने माने विद्वान् प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय (भू० पू० पालिविभागाध्यक्ष, सं. सं. वि. वि., वाराणसी) की पुत्रवधू हैं। यह बात हमें आश्वस्त करती है कि आप को हिन्दी, संस्कृत एवं पालि भाषाओं का साहित्यिक ज्ञान कुलक्रमागत एवं परम्पराप्राप्त है, अतः इनकी लेखनी पर विश्वास किया जा सकता है।

इन्होंने, यह व्याख्या लिखते समय, विसुद्धिमग्ग से सम्बद्ध यथोपलब्ध सभी सामग्रियों का—जो कि पालि हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में यत्र तत्र विकीर्ण थीं, यथाशक्ति गम्भीरतया अध्ययन कर उनका इस व्याख्या में यथास्थान आवश्यक उपयोग व समावेश किया है। यों, यह व्याख्या प्रामाणिकता की मर्यादा से ही स्पृष्ट नहीं, अपितु इससे भी आगे बहुत दूर तक अन्तःप्रविष्ट भी है—ऐसा हमारा विश्वास है। अतः हमारी मान्यता है कि यह व्याख्या लिखकर आपने अपने अध्ययन का सदुपयोग तो किया ही, साथ में पालि-जगत् का भी महान् उपकार किया है। अस्तु।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूर्ववत् विस्तृत भूमिका एवं हिन्दीसंक्षेप भी दे दिये गये हैं!

अन्ते च, आर्थिक सौकर्य को ध्यान में रखते हुए, हम इस बार इस विपुलकलेवर ग्रन्थ को हिन्दी व्याख्या के साथ क्रमशः तीन भागों में प्रकाशित कर रहे हैं। जिनमें पहला एवं दूसरा भाग आपके सम्मुख प्रस्तुत किया जा रहा है। अवशिष्ट तीसरा भाग यथासम्भव समय में उपलब्ध हो जायगा—ऐसी आशा है।

वाराणसी
वैशाखपूर्णिमा, २०५९ वि०

अध्यक्ष, बौद्धभारती

ग्रन्थ के इस भाग की

अन्तरङ्गकथा

७. छह अनुस्मृति-निर्देश

दस कसिण और दस अशुभ कर्मस्थान के बाद दस अनुस्मृतिकर्मस्थान उद्दिष्ट हैं। पुनः पुनः उत्पन्न होनेवाली स्मृति ही अनुस्मृति है। प्रवर्तन के योग्य स्थान में ही प्रवृत्त होने के कारण अनुरूप स्मृति को भी 'अनुस्मृति' कहते हैं। दस अनुस्मृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. बुद्धानुस्मृति—बुद्ध की अनुस्मृति। जो साधक यह अनुस्मृति प्राप्त करना चाहता है उसे प्रसादयुक्त चित्त से एकान्त में बैठकर "भगवान् अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध हैं, विद्याचरणसम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोकवित् हैं, शास्ता हैं"—इत्यादि प्रकार से भगवान बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये। इस प्रकार बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करते समय साधक का चित्त न रागपर्युत्थित होता है, न द्वेषपर्युत्थित होता है, न मोहपर्युत्थित होता है। तथागत को चित्त का आलम्बन करने से उसका चित्त ऋजु होता है, नीवरण विष्कम्भित होते हैं, और बुद्ध के गुणों का ही चिन्तन करनेवाले वितर्क और विचार उत्पन्न होते हैं। बुद्धगुणों के वितर्क-विचार से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से प्रश्रब्धि पैदा होती है, जो काय और चित्त को प्रशान्त करती है। प्रशान्त भाव से सुख और सुख से समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनुक्रम से एक क्षण में ध्यान के अङ्ग उत्पन्न होते हैं। बुद्धगुणों की गम्भीरता के कारण और नाना प्रकार के गुणों की स्मृति होने के कारण यह चित्त अर्पणा को प्राप्त नहीं होता, केवल उपचार समाधि ही प्राप्त होती है। यह समाधि बुद्धगुणों के अनुस्मरण से उत्पन्न है, इसलिये इसे 'बुद्धानुस्मृति' कहते हैं।

इस बुद्धानुस्मृति से अनुयुक्त साधक शास्ता में सगौरव होता है, प्रसन्न होता है, श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य की विपुलता को प्राप्त करता है, भय भैरव को सहन करता है। बुद्धानुस्मृति के कारण उसका शरीर भी चैत्यगृह के समान पूजार्ह होता है, उसका चित्त बुद्धभूमि में प्रतिष्ठित होता है। (१)

२. धर्मानुस्मृति—धर्मानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक साधक को विचार करना चाहिये— "भगवान् से धर्म स्वाख्यात है। यह धर्म सान्दृष्टिक, अकालिक, एहिपश्यिक, औपनेयिक और विज्ञों से प्रत्यक्ष जानने योग्य है।" इस प्रकार धर्म की स्मृति करने से वह धर्म में सगौरव होता है। अनुत्तर धर्म के अधिगम में उसका चित्त प्रवृत्त होता है। इसमें अर्पणा समाधि प्राप्त नहीं होती, केवल उपचार समाधि ही प्राप्त होती है। (२)

३. सङ्घानुस्मृति—सङ्घानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक साधक को विचार करना चाहिये— "भगवान् का श्रावक सङ्घ सुप्रतिपन्न है, ऋजुप्रतिपन्न, आर्यधर्मप्रतिपन्न एवं सम्यक्त्वप्रतिपन्न है। भगवान् का श्रावकसङ्घ स्रोतआपन्न आदि अष्ट पुद्गलों का बना हुआ है। वह दक्षिणेय है, अञ्जलि-करणीय है, और लोक के लिये अनुत्तर पुण्यक्षेत्र है।" इस प्रकार की सङ्घानुस्मृति से साधक सङ्घ में सगौरव होता है, अनुत्तर मार्ग की प्राप्ति में उसका चित्त दृढ होता है। यहाँ भी केवल उपचारसमाधि होती है। (३)

४. शीलानुस्मृति—शीलानुस्मृति में साधक एकान्त स्थान में अपने शीलों पर विचार करता है—"अहो! मेरे शील अखण्ड, अच्छिद्र, अशबल, अकिल्विष, स्वतन्त्र, विज्ञों से प्रशस्त, अपरामृष्ट और समाधिसांवर्तनिक हैं।" यदि साधक गृहस्थ हो तो गृहस्थ-शील का, प्रव्रजित हो तो प्रव्रजित-शील का स्मरण करना चाहिये। इस अनुस्मृति से साधक शिक्षा में सगौरव होता है। अणुमात्र दोष में

भी भय का दर्शन करता है, और अनुत्तर शील को प्राप्त करता है। इस अनुस्मृति में भी अर्पणा नहीं होती; उपचार-ध्यान मात्र होता है। (४)

५. **त्यागानुस्मृति**—त्यागानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक साधक को चाहिये कि वह इस स्मृति को करने के पहले कुछ न कुछ दान दे। ऐसा निश्चय भी करे कि बिना कुछ दान दिये मैं अन्नग्रहण न करूँगा। अपने दिये हुए दान को ही आलम्बन बनाकर वह सोचता है—"अहो! लाभ है मुझे, जो मत्सरमलों से युक्त प्रजा के बीच में भी विगतमत्सर हो विहार करता हूँ। मैं मुक्तत्याग, प्रयतपाणि, व्युत्सर्गरत, याचयोग (दानशील) और दान-संविभागरत हूँ।" इस विचार के कारण उसका चित्त प्रीतिबहुल होता है और उसे उपचारसमाधि प्राप्त होती है। (५)

६. **देवतानुस्मृति**—देवतानुस्मृति में साधक आर्यमार्ग में स्थिर रहकर चातुर्महाराजिक आदि देवों को साक्षी बनाकर अपने श्रद्धादि गुणों का तथा देवताओं के पुण्यसम्भार का ध्यान करता है। इस अनुस्मृति से साधक देवताओं का प्रिय होता है। इनमें भी वह उपचारसमाधि को प्राप्त करता है। (६)

८. अनुस्मृतिकर्मस्थाननिर्देश

७. **मरणानुस्मृति**—एकभवपर्यापन्न जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद को 'मरण' कहते हैं। अर्हतों का वर्तदुःख-समुच्छेद-मरण या संस्कारों का क्षणभङ्गमरण यहाँ अभिप्रेत नहीं है। जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद से जो मरण होता है वही यहाँ अभिप्रेत है। उसकी भावना करने का इच्छुक साधक एकान्त स्थान में जाकर 'मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा'—ऐसा विचार करता है। 'मरण, मरण' इस प्रकार बार बार चित्त में विचार करता है। मरणानुस्मृति में योग्य आलम्बन को चुनना चाहिये। इष्टजनों के मरणानुस्मरण से शोक होता है, अनिष्टजनों के मरणानुस्मरण से प्रामोद्य होता है, मध्यस्थ जनों के मरणानुस्मरण से संवेग नहीं होता। अपने ही मरण के विचार से सन्त्रास उत्पन्न होता है। इसलिये जिनकी पूर्व सम्पत्ति और वैभव को देखा हो, ऐसे सत्त्वों के मरण का विचार करना चाहिये, जिससे स्मृति, संवेग और ज्ञान उपस्थित होता है। इस चिन्तन से उपचार समाधि की प्राप्ति होती है। मरणानुस्मृति में उपयुक्त साधक सतत अप्रमत्त रहता है, सर्व भवों से अनभिरति संज्ञा को प्राप्त करता है, जीवित की तृष्णा को छोड़ता है और निर्वाण को प्राप्त करता है। (७)

८. **कायगतानुस्मृति**—यह अनुस्मृति बहुत महत्त्व की है। श्रीबुद्धघोष के अनुसार यह केवल बुद्धों से ही प्रवर्तित और सर्वतीर्थिकों की अविषयभूत है। भगवान् ने **अङ्गुत्तरनिकाय** में कहा है—"भिक्षुओ! यदि एकधर्म भावित, बहुलीकृत है तो महान् संवेग को प्राप्त कराता है, महान अर्थ को, योगक्षेम को, स्मृतिसम्प्रजन्य को, ज्ञानदर्शनप्रतिलाभ को, दृष्टधर्मसुखविहार को, विद्या-विमुक्ति-फल-साक्षात्करण को प्राप्त कराता है। कौन है वह एक धर्म? कायगतास्मृति ही वह धर्म है। जो कायगता स्मृति को प्राप्त करता है वह अमृत को प्राप्त करता है।"

कायगता स्मृति को प्राप्त करने का इच्छुक साधक इस शरीर को पादतल से केश-मस्तक तक और त्वचा से अस्थियों तक देखता है। इस शरीर में केश, लोम, नख, दन्त, त्वचा, मांस, न्हारु, अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्क, हृदय आदि बत्तीस कर्मस्थानों को देखकर अशुचि-भावना प्राप्त करता है। ये कर्मस्थान आचार्य के पास ग्रहण कर इन (बत्तीस कर्मस्थानों) का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से बार बार मन वचन से स्वाध्याय करता है। फिर उन कर्मस्थानों के वर्णसंस्थान, परिच्छेद आदि का चिन्तन करता है। इन कर्मस्थानों को अनुपूर्व से, नातिशीघ्र और नातिमन्द गति से, अविक्षिप्तचित्त से चिन्तन करता है।

इस प्रकार इन बत्तीस कर्मस्थानों में से एक एक कर्मस्थान में वह अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। कायकता स्मृति के पूर्व की सात अनुस्मृतियों में अर्पणा प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वहाँ आलम्बन गम्भीर है और अनेक है। यहाँ पर योगी सतत अभ्यास से एक एक कोट्ठास को लेकर प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है। इस कायगता स्मृति में अनुयुक्त साधक अरति-रति-सह होता है। उत्पन्न रति और अरति को अभिभूत करता है; भयभैरव को सहन करता है, शीतोष्ण को सहन करता है, चार ध्यानों को प्राप्त करता है और षडभिज्ञ भी होता है। (८)

९. आनापानस्मृति—स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है उसे 'आनापानस्मृति' कहते हैं। यह शान्त, प्रणीत, अव्यवकीर्ण, ओजस्वी और सुखविहार है।

चित्त के एकाग्र करने के लिये **पातञ्जल योगदर्शन** में कई उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। योग के ये विविध साधन 'परिकर्म' कहलाते हैं। **विसुद्धिमग्ग** में इन्हें **कर्मस्थान** कहा है। ये विविध प्रकार के चित्तसंस्कार हैं, जिनसे चित्त एकाग्र होता है। योगशास्त्र का रेचनपूर्वक कुंभक इसी प्रकार का एक साधन है। इसका उल्लेख **समाधिपाद** के **चौबीसवें** सूत्र में किया गया है—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'। योगशास्त्रोक्त प्रयत्नविशेष द्वारा आभ्यतर वायु को बाहर निकालना ही प्रच्छर्दन या रेचन कहलाता है। रेचित वायु का बहि:स्थापन कर प्राणरोध करना ही विधारण या कुम्भक है। इस क्रिया में आन्तर वायु को बाहर निकालकर फिर श्वास का ग्रहण नहीं होता। इससे शरीर हल्का और चित्त एकाग्र होता है। यह एक प्रकार का प्राणायाम है। प्राणायाम के प्रसङ्ग में इसे **बाह्यवृत्तिक** प्राणायाम कहा है। योग-दर्शन में चार प्रकार का प्राणायाम वर्णित है—१. बाह्यवृत्तिक, २. आभ्यन्तरवृत्तिक, ३. स्तम्भवृत्तिक और ४. बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी[१]। 'प्राणायाम' का अर्थ है—श्वास प्रश्वास का अभाव अर्थात् श्वासरोध। बाह्यवृत्तिक रेचकपूर्वक कुम्भक है। आभ्यन्तरवृत्तिक पूरकपूर्वक कुम्भक है। इस प्राणायाम में बाह्य वायु को नासिकापुट से भीतर खींचकर फिर श्वास का परित्याग नहीं किया जाता। स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम केवल कुम्भक है। इसमें रेचक या पूरक की क्रिया के विना ही सकृत्प्रयत्न द्वारा वायु की बहिर्गति और आभ्यन्तरगति का एक साथ अभाव होता है। चौथा प्राणायाम एक प्रकार का स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम है। भेद इतना ही है कि स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम सकृत्प्रयत्न द्वारा साध्य है, किन्तु चौथा प्राणायाम बहुप्रयत्न साध्य है। अभ्यास करते करते अनुक्रम से चतुर्थ प्राणायाम सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। तृतीय प्राणायाम में पूरक और रेचक के देशादि विषय की आलोचना नहीं की जाती। केवल देश, काल और संख्यापरिदर्शनपूर्वक स्तम्भवृत्तिक की आलोचना होती है। किन्तु चतुर्थ प्राणायाम में पहले देशादिपरिदर्शनपूर्वक बाह्य वृत्ति और आभ्यन्तर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। चिरकाल के अभ्यास से जब ये दोनों वृत्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती हैं, तब साधक इनका अतिक्रम कर श्वास का रोध करता है। यह चतुर्थ प्राणायाम है। तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का अतिक्रम होता है, अन्तर इतना ही है कि तृतीय प्राणायाम में यह अतिक्रम एक बार में ही हो जाता है; किन्तु चतुर्थ प्राणायाम में चिरकालीन अभ्यासवश ही अनुक्रम से यह अतिक्रम सिद्ध होता है। बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियों का अभ्यास करते करते पूरण और रेचन का प्रयत्न इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह विधारण में मिल जाता है।

'प्राणायाम' योग का एक उत्कृष्ट साधन है। बौद्धसाहित्य में इसे **आनापानस्मृतिकर्मस्थान**

---

१. देखिए—पा० यो० सू०, साधनपाद, ५०-५१ सूत्र।

कहा है। 'आन' का अर्थ है 'सांस लेना' और 'अपान' का अर्थ है 'सांस छोड़ना'। इन्हें आश्वास-प्रश्वास भी कहते हैं। स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया जो साधक द्वारा समाधि में निष्पन्न की जाती है, वह आनापन-स्मृति-समाधि कहलाती है। भगवान् बुद्ध ने इस समाधि की भावना करने को विधि १६ प्रकार से निर्दिष्ट की है। बुद्ध शासन में इस समाधि की विधि का ग्रहण सर्वप्रकार से किया गया है।

यह एक प्रकृष्ट कर्मस्थान समझा जाता है। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि ४० कर्मस्थानों में इसका शीर्षस्थान है और इसी कर्मस्थान की भावना कर सब बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध एवं बुद्धश्रावकों ने विशेष फल प्राप्त किया है। नाना प्रकार के वितर्कों के उपशम के लिये भगवान् ने इस कर्मस्थान को विशेष रूप से उपयुक्त बताया है। दस अशुभ कर्मस्थानों के आलम्बनों (मृत शरीर के भिन्न भिन्न प्रकारों की भावना) की तरह इसका आलम्बन बीभत्स और जुगुप्सा भाव उत्पन्न करने वाला नहीं है। यह कर्मस्थान किसी दृष्टि से भी अशान्त और अप्रणीत नहीं है। अन्य कर्मस्थानों में शान्तभाव उत्पादित करने के लिये पृथ्वी-मण्डलादि बनाना पड़ता है और भावना द्वारा निमित्त का उत्पादन करना पड़ता है। पर इस कर्मस्थान में किसी विशेष क्रिया की आवश्यकता नहीं है। अन्य कर्मस्थानों में उपचार-क्षण में विघ्नों के विष्कम्भन और अङ्गों के प्रादुर्भाव के कारण ही शान्ति होती है। परन्तु यह समाधि स्वभाववश आरम्भ से ही शान्त और प्रणीत है। इसलिये यह असाधारण है। जब जब इस समाधि की भावना होती है तब तब चैतसिक सुख प्राप्त होता है और ध्यान से उठने के समय प्रणीत रूप से शरीर व्याप्त हो जाता है और इस प्रकार कायिक सुख का भी लाभ होता है। इस असाधारण समाधि की बार बार भावना करने से उदय होने के साथ ही पाप क्षणमात्र में सम्यक् रूप से विलीन होते हैं। जिनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है और जो उत्तरज्ञान की प्राप्ति चाहते हैं उनके लिये यह कर्मस्थान विशेष रूप से उपयोगी है; क्योंकि यह समाधि आर्यमार्ग की भी साधिका है। क्रमपूर्वक इसकी वृद्धि करने से आर्यमार्ग की प्राप्ति होती है और क्लेशों का सातिशय विनाश होता है। किन्तु इस कर्मस्थान की भावना सुगम नहीं है। क्षुद्र जीव इसकी भावना करने में समर्थ नहीं होते। यह कर्मस्थान बुद्धादि महापुरुषों द्वारा ही आसेवित होता है। यह स्वभाव से ही शान्त और सूक्ष्म है। भावना बल से उत्तरोत्तर अधिकाधिक शान्त और सूक्ष्म होता जाता है। यहाँ तक कि यह दुर्लक्ष्य हो जाता है। इसीलिये इस कर्मस्थान में बलवती और सुविशदा स्मृति और प्रज्ञा की आवश्यकता है। सूक्ष्म अर्थ का साधन भी सूक्ष्म ही होता है। इसीलिये भगवान् **संयुत्तनिकाय** में कहते हैं—"जिसकी आनापानस्मृति की शिक्षा हो गयी है और जो सम्प्रजन्य से रहित है, उसके लिये स्मृति विनष्ट नहीं है। अन्य कर्मस्थान भावना से विभूत हो जाते हैं, पर यह कर्मस्थान स्मृतिसम्प्रजन्य के विना सुगृहीत नहीं होता।"

जो साधक इस समाधि की भावना करना चाहता है उसे एकान्तसेवन चाहिये। शब्द ध्यान में कण्टक (विघ्न) होता है। वहाँ दिन रात रूपादि इन्द्रिय-विषयों की ओर भिक्षु का चित्त प्रधावित होता रहता है और इसीलिये इस समाधि में चित्त आरोहण करना नहीं चाहता। अत: जनसमाकुल स्थान में भावना करना दुष्कर है। उसे अपने चित्त का दमन करने के लिये विषयों से दूर किसी निर्जन स्थान में रहना चाहिये। वहाँ पर्यङ्कबद्ध होकर सुखपूर्वक आसन पर बैठना चाहिये और शरीर के ऊपरी भाग को सीधा रखना चाहिये। इससे चित्त लीन और उद्धत भाव का परित्याग करता है। इस तरह आसन स्थिर होता है और सुखपूर्वक आश्वास प्रश्वास का प्रवर्तन होता है। इस आसन में बैठने से चर्म, मांस और स्नायु नहीं नमते तथा जो वेदना इनके नमन से क्षण क्षण पर उत्पन्न होती है, वह नहीं होती। इसलिये

चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है। और कर्मस्थान वीथि का उल्लङ्घन न कर वृद्धि को प्राप्त होता है।

पर्यङ्क आसन में बायीं जाँघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघ पर बायाँ पैर रखना होता है। यह **पद्मासन** का लक्षण है। प्राय: सार्धक इसी आसन का अनुष्ठान करते हैं।

साधक पर्यङ्कबद्ध हो आसन की स्थिरता को प्राप्त कर विरोधी आलम्बनों का चित्तद्वार से निवारण करता है। और इसी कर्मस्थान को अपने सम्मुख रखता है। वह स्मृति का कभी सम्प्रमोष नहीं होने देता। वह स्मृतिपरायण हो श्वास छोड़ता और श्वास लेता है। आश्वास या प्रश्वास की एक भी प्रवृत्ति स्मृतिरहित नहीं होती, अर्थात् यह समस्त क्रिया उसके ज्ञान की परिधि में होती है। जब वह दीर्घ श्वास छोड़ता है या दीर्घ श्वास लेता है तब वह अच्छी तरह जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ रहा हूँ या दीर्घ श्वास ले रहा हूँ। स्मृति आलम्बन के समीप सदा उपस्थित रहती है तथा प्रत्येक क्रिया की प्रत्यवेक्षा करती है।

विसुद्धिमग्ग में अधोलिखित १६ प्रकार से आश्वास प्रश्वास की क्रियाओं के करने का विधान है :—

१. यदि वह दीर्घ श्वास छोड़ता है तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ, यदि वह दीर्घ श्वास लेता है तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ।

२. यदि वह ह्रस्व श्वास छोड़ता या ह्रस्व श्वास लेता है तो जानता है कि मैं ह्रस्व श्वास छोड़ता या ह्रस्व श्वास लेता हूँ।

आश्वास प्रश्वास की दीर्घता ह्रस्वता कालनिमित्त मानी जाती है। कुछ लोग धीरे धीरे श्वास लेते हैं और धीरे धीरे ही श्वास छोड़ते हैं, इनका आश्वास प्रश्वास दीर्घकालव्यापी होता है। कुछ लोग शीघ्रता से श्वास लेते हैं और शीघ्रता से श्वास छोड़ते हैं। इनका आश्वास प्रश्वास अल्पकालव्यापी होता है। यह विभिन्नता शरीर-स्वभाववश देखी जाती है।

साधक ९ प्रकार से आश्वास प्रश्वास की क्रिया को ज्ञानपूर्वक करता है। इस प्रकार भावना की निरन्तर प्रवृत्ति होती रहती है। १. जब वह धीरे धीरे श्वास छोड़ता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ। २. जब वह धीरे धीरे श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ। और ३. जब धीरे धीरे आश्वास प्रश्वास दोनों क्रियाओं को करता है, तो जानता है कि मैं आश्वास प्रश्वास दोनों क्रियाओं को दीर्घकाल में करता हूँ। यह तीन प्रकार केवल कालनिमित्त हैं। इनमें पूर्व की अपेक्षा विशेष प्राप्त करने की कोई चेष्टा नहीं पायी जाती। ४. भावना करते करते साधक को यह शुभ इच्छा (छन्द) उत्पन्न होती है कि मैं इस भावना में विशेष निपुणता प्राप्त करूँ। इस प्रवृत्ति से प्रेरित हो वह विशेष रूप से भावना करता है और कर्मस्थान की वृद्धि करता है। ५. भावना के बल से भय और परिताप दूर हो जाते हैं और शरीर के आश्वास प्रश्वास पहले की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। इस प्रकार इस शुभ इच्छा के कारण वह पहले से अधिक सूक्ष्म आश्वास, अधिक सूक्ष्म प्रश्वास और अधिक सूक्ष्म आश्वास प्रश्वास की क्रियाओं को दीर्घकाल में करता है। ६. आश्वास-प्रश्वास के सूक्ष्मतर भाव के कारण आलम्बन के अधिक शान्त होने से तथा कर्मस्थान की वीथि में प्रतिपत्ति होने से भावनाचित्त के साथ 'प्रामोद्य' अर्थात् तरुण प्रीति उत्पन्न होती है। ७. प्रामोद्यवश वह और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में लेता है और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में छोड़ता है तथा और भी सूक्ष्म आश्वास प्रश्वास अत्यन्त सूक्ष्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं। ८. तब चित्त उत्पन्न प्रतिभागनिमित्त की ओर ध्यान देता है। और इसलिये वह प्राकृतिक दीर्घ आश्वास प्रश्वास से विमुख हो जाता है। ९. प्रतिभागनिमित्त के उत्पाद से समाधि की

उत्पत्ति होती है और इस प्रकार ध्यान के निष्पन्न होने से व्यापार का अभाव होता है और उपेक्षा उत्पन्न होती है।

इन ९ प्रकारों से दीर्घ श्वास लेता हुआ या दीर्घ श्वास छोड़ता हुआ या दोनों क्रियाओं को करता हुआ साधक ज़ानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ या दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ या दोनों क्रियाओं को करता हूँ। ऐसा साधक इनमें से किसी एक प्रकार से कायानुपश्यना नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है। ९ प्रकार से जो आश्वास प्रश्वास होते हैं, उनको 'काय' कहते हैं। यहाँ 'काय' समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आश्वास प्रश्वास का आश्रयभूत शरीर भी 'काय' कहलाता है और यहाँ वह भी संगृहीत है। 'अनुपश्यना' ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान शमथवश निमित्तज्ञान है और विपश्यनावश नाम रूप की व्यवस्था के अनन्तर कायविषयक यथाभूत ज्ञान है। इसलिये 'कायानुपश्यना' वह ज्ञान है जिसके द्वारा काय के यथाभूत स्वभाव की प्रतीति होती है। जिसके द्वारा श्वास प्रश्वास आदि शरीर की समस्त आभ्यन्तरिक और बाह्य क्रियाएँ ज्ञान और स्मृतिपूर्वक होती हैं। जिसके द्वारा शरीर का अनित्यभाव, अनात्मभाव दु:खभाव और अशुचिभाव जाना जाता है। इस ज्ञान के द्वारा यह विदित होता है कि समस्त 'काय'—पैर के तलुवे से ऊपर और केशाग्र से नीचे—केवल नाना प्रकार के मलों से परिपूर्ण है। इस काय के केश, लोम आदि ३२ आकार अपवित्र और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले हैं। वह इस काय को रचना के अनुसार करता है कि इस काय में पृथ्वी धातु है, तेजो धातु है, जलधातु है। वह काय में अहम्भाव और ममत्व नहीं देखता तथा काय को कायमात्र ही समझता है।

इसी प्रकार जब वह जल्दी जल्दी श्वास छोड़ता है या लेता है, तब जानता है कि—मैं अल्पकाल में श्वास छोड़ता या लेता हूँ। इस ह्रस्व आश्वास प्रश्वास की क्रिया भी दीर्घ आश्वास-प्रश्वास की क्रिया के समान ही ९ प्रकार से की जाती है। यहाँ तक पूर्ववत् साधक कायानुपश्यना नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है।

३. साधक सकल आश्वासकाय के आदि, मध्य और अवसान—इन सभी भागों का अवरोध कर अर्थात् उन्हें विशद और विभूत कर श्वासपरित्याग करने का अभ्यास करता है। इसी तरह सकल प्रश्वासकाय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागों का अवरोध कर श्वास ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उसके आश्वास प्रश्वास का प्रवर्तन ज्ञानयुक्त चित्त से होता है। किसी को केवल आदि स्थान, किसी को केवल मध्य, किसी को केवल अवसान स्थान और किसी को तीनों स्थान विभूत होते हैं। साधक को स्मृति और ज्ञान को प्रतिष्ठित कर तीनों स्थानों में ज्ञानयुक्त चित्त को प्रेरित करना चाहिये। इस प्रकार आनापान स्मृति की भावना करता हुआ साधक स्मृतिपूर्वक भावनाचित्त के साथ उच्चकोटि के शील, समाधि और प्रज्ञा का आसेवन करता है।

पहले दो प्रकार के आश्वास प्रश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता; किन्तु इनके आगे ज्ञानोत्पादनादि के लिये सातिशय उद्योग करना होता है।

४. साधक स्थूल **कायसंस्कार** का उपशम करते हुए श्वास छोड़ने और श्वास ग्रहण करने का अभ्यास करता है।

कर्मस्थान का आरम्भ करने के पूर्व शरीर और चित्त—दोनों क्लेशयुक्त होते हैं। उनका गुरुभाव होता है। शरीर और चित्त की गुरुता के कारण आश्वास-प्रश्वास प्रबल और स्थूल होते हैं; नाक के नथुने भी उनके वेग को नहीं रोक सकते। और साधक को मुँह से भी साँस लेना पड़ता है। किन्तु जब साधक पृष्ठवंश को सीधा कर पर्यङ्क आसन से बैठता है और स्मृति को सम्मुख उपस्थापित करता है तब उसके शरीर और चित्त का परिग्रह होता है। इससे बाह्य विक्षेप का उपशम होता है, चित्त एकाग्र होता है और

कर्मस्थान में चित्त की प्रवृत्ति होती है। चित्त के शान्त होने से चित्तसमुत्थित रूपधर्म लघु और मृदुभाव को प्राप्त होते हैं। आश्वास प्रश्वास का भी स्वभाव शान्त हो जाता है और वे शनैः शनैः इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि यह जानना भी कठिन हो जाता है कि वास्तव में उनका अस्तित्व है भी या नहीं।

यह कायसंस्कार क्रमपूर्वक स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम हो जाता है। यहाँ तक कि चतुर्थ ध्यान के क्षण में यह परम सूक्ष्मता की कोटि को प्राप्त हो दुर्लक्ष्य हो जाता है। जो कायसंस्कार कर्मस्थान के आरम्भ करने के पूर्व प्रवृत्त था, वह चित्तपरिग्रह के समय शान्त हो जाता है। जो कायसंस्कार चित्तपरिग्रह के पूर्व प्रवृत्त था, वह प्रथम ध्यान के उपचारक्षण में शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व कायसंस्कार उत्तरोत्तर कायसंस्कार द्वारा शान्त हो जाता है। कायसंस्कार के शान्त होने से शरीर का कम्पन, चलन, स्पन्दन और नमन भी शान्त हो जाता है।

आनापानस्मृतिभावना के ये चार प्रकार प्रारम्भिक अवस्था के साधक के लिये बताये गये हैं। इन चार प्रकारों से भावना कर जो साधक ध्यानों का उत्पाद करता है, वह यदि विपश्यना द्वारा अर्हत् पद पाने का अभिलाष रखता है तो उसे शील को विशुद्ध कर आचार्य के समीप कर्मस्थान को पाँच आकारों से ग्रहण करना चाहिये। यह पाँच आकार कर्मस्थान के सन्धि (=पर्व, भाग) कहलाते हैं। ये इस प्रकार हैं :

उद्ग्रह, परिपृच्छा, उपस्थान, अर्पणा और लक्षण। १. कर्मस्थान ग्रन्थ का स्वाध्याय 'उद्ग्रह' कहलाता है। २. कर्मस्थान के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिये प्रश्न पूछना 'परिपृच्छा' है। ३. भावनानुयोगवश निमित्त के उपधारण को 'उपस्थान' कहते हैं। ४. चित्त को एकाग्र कर भावना-बल से ध्यानों का प्रतिलाभ 'अर्पणा' और ५. कर्मस्थान के स्वभाव का उपधारण 'लक्षण' कहलाता है। साधक दीर्घकाल तक स्वाध्याय करता है, उपर्युक्त आवास में निवास करते हुए आनापानस्मृतिकर्मस्थान की ओर चित्तावर्जन करता है और आश्वास प्रश्वास पर चित्त को स्थिर करता है।

कर्मस्थान-अभ्यास की विधि इस प्रकार है—

गणना—साधक पहले आश्वास प्रश्वास की गणना द्वारा चित्त को स्थिर करता है। एक बार में एक से आरम्भ कर कम से कम पाँच तक और अधिक से अधिक दस तक सङ्ख्या गिननी चाहिये। गणनाविधि को खण्डित भी नहीं करना चाहिये। अर्थात् एक, तीन, पाँच इस प्रकार बीच बीच में छोड़ते हुए सङ्ख्या नहीं गिननी चाहिये। पाँच से नीचे रुकने पर चित्त का स्पन्दन होता है और दस से अधिक सङ्ख्या गिनने पर चित्त कर्मस्थान का आश्रय छोड़ गणना का आश्रय लेता है। गणनाविधि का खण्डन होने से चित्त में कम्पन होता है और कर्मस्थान की सिद्धि के विषय में चित्त संशयान्वित हो जाता है। इसलिये इन दोषों का परित्याग करते हुए गणना करनी चाहिये। पहले धीरे धीरे गणना करनी चाहिये। जिस प्रकार धान का तौलने वाला गणना करता है उसी प्रकार धीरे धीरे पहले गणना करनी चाहिये। धान का तौलने वाला तराजू के एक पलड़े में धान भरता है और उसे तौलकर 'एक' कहकर जमीन पर उँड़ेल देता है। फिर पलड़े में धान भरता है और जब तक दूसरी बार नहीं उँड़ेलता, तब तक बराबर 'एक' 'एक' कहता जाता है। आश्वास प्रश्वासों में जो विशद और विभूत होता है उसी का ग्रहण कर गणना आरम्भ होती है और जब तक दूसरा विशद और विभूत नहीं होता, तब तक निरन्तर आश्वास-प्रश्वास की ओर 'एक' 'एक' कहता रहता है, दृष्टि रखते हुए दस तक गणना की जाती है। तदनन्तर फिर से उस प्रकार गणना आरम्भ होती है। इस प्रकार गणना करने से जब आश्वास प्रश्वास विशद और विभूत हो जाय तब शीघ्रता से गणना करनी चाहिये। पूर्व प्रकार की गणना से आश्वास प्रश्वास विशद हो

जल्दी जल्दी बार बार निष्क्रमण और प्रवेश करते हैं। ऐसा जानकर योगी आभ्यन्तर और बाह्य प्रदेश में आश्वास-प्रश्वास का ग्रहण नहीं करता। वह द्वार पर (नासिका-पुट ही निष्क्रमण-द्वार और प्रवेश-द्वार है) ही आते जाते उनका ग्रहण करता है। और 'एक-दो-तीन-चार-पाँच' 'एक-दो-तीन-चार-पाँच-छह......' इस प्रकार एक बार में दस तक जल्दी जल्दी गिनता है। इस प्रकार जल्दी जल्दी गणना करने से आश्वास प्रश्वास का निरन्तर प्रवर्तन उपस्थित होता है। आश्वास प्रश्वास की निरन्तर प्रवृत्ति जानकर आभ्यन्तरगत और बहिर्गत बात का ग्रहण न कर जल्दी जल्दी गणना करनी चाहिये; क्योंकि आभ्यन्तरगत वात की गति की ओर ध्यान देने से चित्त उस स्थान पर वात से आहत मालूम पड़ता है, और बहिर्गत वात की गति का अन्वेषण करते समय नाना प्रकार के बाह्य आलम्बनों की ओर चित्त विधावित होता है। इस प्रकार विक्षेप उपस्थित होता है। इसलिये स्पृष्ट स्पृष्ट स्थान पर ही स्मृति उपस्थापित कर भावना करने से भावना की सिद्धि होती है। जब तक गणना के विना ही चित्त आश्वास प्रश्वास रूपी आलम्बन में स्थिर न हो जाय, तब तक गणना की क्रिया करनी चाहिये। बाह्य वितर्क का उच्छेद कर आश्वास प्रश्वास में चित्त की प्रतिष्ठा करने के लिये ही गणना की क्रिया की जाती है।

अनुबन्धना—जब गणना का कार्य निष्पन्न हो जाता है तब गणना का परित्याग कर **अनुबन्धना** की क्रिया का आरम्भ होता है। इस क्रिया के द्वारा बिना गणना के ही चित्त आश्वास-प्रश्वासरूपी आलम्बन में आबद्ध हो जाता है। गणना का परित्याग कर स्मृति आश्वास प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है। इस क्रिया को **अनुबन्धनास्पर्श** कहते हैं। (**अभिधर्मकोश** में इसे '**अनुगम**' कहा है।) आदि, मध्य; और अवसान का अनुगमन करने से अनुबन्धना नहीं होती। आश्वासवायु की उत्पत्ति पहले नाभि में होती है, हृदय मध्य है और नासिकाग्र पर्यवसान है। इनका अनुगमन करने से चित्त असमाहित होता है और काम तथा चित्त का कम्पन और स्पन्दन होता है। इसलिये अनुबन्धना की क्रिया करते समय आदि, मध्य और अवसान-क्रम से कर्मस्थान का चिन्तन नहीं करना चाहिये।

स्पर्श या स्थापना—जिस प्रकार गणना और अनुबन्धना द्वारा अनुक्रम से पृथक्-पृथक् कर्मस्थान की भावना की जाती है उस प्रकार केवल स्पर्श या स्थापना द्वारा पृथक् रूप से भावना नहीं होती। गणना कर्मस्थानभावना का मूल है, **अनुबन्धना** स्थापना का मूल है; क्योंकि अनुबन्धना के विना स्थापना (=अर्पणा) असम्भव है।

इसलिये इन दोनों (गणना और अनुबन्धना) का प्रधान रूप से ग्रहण किया गया है। स्पर्श और स्थापना की प्रधानता नहीं है। स्पर्श गणना का अङ्ग है। स्पर्श का अर्थ है 'स्पृष्ट स्थान'। (**अभिधर्म-कोश** में इसे '**स्थान**' कहा है।) स्पर्श-स्थान नासिकाग्र है। स्पर्श-स्थान के समीप स्मृति को उपस्थापितकर गणना का कार्य करना चाहिये। इस प्रकार गणना और स्पर्श द्वारा एक साथ अभ्यास किया जाता है। जब गणना का परित्याग कर स्मृति स्पर्श-स्थान में ही आश्वास प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है और अनुबन्धना के निरन्तर अभ्यास से अर्पणा-समाधि के लिये चित्त एकाग्र होता है तब अनुबन्धना, स्पर्श और स्थापना—तीनों द्वारा एक साथ कर्मस्थान का चिन्तन होता है। इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिये हम यहाँ **अट्ठकथा** में वर्णित **पङ्गुल** और **द्वारपाल** की उपमा का उल्लेख करेंगे।

जिस प्रकार कोई पङ्गुल खम्भे के पास बैठकर जिस समय बच्चों को झूला झुलाता है, उस समय झूले के पटरे का अग्रभाग (आते समय), पृष्ठभाग (जाते समय) और मध्यभाग अनायास ही उसको दृष्टिगोचर होता है और इसके लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता; उसी प्रकार स्पर्शस्थान (=नासिकाग्र) में स्मृति को उपस्थापित कर साधक का चित्त आते जाते आश्वास प्रश्वास के आदि मध्य और अवसान का अनायास ही अनुगमन करता है।

जिस प्रकार नगर का द्वारपाल नगर के भीतर और बाहर जाते लोगों की पूछताछ नहीं करता, अपि तु जो मनुष्य नगर के द्वार पर आता है उसकी जाँच करता है; उसी प्रकार साधक का चित्त अन्त:प्रविष्ट वायु और बहिर्निष्क्रान्त वायु की उपेक्षा कर केवल द्वारप्राप्त आश्वास प्रश्वास का अनुगमन करता है। स्थानविशेष पर स्मृति को उपस्थापित करने से क्रिया सुलभ हो जाती है, कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

पटिसम्भिदामग्ग में आरे की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार आरे से काटते समय वृक्ष को समतल भूमि पर रखकर क्रिया की जाती है और आते जाते आरे के दाँतों की ओर ध्यान न देकर जहाँ जहाँ आरे के दाँत वृक्ष का स्पर्श करते हैं, वहाँ वहाँ ही स्मृति उपस्थापित करें आते जाते आरे के दाँत जाने जाते हैं और प्रयत्नवश छेदन की क्रिया निष्पन्न होती है और यदि कोई विशेष प्रयोजन हो तो वह भी सम्पादित होता है; उसी प्रकार साधक नासिकाग्र या उत्तरोष्ठ में स्मृति को उपस्थापित कर सुखासीन होता है। आते जाते आश्वास प्रश्वास की ओर ध्यान नहीं देता। किन्तु यह बात नहीं है कि वे उसको अविदित हों, भावना को निष्पन्न करने के लिये वह प्रयत्नशील होता है, विघ्नों (नीवरणों) का नाश कर भावनानुयोग साधित करता है और उत्तरोत्तर लौकिक एवं लोकोत्तर समाधि का प्रतिलाभ करता है।

काय और चित्त वीर्यारम्भ से भावना-कर्म में समर्थ होते हैं; विघ्नों का नाश और वितर्क का उपशम होता है; दस संयोजनों का परित्याग होता है, इसलिये अनुशयों का लेशमात्र भी नहीं रह जाता।

इस कर्मस्थान की भावना करने से अल्पसमय में ही प्रतिभागनिमित्त का उत्पाद होता है और ध्यान के अन्य अङ्गों के साथ अर्पणा समाधि का लाभ होता है। जब गणनाक्रियावश स्थूल आश्वास प्रश्वास का क्रमश: निरोध होता है और शरीर का क्लेश दूर हो जाता है, तब शरीर और चित्त—दोनों बहुत हल्के हो जाते हैं।

अन्य कर्मस्थान भावना के बल से उत्तरोत्तर विभूत होते जाते हैं; किन्तु यह कर्मस्थान अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। यहाँ तक कि यह उपस्थित भी नहीं होता। जब कर्मस्थान की उपलब्धि नहीं होती तो साधक को आसन से उठ जाना चाहिये। पर यह विचार कर न उठना चाहिये कि आचार्य से पूछना है कि—क्या मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया है। ऐसा विचार करने से कर्मस्थान नवीन हो जाता है। इसलिये अनुपलब्ध आश्वास प्रश्वास प्रवर्तन के समय नासिकाग्र का स्पर्श करते हैं और जिसकी नाक छोटी होती है उसके आश्वास प्रश्वास का उत्तरोष्ठ का स्पर्श कर प्रवर्त्तित होते हैं। स्मृतिसम्प्रजन्यपूर्वक साधक को प्रकृत स्पर्शस्थान में स्मृति प्रतिष्ठित करनी चाहिये। प्रकृतस्पर्श स्थान को छोड़कर अन्यत्र पर्येषण न करना चाहिये। इस उपाय से अनुपस्थित आश्वास प्रश्वास की सम्यक् उपलब्धि में साधक समर्थ होता है।

भावना करते करते प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न होता है। यह किसी को मणि के सदृश, किसी को मुक्ता, कुसुममाला, धूम-शिखा, पद्मपुष्प, चन्द्रमण्डल या सूर्यमण्डल के सदृश उपस्थित होता है। प्रतिभागनिमित्त की उत्पत्ति संज्ञा से ही होती है। इसलिये संज्ञा की विविधता के कारण कर्मस्थान के एक होते हुए भी प्रतिभागनिमित्त नानारूप से प्रकट होता है। जो यह जानता है कि आश्वास प्रश्वास और निमित्त एक चित्त के आलम्बन नहीं हैं, उसी का कर्मस्थान उपचार और अर्पणा समाधि का लाभ करता है। प्रतिभागनिमित्त के इस प्रकार उपस्थित होने पर साधक को इसकी सूचना आचार्य को देनी चाहिये। आचार्य, साधक के उत्साह को बढ़ाते हुए, बार बार भावना करने का उपदेश करता है। उक्त प्रकार के प्रतिभागनिमित्त में ही अनुबन्धना और स्पर्श का परित्याग कर भावना चित्त की स्थापना की

जाती है। इस भावना से क्रमपूर्वक अर्पणा होती है। प्रतिभागनिमित्त की उत्पत्ति के समय से विघ्न और क्लेश दूर हो जाते हैं, स्मृति उपस्थित होती है और चित्त उपचार समाधि द्वारा समाहित होता है।

साधक को उक्त प्रतिभागनिमित्त के वर्ण और लक्षण का ग्रहण न करना चाहिये। निमित्त की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये। इसलिये अनुपयुक्त आवास आदि का परित्याग करना चाहिये। इस प्रकार निमित्त की रक्षा कर निरन्तर भावना द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करनी चाहिये। अर्पणा में कुशलता प्राप्त कर, वीर्य का सम भाव प्रतिपादित करना चाहिये। तदनन्तर ध्यानों का उत्पाद करना चाहिये।

इस प्रकार ध्यानों का उत्पाद कर जो योगी संलक्षणा (=विपश्यना, इसे **अभिधर्मकोश** में 'उपलक्षण' कहा है) और निवर्त्तना (=मार्ग) द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करना चाहता है और परिशुद्धि (=मार्गफल) प्राप्त करना चाहता है, उसे पाँच प्रकार से (आवर्जन, समङ्गी होना, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण) ध्यानों का अभ्यास करना चाहिये। और नाम-रूप की व्यवस्था कर विपश्यना का आरम्भ करना चाहिये। साधक सोचता है कि शरीर और चित्त के कारण आश्वास प्रश्वास होते हैं; चित्त इनका समुत्थापक है और शरीर के विना इनका प्रवर्तन सम्भव नहीं है। वह स्थिर करता है कि आश्वास प्रश्वास और शरीर रूप हैं और चित्त तथा चैतसिक धर्म अरूप (=नाम) हैं। इस प्रकार नाम-रूप की व्यवस्था कर वह इनके हेतु का पर्येषण करता है, वह अनित्यादि लक्षणों का विचार करता है, निमित्त का निवर्तन कर आर्य मार्ग में प्रवेश करता है, तथा सकल क्लेश का ध्वंस कर अर्हत्फल में प्रतिष्ठित हो विवर्त्तना और परिशुद्धि की प्रत्यवेक्षाज्ञान की कोटि को प्राप्त होता है। इस प्रत्यवेक्षा को **पालि** में 'परिपस्सना' कहा है।

आनापानस्मृति समाधि की प्रथम चार प्रकार की भावना का विवेचन पूर्णरूप से किया जा चुका है। अब हम शेष बारह प्रकार की भावना का विचार करेंगे—

यह बारह प्रकार भी तीन वर्गों में विभक्त किये जाते हैं। एक-एक वर्ग में चार प्रकार सम्मिलित हैं। इनमें से पहला वर्ग वेदनानुपश्यनावश चार प्रकार का है।

५. इस वर्ग के पहले प्रकार में साधक प्रीति का अनुभव करते हुए श्वास का परित्याग और ग्रहण करना सीखता है। दो तरह से प्रीति का अनुभव किया जाता है—शमथमार्ग (=लौकिक समाधि) में आलम्बन वश और विपश्यनामार्ग में असम्मोहवश। प्रीतिसहगत प्रथम और द्वितीय ध्यान सम्पादित कर ध्यान क्षण में साधक प्रीति का अनुभव करता है। प्रीति के आश्रयभूत आलम्बन का संवेदन होने से प्रीति का अनुभव होता है। इसलिये यह संवेदन आलम्बन वश होता है। साधक प्रीतिसहगत प्रथम और द्वितीय ध्यानों को सम्पादित कर ध्यान से व्युत्थान करता है और ध्यानसम्प्रयुक्त प्रीति के क्षयकर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा प्रीति के विशेष और सामान्य लक्षणों के यथावत् ज्ञान से दर्शनक्षण में प्रीति का अनुभव होता है। यह संवेदन असम्मोहवश होता है।

पटिसम्भिदामग्ग में कहा है—जब साधक दीर्घश्वास लेता है और स्मृति को ध्यान के सम्मुख उपस्थापित करता है तब इस स्मृति के कारण तथा इस ज्ञान के कारण कि चित्त एकाग्र है, साधक प्रीति का अनुभव करता है। इसी प्रकार जब साधक दीर्घश्वास छोड़ता है, ह्रस्वश्वास लेता है, ह्रस्वश्वास छोड़ता है, सकल श्वासकाय सकल प्रश्वासकाय के आदि मध्य और अवसान सब भागों का अवबोध कर तथा उन्हें विशद और विभूत कर श्वास छोड़ता और श्वास लेता है, कायसंस्कार (श्वास-प्रश्वास) का उपशम करते हुए श्वास छोड़ता है और श्वास लेता है; तब उसका चित्त एकाग्र होता है और इस ज्ञान द्वारा वह प्रीति का अनुभव करता है। यह प्रीति-संवेदन आलम्बनवश होता है। जो ध्यान की ओर चित्त का

आवर्जन करता है, जो ध्यानसमापत्ति के क्षण में आलम्बन को जानता है, जो ध्यान से उठकर ज्ञानचक्षु से देखता है, जो ध्यान की प्रत्यवेक्षा करता है, जो यह विचार कर ध्यानचित्त का अवस्थान करता है कि 'मैं इतने काल तक ध्यानसमर्जन रहूँगा' वह आलम्बनवश प्रीति का अनुभव करता है। जिन धर्मों द्वारा शमथ और विपश्यना की सिद्धि होती है उनके द्वारा भी साधक प्रीति का अनुभव करता है। यह धर्म श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रिय हैं (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। क्लेश के उपशम में इनका आधिपत्य होने से इन की 'इन्द्रिय' संज्ञा हुई है।) जो शमथ और विपश्यना में दृढ़ श्रद्धा रखता है, जो कुशलोत्साह करता है, जो स्मृति उपस्थापित करता है, जो चित्त समाहित करता है और जो प्रज्ञा द्वारा यथाभूत दर्शन करता है, वह प्रीति का अनुभव करता है। यह संवेदन आलम्बनवश और असम्मोहवश होता है। जिसने छह अभिज्ञाओं का अधिगम किया है, जिसने हेय दुःख को जान लिया है और जिसकी तद्विषयक जिज्ञासा निवृत्त हो गयी है, जिसने दुःख के कारण क्लेशों (हेयहेतु या दुःखसमुदय) का परित्याग किया है, जिसके लिये और कुछ हेय नहीं है, जिसने मार्ग (हानोपाय) की भावना की है तथा जिसके लिये और कुछ कर्त्तव्य नहीं है तथा जिसने निरोध का साक्षात्कार किया है और जिसके लिये अब और कुछ प्राप्य नहीं है, उसको प्रीति का अनुभव होता है। यह प्रीति असम्मोहवश होती है।

६. इस वर्ग के दूसरे प्रकार में साधक सुख का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। सुख का अनुभव भी आलम्बनवश और असम्मोहवश होता है। सुखसहगत प्रथम तीन ध्यान सम्पादित कर ध्यान में साधक सुख का अनुभव करता है, और ध्यान से व्युत्थान कर ध्यानसंयुक्त सुख के क्षयधर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना द्वारा सुख के सामान्य और विशेष लक्षणों को यथावत् जानने से दर्शन-क्षण में असम्मोहवश सुख का अनुभव होता है। विपश्यना-भूमि में साधक कायिक और चैतसिक दोनों प्रकार के सुख का अनुभव करता है।

७. इस वर्ग के तीसरे प्रकार में साधक चारों ध्यान द्वारा चित्तसंस्कार (=संज्ञायुक्त वेदना[१]) का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ता और श्वास लेता है।

८. इस वर्ग के चतुर्थ प्रकार में स्थूल चित्तसंस्कार का निरोध करते हुए श्वास छोड़ता और श्वास लेता है। इसका क्रम वही है जो कायसंस्कार के उपशम का है।

दूसरा वर्ग चित्तानुपश्यनावश चार प्रकार का है।

९. पहले प्रकार में साधक चारों ध्यान द्वारा चित्त का अनुभव करते हुए श्वास छोड़ना और लेना सीखता है।

१०. दूसरे प्रकार में साधक चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास छोड़ना या लेना सीखता है। समाधि और विपश्यना द्वारा चित्त प्रमुदित होता है। साधक प्रीतिसहगत प्रथम और द्वितीय ध्यान को सम्पादित कर ध्यानक्षण में सम्प्रयुक्त प्रीति से चित्त को प्रमुदित करता है। यह समाधिवश चित्तप्रमोद है। प्रथम और द्वितीय ध्यान से उठकर साधक ध्यानसम्प्रयुक्त प्रीति के क्षयधर्म का ग्रहण करता है। इस प्रकार साधक विपश्यना क्षण में ध्यानसम्प्रयुक्त प्रीति को आलम्बन बना, चित्त को प्रमुदित करता है। यह विपश्यनावश चित्तप्रमोद है।

११. तीसरे प्रकार में साधक प्रथम ध्यानादि द्वारा चित्त को आलम्बन में समरूप से अवस्थित करते हुए श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। अर्पणाक्षण में समाधि के चरम उत्कर्ष के कारण

---

१. संज्ञा और वेदना चैतसिक धर्म हैं। चित्त ही इनका समुत्थापक है।

चित्त किञ्चिन्मात्र भी लीन और उद्धत भाव को नहीं प्राप्त होता तथा स्थिर और समाहित होता है। ध्यान से उठकर साधक ध्यानसम्प्रयुक्त चित्त के क्षय धर्म को देखता है और उसे विपश्यना क्षण में चित्त के अनित्यता आदि लक्षणों का क्षण क्षण पर अवबोध होता है। इसे क्षणमात्र स्थायी समाधि उत्पन्न होती है। यह समाधि आलम्बन से एकाकार से निरन्तर प्रवृत्त होती मालूम पड़ती है और चित्त को निश्चल रखती है।

१२. चौथे प्रकार में प्रथम ध्यान द्वारा विघ्नों (=नीवरण) से चित्त को मुक्त कर, द्वितीय द्वारा वितर्क विचार से मुक्त कर, तृतीय द्वारा प्रीति से मुक्त कर, चतुर्थ ध्यान द्वारा सुख-दुःख से चित्त को विमुक्त कर, साधक श्वास छोड़ने और लेने का अभ्यास करता है अथवा ध्यान से व्युत्थानकर ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है और विपश्यनाक्षण में अनित्यभावदर्शी हो चित्त को नित्य संज्ञा से विमुक्त करता है अर्थात् साधक अनित्यता की परमकोटि 'भंग' का दर्शन कर संस्कार की अनित्यता का साक्षात्कार करता है। इसलिये संस्कृत धर्मों के सम्बन्ध में उसकी जो मिथ्या संज्ञा है, वह दूर हो जाती है। जिसका अनित्य भाव है वह दुःख है, सुख कदापि नहीं है; जो दुःख है वह अनात्मा है, आत्मा कभी नहीं है। इस ज्ञान द्वारा वह चित्त को सुखसंज्ञा और आत्मसंज्ञा से विमुक्त करता है। वह देखता है कि जो अनित्य, दुःख और अनात्मा है उसमें अभिरति और राग नहीं होना चाहिये। उसके प्रति साधक को निर्वेद और वैराग्य उत्पन्न होता है। वह चित्त को प्रीति और राग से विमुक्त करता है। जब साधक का चित्त संस्कृत-धर्मों से विरक्त होता है, तब वह संस्कारों का निरोध करता है, उन्हें उत्पन्न नहीं होने देता। इस प्रकार निरोधज्ञान द्वारा वह चित्त को उत्पत्तिधर्मसमुदय से विमुक्त करता है। संस्कारों का निरोध कर वह नित्य आदि आकार से उनका ग्रहण नहीं करता, वह उनका परित्याग करता है, वह क्लेशों का परित्याग करता है और संस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत असंस्कृत-धर्म निर्वाण में चित्त का प्रवेश करता है।

तीसरा वर्ग भी चार प्रकार का है—

१३. पहले प्रकार में साधक अनित्यज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। पहले यह जानना चाहिये कि अनित्य क्या है? अनित्यता क्या है? अनित्य-दर्शन किसे कहते हैं? और अनित्यदर्शी कौन है? पञ्चस्कन्ध अनित्य हैं, क्योंकि इनके उत्पत्ति, विनाश, और अन्यथाभाव हैं। पञ्चस्कन्धों का उत्पत्ति-विनाश ही अनित्यता है। यह उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होते हैं। उस आकार में उनकी अवस्थिति नहीं होती। उनका क्षण-भङ्ग होता है। रूप आदि को अनित्य देखना अनित्यानुपश्यना है। इस ज्ञान से जो समन्वागत है, वह अनित्यदर्शी है।

१४. दूसरे प्रकार में साधक विराग-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। विराग दो हैं—१. क्षय विराग और २. अत्यन्त विराग। संस्कारों का क्षणभङ्ग क्षयविराग है। यह क्षणिक निरोध है। अत्यन्त विराग निर्वाण के अधिगम से संस्कारों का अत्यन्त, न कि क्षणिक, निरोध होता है। क्षय विराग के ज्ञान से विपश्यना और अत्यन्त विराग के ज्ञान से मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

१५. तीसरे प्रकार में साधक निरोधानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। निरोध भी दो प्रकार का है—१. क्षयनिरोध और २. अत्यन्तनिरोध।

१६. चौथे प्रकार में साधक प्रतिनिसर्गानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। प्रतिनिसर्ग (=त्याग) भी दो प्रकार का है—१. परित्यागप्रतिनिसर्ग और २. प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग। विपश्यना और मार्ग को प्रतिनिसर्गानुपश्यना कहते हैं। विपश्यना द्वारा साधक

अभिसंस्कारक स्कन्धों सहित क्लेशों का परित्याग करता है; तथा संस्कृत-धर्मों का दोष देख कर तद्विपरीत असंस्कृत निर्वाण में प्रस्कन्दन अर्थात् प्रवेश करता है।

इस तरह १६ प्रकार से आनापानस्मृतिसमाधि की भावना की जाती है। चार-चार प्रकार का एक एक वर्ग है। अन्तिम वर्ग शुद्ध उपासना की रीति से उपदिष्ट हुआ है; शेष वर्ग **शमथ** तथा विपश्यना—दोनों रीतियों से उपदिष्ट हुए हैं। यह हम पहले ही बता आये हैं कि **शमथ** लौकिक समाधि को कहते हैं। **विपश्यना** एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान है, इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं।

आनापानस्मृति भावना का जब परमोत्कर्ष होता है तब चार स्मृत्युपस्थापन का परिपूरण होता है। स्मृत्युपस्थापनाओं के सुभावित होने से सात बोध्यङ्गों (स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा) का पूरण होता है और इनके पूरण से मार्ग और फल का अधिगम होता है।

इस भावना की विशेषता यह है कि मृत्यु के समय जब श्वास प्रश्वास निरुद्ध होते हैं, तब साधक मोह को प्राप्त नहीं होता। मरण समय के अन्तिम आश्वास प्रश्वास उसको विशद और विभूत होते हैं। जो साधक आनापानस्मृति की भावना भली प्रकार करता है उसको ज्ञात होता है कि मेरा आयु:संस्कार अब इतना अवशिष्ट रह गया है। यह जानकर वह अपना कृत्य सम्पादित करता है और शान्तिपूर्वक शरीर का परित्याग करता है। (९)

१०. उपशमानुस्मृति—इस अनुस्मृति में साधक निर्वाण का चिन्तन करता है। वह एकान्त में समाहित चित्त से सोचता है कि जितने संस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों में अग्र धर्म निर्वाण हैं। वह मद का निर्मर्दन है, पिपासा का विनयन है, आलय का समुद्घात है, वर्त्त (जन्मपरम्परा) का उपच्छेद है, तृष्णा का क्षय है, विराग है, निरोध है। इस प्रकार सर्वदु:खोपशम-स्वरूप निर्वाण का चिन्तन ही उपशमानुस्मृति है। भगवान् ने इसी के बारे में **संयुत्तनिकाय** में कहा है कि यह निर्वाण ही सत्य है, पार है, सुदुर्दर्श है, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अव्यापाद्य और विशुद्ध है। निर्वाण ही दीप है, निर्वाण ही त्राण है।

इस उपशमानुस्मृति से अनुयुक्त साधक सुख से सोता है, सुख से प्रतिबुद्ध होता है। इसके इन्द्रिय और मन शान्त होते हैं। वह प्रासादिक होता है और अनुक्रम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

उपशम गुणों की गम्भीरता के कारण और अनेक गुणों का अनुस्मरण करने के कारण इस अनुस्मृति में अर्पणा ध्यान की प्राप्ति नहीं होती। केवल उपचार ध्यान की ही प्राप्ति होती है। (१०)

९. ब्रह्मविहारनिर्देश

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चित्त की ये सर्वोत्कृष्ट और दिव्य चार अवस्थाएँ हैं। इनको **ब्रह्मविहार** कहते हैं। चित्तविशुद्धि के ये उत्तम साधन हैं। जीवों के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिये—इसका भी यह निदर्शन है। जो साधक इन चार ब्रह्मविहारों की भावना करता है उसकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। वह सब प्राणियों के हित एवं सुख की कामना करता है। वह दूसरों के दु:खों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न है उनको देखकर वह प्रसन्न होता है, उनसे ईर्ष्या नहीं करता। सब प्राणियों के प्रति उनका समभाव होता है, किसी के साथ वह पक्षपात नहीं करता।

संक्षेप में—इन चार भावनाओं द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलों का क्षालन होता है। योग के अन्य परिकर्म (कर्मस्थान) केवल आत्महित के साधन हैं, किन्तु यह चार ब्रह्मविहार परहित के भी साधन हैं।

बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में इन्हें 'अप्रामाण्य' या 'अप्रमाण' भी कहा है; क्योंकि इनकी इयत्ता नहीं है। अपरिमाण जीव इन भावनाओं के आलम्बन होते हैं।

मैत्रीभावना—जीवों के प्रति स्नेह और सुहृद्भाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहितसाधन के लिये है। जीवों का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का परित्याग इसके लक्षण हैं। मैत्री भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। राग इसका आसन्न शत्रु है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवों के शील आदि गुण ग्रहणवश होती है। राग भी गुण देखकर प्रलोभित होता है। इस प्रकार राग और मैत्री की समानशीलता है। इसलिये कभी कभी राग मैत्रीवत् प्रतीयमान हो प्रवञ्चना करता है। स्मृति का किञ्चिन्मात्र भी लोप होने से राग मैत्री को अपनीत कर आलम्बन में प्रवेश करता है। इसलिये यदि विवेक और सावधानी से भावना न की जाय तो चित्त के रागारूढ होने का भय रहता है। साधक को सदा स्मरण रखना चाहिये कि मैत्री का सौहार्द तृष्णा के कारण नहीं होता, किन्तु जीवों की हितसाधना के लिये होता है। राग लोभ और मोह के वश होता है; किन्तु मैत्री का स्नेह मोह के कारण नहीं होता, अपितु ज्ञानपूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेष है और यह अलोभयुक्त होता है। (१)

करुणाभावना—परदुःख को देखकर सत्पुरुषों के हृदय का जो कम्पन होता है उसे **करुणा** कहते हैं। करुणा की प्रवृत्ति जीवों के दुःख का अपनय करने के लिये होती है, दूसरों के दुःख को देखकर साधु पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरों के दुःख को सहन नहीं कर सकता, जो करुणाशील पुरुष हैं वह दूसरों की विहिंसा नहीं करता। करुणा भावना की सम्यग्निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है। शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दौर्मनस्य इस भावना के निकट शत्रु हैं। (२)

मुदिता का लक्षण है—'हर्ष'। जो मुदिता की भावना करता है वह दूसरों को सम्पन्न देखकर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति नहीं उत्पन्न होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है, पर यह प्रीति संसारी पुरुष की प्रीति नहीं है। पृथग्जनोचित प्रीतिवश जो हर्ष का उद्वेग होता है उससे इस भावना का नाश होता है। मुदिता भावना में हर्ष का जो उत्पाद होता है उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और क्षोभ से रहित होता है। (३)

जीवों के प्रति उदासीन भाव **उपेक्षा** है। 'उपेक्षा' की भावना करने वाला साधक जीवों के प्रति सम-भाव रखता है, वह प्रिय या अप्रिय में कोई भेद नहीं करता। सबके प्रति उसकी उदासीनवृत्ति होती है। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल—इन दोनों आकारों का ग्रहण नहीं करता, इसीलिये उपेक्षा भावना की निष्पत्ति होने से विहिंसा और अनुनय दोनों का उपशम होता है। उपेक्षाभावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि "मनुष्य कर्म के अधीन है, कर्मानुसार ही सुख से सम्पन्न होता है या दुःख से मुक्त होता है या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नहीं होता"। यही ज्ञान इस भावना का आसन्न कारण है। मैत्री आदि प्रथम तीन भावनाओं द्वारा जो विविध प्रवृत्तियाँ होती थीं उनका ज्ञान द्वारा प्रतिषेध होता है। पृथग्जनोचित अज्ञानवश उपेक्षा की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। (४)

ये चारों ब्रह्मविहार समान रूप से ज्ञान और सुगति के देने वाले हैं।

मैत्रीभावभावना का विशेष कार्य द्वेष (=व्यापाद) का प्रतिघात करना है। करुणा-भावना का

विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता भावना का विशेष कार्य अरति (अप्रीति) का नाश करना है और उपेक्षा भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शत्रु हैं—१. समीपवर्त्ती, २. दूरवर्त्ती। मैत्री भावना का समीपवर्त्ती शत्रु राग है। राग की मैत्री से समानता है। व्यापाद उसका दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते। व्यापाद का नाश करके ही मैत्री की प्रवृत्ति होती है। करुणा भावना के समीपवर्त्ती शत्रु शोक, दौर्मनस्य हैं। जिन जीवों की भोगादि विपत्ति देखकर चित्त करुणा से आर्द्र हो जाता है, उन्हीं के विषय में तन्निमित्तक शोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक, दौर्मनस्य पृथग्जनोचित है। जो संसारी पुरुष हैं वे इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूप की अप्राप्ति से और प्राप्त सम्पत्ति के नाश से उद्विग्न और शोकाकुल हो जाते हैं। जिस प्रकार दुःख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न होता है। शोक करुणा भावना का आसन्न शत्रु है, विहिंसा दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनों से इस भावना की रक्षा करनी चाहिये।

पृथग्जनोचित सौमनस्य मुदिता भावना का समीपवर्त्ती शत्रु है। जिन जीवों की भोग-सम्पत्ति देखकर मुदिता की प्रवृत्ति होती है उन्हीं के विषय में तन्निमित्त पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपों के लाभ से संसारी पुरुष की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न शत्रु है। अरति, अप्रीति दूरवर्त्ती शत्रु हैं। दोनों से इस भावना को सुरक्षित रखना चाहिये।

अज्ञान-सम्मोहप्रवर्त्तित उपेक्षा उपेक्षाभावना की आसन्न शत्रु है। मूढ और अज्ञ पुरुष, जिसने क्लेशों को नहीं जीता, जिसने सब क्लेशों के मूलभूत सम्मोह के दोष को नहीं जाना और जिसने शास्त्र का मनन नहीं किया, वह रूपों को देखकर उपेक्षाभाव प्रदर्शित कर सकता है, पर इस सम्मोहपूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशों का अतिक्रमण नहीं कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षाभावना गुण एवं दोष का विचार न कर केवल उदासीन वृत्ति का अवलम्बन करती है, उसी प्रकार अज्ञानोपेक्षा जीवों के गुण दोष का विचार न कर केवल उपेक्षावश प्रवृत्त होती है। यही दोनों की समानता है। इसलिये यह अज्ञानोपेक्षा उपेक्षाभावना का आसन्न शत्रु है। यह अज्ञानोपेक्षा पृथग्जनोचित है। राग और द्वेष इस भावना के दूरवर्त्ती शत्रु हैं। दोनों से इस भावना-चित्त की रक्षा करनी चाहिये।

सब कुशल कर्म इच्छामूलक हैं। इसलिये चारों ब्रह्मविहारों के आदि में इच्छा है, नीवरण (=योग के अन्तराय) आदि क्लेशों का परित्याग मध्य में है, और अर्पणा समाधि पर्यवसान में है। एक जीव या अनेक प्रज्ञप्ति रूप में इन भावनाओं के आलम्बन हैं। आलम्बन की वृद्धि क्रमशः होती है। पहले एक आवास के जीवों के प्रति भावना की जाती है। अनुक्रम से आलम्बन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवों के प्रति भावना होती है।

सब क्लेश द्वेष, मोह, राग पाक्षिक हैं। इनसे चित्त को विशुद्ध करने के लिये ये चार ब्रह्मविहार उत्तम उपाय हैं। जीवों के प्रति कुशल चित्त की चार ही वृत्तियाँ हैं—१. दूसरों का हितसाधन करना, २. उनके दुःख का अपनयन करना, ३. उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना और ५. सब प्राणियों के प्रति पक्षपातरहित और समदर्शी होना। इसीलिये ब्रह्मविहारों की संख्या चार है। जो साधक इन चारों की भावना चाहता है उसे पहले मैत्री भावना द्वारा जीवों का हित करना चाहिये। तदनन्तर दुःख से अभिभूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणाभावना द्वारा उनके दुःख का अपनयन करना चाहिये।

तदनन्तर दुःखी लोगों की सम्पन्न-अवस्था देखकर मुदिता भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिये और तत्पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव में उपेक्षा भावना द्वारा उदासीन वृत्ति का अवलम्ब करना चाहिये। इसी क्रम से इन भावनाओं की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं।

यद्यपि चारों ब्रह्मविहार अप्रमाण हैं, तथापि पहले तीन केवल प्रथम तीन ध्यानों का उत्पाद करते हैं और चौथा ब्रह्मविहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है। इसका कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता दौर्मनस्यसम्भूत व्यापाद, विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने के कारण सौमनस्यरहित नहीं होतीं। सौमनस्यसहित होने के कारण इनमें सौमनस्यविरहित उपेक्षासहगत चतुर्थ ध्यान का उत्पाद नहीं हो सकता। उपेक्षावेदना से संयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षाब्रह्मविहार में अन्तिम ध्यान का लाभ होता है।

१०. आरूप्यनिर्देश

चार ब्रह्मविहारों के पश्चात् **विसुद्धिमग्ग** में चार अरूप-कर्मस्थान उद्दिष्ट हैं। अरूपायतन चार हैं—१. आकाशानन्त्यायतन, २. विज्ञानानन्त्यायतन, ३. आकिञ्चन्यायतन और ४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

चार रूपध्यानों की प्राप्ति होने पर ही अरूप-ध्यान की प्राप्ति होती है, करज (कर्मज) रूपकाय में और इन्द्रिय तथा उनके विषय में दोष देखकर रूप का समतिक्रम करने के हेतु से यह ध्यान किया जाता है। चौथे ध्यान में कसिण-रूप रहता है। उस कसिण-रूप का समतिक्रम इस ध्यान में होता है। जिस प्रकार कोई पुरुष सर्प को देखकर भयभीत हो भाग जाता है, और सर्प के समान दिखायी देनेवाले रज्जु आदि का भी निवारण चाहता है, उसी प्रकार साधक करजरूप से भयभीत हो चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है, जहाँ करजरूप से समतिक्रम होता है; लेकिन उसके प्रतिभागरूप कसिण के रूप में स्थित होता है। उस कसिण-रूप का निवारण करने की इच्छा से साधक अरूपध्यान को प्राप्त करता है, जहाँ सभी प्रकार के रूप का समतिक्रम सम्भव है।

आकाशानन्त्यायतन में तीन संज्ञाओं का निवारण होता है—१. रूपसंज्ञा अर्थात् जडसृष्टि सम्बन्धी विचार; २. प्रतिघसंज्ञा अर्थात् इन्द्रिय और विषयों का प्रत्याघातमूलक विचार; ३. नानात्वसंज्ञा अर्थात् अनेकविध रूप, शब्दादि आलम्बनों का विचार। इन तीनों संज्ञाओं का अनुक्रम, अस्तङ्गम, और अमनसिकार होने पर 'आकाश अनन्त है' ऐसी संज्ञा उत्पन्न होती है। इसे आकाशानन्त्यायतन-ध्यान कहते हैं।

परिच्छिन्न आकाश कसिण को छोड़कर अन्य किसी कसिण को आलम्बन कर चतुर्थ-ध्यान को प्राप्त करने पर ही यह भावना की जाती है। कसिण पर चतुर्थ ध्यान साध्य करने के पूर्व ही उस कसिण की मर्यादा अनन्त की जानी चाहिये। कसिण प्रथम छोटे आकार का होता है, जिसे अनुक्रम से बढ़ाकर समस्त विश्वाकार किया जाता है, उस विश्वाकार आकृति पर चतुर्थध्यान साध्य करने के पश्चात् साधक अपने ध्यानबल से उस आकृति को दूर करके 'विश्व में केवल एक आकाश ही भरा हुआ है' ऐसा देखता है। चतुर्थ ध्यान तक रूपात्मक आलम्बन था, अब अरूपात्मक आलम्बन है; इसलिये 'आकाश अनन्त है' ऐसी संज्ञा होने से इसे आकाशानन्त्यायतन कहा है। (१)

विज्ञानानन्त्यायतन—इस ध्यान में साधक आकाशसंज्ञा का समतिक्रम करता है। आकाश की अनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है—ऐसी संज्ञा उत्पन्न करने पर वह विज्ञान का आनन्त्य जिसका आलम्बन है, ऐसे ध्यान को प्राप्त करता है। (२)

आकिञ्चन्यायतन—इस ध्यान में साधक विज्ञान में भी दोष देखता है और उसका समतिक्रम

करने के लिये विज्ञान के अभाव की संज्ञा प्राप्त करता है। "अभाव भी अनन्त है; कुछ भी नहीं है, सब कुछ शान्त है" इस प्रकार की भावना करने पर साधक इस तृतीय अरूप ध्यान को प्राप्त होता है। (३)

नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—अभाव की संज्ञा भी बड़ी स्थूल है। अभाव की संज्ञा का भी अभाव जिसमें है, ऐसा अति शान्त, सूक्ष्म यह चौथा आयतन है। इस ध्यान में संज्ञा अतिसूक्ष्म रूप में रहती है, इसलिये उसे असंज्ञा नहीं कह सकते, और स्थूल रूप में न होने के कारण उसे संज्ञा भी नहीं कह पाते। पालि में एक उपमा देकर इसे समझाया है। गुरु और शिष्य प्रवास में थे। मार्ग में थोड़ा जल था। शिष्य ने कहा—"आचार्य! मार्ग में जल है; इसलिये जूता निकाल लीजिये।" गुरु ने कहा—"अच्छा तो स्नान कर लूँ, पात्र दो।" शिष्य ने कहा—"गुरुदेव! स्नान करने योग्य जल नहीं है।" जिस प्रकार उपानह को भिगाने के लिये पर्याप्त जल है, किन्तु स्नान के लिये पर्याप्त नहीं; इसी प्रकार इस आयतन में संज्ञा का अतिसूक्ष्म अंश विद्यमान है, किन्तु संज्ञा का कार्य हो, इतना स्थूल भी वह नहीं है, इसीलिये इस आयतन को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा है।

यह आयतन प्राप्त करने पर ही साधक निरोधसमापत्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें निश्चित काल (=सात दिन) तक साधक की मनोवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध होता है। (४)

इन चार अरूप ध्यानों में केवल दो ही ध्यानाङ्ग रहते हैं—उपेक्षा और चित्तैकाग्रता। ये चार ध्यान अनुक्रम से शान्ततर, प्रणीततर और सूक्ष्मतर होते हैं।

११. समाधिनिर्देश

आहार में प्रतिकूलसंज्ञा

आरूप्य के अनन्तर आहार में प्रतिकूलसंज्ञा नामक कर्मस्थान निर्दिष्ट है। आहरण करने के कारण 'आहार' कहते हैं। यह चतुर्विध है—१. कवलीकाराहार (=खाद्य पदार्थ), २. स्पर्शाहार, ३. मन:सञ्चेतनाहार और ४. विज्ञानाहार। इनमें से कवलीकार आहार ओजयुक्त रूप का आहरण करता है। स्पर्शाहार सुख, दु:ख, उपेक्षा इन तीन वेदनाओं का आहरण करता है। मन:सञ्चेतनाहार काम, रूप, अरूप भवों में प्रतिसन्धि का आहरण करता है। विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण में नाम-रूप का आहरण करता है। ये चारों आहार भयस्थान हैं, किन्तु यहाँ केवल कवलीकार आहार ही अभिप्रेत है। उस आहार में जो प्रतिकूलसंज्ञा उत्पन्न होती है, वही यह कर्मस्थान है। इस कर्मस्थान की भावना करने का इच्छुक साधक असित, पीत, खायित, सायित प्रभेद का जो कवलीकार आहार है, उसके गमन, पर्येषण, परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्वता, परिपक्वता, फल, निष्यन्द और सम्प्रक्षण रूप से जो अशुचिभाव का विचार करता है, उस विचार से उसे आहार में प्रतिकूलसंज्ञा उत्पन्न होती है, और कवलीकार आहार उसी प्रकार प्रकट होता है। वह उस प्रतिकूल भावना को बढ़ाता है। उसके नीवरणों का विष्कम्भन होता है और चित्त उपचार-समाधि को प्राप्त होता है; अर्पणा नहीं होती।

इस संज्ञा से साधक की रसतृष्णा नष्ट होती है। वह केवल दु:खनिस्सरण के लिये ही आहार का सेवन करता है; पञ्च कामभोगों में राग उत्पन्न नहीं होता और कायगता स्मृति उत्पन्न होती है।

चतुर्धातु-व्यवस्थान

चालीस कर्मस्थानों में यह अन्तिम कर्मस्थान है। स्वभाव निरूपण द्वारा विनिश्चय को 'व्यवस्थान' कहते हैं। **महासतिपट्ठान, महाहत्थिपदोपम, राहुलोवाद** आदि सूत्रों में इसका विशेष वर्णन आता है। महासतिपट्ठानसुत्त में कहा है—"भिक्षुओ! जिस प्रकार कोई दक्ष गोघातक बैल को

मार कर चौराहे पर खण्ड खण्ड कर रख दे और उसे उन खण्डों को देखकर 'यह बैल है' ऐसी संज्ञा नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार भिक्षु इसी काय को धातु द्वारा व्यवस्थित करता है कि—इस काय में पृथिवी धातु है, आपो धातु है, तेजो धातु है, वायु धातु है। इस प्रकार के व्यवस्थान से काय में 'यह सत्त्व है, यह पुद्गल है, यह आत्मा है' ऐसी संज्ञा नष्ट होकर धातुसंज्ञा ही उत्पन्न होती है।"

साधक इस संज्ञा को उत्पन्न कर अपने आध्यात्मिक और बाह्य रूप का चिन्तन करता है। वह आचार्य के पास ही केश-लोम-नख-दन्त आदि कर्मस्थान को ग्रहण कर उनमें भी धातुचतुष्टय का व्यवस्थान करता है; फिर पृथिवी आदि महाभूतों के लक्षण, समुत्थान, नानात्व, एकत्व, प्रादुर्भाव, संज्ञा, परिहार और विकास का चिन्तन करता है। उनमें अनात्म संज्ञा, दुःख संज्ञा, और अनित्य संज्ञा उत्पन्न करता है और उपचार समाधि प्राप्त करता है। अर्पणा प्राप्त नहीं होती।

चतुर्धातुव्यवस्थान में अनुयुक्त साधक शून्यता में अवगाह करता है, सत्त्व-संज्ञा का समुद्घात करता है और महाप्रज्ञा को प्राप्त करता है।

१२. ऋद्धिविधनिर्देश

भगवान् ने पाँच लौकिक अभिज्ञाएँ कही हैं—(१) ऋद्धिविध, (२) दिव्यश्रोत्र, (३) चेतःपर्यायज्ञान, (४) पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान, (५) च्युत्युत्पाद ज्ञान।

१. ऋद्धिविध—इसको प्राप्त करने की इच्छा वाले प्रारम्भिक साधक को अवदात कसिण तक आठों कसिणों में आठ आठ समापत्तियों को उत्पन्न कर कसिण के अनुलोम से, कसिण के प्रतिलोम से, कसिण के अनुलोम और प्रतिलोम से; ध्यान के अनुलोम से, ध्यान के प्रतिलोम से, ध्यान के अनुलोम और प्रतिलोम से; ध्यान को लाँघने से, कसिण को लाँघने से, ध्यान और कसिण को लाँघने से; अङ्ग के व्यवस्थापन से, आलम्बन के व्यवस्थापन से—इन चौदह आकारों से चित्त का भली प्रकार दमन करना चाहिये। चित्त का दमन हो जाने पर जब चतुर्थ ध्यान प्राप्त करने के पश्चात् साधक एकाग्र, शुद्ध, निर्मल, क्लेशों से रहित, मृदु, मनोरम, और निश्चल चित्तवाला हो जाता है, तब वह ऋद्धिविध को प्राप्त करता है और अनेक प्रकार की ऋद्धियों का अनुभव करने लगता है। ऋद्धियाँ दस हैं—(१) अधिष्ठान ऋद्धि (२) विकुर्वण ऋद्धि (३) मनोमय ऋद्धि (४) ज्ञानविस्फार ऋद्धि (५) आर्य ऋद्धि (६) कर्मविपाकज ऋद्धि (७) पुण्यवान् की ऋद्धि (८) विद्यामय ऋद्धि तथा (९) उन उन स्थानों पर सम्यक् प्रयोग के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि। इन ऋद्धियों को प्राप्त साधक एक से अनेक होता है, प्रकट और अदृश्य होता है, आरपार विना स्पर्श किये जाता है, पृथ्वी में जल की भाँति गोता लगाता है, जल पर पैदल चलता है, आकाश में पद्मासन लगा कर बैठता है, चन्द्र सूर्य को हाथ से स्पर्श करता है, दूर को पास कर देता है, मनोमय शरीर का निर्माण करता है।

१३. अभिज्ञानिर्देश

२. शेष अभिज्ञाओं में **दिव्यश्रोत्रज्ञान** एक स्थान पर बैठकर मन में विचारे हुए स्थानों के शब्दों को सुनने को कहते हैं। चतुर्थ ध्यान से उठकर जब साधक दिव्य श्रोत्र ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपने चित्त को लगाता है, तब वह अपने अलौकिक शुद्ध दिव्य श्रोत्र से दोनों प्रकार के—मनुष्यों के भी और देवताओं के भी शब्द सुनने लगता है।

३. अपने चित्त से दूसरे व्यक्ति के चित्त को जानने के ज्ञान को **चेतःपर्यायज्ञान** कहते हैं। इसे प्राप्त करने वाले साधक को दिव्यचक्षुवाला भी होना चाहिये। उस साधक को आलोक की वृद्धि करके

दिव्य चक्षु से दूसरे के हृदय (कलेजे) के सहारे विद्यमान रुधिर के रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ना चाहिये। जब सौमनस्यचित्त होता है, तब रुधिर पके हुए बरगद के समान लाल होता है। जब दौर्मनस्यचित्त होता है, तब पके हुए जामुन के समान काला होता है। जब उपेक्षाचित्त होता है, तब परिशुद्ध तिल के तैल के समान स्वच्छ होता है। इसलिये साधक को हृदय के सहारे रहने वाले रुधिर में रंग को देखकर चित्त को ढूँढ़ते हुए चेत:पर्याय ज्ञान को शक्तिसम्पन्न बनाना चाहिये। इस प्रकार शक्तिसम्पन्न होने पर वह क्रमश: सभी कामावचर, रूपावचर और अरूपावचर चित्तों को अपने चित्त से जान लेता है, तब उसे हृदय के रुधिर के परीक्षण में जाने की आवश्यकता नहीं होती। वह जब अपने चित्त से दूसरे के चित्त की बातों को जानना चाहता है, तब वह दूसरे सत्त्वों के, दूसरे लोगों के चित्त को अपने चित्त से जान लेता है—रागसहित चित्त को रागसहित जान लेता है, वैराग्यसहित चित्त को वैराग्यसहित जान लेता है। इसी प्रकार वह द्वेष, मोह आदि से युक्त या रहित चित्तों को भी जान लेता है। आचार्य ने इसमें दर्पण की उपमा दी है। जैसे कोई स्त्री या पुरुष अपने को अलंकृत कर दर्पण में देखते हुए स्पष्ट रूप से देखे, उसी प्रकार वह दूसरे के चित्त को अपने चित्त से जान लेता है।

४. पूर्वजन्मों की बातों के ज्ञान को **पूर्वनिवासानुस्मृति** ज्ञान कहते हैं। इसे प्राप्त करने के लिये चतुर्थ ध्यान से उठ सब से अन्तिम बैठने का स्मरण करना चाहिये। तत्पश्चात् आसन बिछाने से लेकर प्रात:काल तक के प्रत्येक कार्य का स्मरण करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिलोम विधि से सम्पूर्ण रात्रि और दिन के किये हुए कार्यों का स्मरण करना चाहिये। यदि इनमें से कुछ प्रकट न हों तो पुन: चतुर्थध्यान को प्राप्त कर उससे उठ इन्हें स्मरण करना चाहिये। ऐसे क्रमश: दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, दसवें, पन्द्रहवें, तीसवें दिन के कार्यों का स्मरण करना चाहिये। यही नहीं, महीने से लेकर वर्ष भर के किये हुए कार्यों का स्मरण करना चाहिये। इसी प्रकार दस वर्ष, बीस वर्ष तक के कार्यों का स्मरण करना चाहिये। तदुपर्यन्त इस जन्म में जन्म ग्रहण से लेकर पूर्व जन्म की मृत्यु के समय तक का स्मरण करना चाहिये तथा उस जन्म के अपने रूप को देखना चाहिये। जब साधक इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब वह अनेक पूर्वजन्मों की बातों को स्मरण करता है। जैसे, एक जन्म से लेकर हजार, लाख, अनेक संवर्त कल्पों, अनेक विवर्त कल्पों को जानता है—"मैं वहाँ इस नाम वाला, इस गोत्र वाला, इस रंग वाला, इस आहार को खाने वाला, इतनी आयु वाला था, मैंने इस प्रकार के सुख दु:ख का अनुभव किया, अत: मैं वहाँ से मरकर यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ।" इस तरह आकार प्रकार के साथ वह अनेक पूर्व जन्मों को स्मरण करता है।

५. दिव्य चक्षु के ज्ञान को ही **च्युत्युत्पाद ज्ञान** कहते हैं। जो साधक इसे प्राप्त करना चाहता है, उसे चतुर्थ ध्यान से उठकर प्राणियों की च्युति एवं उत्पत्ति को जानने के लिये विचार करने पर दिव्य-चक्षु उत्पन्न हो जाता है। इसके लिये किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं। साधक आलोक फैलाकर नरक एवं स्वर्ग के सभी जीवों के कर्मों तथा उनके विपाकों को जान सकता है। उसे यथाकर्मोपग ज्ञान और अनागतांश ज्ञान सिद्ध हो जाते हैं। वह च्युत्युत्पादज्ञानी कहा जाता है।

ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, चेत:पर्याय ज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान और च्युत्युत्पाद ज्ञान—ये पाँचों **अभिज्ञाएँ लौकिक हैं, किन्तु जब कोई अर्हत् इन्हें प्राप्त करता है, तब ये ही लोकोत्तर कही जाती हैं और उक्त पाँचों के साथ आश्रव-क्षयज्ञान और सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार लौकिक अभिज्ञाएँ पाँच और लोकोत्तर अभिज्ञाएँ छह हैं।** इस तरह समाधिभावना का विवरण समाप्त हुआ॥

स्वामी द्वारिकादासशास्त्री

पिट्ठङ्कनिद्देससहितो

विसुद्धिमग्गट्ठ-

विसयवत्थुक्कमो

❋

THE PĀLI ALPHABET IN DEVNĀGARĪ AND ROMAN CHARACTERS

VOWELS

अ = a	आ = ā	इ = i	ई = ī	उ = u	ऊ = ū	ए = e	ओ=o

CONSONANTS WITH VOWEL "A"

क ka	ख kha	ग ga	घ gha	ङ ṅa
च ca	छ cha	ज ja	झ jha	ञ ña
ट ṭa	ठ ṭha	ड ḍa	ढ ḍha	ण ṇa
त ta	थ tha	द da	ध dha	न na
प pa	फ pha	ब ba	भ bha	म ma
य ya	र ra	ल la	व va	स sa
	ह ha	ळ ḷa	अं aṁ	

VOWELS IN COMBINATION

क ka	का kā	कि ki	की kī	कु ku	कू kū	के ke	को ko
ख kha	खा khā	खि khi	खी khi	खु khu	खू khū	खे khe	खो kho

CONJUNCT-CONSONANTS

क्क kka	ञ्च ñca	द्व dva	म्ब mba
क्ख kkha	ञ्छ ñcha	ध्य dhya	म्भ mbha
क्य kya	ञ्ज ṅja	ध्व dhva	म्म mma
क्र kra	ञ्झ ṅjha	न्त nta	म्य mya
क्ल kla	ट्ट ṭṭa	न्त्व ntva	म्ह mha
क्व kva	ट्ठ ṭṭha	न्थ ntha	य्य yya
ख्य khya	ड्ड ḍḍa	न्द nda	य्ह yha
ख्व khva	ड्ढ ḍḍha	न्द्र ndra	ल्ल lla
ग्ग gga	ण्ट ṇṭa	न्ध ndha	ल्य lya
ग्घ ggha	ण्ठ ṇṭha	न्न nna	ल्ह lha
ग्य gya	ण्ड ṇḍa	न्य nya	व्ह vha
ग्र gra	ण्ण ṇṇa	न्ह nha	स्त sta
ङ्क ṅka	ण्ह ṇha	प्प ppa	स्त्र stra
ङ्ख ṅkha	त्त tta	प्फ ppha	स्न sna
ङ्ग ṅga	त्थ ttha	प्य pya	स्य sya
ङ्घ ṅgha	त्व tva	प्ल pla	स्स ssa
च्च cca	त्य tya	ब्ब bba	स्म sma
च्छ ccha	त्र tra	ब्भ bbha	स्व sva
ज्ज jja	द्द dda	ब्य bya	ह्म hma
ज्झ jjha	द्ध ddha	ब्र bra	ह्व hva
ञ्ञ ñña	द्य dya	म्प mpa	ळ्ह ḷha
ञ्ह ñha	द्र dra	म्फ mpha	

ा = ā	ि = i	ी = ī	ु = u	ू = ū	े = e	ो = o

1	2	3	4	5	6	7	8	9	0
१	२	३	४	५	६	७	८	९	०

विशुद्धिमार्ग

(सप्तम परिच्छेद से त्रयोदश परिच्छेद तक)

[हिन्दी-अनुवादसहित]

ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थों की पृष्ठसङ्ख्या

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय के समय पाठक देखेंगे कि इसमें स्थान स्थान पर, अपने मत की प्रामाणिकता के प्रदर्शनार्थ, आचार्य बुद्धघोष ने त्रिपिटक के ग्रन्थों से बहुत अधिक उद्धरण दिये हैं। मूल ग्रन्थों के उन पाठों को देखने के लिये हमने वहाँ यथास्थान उन पाठों के आगे उन ग्रन्थों की पृष्ठसङ्ख्या भी पाठकों की सुविधा हेतु ब्रैकेट (   ) में अङ्कित कर दी है।

हमने यह पृष्ठसङ्ख्या **बौद्धभारतीग्रन्थमाला** में अद्यावधि (सन् २००२ तक) प्रकाशित त्रिपिटक एवं अनुपिटक साहित्य के ग्रन्थों से ही दी है। शेष ग्रन्थों के (विशेषतः अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों के) लिये हमने **नालन्दा-संस्करण** के ग्रन्थों को आधार माना है।

—सम्पादक

विसुद्धिमग्गो

छअनुस्सतिनिद्देसो

सत्तमो परिच्छेदो

१. असुभानन्तरं[1] उद्दिट्ठासु पन दससु अनुस्सतिसु[2] पुनप्पुनं उप्पज्जनतो येव **अनुस्सति**। पवत्तितब्बट्ठानम्हि येव वा पवत्तत्ता सद्धापब्बजितस्स कुलपुत्तस्स अनुरूपा सती ति पि **अनुस्सति**।

(१) बुद्धं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **बुद्धानुस्सति**। बुद्धगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (२) धम्मं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **धम्मानुस्सति**। स्वाक्खाततादिधम्म-गुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (३) सङ्घं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **सङ्घानुस्सति**। सुप्पटिपन्नतादिसङ्घगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (४) सीलं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **सीलानुस्सति**। अखण्डतादिसीलगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (५) चागं आरब्भ उपप्पन्ना अनुस्सति **चागानुस्सति**। मुत्तचागतादिचागगुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (६)

षडनुस्मृतिनिर्देश

सप्तम परिच्छेद

दश अनुस्मृतियाँ

१. अशुभ (कर्मस्थान) के बाद निर्दिष्ट दश अनुस्मृतियों में, पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली स्मृति ही अनुस्मृति कहलाती है। अथवा, प्रवर्तित होने योग्य स्थान में ही प्रवर्तित होने से, श्रद्धा के कारण प्रव्रजित हुए कुलपुत्र की अनुरूप स्मृति भी अनुस्मृति कहलाती है।

(१) बुद्ध को लक्ष्य बनाकर उत्पन्न अनुस्मृति **बुद्धानुस्सति** है। बुद्ध के गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन (संज्ञा) है।

(२) धर्म के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **धम्मानुस्सति** है। स्वाख्यात (=भलीभाँति कहा गया) होना आदि धर्म के गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(३) सङ्घ के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **सङ्घानुस्सति** है। सुप्रतिपन्नता (=अच्छे मार्ग पर चलना) आदि सङ्घ के गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(४) शील के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **सीलानुस्सति** है। खण्डित न होना—आदि शील के गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(५) त्याग के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **त्यागानुस्सति** है। मुक्त त्याग (खुले हाथों से किया गया दान) आदि त्याग के गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

---

१. **असुभानन्तरं** ति। असुभकम्मट्ठानानन्तरं।　　२. **अनुस्सतिसू** ति। अनुस्सतिकम्मट्ठानेसु।

देवता आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **देवतानुस्सति**। देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादि-गुणारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (७) मरणं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **मरणानुसति**। जीवितिन्द्रियुपच्छेदारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (८) केसादिभेदं रूपकायं गता, काये वा गता ति कायगता। कायगता च सा सति चा ति 'कायगतसती' ति वत्तब्बे रस्सं अकत्वा **कायगतासती** ति वुत्ता। केसादिकायकोट्ठासनिमित्तारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (९) आनापाने आरब्भ उप्पन्ना सति **आनापानस्सति**। अस्सासपस्सासनिमित्तारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं। (१०) उपसमं आरब्भ उप्पन्ना अनुस्सति **उपसमानुस्सति**। सब्बदुक्खूपसमारम्मणाय सतिया एतं अधिवचनं।

१. बुद्धानुस्सतिकथा

२. इति इमासु दससु अनुस्सतिसु बुद्धानुस्सतिं ताव भावेतुकामेन अवेच्चप्पसाद-समन्नागतेन योगिना पटिरूपे सेनासने रहोगतेन पटिसल्लीनेन "**इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा**" (अं० नि० ७-१०) ति एवं बुद्धस्स भगवतो गुणा अनुस्सरितब्बा।

३. तत्रायं अनुस्सरणनयो—सो भगवा इति पि, अरहं इति पि सम्मासम्बुद्धो... पे०...इति पि, भगवा इति पि ति अनुस्सरति। इमिना च इमिना च कारणेना तिं वुत्तं होति।

---

(६) देवता के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **देवतानुस्सति** है। देवता को साक्षी समझते हुए, श्रद्धा आदि स्वकीय गुणों को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(७) मरण के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **मरणानुस्सति** है। जीवितेन्द्रिय-उपच्छेद (=मृत्यु) को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(८) केश आदि भेद वाली रूपकाय में गयी हुई है, या काया में गयी हुई है, अत: कायगता है। यह कायगता है और स्मृति है, अत: 'कायगतस्मृति' (इस प्रकार भी संक्षेप में किया जा सकता था किन्तु) इस प्रकार संक्षेप न करके **कायगतासति** कही गयी है। केश आदि काय के अवयव रूपी निमित्त को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(९) आनापान (=श्वास प्रश्वास) के प्रति उत्पन्न स्मृति **आनापानस्सति** है। श्वास-प्रश्वास-निमित्त को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

(१०) उपशम के प्रति उत्पन्न अनुस्मृति **उपसमानुस्सति** है। सर्व दु:खों के उपशम को आलम्बन बनाने वाली स्मृति का यह अधिवचन है।

१. बुद्धानुस्मृति

२. इस प्रकार इन दश अनुस्मृतियों में, बुद्धानुस्मृति की भावना करने के अभिलाषी, पूर्ण विश्वास से युक्त योगी को अपने शयनासन में एकान्त में बैठकर, भगवान् बुद्ध के गुणों का इस प्रकार अनुस्मरण करना चाहिये—"भगवान् ऐसे हैं, इसलिये अर्हत्, सम्यक्सम्बुद्ध, विद्या और चरण से सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, विनेय (=दम्य) पुरुषों के अनुपम सारथि (=नायक), देवताओं और मनुष्यों के शास्ता, बुद्ध भगवान् हैं।"

४. तत्थ आरकत्ता, अरीनं अरानं च हतत्ता, पच्चयादीनं अरहत्ता, पापकरणे रहाभावा ति इमेहि ताव कारणेहि सो भगवा अरहं ति अनुस्सरति।

आरका हि सो सब्बकिलेसेहि सुविदूरविदूरे ठितो मग्गेन सवासनानं किलेसानं विद्धंसितत्ता ति **आरकत्ता अरहं**[१]।

सो ततो आरका नाम यस्स येनासमङ्गिता[२]।
असमङ्गी च दोसेहि नाथो तेनारहं मतो ति॥

ते च अनेन किलेसारयो मग्गेन हता ति **अरीनं हतत्ता पि अरहं।**

यस्मा रागादिसङ्खाता सब्बे पि अरयो हता।
पञ्ञासत्थेन नाथेन तस्मा पि अरहं मतो ति॥

यं चेतं अविज्जाभवतण्हामयनाभि पुञ्ञादिअभिसङ्खारारं जरामरणनेमि आसवसमुदय-मयेन अक्खेन विज्झित्वा तिभवरथे समायोजितं अनादिकालप्पवत्तं संसारचक्कं, तस्सानेन बोधिमण्डे विरियपादेहि सीलपथवियं पतिट्ठाय सद्धाहत्थेन कम्मक्खयकरं ञाणफरसुं गहेत्वा सब्बे अरा हता ति **अरानं हतत्ता पि अरहं।**

३: यहाँ, अनुस्मरण की विधि यह है—"वे भगवान् ऐसे हैं, इसलिये सम्यक्सम्बुद्ध हैं ...पूर्ववत्... ऐसे हैं, इसलिये भगवान् हैं"—इस प्रकार (योगी) अनुस्मरण करता है। अर्थात् इस इस कारण से।

४. दूर होने से, अरियों और (संसार-चक्र के) अरों (=चक्के की तीलियों) का नाश करने से, प्रत्यय आदि के योग्य होने से, पाप करने में रहस्य (एकान्त) का अभाव होने से—इन कारणों से ये भगवान् अर्हत् हैं, ऐसे अनुस्मरण करता है।

वे सभी क्लेशों से दूर, बहुत दूर खड़े हैं; क्योंकि उन्होंने (आर्य-) मार्ग द्वारा वासनासहित क्लेशों का विध्वंस कर दिया है। इस प्रकार दूर होने से 'अरहं' (=अर्हत्) है।

कहा भी है—

जो जिससे युक्त नहीं है, वह उससे दूर है। नाथ (=बुद्ध) दोषों से युक्त नहीं हैं, अत: वे अर्हत् माने जाते हैं ॥

एवं इस मार्ग से उन के द्वारा क्लेश रूपी अरि मार डाले गये, अत:—**अरीनं हतत्ता पि अरहं।** कहा गया है।

क्योंकि राग आदि कहे जाने वाले सभी (क्लेश रूपी) अरि (शत्रु) नाथ (बुद्ध) द्वारा प्रज्ञा रूपी शस्त्र से मार डाले गये, इसीलिए भी वे अर्हत् माने जाते हैं॥

और यह जो अविद्या, भव, तृष्णा से निर्मित नाभि वाला, पुण्य आदि अभिसंस्कार रूपी अरों वाला, जरामरण रूपी नेमि वाला तथा आस्रवसमूह से निर्मित अक्ष (=धुरी) से छिदा हुआ, तीन भव (काम, रूप और अरूप) रूपी रथ में जुड़ा हुआ, अनादिकाल से चलता आ रहा संसार-

---

१. **आरका** ति। एत्थ आ-कारस्स रस्सत्तं, क-कारस्स च ह-कारं सानुसारं कत्वा निरुत्तिनयेन "अरहं" ति पदसिद्धि।

२. समङ्गनसीलो समङ्गी, न समङ्गिता **असमङ्गिता** = असमन्नागमो, असहवुत्तिता।

अथ वा संसारचक्कं ति अनमतग्गं संसारवट्टं वुच्चति। तस्स च अविज्जा नाभि, मूलत्ता; जरामरणं[१] नेमि; परियोसानत्ता, सेसा दसधम्मा अरा अविज्जामूलकत्ता जरामरणपरियन्तत्ता च।

तत्थ दुक्खादीसु[२] अञ्ञाणं अविज्जा। कामभवे च अविज्जा कामभवे सङ्खारानं पच्चयो होति। रूपभवे अविज्जा रूपभवे सङ्खारानं पच्चयो होति। अरूपभवे अविज्जा अरूपभवे सङ्खारानं पच्चयो होति। कामभवे सङ्खारा कामभवे पटिसन्धिविञ्ञाणस्स पच्चया होन्ति। एस नयो इतरेसु। कामभवे पटिसन्धिविञ्ञाणं कामभवे नामरूपस्स पच्चयो होति। तथा रूपभवे। अरूपभवे नामस्सेव पच्चयो होति। कामभवे नामरूपं कामभवे सळायतनस्स पच्चयो होति। रूपभवे नामरूपं रूपभवे तिण्णं आयतनानं[३] पच्चयो होति। अरूपभवे नामं अरूपभवे एकस्स आयतनस्स पच्चयो होति। कामभवे सळायतनं कामभवे छब्बिधस्स फस्सस्स पच्चयो होति। रूपभवे तीणि आयतनानि रूपभवे तिण्णं फस्सानं पच्चया होन्ति। अरूपभवे एकं आयतनं अरूपभवे एकस्स फस्सस्स पच्चयो होति। कामभवे छ फस्सा कामभवे छन्नं वेदनानं पच्चया होन्ति। रूपभवे तयो फस्सा तत्थेव तिस्सन्नं। अरूपभवे एको तत्थेव एकिस्सा वेदनाय पच्चयो होति। कामभवे छ वेदना कामभवे छन्नं तण्हाकायानं पच्चया होन्ति। रूपभवे तिस्सो तत्थेव

चक्र है, उसके सभी अरों को इन (भगवान् बुद्ध) ने बोधिमण्ड में वीर्यरूपी पैरों से शीलरूपी पृथ्वी पर स्थित होकर, श्रद्धारूपी हाथ से, कर्म का क्षय करने वाली ज्ञानरूप कुल्हाड़ी को पकड़ कर नष्ट कर दिया है, अत: **अरानं हतत्ता पि अरहं** कहा गया है।

अथवा, 'संसारचक्र' अनादि संसार-वृत्त (=गोल) को कहा जाता है। (उस चक्र का) मूल होने से, अविद्या उसकी नाभि है, पर्यवसान होने से जरामरण नेमि है, शेष दस धर्म अर हैं; क्योंकि उनका मूल अविद्या और पर्यवसान (अन्त) जरामरण है।

इनमें, दु:ख आदि (चार आर्यसत्यों) का अज्ञान अविद्या है। कामभव में अविद्या कामभव के संस्कारों का प्रत्यय (=कारण) होती है। रूपभव में अविद्या रूपभव के संस्कारों का प्रत्यय होती है। अरूपभव में अविद्या अरूपभव के संस्कारों का प्रत्यय होती है। कामभव में संस्कार कामभव में प्रतिसन्धिविज्ञान के प्रत्यय होते हैं। अन्यों में भी यही विधि है। कामभव में प्रतिसन्धि-विज्ञान कामभव में नाम-रूप का प्रत्यय होता है। वैसे ही रूपभव में भी। अरूपभव में केवल नाम का ही प्रत्यय होता है। कामभव में नामरूप का, कामभव में षडायतन का प्रत्यय होता है। रूपभव में नामरूप, तीन आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, मन) का प्रत्यय होता है। अरूपभव में नामरूप, अरूपभव में एक आयतन का प्रत्यय होता है। कामभव में षडायतन कामभव के षड्विध स्पर्शों का प्रत्यय होता है। रूपभव में तीन आयतन रूपभव के तीन स्पर्शों के प्रत्यय होते हैं। अरूपभव में एक आयतन अरूपभव के एक स्पर्श का प्रत्यय होता है। कामभव में छह स्पर्श कामभव में छह वेदनाओं के प्रत्यय होते हैं। रूपभव में तीन स्पर्श वहीं तीन (वेदनाओं) के; अरूपभव का एक (स्पर्श) वहीं एक वेदना का प्रत्यय होता है। कामभव में छह वेदनाएँ कामभव की छह

---

१. तत्थ तत्थ भवे परियन्तभावेन पाकटं **जरामरणं** नेमिट्ठानियं।

२. **दुक्खादीसू** ति। दुक्खसमुदयनिरोधमग्गेसु। ३. **तिण्णं आयतनानं** ति। चक्खु-सोत-मनायतनानं।

तिण्णं। अरूपभवे एका वेदना अरूपभवे एकस्स तण्हाकायस्स पच्चयो होति। तत्थ तत्थ सा सा तण्हा तस्स तस्स उपादानस्स, उपादानादयो भवादीनं।

कथं? इधेकच्चो 'कामे परिभुञ्जिस्सामी' ति कामुपादानपच्चया कायेन दुच्चरितं चरति, वाचाय दुच्चरितं चरति, मनसा दुच्चरितं चरति, दुच्चरितपारिपूरिया अपाये उपपज्जति। तत्थस्स उपपत्तिहेतुभूतं कम्मं कम्मभवो, कम्मनिब्बत्ता खन्धा उपपत्तिभवो, खन्धानं निब्बत्ति जाति, परिपाको जरा, भेदो मरणं।

अपरो 'सग्गसम्पत्तिं अनुभविस्सामी' ति तथेव सुचरितं चरति, सुचरितपारिपूरिया सग्गे उप्पज्जति। तत्थस्स उपपत्तिहेतुभूतं कम्मं कम्मभवो ति सो एव नयो।

अपरो पन 'ब्रह्मलोकसम्पत्तिं अनुभविस्सामी' ति कामुपादानपच्चया एव मेत्तं भावेति, करुणं मुदितं उपेक्खं भावेति, भावनापारिपूरिया ब्रह्मलोके निब्बत्तति। तत्थस्स निब्बत्तिहेतुभूतं कम्मं कम्मभवो ति सो एव नयो।

अपरो 'अरूपभवे सम्पत्तिं अनुभविस्सामी' ति तथेव आकासानञ्चायतनादिसमापत्तियो भावेति, भावानापारिपूरिया तत्थ तत्थ निब्बत्तति, तत्थस्स निब्बत्तिहेतुभूतं कम्मं कम्मभवो, कम्मनिब्बत्ता खन्धा उपपत्तिभवो, खन्धानं निब्बत्ति जाति, परिपाको जरा, भेदो मरणं ति।

एस नयो सेसुपादानमूलिकासु पि योजनासु।

तृष्णाओं का प्रत्यय होती हैं। रूपभव में तीन (वेदनाएँ) उनही तीन (तृष्णाकायों) का। अरूपभव में एक वेदना अरूपभव के एक तृष्णाकाय का प्रत्यय होता है। वहाँ वहाँ वह वह तृष्णा उस उस उपादान का, और उपादान आदि भव आदि के प्रत्यय हैं।

कैसे? यहाँ कोई पुद्गल "कामों का भोग करूँगा" ऐसा (सोचकर) कामोपादान (=कामों में लिप्त रहना) के कारण कायिक दुराचार करता है, वाचिक दुराचार करता है, मानसिक दुराचार करता है। उसके फलस्वरूप वह अपाय (=नरक आदि) में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतुभूत कर्म कर्मभव, कर्म से उद्भूत स्कन्ध उत्पत्तिभव, स्कन्धों का उत्पाद जाति, उनका परिपाक जरा और उनका विनाश मरण है।

अन्य (पुद्गल) "स्वर्ग-सम्पत्ति का अनुभव करूँगा" ऐसा (सोचकर) वैसे ही (कायिक आदि) सदाचार करता है। सदाचार के फलस्वरूप स्वर्ग में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतुभूत कर्म कर्मभव हैं—इस प्रकार वही विधि है।

दूसरा पुद्गल "ब्रह्मलोक की सम्पत्ति का अनुभव करूँगा"—ऐसा (सोचकर) कामोपादान के कारण ही मैत्री की भावना करता है, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करता है, भावना के फलस्वरूप ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतुभूत कर्म कर्मभव है—इस प्रकार वही विधि है।

कोई पुरुष—"अरूपभव में सम्पत्ति का अनुभव करूँगा" ऐसा (सोचकर) वैसी ही आकाशानन्त्यायतन आदि समापत्तियों की भावना करता है, भावना के फलस्वरूप वहाँ वहाँ उत्पन्न होता है। वहाँ उसकी उत्पत्ति का हेतुभूत कर्म कर्मभव, कर्म से उत्पन्न स्कन्ध उत्पत्तिभव, स्कन्धों की उत्पत्ति जाति, परिपाक जरा, भेद मरण है।

एवं अयं अविज्जा हेतु, सङ्खारा हेतुसमुप्पन्ना, उभो पेते हेतुसमुप्पन्ना ति पच्चय-परिग्गहे पञ्ञा धम्मट्ठितिञाणं। अतीतं पि अद्धानं अनागतं पि अद्धानं अविज्जा हेतु, सङ्खारा हेतुसमुप्पन्ना, उभो पेते हेतुसमुप्पन्ना ति पच्चयपरिग्गहे पञ्ञा धम्मट्ठितिञाणं ति।

एतेनेव नयेन सब्बपदानि वित्थारेतब्बानि।

तत्थ अविज्जासङ्खारा एको सङ्खेपो, विञ्ञाणनामरूपसळायतनफस्सवेदना एको, तण्हुपादानभवा एको, जातिजरामरणं एको। पुरिमसङ्खेपो चेत्थ अतीतो अद्धा, द्वे मज्झिमा पच्चुप्पन्नो, जातिजरामरणं अनागतो। अविज्जासङ्खारग्गहणेन चेत्थ तण्हुपादानभवा गहिता व होन्ती ति इमे पञ्च धम्मा अतीते कम्मवट्टं, विञ्ञाणादयो पञ्च एतरहि विपाकवट्टं, तण्हु-पादानभवग्गहणेन अविज्जासङ्खारा गहिता व होन्ती ति इमे पञ्च धम्मा एतरहि कम्मवट्टं, जातिजरामरणापदेसेन विञ्ञाणादीनं निद्दिट्ठत्ता इमे पञ्च धम्मा आयतिं विपाकवट्टं। ते आकारतो वीसतिविधा होन्ति। सङ्खारविञ्ञाणानं चेत्थ अन्तरा एको सन्धि, वेदनातण्हानमन्तरा एको, भवजातीनमन्तरा एको ति।

इति भगवा एतं चतुसङ्खेपं तियद्धं वीसताकारं तिसन्धिं पटिच्चसमुप्पादं सब्बाकारतो जानाति पस्सति अञ्ञाति पटिविज्झति। तं ञातट्ठेन ञाणं, पजाननट्ठेन पञ्ञा, तेन वुच्चति— 'पच्चयपरिग्गहे पञ्ञा धम्मट्ठितिञाणं''' ति। इमिना धम्मट्ठितिञाणेन भगवा ते धम्मे यथाभतं

यही विधि अन्य उपादानमूलक योजनाओं में भी है।

इस प्रकार यह अविद्या हेतु है, संस्कार हेतु से उत्पन्न हैं, ये दोनों ही हेतुसमुत्पन्न हैं— इस प्रकार प्रत्यय का ग्रहण करने वाली प्रज्ञा धर्मस्थितिज्ञान (=प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान) है। अतीतकाल में भी, अनागतकाल में भी 'अविद्या हेतु है, संस्कार हेतु से उत्पन्न हैं, ये दोनों ही हेतुसमुत्पन्न हैं'—इस प्रकार प्रत्यय का ग्रहण करने वाली प्रज्ञा धर्मस्थितिज्ञान है।

इस विधि से सभी पदों की व्याख्या कर लेनी चाहिये।

इनमें, 'अविद्या-संस्कार' एक संक्षेप (=विभाग) है, 'विज्ञान-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना' दूसरा। 'तृष्णा-उपादान-भव' एक, 'जाति-जरा-मरण' दूसरा। प्रथम संक्षेप अतीतकाल से सम्बद्ध है, बीच के दो वर्तमान काल से, जाति और जरामरण अनागतकाल से। और यहाँ अविद्या-संस्कार का ग्रहण करने से तृष्णा-उपादान-भव भी गृहीत होते ही हैं, इस प्रकार ये पाँच धर्म अतीतकाल के कर्म-वृत्त हैं; विज्ञान-आदि पाँच इस समय (=प्रत्युत्पन्नभव) के विपाक-वृत्त है। तृष्णा-उपादान-भव के ग्रहण से अविद्या और संस्कार भी गृहीत होते ही हैं, इस प्रकार ये पाँच धर्म यहाँ के कर्मवृत्त हैं। और क्योंकि जाति और जरामरण का कथन करने से विज्ञान आदि (भी) निर्दिष्ट होते हैं, अतः ये पाँच धर्म अनागत के विपाकवृत्त हैं। ये आकार से बीस प्रकार के होते हैं। यहाँ संस्कार और विज्ञान के बीच एक सन्धि है, वेदना और तृष्णा के बीच एक, भव और जाति के बीच एक सन्धि।

इस प्रकार, भगवान् चार संक्षेप, तीन काल, बीस आकार और तीन सन्धियों वाले इस **प्रतीत्यसमुत्पाद** को सभी प्रकार से जानते हैं, देखते हैं, समझते हैं, गहराई तक पहुँचते हैं। "वह

ञत्वा तेसु निब्बिन्दन्तो विरज्जन्तो विमुच्चन्तो वुत्तप्पकारस्स इमस्स संसारचक्कस्स अरे हनि विहनि विद्धंसेसि। एवं पि **अरानं हतत्ता अरहं**।

अरा संसारचक्कस्स हता ञाणासिना यतो।
लोकनाथेन तेनेस अरहं ति पवुच्चति॥

अग्गदक्खिणेय्यत्ता च चीवरादिपच्चये अरहति, पूजाविसेसं च। तेनेव च उप्पन्ने तथागते ये केचि महेसक्खा देवमनुस्सा, न ते अञ्ञत्थ पूजं करोन्ति। तथा हि ब्रह्मा सहम्पति सिनेरुमत्तेन रतनदामेन तथागतं पूजेसि। यथाबलं च अञ्ञे देवा मनुस्सा च बिम्बिसारकोसल-राजादयो। परिनिब्बुतं पि च भगवन्तं उद्दिस्स छन्नवुतिकोटिधनं विस्सज्जेत्वा असोकमहाराजा सकलजम्बुदीपे चतुरासीतिविहारसहस्सानि पतिट्ठापेसि। को पन वादो अञ्ञेसं पूजाविसेसानं ति **पच्चयादीनं अरहत्ता पि अरहं**।

पूजाविसेसं सह पच्चयेहि यस्मा अयं अरहति लोकनाथो।
अत्थानुरूपं अरहं ति लोके तस्मा जिनो अरहति नाममेतं॥

यथा च लोके ये केचि पण्डितमानिनो बाला असिलोकभयेन[१] रहो पापं करोन्ति, एवमेस न कदाचि करोती[२] ति **पापकरणे रहाभावतो पि अरहं**।

यस्मा नत्थि रहो नाम पापकम्मेसु तादिनो।
रहाभावेन तेनेस अरहं इति विस्सुतो॥

ज्ञात होने के अर्थ में ज्ञान है, प्रकृष्टरूप से (=विशेषरूप से) जानने के अर्थ में प्रज्ञा है, इसलिये कहा जाता है कि "प्रत्यय का ग्रहण करने वाली प्रज्ञा धर्मस्थिति ज्ञान है।" इस धर्मस्थितिज्ञान से भगवान् ने उन धर्मों को यथार्थरूप में जानकर, उनके प्रति निर्वेद रखते हुए उक्त दस प्रकार के इस संसार-चक्र के अरों का हनन किया, विनाश किया, विध्वंस किया। इस प्रकार भी अरों का हनन करने से **वे अरहं** हैं।

क्योंकि संसार-चक्र के अरों को लोकनाथ ने ज्ञान की तलवार से काट डाला, अत: ये अर्हन्त कहे जाते हैं॥

अग्र दक्षिणेय (=सबसे प्रथम दक्षिणा देने योग्य) होने से, चीवर आदि प्रत्ययों के योग्य हैं, विशेष पूजा के भी। इसीलिये तो तथागत के उत्पन्न हो जाने पर, कोई भी महाप्रतापी देवता और मनुष्य किसी अन्य की पूजा नहीं करते; अतएव ब्रह्मा सहम्पति ने सुमेरु के परिमाण की रत्नमाला से तथागत की पूजा की थी, और यथाशक्ति दूसरे देवों ने और (मगध के) राजा बिम्बिसार तथा कोशलराज ने भी। (भगवान् के) परिनिवृत हो जाने पर भी, भगवान् के लिये उद्देश्य कर, महाराज अशोक ने समस्त जम्बू द्वीप में चौरासी हजार विहारों का निर्माण करवाया था। फिर दूसरे बाकी छोटे-बड़े राजाओं के द्वारा की गयी विशेष पूजा की तो बात ही क्या है! इस प्रकार **पच्चयादीनं अरहत्तापि अरहं** कहा गया है।

---

१. **असिलोकभयेना** ति। अकित्तिभयेन।

२. पापहेतूनं बोधिमण्डे एव सुप्पहीनत्ता।

एवं सब्बथा पि—

आरकत्ता हतत्ता च किलेसारीन[१] सो मुनि।
हतसंसारचक्कारो पच्चयादीन[१] चारहो।
न रहो करोति पापानि अरहं तेन वुच्चती ति॥

५. सम्मा[२] सामं च[३] सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन **सम्मासम्बुद्धो**। तथाहि एस सब्बधम्मे सम्मा सामं च बुद्धो, अभिञ्ञेय्ये धम्मे अभिञ्ञेय्यतो बुद्धो, परिञ्ञेय्ये धम्मे परिञ्ञेय्यतो, पहातब्बे धम्मे पहातब्बतो, सच्छिकातब्बे धम्मे सच्छिकातब्बतो, भावेतब्बे धम्मे भावेतब्बतो। तेनेव चाह—

"अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं भावेतब्बं च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा ति॥ (खु० १/३५८ गा०)

अपि च चक्खुं दुक्खसच्चं, तस्स मूलकारणभावेन समुट्ठापिका पुरिमतण्हा समुदय-

---

क्योंकि यह लोकनाथ प्रत्ययों के साथ विशेष पूजा के योग्य हैं; अतः लोक में अर्थ के अनुरूप जिन (बुद्ध) ही 'अर्हन्त' नाम के योग्य हैं॥

जिस प्रकार लोक में स्वयं को पण्डित मानने वाले कुछ मूर्ख अपयश के डर से छिपकर पाप करते हैं, उस प्रकार वे (बुद्ध) कभी नहीं करते; (क्योंकि उनके पाप के हेतु तो बोधिमण्ड में ही नष्ट हो जाते हैं)। अतः **पापकरण** में एकान्तभाव से भी **अरहं** कहा गया है।

क्योंकि प्रिय-अप्रिय आलम्बनों में एक समान रहने वाले (बुद्ध) का पाप-कर्मों में कोई दुराव-छिपाव (=रहस्य) नहीं है, इसलिये वे अर्हन्त के रूप में प्रसिद्ध हैं॥

ऐसे सब प्रकार से भी—

(सभी क्लेशों से) दूर होने, क्लेशरूपी अरियों का हनन करने, संसारचक्र के अरों का नाश करने, और प्रत्यय आदि के योग्य होने से; तथा वे मुनि क्योंकि छिपकर पाप नहीं करते, अतः अर्हत् कहे जाते हैं॥

५. सभी धर्मों को सम्यक् रूप (=अविपरीत, यथार्थरूप) से और स्वयं ही जानने के कारण **सम्मासम्बुद्ध** हैं। वस्तुतः उन्होंने सब धर्मों को सम्यक्-रूप से और स्वयं जाना, अभिज्ञेय (=जानने योग्य चार आर्य सत्य) धर्मों को अभिज्ञेय के रूप में जाना, परिज्ञेय (विशेष जानने योग्य दुःख आदि) धर्मों को परिज्ञेय रूप में जाना, प्रहाण करने योग्य धर्मों को प्रहाण करने योग्य के रूप में जाना, साक्षात्कार करने योग्य धर्मों (निर्वाण) को साक्षात्कार करने योग्य के रूप में जाना, भावना करने योग्य धर्मों (मार्ग) को भावना करने योग्य के रूप में जाना। इसीलिए कहा गया है—

"मैंने जानने योग्य को जान लिया, भावना करने योग्य की भावना कर ली, प्रहाण करने योग्य का प्रहाण कर लिया; इसलिये ब्राह्मण! मैं बुद्ध हूँ"॥

और भी—चक्षु दुःखसत्य है, उसके मूल कारण के रूप में (उसे) उत्पन्न करने वाली

१, १. एत्थ निग्गहितलोपो। **किलेसारीनं**, पच्चयादीनं त्यत्थो। २. **सम्मा** ति। अविपरीतं।
३. **सामं** ति। सयमेव।

सच्चं, उभिन्नं अप्पवत्ति निरोधसच्चं, निरोधपजानना पटिपदा मग्गसच्चं ति एवं एकेकपदुद्धारेना पि सब्बधम्मे सम्मा सामं च बुद्धो। एस नयो सोत-घान-जिह्वा-काय-मनेसु।

एतेनेव नयेन रूपादीनि छ आयतनानि, चक्खुविञ्ञाणादयो छ विञ्ञाणकाया, चक्खुसम्फस्सादयो छ फस्सा, चक्खुसम्फस्सजादयो छ वेदना, रूपसञ्ञादयो छ सञ्ञा, रूपसञ्चेतनादयो छ चेतना, रूपतण्हादयो छ तण्हाकाया, रूपवितक्कादयो छ वितक्का, रूपविचारादयो छ विचारा, रूपक्खन्धादयो पञ्चक्खन्धा, दस कसिणानि, दस अनुस्सतियो, उद्धुमातकसञ्ञादिवसेन दस सञ्ञा, केसादयो द्वत्तिंसाकारा, द्वादसायतनानि, अट्ठारस धातुयो, कामभवादयो नव भवा, पठमादीनि चत्तारि झानानि, मेत्ताभावनादयो चतस्सो अप्पमञ्ञा, चतस्सो अरूपसमापत्तियो, पटिलोमतो जरामरणादीनि, अनुलोमतो अविज्जादीनि पटिच्चसमुप्पादङ्गानि च योजेतब्बानि।

तत्रायं एकपदयोजना—"जरामरणं दुक्खसच्चं, जाति समुदयसच्चं, उभिन्नं पि निस्सरणं निरोधसच्चं, निरोधपजानना पटिपदा मग्गसच्चं" ति। एवं एकेकपदुद्धारेन सब्बधम्मे सम्मा सामं च बुद्धो अनुबुद्धो पटिबुद्धो। तेन वुत्तं—"सम्मा सामं च सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन सम्मासम्बुद्धो" ति।

६. विज्जाहि पन चरणेन च सम्पन्नत्ता **विज्जाचरणसम्पन्नो।** तत्थ **विज्जा** ति तिस्सो पि विज्जा, अट्ठ पि विज्जा। तिस्सो विज्जा **भयभेरवसुत्ते** (म० नि० १/२८) वुत्तनयेनेव

पहले से विद्यमान तृष्णा समुदयसत्य है, दोनों की अप्रवृत्ति निरोधसत्य है, निरोध को जानने का मार्ग मार्गसत्य है—इस प्रकार एक एक पद लेकर भी, सभी धर्मों को सम्यक् रूप से और स्वयं जानने वाला। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के बारे में भी यही विधि है।

इस विधि से रूप आदि छह आयतन, चक्षुर्विज्ञान आदि छह विज्ञानकाय, चक्षु-संस्पर्श आदि छह स्पर्श, चक्षु-संस्पर्शजन्य आदि छह वेदनाओं, रूपसंज्ञा आदि छह संज्ञाओं, रूपचेतना आदि छह चेतनाओं, रूपतृष्णा आदि छह तृष्णाकायों, रूप-वितर्क आदि छह वितर्कों, रूप-विचार आदि छह विचारों, रूपस्कन्ध आदि पञ्चस्कन्धों, दस कसिणों, दस अनुस्मृतियों, उद्धुमातक संज्ञा आदि दस संज्ञाओं, केश आदि बत्तीस आकारों, बारह आयतनों, अट्ठारह धातुओं, कामभव आदि नव भवों, प्रथम आदि चार ध्यानों, मैत्री भावना आदि चार अप्रामाण्यों, चार अरूपसमापत्तियों, प्रतिलोम क्रम से जरामरण आदि और अनुलोमक्रम से अविद्या आदि प्रतीत्यसमुत्पाद के अङ्गों की भी योजना कर लेनी चाहिये।

(उदाहरण के रूप में) एक पद की योजना इस प्रकार है—"जरामरण दु:खसत्य है, जाति समुदयसत्य है, दोनों से नि:सरण निरोधसत्य है, निरोध को जानना मार्गसत्य है। इस प्रकार एक-एक पद को यदि लिया जाय तो सभी धर्मों को सम्यक् रूप से, स्वयं जानना, क्रमिक रूप से जानना, भलीभाँति जानना। इसलिये कहा गया है—"सभी धर्मों को सम्यक्रूप से और स्वयं जानने के कारण सम्यक्सम्बुद्ध हैं।"

६. विद्या और चरण से सम्पन्न होने से **विज्जाचरणसम्पन्न हैं।**

विज्जा—विद्याएँ तीन भी हैं, आठ भी; तीन विद्याओं को **भयभेरवसुत्त** (म० १/२८)

वेदितब्बा, अट्ठ **अम्बट्ठसुत्ते** (दी० नि० १/९५)। तत्र हि विपस्सनाञाणेन मनोमयिद्धिया च सह छ अभिञ्ञा परिग्गहेत्वा अट्ठ विज्जा वुत्ता।

चरणं ति सीलसंवरो, इन्द्रियेसु गुत्तद्वारता, भोजने मत्तञ्ञुता, जागरियानुयोगो, सत्त सद्धम्मा[1], चत्तारि रूपावचरज्झानानी ति इमे पन्नरस धम्मा वेदितब्बा। इमे येव हि पन्नरस धम्मा, यस्मा एतेहि चरति अरियसावको, गच्छति अमतं दिसं, तस्मा चरणं ति वुत्ता। यथाह— "इध, महानाम, अरियसावको सीलवा होती" ति सब्बं **मज्झिमपण्णासके** (म० नि० २/४८०) वुत्तनयेनेव वेदितब्बं। भगवा इमाहि विज्जाहि इमिना च चरणेन समन्नागतो, तेन वुच्चति **विज्जाचरणसम्पन्नो** ति।

तत्थ विज्जासम्पदा भगवतो सब्बञ्ञुतं पूरेत्वा ठिता, चरणसम्पदा महाकारुणिकतं। सो सब्बञ्ञुताय सब्बसत्तानं अत्थानत्थं ञत्वा महाकारुणिकताय अनत्थं परिवज्जेत्वा अत्थे नियोजेति, यथा तं विज्जाचरणसम्पन्नो। तेनस्स सावका सुप्पटिपन्ना होन्ति नो दुप्पटिपन्ना, विज्जाचरणविपन्नानं सावका अत्तन्तपादयो विय।

७. सोभनगमनत्ता, सुन्दरं ठानं गतत्ता, सम्मा गतत्ता, सम्मा च गदत्ता सुगतो। गमनं पि गतं ति वुच्चति, तं च भगवतो सोभनं परिसुद्धमनवज्जं। किं पन तं ति? अरियमग्गो। तेन हेस गमनेन खेमं दिसं असज्जमानो गतो ति सोभनगमनत्ता **सुगतो**। सुन्दरं चेस ठानं गतो अमतं निब्बानं ति सुन्दरं ठानं गतत्ता पि **सुगतो**।

के अनुसार जानना चाहिये, आठ विद्याओं को **अम्बट्ठसुत्त** (दी० नि० १/९५) के अनुसार। वहाँ विपश्यना-ज्ञान और मनोमय ऋद्धि के साथ छह अभिज्ञाओं का ग्रहण कर (कुल) आठ विद्याएँ बतलायी गयी हैं।

चरणं—शील-संवर, जितेन्द्रियता, भोजन में मात्रा का ज्ञान, जागरणशील होना, सात सद्धर्म (=श्रद्धा, ह्री, अपत्राप्य, बहुश्रुत होना, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा), चार रूपावचर ध्यान—इन पन्द्रह धर्मों को समझना चाहिये। क्योंकि इन पन्द्रह धर्मों द्वारा आर्यश्रावक विचरण करता है, अमृत (=निर्वाण) की ओर जाता है, इसलिये ये 'चरण' कहे गये हैं। जैसा कि कहा गया है—"महानाम, यहाँ आर्यश्रावक शीलवान् होता है"। यह सब **मज्झिमपण्णासक** (म० नि० २/४८०) में बतलायी गयी पद्धति से ही समझना चाहिये। भगवान् इन विद्याओं से, इस चरण से समन्वागत हैं, इसलिये **विज्जाचरणसम्पन्न** कहे जाते हैं।

इनमें, विद्यासम्पदा भगवान् के सर्वज्ञत्व की परिपूर्णता में निहित है, चरण-सम्पदा महाकारुणिक होने में। वे सर्वज्ञता द्वारा सभी सत्त्वों के हिताहित को जानकर, महाकारुणिक होने से अनर्थ से हटाकर अर्थ (=हित) में लगाते हैं....। इसीलिये उनके श्रावक सुप्रतिपन्न होते हैं, विद्याचरण से रहित (शास्ताओं) के आत्मतापी (=आत्मपीड़क) शिष्यों के समान दुष्प्रतिपन्न नहीं

७. सुन्दरतया गमन करने से, सुन्दर स्थान में गये हुए होने से, एवं सम्यक् वाचन करने से **सुगत** हैं। 'गमन' जाने को भी कहते हैं; और भगवान् का गमन शोभन, परिशुद्ध, अनवद्य

---

१. **सत्त सद्धम्मा** नाम—सद्धा, हिरी, ओत्तप्पं, बाहुसच्चं, विरियं, सति, पञ्ञा च।

सम्मा च गतो तेन तेन मग्गेन पहीने किलेसे पुन अपच्चागच्छन्तो। वुत्तं हेतं— "सोतापत्तिमग्गेन ये किलेसा पहीना, ते किलेसे न पुनेति न पच्चेति न पच्चागच्छती ति सुगतो...पे०...अरहत्तमग्गेन ये किलेसा पहीना, ते किलेसे न पुनेति न पच्चेति न पच्चागच्छती ति सुगतो" ( ) ति। सम्मा वा गतो दीपङ्करपादमूलतो पभुति याव बोधिमण्डा ताव समतिंसपारमीपूरिकाय सम्मापटिपत्तिया सब्बलोकस्स हितसुखमेव करोन्तो सस्सतं, उच्छेदं, कामसुखं, अत्तकिलमथं ति इमे च अन्ते अनुपगच्छन्तो गतो ति **सम्मा गतत्ता पि सुगतो**।

सम्मा चेस गदति युत्तट्ठाने युत्तमेव वाचं भासती ति **सम्मा गदत्ता पि सुगतो**।

तत्रिदं साधकसुत्तं—"यं तथागतो वाचं जानाति अभूतं अतच्छं अनत्थसंहितं, सा च परेसं अप्पिया अमनापा, न तं तथागतो वाचं भासति। यं पि तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अनत्थसंहितं, सा च परेसं अप्पिया अमनापा, तं पि तथागतो वाचं न भासति। यं च खो तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अत्थसंहितं, सा च परेसं अप्पिया अमनापा, तत्र कालञ्ञू तथागतो होति तस्सा वाचाय वेय्याकरणाय। यं तथागतो वाचं जानाति अभूतं अतच्छं अनत्थसंहितं, सा च परेसं पिया मनापा, न तं तथागतो वाचं भासति। यं पि तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अनत्थसंहितं, सा च परेसं पिया मनापा, तं पि तथागतो वाचं न भासति। यं च खो तथागतो वाचं जानाति भूतं तच्छं अत्थसंहितं, सा च परेसं पिया मनापा, तत्र कालञ्ञू

(=अनिन्दनीय) है। वह क्या है? आर्यमार्ग। इस गमन से वे क्षेम (=निर्वाण) की ओर रागरहित होकर गये, अतः शोभन गमन करने से **सुगत** कहलाये। वे अमृत=निर्वाण जैसे सुन्दर स्थान तक गये, अतः सुन्दर स्थान में जाने से भी **सुगत** हैं।

तथा क्लेशों का प्रहाण हो जाने से पुनः पीछे न लौटते हुए, उस उस मार्ग से सम्यक् रूप से गये। क्योंकि कहा गया है—"जो क्लेश स्रोतआपत्ति मार्ग में प्रहीण हो चुके हैं, उन क्लेशों तक पुनः नहीं जाते, नहीं लौटते, अतः सुगत हैं...पूर्ववत्...अर्हत् मार्ग से जो क्लेश प्रहीण हो चुके हैं, उन क्लेशों तक पुनः नहीं जाते, नहीं लौटते, अतः सुगत हैं।" ( ) अथवा दीपङ्कर बुद्ध के चरणों से लेकर बोधिमण्ड तक तीस पारमिताओं को पूर्ण करते हुए, शाश्वत, उच्छेद, काम-सुख, 'अत्तकिलमथ' (=स्वयं को पीड़ित करना)—इन अन्तों का अनुसरण न करते हुए सम्यक् रूप से गये, अतः **सम्मा गतत्ता पि सुगतो**।

और यह (बुद्ध) सम्यक् वाचन करते हैं, उचित स्थान पर उचित वाणी बोलते हैं, अतः **सम्मा गदत्ता पि सुगतो**।

यहाँ यह सूत्र प्रमाणस्वरूप है—"जिस वचन को तथागत असत्य, तथ्यहीन, अहितकर समझते हैं, और जो दूसरों के लिये अप्रिय और अग्राह्य होता है, ऐसा वचन तथागत नहीं बोलते। जिस वचन को तथागत सत्य, तथ्य, अहितकर समझते हैं, और जो दूसरों के लिये अप्रिय और अग्राह्य होता है, उस वचन को भी तथागत नहीं बोलते। एवं जिस वचन को तथागत, सत्य, तथ्य, हितकर समझते हैं, और वह दूसरों के लिये अप्रिय और अग्राह्य होता है, वहाँ उसे कहने का उचित समय तथागत जानते हैं। जिस वचन को तथागत असत्य, तथ्यहीन, अहितकर समझते हैं, और वह दूसरों के लिये प्रिय और ग्राह्य होता है, उस वचन को भी तथागत नहीं बोलते। जिस

तथागतो होति तस्सा वाचाय वेय्याकरणाया" ति (म० नि० २/५४६)। एवं **सम्मा गदत्ता पि सुगतो** ति वेदितब्बो।

८. सब्बथा पि विदितलोकत्ता पन **लोकविदू**। सो हि भगवा सभावतो समुदयतो निरोधतो निरोधूपायतो ति सब्बथा लोकं अवेदि अञ्ञासि पटिविज्झि। यथाह—"**तत्थ खो, आवुसो, न जायति न जीयति न मीयति न चवति न उपपज्जति, नाहं तं गमनेन लोकस्स अन्तं ञातेय्यं**[१] **दट्ठेयं पत्तेयं ति वदामि, न चाहं, आवुसो, अप्पत्वा व लोकस्स अन्तं दुक्खस्स अन्तकिरियं वदामि। अपि चाहं, आवुसो, इमस्मिं येव ब्याममत्ते कळेवरे ससञ्ञिम्हि समनके लोकं च पञ्ञपेमि, लोकसमुदयं च लोकनिरोधं च लोकनिरोधगामिनिं च पटिपदं।**

"गमनेन न पत्तब्बो लोकस्सन्तो कुदाचनं।
न च अप्पत्वा लोकन्तं दुक्खा अत्थि पमोचनं॥
तस्मा हवे लोकविदू सुमेधो लोकन्तगू वूसितब्रह्मचरियो।
लोकस्स अन्तं समितावि ञत्वा नासीसती लोकमिमं परं चा" ति॥

(सं० नि० १/१०३-५)

अपि च तयो लोका—सङ्खारलोको, सत्तलोको, ओकासलोको ति। तत्थ "**एको लोको**

वचन को तथागत सत्य, तथ्य, हितकर समझते हैं, और वह दूसरों को प्रिय और ग्राह्य भी होता है, उसे बोलने का उचित समय तथागत जानते हैं"। (म० नि० २/५४६)। इस प्रकार **सम्मा गदत्ता**[२] **पि सुगतो**—ऐसा जानना चाहिये।

८. सब प्रकार से लोक (=संसार) को जानने के कारण **लोकविदू** (=लोकविद्) हैं। उन भगवान् ने (१) स्वभाव से, (२) समुदय से, (३) निरोध से, (४) निरोध के उपाय (=मार्ग) से—इस प्रकार सर्वथा लोक को जाना, समझा, गहराई से समझा। जैसा कि कहा गया है— "आयुष्मन्! मैं यह नहीं कहता हूँ कि लोक का कोई ऐसा अन्त (=अन्तिम सीमा) है, जहाँ न कोई उत्पन्न होता है, न जीता है, न मरता है, न च्युत होता है, न (पुनः) उत्पन्न होता है; वहाँ जाकर उसे जानना, देखना, प्राप्त करना चाहिये। और आयुष्मन्, मैं यह भी नहीं कहता कि (उस) लोक का अन्त पाये विना ही दुःख का अन्त किया जा सकता है। मैं तो, आयुष्मन्! इसी व्याम (=चार हाथ की लम्बाई) मात्र के, संज्ञाओं और मन (=विज्ञान) वाले शरीर में ही लोक को भी प्रज्ञप्त करता (=बतलाता) हूँ, लोकसमुदय को भी, लोकनिरोध को भी, लोक-निरोधगामिनी प्रतिपदा को भी।"

"गमन द्वारा लोक के अन्त को कभी प्राप्त नहीं किया जा सकता, और लोक का अन्त पाये विना दुःख से छुटकारा नहीं है॥

अतः लोकविद्, मेधावी, लोक के अन्त (=निर्वाण) का ज्ञाता, ब्रह्मचर्य पूर्ण करने वाला, शान्त साधक लोक का अन्त जानकर इस लोक या परलोक की आशा नहीं करता।"

और भी लोक तीन हैं—(१) संस्कारलोक, (२) सत्त्वलोक, (३) अवकाशलोक। इनमें

---

१. **ञातेय्यं** ति जानितब्बं। "ञातायं" ति वा पाठो। ञाता अयं, निब्बानत्थिको ति अधिप्पायो।
२. 'गद्' धातु (व्यक्त=स्पष्ट वाणी) कहने, बोलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है।

सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका" (खु० ५/१३५) ति आगतट्ठाने **सङ्खारलोको** वेदितब्बो। "**सस्सतो लोको ति वा असस्सतो लोको ति वा**" (दी० नि० १/१५७) ति आगतट्ठाने **सत्तलोको**।

"**यावता चन्दिमसूरिया परिहरन्ति**[१] **दिसा भन्ति विरोचमाना।**
ताव सहस्सधा लोको एत्थ ते वत्तती वसो" **ति॥**
(म० नि० १/४०२)

आगतट्ठाने **ओकासलोको**।

तं पि भगवा सब्बथा अवेदि। तथा हिस्स "**एको लोको सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका। द्वे लोका नामं च रूपं च। तयो लोका तिस्सो वेदना। चत्तारो लोका चत्तारो आहारा। पञ्च लोका पञ्चुपादानक्खन्धा। छ लोका छ अज्झत्तिकानि आयतनानि। सत्त लोका सत्तविञ्ञाणट्ठितियो। अट्ठ लोका अट्ठ लोकधम्मा। नव लोका नव सत्तावासा। दस लोका दसायतनानि। द्वादस लोका द्वादसायतनानि। अट्ठारस लोका अट्ठारस धातुयो**" (खु० ५/१३५) ति अयं सङ्खारलोको पि सब्बथा विदितो।

यस्मा पनेस सब्बेसं पि सत्तानं आसयं जानाति, अनुसयं जानाति, चरितं[२] जानाति, अधिमुत्तिं[३] जानाति, अप्परजक्खे[४] महारजक्खे, तिक्खिन्द्रिये मुदिन्द्रिये, स्वाकारे द्वाकारे, सुविञ्ञापये दुविञ्ञापये, भब्बे अभब्बे सत्ते जानाति, तस्मास्स सत्तलोको पि सब्बथा विदितो।

"एक लोक ऐसा है जिसमें सभी सत्त्व आहार पर निर्भर रहते हैं" (खु० नि० ५/१३५)—ऐसे स्थल (=गद्यांश) में **सङ्खारलोक** (=संस्कारलोक) समझना चाहिये; "लोक शाश्वत है या लोक अशाश्वत है" (दी० १/१५७)—ऐसे स्थल में **सत्तलोक** (=सत्त्वलोक) समझना चाहिये।

जहाँ तक चन्द्रमा और सूर्य परिभ्रमण करते हैं, दिशायें प्रकाशित होती हुई चमकती हैं, उससे हजार गुना विशाल और प्रकाशित एक लोक, है, यहीं (तक) तुम्हारा वश है।" (म० नि० १/४०२)।

ऐसे स्थल में **ओकासलोक** (=अवकाशलोक) समझना चाहिये।

उसे भी भगवान् ने सब प्रकार से जान लिया था। वैसे ही उनने "एक लोक (है जहाँ) सभी सत्त्व आहार पर निर्भर हैं। दो लोक : नाम और रूप। तीन लोक : तीन वेदनाएँ। चार लोक : चार आहार। पाँच लोक : पाँच उपादानस्कन्ध। छह लोक : छह आध्यात्मिक आयतन। सात लोक : सात विज्ञानस्थितियाँ। आठ लोक : आठ लोकधर्म। नौ लोक : नौ सत्त्व आवास (=प्राणिलोक)। दस लोक : दस आयतन। बारह लोक : बारह आयतन। अट्ठारह लोक : अट्ठारह धातुएँ" (खु० ५/१३५)—इस प्रकार इस संस्कारलोक को भी सब प्रकार से जान लिया था।

क्योंकि ये (बुद्ध) सभी सत्त्वों के आशय (=मूल प्रवृत्ति), अनुशय (=प्रकृति), चरित,

---

१. **यावता चन्दिमसूरिया परिहरन्ती** ति। यत्तके ठाने चन्दिमसूरिया परिवत्तन्ति परिब्भमन्ति।

२. **चरितं** ति। सुचरितदुच्चरितं।

३. **अधिमुत्ति** अज्झासयधातु। सा दुविधा—हीनाधिमुत्ति, पणीताधिमुत्ती ति।

४. अप्परजं अक्खं एतेसं ति अप्परजक्खा, अप्पं वा रजं पञ्ञामये अक्खिम्हि एतेसं ति अप्परजक्खा, अनुस्सदरागादिरजा सत्ता; ते **अप्परजक्खे**। एवं **महारजक्खे** ति।

यथा च सत्तलोको एवं ओकासलोको पि। तथा हेस एकं चक्कवाळं आयामतो च वित्थारतो च योजनानं द्वादससतसहस्सानि चतुतिंससतानि च पञ्ञासं च योजनानि। परिक्खेपतो पन—

सब्बं सतसहस्सानि छत्तिंसपरिमण्डलं।
दस चेव सहस्सानि अड्ढुड्ढानि सतानि च॥

तत्थ—

दुवे सतसहस्सानि चत्तारि नहुतानि च।
एत्तकं बहलत्तेन सङ्खातायं वसुन्धरा॥

तस्सा एव सन्धारकं—

चत्तारि सतसहस्सानि अट्ठेव नहुतानि च।
एत्तकं बहलत्तेन जलं वाते पतिट्ठितं॥

तस्सा पि सन्धारको—

नव सतसहस्सानि मालुतो नभमुग्गतो।
सट्ठिं चेव सहस्सानि एसा लोकस्स सण्ठिति[1]॥

एवं सण्ठिते चेत्थ[2] योजनानं—

अधिमुक्ति (=अभिरुचि) को जानते हैं, ये जानते हैं कि वे सत्त्व (प्रज्ञारूपी) आँखों में अल्प (क्लेशरूपी) रजवाले हैं या आँखों में बहुत अधिक रजवाले, तीक्ष्णेन्द्रिय हैं या मृदु-इन्द्रिय, सदाचारी हैं या दुराचारी, सहजता से सिखाये जाने योग्य हैं या कठिनाई से सिखाये जाने योग्य, भव्य (=कर्म, क्लेश, विपाक के आवरण से रहित) हैं या अभव्य, अतः उनके द्वारा सत्त्वलोक भी सब प्रकार से जाना गया है।

इस प्रकार सत्त्वलोक के समान अवकाशलोक भी समझना चाहिये; क्योंकि यह (लोक परिणाम में इस प्रकार है)—एक चक्रवाल (=ब्रह्माण्ड) लम्बाई और चौड़ाई में बारह लाख, चार हजार, तीन सौ पचास (१२, ०४, ३५०) योजन है। वृत्त (घेरे) के अनुसार—

"सब परिमण्डल (=घेरा) छत्तीस लाख, दस हजार, तीन सौ पचास (३६,१०,३५०) योजन है।"

वहाँ—

"मोटाई में यह पृथ्वी दो लाख, चालीस हजार (२,४०,०००) योजन कही गयी है।"

उसे ही धारण करने वाला—

"जल चार लाख, अस्सी हजार (४,८०,०००) योजन-इतने घनत्व में वायु पर प्रतिष्ठित है।"

उसे भी धारण करने वाली—

"वायु नव लाख, साठ हजार (९,६०,०००) योजन आकाश में ऊपर नीचे चारों ओर स्थित हैं—यह लोक की स्थिति है।

---

१. **सण्ठिती** ति। हेट्ठा उपरितो चा ति सब्बसो ठिति। २. **एत्था** ति। चक्कवाळे।

चतुरासीति सहस्सानि अज्झोगाळ्हो महण्णवे।
अच्चुग्गतो तावदेव सिनेरु पब्बतुत्तमो॥
ततो उपड्ढुपड्ढेन पमाणेन यथाक्कमं।
अज्झोगाळ्हुग्गता दिब्बा नानारतनचित्तिता॥
युगन्धरो ईसधरो करवीको सुदस्सनो।
नेमिन्धरो विनतको अस्सकण्णो गिरि ब्रहा[1]॥
एते सत्त महासेला सिनेरुस्स समन्ततो।
महाराजानमावासा देवयक्खनिसेविता॥
योजनानं[2] सतानुच्चो हिमवा पञ्च पब्बतो[2]।
योजनानं सहस्सानि तीणि आयतवित्थतो॥
चतुरासीतिसहस्सेहि कूटेहि पटिमण्डितो।
तिपञ्चयोजनक्खन्धपरिक्खेपा नगव्हया॥
पञ्ञासयोजनक्खन्धसाखायामा समन्ततो।
सतयोजनवित्थिण्णा तावदेव च उग्गता॥
जम्बु यस्सानुभावेन जम्बुदीपो पकासितो।

यं चेतं जम्बुया पमाणं, एतदेव असुरानं चित्रपाटलिया, गरुळानं सिम्बलिरुक्खस्स, अपरगोयाने कदम्बस्स, उत्तरकुरूसु कप्परुक्खस्स, पुब्बविदेहे सिरीसस्स, तावतिंसेसु पारिच्छत्तकस्सा ति। तेनाहु **पोराणा**—

ऐसी स्थिति वाले इस (ब्रह्माण्ड) में, योजनों में—

"चौरासी हजार (योजन तक) महासमुद्र में डूबा हुआ और उतना ही ऊपर उठा हुआ उत्तम पर्वत सुमेरु है (जिसका क्षेत्रफल दो लाख, बावन हजार योजन है)। तत्पश्चात् क्रमशः अर्ध-अर्ध परिमाण वाले (अर्थात् ४२,००० योजन, २१,००० योजन आदि के क्रम से) (समुद्र में) डूबे हुए और (उतने ही परिमाण में) ऊपर उठे हुए, नानाविध दिव्य रत्नों से चित्रित युगन्धर, ईषाधर, करवीक, सुदर्शन, नेमिन्धर, विनतक, अश्वकर्ण गिरि—ये सात महापर्वत सुमेरु के चारों ओर देवों, यक्षों से सेवित महाराजों (=चतुर्महाराजाओं) के आवास है। हिमालय पर्वत पाँच सौ योजन ऊँचा, तीन हजार योजन लम्बा और चौड़ा है। चौरासी हजार कूटों (=शिखरों) से सुशोभित है। 'नाग' नाम से पुकारे जाने वाले जम्बू (=जामुन) के वृक्ष के स्कन्धों की गोलाई पन्द्रह योजन है। चारों ओर पचास योजन तक स्कन्ध (तने) और शाखाएँ फैली हैं, यह सौ योजन विस्तृत और उतना ही ऊँचा है, जिसके नाम से जम्बूद्वीप प्रसिद्ध है।"

जो यह जम्बु (वृक्ष) का परिमाण है, वही असुरों के चित्रपाटली (वृक्ष) का, गरुड़ों के शिम्बली (=सेमर) का, अपरगोयान में कदम्ब का, उत्तर कुरु में कल्पवृक्ष का, पूर्वविदेह में शिरीष का या त्रायस्त्रिंश में पारिछत्रक का है। इसीलिये **पुराने विद्वानों** ने कहा—

---

१. **ब्रहा** ति। महन्तो।
२-२. हिमवा पब्बतो पञ्च योजनानं सतानि उच्चो उब्बेधो त्यत्थो।

"पाटली सिम्बली जम्बू देवानं पारिच्छत्तको।
कदम्बो कप्परुक्खो च सिरीसेन भवति सत्तमं[१] ति॥
द्वेअसीति- सहस्सानि अज्झोगाळ्हो महण्णवे।
अच्चुग्गतो तावदेव चक्कवाळसिलुच्चयो॥
परिक्खिपित्वा तं सब्बं लोकधातुमयं ठितो" ति॥

तत्थ चन्दमण्डलं एकूनपञ्ञासयोजनं। सुरियमण्डलं पञ्ञासयोजनं। तावतिंसभवनं दससहस्सयोजनं। तथा असुरभवनं अवीचिमहानिरयो जम्बुदीपो च। अपरगोयानं सतसहस्सयोजनं। तथा पुब्बविदेहं। उत्तरकुरु अट्ठसहस्सयोजनं। एकमेको चेत्थ महादीपो पञ्चसतपञ्चसतपरित्तदीपपरिवारो। तं सब्बं पि एकं चक्कवाळं, एका लोकधातु। तदन्तरेसु लोकन्तरिकनिरया।

एवं अनन्तानि चक्कवाळानि, अनन्ता लोकधातुयो भगवा अनन्तेन बुद्धञाणेन अवेदि, अञ्ञासि, पटिविज्झि। एवमस्स ओकासलोको पि सब्बथा विदितो। एवं पि **सब्बथा विदितलोकत्ता लोकविदू**।

९. अत्तना पन गुणेहि विसिट्ठतरस्स कस्सचि अभावतो नत्थि एतस्स उत्तरो ति **अनुत्तरो**। तथा हेस सीलगुणेना पि सब्बलोकं अभिभवति, समाधि-पञ्ञाविमुत्ति-विमुत्ति-ञाणदस्सनगुणेना पि। सीलगुणेना पि असमो असमसमो अप्पटिमो अप्पटिभागो अप्पटि-पुग्गलो...पे०...विमुत्तिञाणदस्सनगुणेना पि। यथाह—"**न खो पनाहं समनुपस्सामि सदेवके**

पाटली, शिम्बली, जामुन, देवों का पारिछत्रक (पारिजातक) कदम्ब, कल्पवृक्ष और सातवाँ शिरीष होता है। बयासी हजार योजन महासागर में डूबा, और उतना ही ऊपर उठा हुआ उस लोकधातु को घेरकर चक्रवाल पर्वत स्थित है॥"

वहाँ चन्द्रमण्डल उनचास योजन (परिमाण का) और सूर्यमण्डल पचास योजन है। त्रायस्त्रिंश भवन दस हजार योजन (तक विस्तीर्ण) है, वैसे ही असुर भवन, अवीचि महानरक और जम्बूद्वीप भी। अपरगोयान सात हजार योजन है, वैसे ही पूर्वविदेह। उत्तरकुरु आठ हजार योजन है। उनमें एक एक महाद्वीप पाँच पाँच सौ छोटे छोटे द्वीपों से घिरा हुआ है। वे सभी एक चक्रवाल, एक लोकधातु हैं। उनके बीच-बीच में लोकान्तरिक नरक हैं।

ऐसे अनन्त चक्रवालों को, अनन्त लोकधातुओं को भगवान् ने अनन्त बुद्धज्ञान से जाना, समझा, गहराई से समझा। इस प्रकार से भी उन्हें **सब्बथा विदितलोकत्ता लोकविदू** कहा गया है।

९. इनके गुणों के विषय में इनसे विशिष्ट किसी अन्य के न होने से, इनसे बढ़कर (=उत्तर) (कोई) नहीं है, अतः (ये) **अनुत्तर** हैं। और ये अपने शील-गुण से भी समस्त लोक को अभिभूत कर देते हैं। समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञानदर्शन (नामक) गुणों से भी। शील गुण में भी (किसी के भी) असमान, असमानों (=अन्य बुद्ध आदि अनुत्तरों) के समान, अप्रतिसम (=जिस का प्रतिरूप कोई न हो), अद्वितीय, प्रतिद्वन्द्विरहित हैं ...पूर्ववत्... विमुक्तिज्ञानदर्शन गुण से भी।

१. **सत्तमं** ति। लिङ्गविपल्लासेन वुत्तं। सिरीसो भवति सत्तमो ति अत्थो।

लोके समारके...पे०...सदेवमनुस्साय पजाय अत्तना सीलसम्पन्नतरं" ति वित्थारो। एवं **अग्गप्पसादसुत्तादीनि** (अं० नि० २/४९) "**न मे आचरियो अत्थी**" (म० व० वि० पि० ३/१४) ति आदिका गाथायो[1] च वित्थारेतब्बा।

१०. पुरिसदम्मे सारेती ति **पुरिसदम्मसारथि**। दमेति विनेती ति वुत्तं होति। तत्थ **पुरिसदम्मा** ति अदन्ता दमेतुं युत्ता तिरच्छानपुरिसा पि मनुस्सपुरिसा पि अमनुस्सपुरिसा पि। तथा हि भगवता तिरच्छानपुरिसा पि अपलालो नागराजा, चूळोदरो, महोदरो, अग्गिसिखो, धूमसिखो, आरवाळो नागराजा, धनपालको हत्थी ति एवमादयो दमिता, निब्बिसा कता, सरणेसु च सीलेसु च पतिट्ठापिता। मनुस्सपुरिसा पि सच्चक-निगण्ठपुत्त-अम्बट्ठमाणव-पोक्खरसाति-सोणदण्ड-कूटदन्तादयो, अमनुस्सपुरिसा पि आळवक-सूचिलोम-यक्ख-सक्कदेवराजादयो दमिता, विनीता विचित्रेहि विनयनूपायेहि। "**अहं खो, केसि, पुरिसदम्मे सण्हेन पि विनेमि, फरुसेन पि विनेमि, सण्हफरुसेन पि विनेमी**" (अ० नि० २/१५५) ति इदं चेत्थ सुत्तं वित्थारेतब्बं।

अपि च भगवा विसुद्धसीलादीनं पठमज्झानादीनि सोतापन्नादीनं च उत्तरिमग्गपटिपदं आचिक्खन्तो दन्ते पि दमेति येव।

जैसा कि कहा गया है—"मैं देवताओंसहित, मारसहित लोक में, देवताओं सहित मानव प्रजा में स्वयं से अधिक शीलसम्पन्न किसी को नहीं देखता हूँ"—इस प्रकार व्याख्या है। ऐसे ही, **अग्गप्पसादसुत्त** (अं० नि० २/४९) आदि एवं "मेरा कोई आचार्य नहीं है" (म० व० वि० पि० ३/१४) आदि गाथाओं की व्याख्या भी इस प्रसङ्ग में की जानी चाहिये।

१०. ये दमन करने योग्य (=विनेय) पुरुषों को (सन्मार्ग पर) चलाते हैं, इसलिये **पुरिसदम्मसारथि** हैं। दमन करते हैं, अर्थात् विनीत करते हैं। यहाँ नर पशुओं को भी, नर मानवों को भी, अमनुष्यों में ऐसे नरों को भी जो दमित नहीं किये गये हैं, किन्तु दमित किये जाने योग्य हैं, 'पुरुषदम्य' कहते हैं। क्योंकि भगवान् ने अपलाल, नागराज, चूड़ोदर, महोदर, अग्निशिख, धूमशिख, आरवाल, नागराज, धनपालक हाथी आदि नरपशुओं का भी दमन किया, (क्लेशरूपी) विष से रहित किया, शरण और शील में प्रतिष्ठित किया। विनीत करने के विचित्र उपायों से सच्चक, निगण्ठपुत्त, अम्बट्ठ माणव, पोक्खरसाति, सोणदण्ड, कूटदन्त आदि नर मानवों को भी, एवं आड़वक, सूचिलोम, यक्ष, शक्रदेवराज आदि को भी दमित किया, विनीत किया। "केशि! मैं दमन करने योग्य पुरुषों का मृदुता से भी, कठोरता से भी, मृदुता और कठोरता दोनों से भी, दमन करता हूँ" (अं० नि० २/१५५)—इस सुत्त को यहाँ विस्तार से बतलाना चाहिये।

एवं भगवान् विशुद्ध शीलवानों के लिये प्रथम ध्यान आदि एवं स्रोतआपन्नों के लिये उत्तरमार्गप्रतिपदा (=उच्चतर मार्ग) बतलाते हुए, दमितों का भी दमन करते ही हैं।

---

१. **आदिका गाथायो** ति।

"अहं हि अरहा लोके अहं सत्था अनुत्तरो। एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो सीतिभूतोस्मि निब्बुतो॥
दन्तो दमयतं सेट्ठो सन्तो समयतं इसि। मुत्तो मोचयतं अग्गो तिण्णो तारयतं वरो"॥

ति एवमादिका गाथायो वित्थारेतब्बा।

अथ वा **अनुत्तरो पुरिसम्ममसारथी** ति एकमेविदं अत्थपदं। भगवा हि तथा पुरिसदम्मे सारेति, यथा एकपल्लङ्केनेव निसिन्ना अट्ठ दिसा असज्जमाना धावन्ति। तस्मा **अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी** ति वुच्चति। "**हत्थिदमकेन, भिक्खवे, हत्थिदम्मो सारितो एकं येव दिसं धावती**" (म० नि० ३/१३२८) ति इदं चेत्थ सुत्तं वित्थारेतब्बं।

११. दिट्ठधम्मिकसम्परायिकपरमत्थेहि यथारहं अनुसासती ति **सत्था**। अपि च "सत्था विया ति सत्था, भगवा सत्थवाहो। यथा **सत्थवाहो** सत्थे कन्तारं तारेति, **निरुदककन्तारं तारेति, उत्तारेति, नित्तारेति, पतारेति, खेमन्तभूमिं सम्पापेति, एवमेव भगवा सत्था सत्थवाहो सत्ते कन्तारं तारेति, जातिकन्तारं तारेती**" (खु० नि० ४:१/३९१) ति आदिना **निद्देसनयेन** पेत्थ अत्थो वेदितब्बो।

१२. **देवमनुस्सानं** ति। देवानं च मनुस्सानं च। उक्कट्ठपरिच्छेदवसेन भब्बपुग्गल-परिच्छेदवसेन चेतं वुत्तं। भगवा पन तिरच्छानगतानं पि अनुसासननिप्पदानेन सत्था येव। ते पि हि भगवतो धम्मस्सवनेन उपनिस्सयसम्पत्तिं पत्वा ताय एव उपनिस्सयसम्पत्तिया दुतिये वा ततिये वा अत्तभावे मग्गफलभागिनो होन्ति।

मण्डूकदेवपुत्तादयो चेत्थ निदस्सनं। भगवति किर गग्गराय[1] पोक्खरणिया तीरे

अथवा, 'अनुत्तरपुरिसदम्मसारथि'—यह एक ही अर्थवाला पदसमूह है। क्योंकि इसका अर्थ है—वे दमनयोग्य पुरुषों को इस प्रकार चलाते हैं कि (वे पुरुष) एक आसन पर बैठे हुए ही आठ दिशाओं (आठ विमोक्ष=आठ समापत्तियों) में निर्बाध दौड़ते हैं; इसलिये **अनुत्तरपुरिसदम्म-सारथि** कहे जाते हैं। (अर्थात् पुरुषों को विनीत करने में अनुत्तर हैं, अतः पुरिसदम्मसारथि कहे जाते हैं। इस अर्थ-योजना में 'अनुत्तर' शब्द को 'पुरिसदम्मसारथि' के साथ जोड़कर अर्थ लगाना चाहिये।) एवं "भिक्षुओ, महावत द्वारा विनेय हाथी एक ही दिशा में दौड़ता है" (म० नि० ३/१३२८)—इस सूत्र का भी यहाँ सविस्तर उल्लेख करना चाहिये।

११. दृष्टधर्म, साम्परायिक धर्म (=परलोक) और परमार्थ (=निर्वाण) के लिये यथायोग्य अनुशासन करते हैं, अतः **सत्था** (=शास्ता) हैं। और भी "भगवान् सार्थवाह हैं। जिस प्रकार सार्थवाह (नेता) सार्थ (=व्यापारिसमूह, काफिला) को जङ्गल पार कराता है, जलविहीन जङ्गल पार कराता है... सुरक्षित स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार भगवान् सत्था या सार्थवाह, सार्थ को जङ्गल पार कराते हैं, अर्थात् जाति (=जन्म) रूपी जङ्गल पार करते हैं" (खु० नि० ४:१/३९१)— इस प्रकार (महा) **निद्देस** की पद्धति से भी यहाँ अर्थ समझना चाहिये।

१२. **देवमनुस्सानं**—देवों के और मनुष्यों में उत्कृष्टों और भव्य पुद्गलों को सूचित करने के लिये ही ऐसा कहा गया है। (अतः यहाँ शब्दशः अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि) भगवान् तो पशुयोनि में उत्पन्न जीवों का भी अनुशासन करने से शास्ता ही है, क्योंकि वे भी भगवान् का धर्मश्रवण करने से उपनिश्रय सम्पत्ति को पाकर, उसी उपनिश्रय सम्पत्ति से दूसरे या तीसरे जन्म में मार्गफल प्राप्त करते हैं।

यहाँ **मण्डूक** देवपुत्र आदि दृष्टान्त हैं। जब भगवान् गर्गरा पुष्करिणी के किनारे चम्पानगर

---

१. **गग्गराया** ति। गग्गराय नाम रञ्ञो देविया, ताय वा कारितत्ता 'गग्गरा" ति लद्धनामाय।

चम्पानगरवासीनं धम्मं देसियमाने एको मण्डूको भगवतो सरे निमित्तं अग्गहेसि। तं एको वच्छपालको दण्डं ओलुब्भ तिट्ठन्तो सीसे सन्निरुम्भित्वा अट्ठासि। सो तावदेव कालं कत्वा तावतिंसभवने द्वादसयोजनिके कनकविमाने निब्बत्ति। सुत्तप्पबुद्धो विय च तत्थ अच्छरासङ्घपरिवुतं अत्तानं दिस्वा "अरे, अहं पि नाम इध निब्बत्तो, किं नु खो कम्मं अकासिं" ति आवज्जेन्तो न अञ्ञं किञ्चि अद्दस, अञ्ञत्र भगवतो सरे निमित्तग्गाहा। सो तावदेव सह विमानेन आगन्त्वा भगवतो पादे सिरसा वन्दि। भगवा जानन्तो व पुच्छि—

"को मे वन्दति पादानि इद्धिया यससा जलं।
अभिक्कन्तेन वण्णेन सब्बा ओभासयं दिसा" ति॥
"मण्डूकोहं पूरे आसिं उदके वारिगोचरो।
तव धम्मं सुणन्तस्स अवधी वच्छपालको" ति॥

भगवा तस्स धम्मं देसेसि। चतुरासीतिया पाणसहस्सानं धम्माभिसमयो अहोसि। देवपुत्तो पि सोतापत्तिफले पतिट्ठाय सितं कत्वा पक्कमी ति। (खु० नि० २/७७)

१३. यं पन किञ्चि अत्थि ञेय्यं नाम सब्बस्सेव बुद्धत्ता विमोक्खन्तिकञाणवसेन **बुद्धो**। यस्मा वा चत्तारि सच्चानि अत्तना पि बुज्झि, अञ्ञे पि सत्ते बोधेसि, तस्मा एवमादीहि पि कारणेहि बुद्धो। इमस्स च पनत्थस्स विञ्ञापनत्थं "**बुज्झिता सच्चानी ति बुद्धो। बोधेता**

के निवासियों को धर्मोपदेश दे रहे थे, तब एक मण्डूक (=मेंढक) ने भगवान् की वाणी में निमित्त ग्रहण किया। (उसी समय) एक ग्वाला, जो कि लाठी का सहारा लेकर खड़ा था, उसके सिर पर लाठी रख कर खड़ा हो गया। वह उसी समय प्राण त्याग कर त्रायस्त्रिंश भवन में बारह योजन (परिमाण) के स्वर्ण-विमान में उत्पन्न हुआ। जैसे (अभी ही) सोकर उठा हो, वैसा (अनुभव करते हुए) स्वयं को अप्सरासमूह से घिरा देखकर "अरे, मैं भी यहाँ उत्पन्न हो गया! मैंने कौन सा कर्म किया था?"—इस प्रकार सोचते हुए (वह) भगवान् की वाणी में निमित्त-ग्रहण के अतिरिक्त अन्य किसी भी कर्म को इसमें कारण नहीं समझ पाया। वह उसी समय विमान से आकर भगवान् को शिर से प्रणाम करने लगा। भगवान् ने (सर्वज्ञता के कारण) जानते हुए भी (अन्यों के समक्ष दृष्टान्त उपस्थित करने के लिए) पूछा—

"ऋद्धि और यश से प्रज्वलित (=अतिशय प्रकाशित) अत्यधिक सुन्दर वर्ण से सभी दिशाओं को अवभासित करता हुआ, कौन मेरी चरणवन्दना कर रहा है?"

"पहले मैं जल में (रहने वाला) एक मेंढक था। आपका धर्मश्रवण करते समय, (एक) ग्वाले ने मुझे मार डाला था।"

भगवान् ने उसको धर्मदेशना की। उस धर्मदेशना से चौरासी हजार अन्य प्राणियों को भी धर्म का ज्ञान (=धर्माभिसमय) हुआ। देवपुत्र भी स्रोतआपत्तिफल में प्रतिष्ठित होकर, मुस्कराकर चला गया।

१३. जो कुछ भी ज्ञेय है, उस सबको जानने से, विमोक्षान्तिक (=निर्वाण प्राप्त कराने वाले) ज्ञान के कारण, **बुद्ध** हैं। अथवा, क्योंकि चार (आर्य) सत्यों को स्वयं भी जाना, अन्य सत्त्वों को भी समझाया, अतः इन कारणों से भी बुद्ध हैं। इस (कथन के) अर्थ को स्पष्ट करने के लिये

पजाया ति बुद्धो" ति एवं पवत्तो सब्बो पि **निद्देसनयो** (खु० नि० ४:१/१६७) **पटिसम्भिदानयो** (खु० नि० ५/२०२) वा वित्थारेतब्बो।

१४. **भगवा** ति। इदं पनस्स गुणविसिट्ठसब्बसत्तुत्तमगरुगारवाधिवचनं। **तेनाहु पोराणा**—

भगवा ति वचनं सेट्ठं भगवा ति वचनमुत्तमं।
गरुगारवयुत्तो सो भगवा तेन वुच्चती" ति॥ (१)

चतुब्बिधं वा नामं—आवत्थिकं, लिङ्गिकं, नेमित्तिकं, अधिच्चसमुप्पन्नं ति। **अधिच्चसमुप्पन्नं** नाम लोकियवोहारेन यादिच्छकं ति वुत्तं होति। तत्थ वच्छो, दम्मो, बलीबद्दो ति एवमादि **आवत्थिकं**। दण्डी, छत्ती, सिखी, करी ति एवमादि **लिङ्गिकं**। तेविज्जो, छळभिञ्ञो ति एवमादि **नेमित्तिकं**। सिरिवड्ढको, धनवड्ढको ति एवमादि वचनत्थं अनपेक्खित्वा पवत्तं **अधिच्चसमुप्पन्नं**।

इदं पन 'भगवा' ति नामं नेमित्तिकं। न **महामायाय**, न **सुद्धोदन**महाराजेन, न असीतिया ञातिसहस्सेहि कतं, न सक्कसन्तुसितादीहि देवताविसेसेहि। वुत्तं पि चेतं धम्मसेनापतिना—"**भगवा ति नेतं नामं मातरा कतं...पे०...विमोक्खन्तिकमेतं बुद्धानं भगवन्तानं बोधिया मूले सह सब्बञ्ञुतञाणस्स पटिलाभा सच्छिका पञ्ञत्ति यदिदं भगवा**" (खु० ४:१/१७६) ति।

" (उनके द्वारा) सत्य जान लिये गये, इसलिये बुद्ध हैं। सत्त्वों को ज्ञान करने से बुद्ध हैं"— इस प्रकार प्राप्त **निद्देस** की समस्त पद्धति (खु० नि० ४:१/१६७) या यहाँ **पटिसम्भिदामग्ग** की पद्धति (खु० नि० ५/२०२) का विस्तारपूर्वक उल्लेख करना चाहिये।

१४. **भगवा**—यह गुणों में विशिष्ट, सत्त्वों में उत्तम, अतिगौरवान्वित इन (बुद्ध) का अधिवचन है। इसीलिये **पुराने विद्वानों** ने कहा है—

"'भगवान्' शब्द श्रेष्ठ है, 'भगवान्' शब्द उत्तम है, वे अतिगौरवान्वित हैं, अतः भगवान् कहे जाते हैं।"

अथवा, नाम चार प्रकार का होता है—(१) आवस्थिक, (२) लैङ्गिक, (३) नैमित्तिक और (४) अधीत्यसमुत्पन्न। लोकव्यवहार (के प्रयोजन) से इच्छानुसार रखा हुआ नाम **अधीत्यसमुत्पन्न** कहा जाता है। वत्स, विनेय, बलीवर्द (=जुए में बँधा बैल) आदि (एक ही प्राणी के जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का सूचक होने से) **आवस्थिक** हैं। दण्डी, छत्री, शिखी, करी आदि (लक्षणसूचक होने से) **लैङ्गिक** हैं। त्रैविद्य, षडभिज्ञ आदि प्रकार के (नाम) **नैमित्तिक** हैं। श्रीवर्धक, धनवर्धक आदि प्रकार का, शब्दार्थ की अपेक्षा न करते हुए, रखा गया (नाम) **अधीत्यसमुत्पन्न** है।

किन्तु बुद्ध का 'भगवान्' यह नाम नैमित्तिक है। यह न तो **महामाया** द्वारा, न **शुद्धोदन** महाराज द्वारा, न अस्सी हजार सगे सम्बन्धियों द्वारा, न शक्र (=इन्द्र), सन्तुषित आदि विशिष्ट देवों द्वारा रखा गया है। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने यह कहा भी है—" 'भगवान्'—यह नाम माता द्वारा नहीं रखा गया ...पूर्ववत्... यह जो 'भगवान्' (नाम) है, वह विमोक्षसूचक है, बोधिवृक्ष के नीचे सर्वज्ञता प्राप्ति के साथ, बुद्ध भगवानों की सच्ची प्रज्ञप्ति है" (खु० नि० ४:१/१७६)।

यंगुणनेमित्तिकं चेतं नामं, तेसं गुणानं पकासनत्थं इमं गाथं वदन्ति—

"भगी भजी भागि विभत्तवा इति अकासि भग्गं ति गरू ति भाग्यवा।
बहूहि ञायेहि सुभावितत्तनो भवन्तगो सो भगवा ति वुच्चती" ति॥

निद्देसे (खु० ४ : १/१७६) वुत्तनयेनेव चेत्थ तेसं तेसं पदानं अत्थो दट्ठब्बो। (२)

अयं पन **अपरो नयो**—

भाग्यवा भग्गवा वुत्तो भगेहि च विभत्तवा।
भत्तवा वन्तगमनो भवेसु भगवा ततो ति॥

तत्थ "वण्णागमो वण्णविपरिययो" ति आदिकं निरुत्तिलक्खणं[१] गहेत्वा सद्दनयेन वा पिसोदरादिपक्खेपलक्खणं[२] गहेत्वा यस्मा लोकियलोकुत्तरसुखाभिनिब्बत्तकं दानसीलादि-पारप्पत्तं भाग्यमस्स अत्थि तस्मा भाग्यवा ति वत्तब्बे **भगवा** ति वुच्चती ति ञातब्बं। (३)

यस्मा पन लोभदोसमोहविपरीतमनसिकारअहिरिकानोत्तप्पकोधूपनाहमक्खपळास-

---

जिन गुणों का सूचक (=नैमित्तिक) यह नाम है, उन गुणों के प्रकाशन हेतु यह गाथा कही जाती है—

वे गुण भग (ऐश्वर्य) वाले (=भगी) एकान्त आदि का भजन (=सेवन) करने वाले (=भजी), (अर्थ-धर्म-विमुक्ति रस को) पाने वाले (=भागि), (लौकिक लोकोत्तर धर्मों को) विभक्त करने वाले (=विभत्तवा), राग आदि को भग्न (=भग्ग) किये हुए, भाग्यवान् (=भाग्यवा), अनेक प्रकार से स्वयं को सुभावित (=भावना में परिपक्व) किये हुए, भव के अन्त तक पहुँचे हुए (=भवन्तग) है, अतः भगवान् कहे जाते हैं।

निद्देस (खु० ४:१/१७६) में कहे गये वचन के अनुसार यहाँ उन उन पदों का अर्थ समझना चाहिये। (२)

एक **अन्य विधि** इस प्रकार है—

वह भाग्यवान् (=भाग्यवा), भग्न करने वाले (=भग्गवा), भग से युक्त, विभक्त करने वाले (=विभत्तवा), सेवन करने वाले (=भत्तवा), संसार से (तृष्णा का) वमन (त्याग) करते हुए जाते हैं, अतः भगवान् हैं।

"वर्णागम, वर्णविपर्यय" आदि **पाणिनिव्याकरणसम्बद्ध** निरुक्ति के लक्षण का ग्रहण कर, या शब्दनय से "पृषोदर" (पा० सू० ६/३/१०९) आदि प्रक्षेप-लक्षण का ग्रहण कर, क्योंकि लौकिक लोकोत्तर सुख उत्पन्न करने वाले दान, शील आदि की परिपूर्णता को प्राप्त करना इनका भाग्य है, इसलिये 'भाग्यवान्' के स्थान पर 'भगवान्' कहे जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये। (३)

क्योंकि लोभ, द्वेष, मोह, विपरीत मनस्कार, अह्री (पाप करने में स्वयं से लज्जित न होना)

---

१. "वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्"॥
इति यं कासिकावुत्तियं वुत्तं (काशिका ६/३/१०९)।

२. **पिसोदरादीति**। "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (पा० सू० ६/३/१०९) ति सुत्तेन पिसोदरादिगणे पक्खिपित्वा तं लक्खणं गहेत्वा ति।

इस्सामच्छरियमायासाठेय्यथम्भसारम्भमानातिमानमदपमादतण्हाअविज्जातिविधाकुसलमूलदुच्चरितसङ्किलेसमलविसमसञ्ञावितक्कपपञ्चचतुब्बिधविपरियेसआसवगन्थओघयोगअगतितण्हुप्पादुपादानपञ्चचेतोखिलविनिबन्धनीवरणाभिनन्दनाछविवादमूलतण्हाकायसत्तानुसयअट्ठमिच्छत्तनवतण्हामूलकदसाकुसलकम्मपथद्वासट्ठिदिट्ठिगतअट्ठसततण्हाविचरितप्पभेदसब्बदरथपरिळाहकिलेससतसहस्सानि, सङ्खेपतो वा पञ्च किलेसखन्धअभिसङ्खारदेवपुत्तमच्चुमारे अभञ्जि, तस्मा भग्गत्ता एतेसं परिस्सयानं भग्गवा ति वत्तब्बे **भगवा** ति वुच्चति।

आह चेत्थ—

> **"भग्गरागो भग्गदोसो भग्गमोहो अनासवो।**
> **भग्गास्स पापका धम्मा भगवा तेन वुच्चती"** ति॥

भाग्यवत्ताय चस्स सतपुञ्ञलक्खणधरस्स रूपकायसम्पत्ति दीपिता होति। भग्गदोसताय धम्मकायसम्पत्ति। तथा लोकियसरिक्खकानं बहुमतभावो, गहट्ठपब्बजितेहि अभिगमनीयता, अभिगतानं च नेसं कायचित्तदुक्खापनयने पटिबलभावो, आमिसदानधम्मदानेहि उपकारिता, लोकियलोकुत्तरसुखेहि च सञ्ञोजनसमत्थता दीपिता होति। (४)

अपत्राप्य (पाप करने में दूसरों से लज्जित न होना), क्रोध, उपनाह (=बँधा वैर), म्रक्ष (पाप छिपाना), प्रदाश (कठोर वचन से पीड़ित करना) ईर्ष्या, मात्सर्य (=कृपणता), माया, शठता, जड़ता, प्रतिहिंसा, मानातिमान (मान=स्वयं से हीनों की अपेक्षा अपने को श्रेष्ठ समझना एवं समानों के तुल्य समझना। अतिमान=समानों से अपने को श्रेष्ठ एवं असमानों के सदृश समझना। (वि० मा० सि० त्रिंशिका)। मद (स्व-सम्पत्ति में विशेष हर्ष), प्रमाद (क्लेशों से अपने चित्त की रक्षा न करना और प्रतिपक्षभूत कुशल धर्मों की भावना न करना), तृष्णा, अविद्या, तीन अकुशल मूल (राग, द्वेष, मोह) विषम संज्ञाएँ (=भ्रमात्मक ज्ञान), वितर्क, प्रपञ्च, चार (शुभ संज्ञा आदि) विपर्यास, आस्रव (=कामास्रव, भवास्रव, दृष्ट्यास्रव, अविद्यास्रव), ग्रन्थ (=अभिध्या=लोभ, व्यापाद, शीलव्रत परामर्श, अभिनिवेश), ओघ, योग (ओघ, योग आस्रव के समानार्थक शब्द हैं), अगति (=छन्द, द्वेष, मोह, भय), तृष्णा-उपादान, पाँच चित्त के कील (=शास्ता, धर्म और सङ्घ तथा शिक्षा के प्रति सन्देह एवं सब्रह्मचारियों पर क्रोध), विनिबन्ध (=आसक्ति), नीवरण (रूपाभिनन्दन आदि पाँच) अभिनन्दन, छः विवाद-मूल (द्र०—अ० नि० ३/६२) तृष्णाकाय, सात अनुशय, आठ मिथ्यात्व, नव तृष्णामूल, दस अकुशल कर्म-पथ, बासठ मिथ्यादृष्टियाँ, एक सौ आठ तृष्णाविचरित के भेद, एवं सभी एक लाख चिन्ताओं, पीड़ाओं, क्लेशों को, अथवा संक्षेप में—१. क्लेश, २. स्कन्ध, ३. अभिसंस्कार, ४. देवपुत्र (=मार), ५. मृत्यु—इन पाँच मारों को भग्न कर दिया, इसलिये इन विघ्नों को नष्ट कर देने से 'भग्गवा' (भग्नवान्) के स्थान पर **भगवा** (=भगवान्) कहे जाते हैं।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में कहा गया है—

"उन्होंने राग, द्वेष, मोह को भग्न कर दिया है, आस्रवरहित हैं, उनके सभी पाप-धर्म भग्न हो चुके हैं, इसलिये भगवान् कहे जाते हैं।"

'भाग्यवान्' कहे जाने से सौ पुण्यलक्षणों को धारण करने वाले, इन (बुद्ध) की रूपकाय-

यस्मा च लोके इस्सरियधम्मयससिरिकामपयत्तेसु छसु धम्मेसु भगसद्दो पवत्तति, परमं चस्स सकचित्ते इस्सरियं, अणिमालङ्घिमादिकं वा लोकियसम्मतं सब्बाकारपरिपूरं अत्थि। तथा लोकुत्तरो धम्मो। लोकत्तयब्यापको यथाभुच्चगुणाधिगतो अति विय परिसुद्धो यसो। रूपकाय-दस्सनब्यावटजननयनप्पसादजननसमत्था सब्बाकारपरिपूरा सब्बङ्गपच्चङ्गसिरी। यं यं एतेन इच्छितं पत्थितं अत्तहितं परहितं वा तस्स तस्स तथेव अभिनिप्फन्नत्ता इच्छितत्थ-निब्बत्तिसञ्ञितो कामो। सब्बलोकगरुभावप्पत्तिहेतुभूतो सम्मावायामसङ्खातो पयत्तो च अत्थि। तस्मा इमेहि भगेहि युत्तत्ता पि भगा अस्स सन्ती ति इमिना अत्थेन **भगवा** ति वुच्चति। (५)

यस्मा पन कुलादीहि भेदेहि सब्बधम्मे, खन्धायतनधातुसच्चइन्द्रियपटिच्चसमुप्पादादीहि वा कुसलादिधम्मे, पीळनसङ्खतसन्तापविपरिणामट्ठेन वा दुक्खं अरियसच्चं, आयूहन-निदान-संयोग-पटिबोधट्ठेन **समुदयं,** निस्सरण-विवेकासङ्खत-अमतट्ठेन **निरोधं,** निय्यानिक-हेतु-दस्सनाधिपतेय्यट्ठेन **मग्गं** विभत्तवा, विभजित्वा विवरित्वा देसितवा ति वुत्तं होति, तस्मा विभत्तवा ति वत्तब्बे **भगवा** ति वुच्चति। (६)

यस्मा च एस दिब्ब-ब्रह्म-अरियविहारे[१] काय-चित्त-उपधिविवेके[२] सुञ्ञतप्पणि-

---

सम्पत्ति सूचित होती है। दोषों की भग्नता से धर्मकायसम्पत्ति। साधारणजनों से समर्थित होना, गृहस्थों और प्रव्रजितों का पास आना, पास आये लोगों के कायिक मानसिक दुःखों को दूर करने में समर्थ होना, उन आगतों को भोजन आदि देकर और धर्मोपदेश देकर उपकृत करना एवं लौकिक, लोकोत्तर सुखों में लगाने की क्षमता भी सूचित होती है। (४)

क्योंकि लोक में 'भग' शब्द ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, काम, प्रयत्न—इन छह धर्मों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ("योनिकामसिरिस्सेर धम्मुय्यामयसे भगं"—अभिधानप्पदीपिका, ३, ३/८४४), और इनका स्वचित्त पर परम ऐश्वर्य (=आधिपत्य) है, अथवा अणिमा, लघिमा आदि लोक द्वारा सम्मानित सब प्रकार के (ऐश्वर्य से) परिपूर्ण है। वैसे ही, उनका लोकोत्तर धर्म है। त्रिलोकव्यापी एवं उपार्जित गुणों द्वारा प्राप्त अत्यधिक परिशुद्ध यश है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शोभा सब प्रकार से परिपूर्ण, रूपकाय का दर्शन करने वालों की आँखों को सुख देने में समर्थ है। इन्होंने अपने या दूसरे के लिये जो जो चाहा उस-उस की उसी समय पूर्ति हो जाने से 'इष्ट अर्थ की पूर्ति' नामक काम वाले हैं। समस्त लोक में गौरव की उत्पत्ति के हेतुभूत सम्यग्व्यायाम नामक प्रयत्न वाले हैं। इस प्रकार, इस अर्थ में भी **भगवा** (भगवान्) कहे जाते हैं। (५)

और क्योंकि कुल आदि के भेद से सब धर्मों को, या स्कन्ध, आयतन, धातु, सत्य, इन्द्रिय, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के भेद से कुशल आदि धर्मों को; या पीड़न, संस्कृत, सन्ताप, विपरिणाम आदि के अर्थ में **दुःख** आर्यसत्य को; आयूहन, निदान, संयोग, प्रतिबोधन के अर्थ में **समुदय** को; निःसरण, विवेक, असंस्कृत, अमृत के अर्थ में **निरोध को**; नैर्याणिक (=बाहर निकलना),

---

१. कसिणादिआरम्मणानि रूपावचरज्झानानि **दिब्बविहारो।** मेत्तादिज्झानानि **ब्रह्मविहारो।** फलसमापत्ति **अरियविहारो।**

२. कामेहि विवेकट्ठकायतावसेन एकीभावो **कायविवेको।** पठमज्झानादिना नीवरणादीहि विचित्तचित्तता **चित्तविवेको। उपधिविवेको** निब्बानं।

हितानिमित्तविमोक्खे अञ्ञे[1] च लोकियलोकुत्तरे उत्तरिमनुस्सधम्मे भजि, सेवि, बहुलं अकासि, तस्मा भत्तवा ति वत्तब्बे **भगवा** ति वुच्चति। (७)

यस्मा पन तीसु भवेसु तण्हासङ्खातं गमनं अनेन वन्तं, तस्मा भवेसु वन्तगमनो ति वत्तब्बे भवसद्दतो भ-कारं, गमनसद्दतो ग-कारं, वन्तसद्दतो व-कारं च दीघं कत्वा आदाय **भगवा** ति वुच्चति, यथा लोके 'मेहनस्स खस्स माला' ति वत्तब्बे 'मेखला' ति। (८)

१५. तस्सेवं इमिना च इमिना च कारणेन सो भगवा अरहं...पे०...इमिना च इमिना च कारणेन भगवा ति बुद्धगुणे अनुस्सरतो "नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति, न दोसपरियुट्ठितं, न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति तथागतं आरब्भ" (अ० नि० ३/४९)।

इच्चस्स एवं रागादिपरियुट्ठानाभावेन विक्खम्भितनीवरणस्स कम्मट्ठानाभिमुखताय उजुगतचित्तस्स बुद्धगुणपोणा[2] वितक्कविचारा पवत्तन्ति। बुद्धगुणे अनुवितक्कयतो अनुविचारयतो पीति उप्पज्जति, पीतिमनस्स पीतिपदट्ठानस्स पस्सद्धिया कायचित्तदरथा पटिप्पसम्भन्ति, पस्सद्धदरथस्स कायिकं पि चेतसिकं पि सुखं उप्पज्जति, सुखिनो बुद्धगुणारम्मणं हुत्वा चित्तं

हेतु, दर्शन, आधिपत्य के अर्थ में **मार्ग** को विभक्त करने वाले, बाँट-बाँटकर, खोल-खोलकर बतलाने वाले कहे गये हैं, अत: 'विभक्तवान्' में कहे जाने की अपेक्षा में **भगवा** (=भगवान्) कहे जाते हैं। (६)

और क्योंकि इन्होंने दिव्य ब्रह्म आर्यविहारों में (दिव्यविहार=कसिण आदि आलम्बन वाले रूपावचर ध्यान, ब्रह्मविहार=मैत्री आदि ध्यान, आर्यविहार=फल समापत्ति) का, काय-चित्त उपधिविवेक (=निर्वाण) का, शून्यता, अप्रणिहित, निमित्त-विमोक्ष का एवं अन्य (लौकिक अभिज्ञा आदि) लौकिक-लोकोत्तर अतिमानवीय धर्मों का भी भजन किया, सेवन किया, बढ़ाया; इसलिये 'भक्तवान्' न कहे जाकर **भगवा** (=भगवान्) कहे जाते हैं। (७)

और क्योंकि तीनों भवों में तृष्णा नामक गमन (=सांसारिकता) का इन्होंने वमन कर दिया है, इसलिये 'भवों में वन्त गमन' इस प्रकार यदि कहें तो—'भव' शब्द से भ-कार को, 'गमन' शब्द से ग-कार को, 'वन्त' शब्द से व-कार को लेकर (और व को दीर्घ कर) '**भगवा**'—इस प्रकार कहा जाता है, जैसे लोक में 'मेहन (=लिङ्ग) के खाली स्थान (ख) की माला' (मेहनस्स खस्स माला) कहने की अपेक्षा 'मेखला' कहा जाता है। (८)

१५. इस प्रकार 'इन इन कारणों से वह भगवान् अर्हत् हैं'...पूर्ववत्...'इन-इन कारणों से भगवान् हैं'—इस प्रकार से जब वह बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करता है, तब "उस समय (उस योगी का) चित्त न राग से लिप्त होता है, न द्वेष से लिप्त, न मोह से लिप्त। उस समय तथागत के प्रति उसका चित्त सीधे जाने वाला ही होता है।" (अं० नि० ३/३९)

एवं इस प्रकार राग आदि के पर्युत्थान (=उठ खड़ा होना) के अभाव से, दबे हुए नीवरण वाले एवं कर्मस्थान के अभिमुख होने से सीधे जाने वाले चित्त से युक्त इस (योगी) के वितर्क-विचार बुद्ध के गुणों की ओर उत्सुकतापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। बुद्ध के गुणों के विषय में बार-बार

---

१. अञ्ञे ति। लोकियाभिञ्ञादिके। २. **बुद्धगुणपोणा** ति। बुद्धगुणनिन्ना।

समाधियती ति अनुक्कमेन एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। बुद्धगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणानुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं बुद्धगुणानुस्सरणवसेन उप्पन्नत्ता बुद्धानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

१६. इमं च पन बुद्धानुस्सतिमनुयत्तो भिक्खु सत्थरि सगारवो होति सप्पतिस्सो, सद्धावेपुल्लं सतिवेपुल्लं पञ्ञावेपुल्लं पुञ्ञवेपुल्लं च अधिगच्छति, पीतिपामोज्जबहुलो होति, भयभेरवसहो, दुक्खाधिवासनसमत्थो, सत्थारा संवाससञ्ञं पटिलभति, बुद्धगुणानुस्सतिया अज्झावुत्थं चस्स सरीरं पि चेतियघरमिव पूजारहं होति, बुद्धभूमियं चित्तं नमति। वीतिक्कमितब्बवत्थुसमायोगे चस्स सम्मुखा सत्थारं पस्सतो विय हिरोत्तप्पं पच्चुपट्ठाति, उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय बुद्धानुस्सतिया सदा ति॥

इदं ताव बुद्धानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

२. धम्मानुस्सतिकथा

१७. धम्मानुस्सतिं भावेतुकामेना पि रहोगतेन पटिसल्लीनेन "**स्वाक्खातो भगवता धम्मो**

वितर्क करते हुए, विचार करते हुए, प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीतियुक्त मन वाले योगी की कायिक, मानसिक पीड़ा उस प्रश्रब्धि द्वारा शान्त हो जाती है, जिसका आसन्न कारण प्रीति है। जिसकी पीड़ा शान्त हो चुकी है, उसे कायिक और चैतसिक सुख भी उत्पन्न होता है। सुखी का चित्त बुद्ध-गुणों को आलम्बन बनाकर एकाग्र होता है। इस प्रकार क्रमशः एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु बुद्ध-गुणों के गाम्भीर्य के कारण, अथवा नानागुणों के अनुस्मरण के प्रति रुचि रहने के कारण, अर्पणा की प्राप्ति नहीं होती, उपचार-ध्यान ही होता है। तब, बुद्ध-गुणों के अनुस्मरण से उत्पन्न होने के कारण यह (ध्यान) भी 'बुद्धानुस्मृति' संज्ञक हो जाता है।

१६. बुद्धानुस्मृति में लगा हुआ यह भिक्षु शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला होता है। श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य की विपुलता एवं प्रीति-प्रमोद की अधिकता बढाने वाला होता है। भय की भयानकता और दुःख सहने में समर्थ होता है। उसे ऐसी अनुभूति होती है मानो वह शास्ता के समीप ही है। बुद्धगुणानुस्मृति जिसमें रहती है, ऐसा इसका शरीर भी चैत्यगृह के समान पूजनीय हो जाता है, बुद्धभूमि की ओर चित्त झुकता है। (शिक्षापदों के) उल्लङ्घन की परिस्थितियाँ सम्मुख आ पड़ने पर, मानों इसके समक्ष शास्ता को देखते हुए (उपस्थित हैं, ऐसा अनुभव होने से) ह्री एवं अपत्राप्य उपस्थित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में, भले ही उसे उत्तर (मार्ग) प्राप्त न हो, फिर भी वह सुगति का पात्र तो होता ही है।

"इसलिये श्रेष्ठ बुद्धि वाला (व्यक्ति) इस प्रकार के महान् गुणों वाली बुद्धानुस्मृति के विषय में सदा अप्रमादी रहे।"

यह बुद्धानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

२. धर्मानुस्मृति

१७. धर्मानुस्मृति-भावना के अभिलाषी को भी एकान्त में जाकर, एकाग्र होकर "**भगवान्**

सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही" (अ० नि० ३/२९)ति एवं परियत्तिधम्मस्स चेव नवविधस्स च लोकुत्तरधम्मस्स गुणा अनुस्सरितब्बा।

१८. **स्वाक्खातो** ति। इमस्मिं हि पदे परियत्तिधम्मो पि सङ्गहं गच्छति, इतरेसु लोकुत्तरधम्मो व। तत्थ परियत्तिधम्मो ताव स्वाक्खातो आदिमज्झपरियोसानकल्याणत्ता, सात्थसब्यञ्जनकेवलपरिपुण्णपरिसुद्धब्रह्मचरियप्पकासनत्ता च।

यं हि भगवा एकगाथं पि देसेति, सा समन्तभद्दकत्ता[1] धम्मस्स पठमपादेन आदिकल्याणा, दुतियततियपादेहि मज्झेकल्याणा, पच्छिमपादेन परियोसानकल्याणा। एकानुसन्धिकं सुत्तं निदानेन आदिकल्याणं, निगमनेन परियोसानकल्याणं, सेसेन मज्झेकल्याणं। नानानुसन्धिकं सुत्तं पठमानुसन्धिना आदिकल्याणं, पच्छिमेन परियोसानकल्याणं, सेसेहि मज्झेकल्याणं। अपि च सनिदानसउप्पत्तिकत्ता[2] आदिकल्याणं, वेनेय्यानं अनुरूपतो अत्थस्स अविपरीतताय च हेतूदाहरणयुत्ततो च मज्झेकल्याणं, सोतूनं सद्धापटिलाभजननेन निगमनेन च परियोसानकल्याणं।

सकलो पि सासनधम्मो[3] अत्तनो अत्थभूतेन[4] सीलेन आदिकल्याणो, समथविपस्सना-

---

का धर्म स्वाख्यात (भलीभाँति कहा गया) है, यहीं और अभी प्रत्यक्ष होने वाला (सान्दृष्टिक), समय न लगाने वाला, आकर देखा जा सकने योग्य, आगे (निर्वाण) की ओर ले जाने वाला और विद्वानों द्वारा स्वत: जानने योग्य है"—इस प्रकार पर्याप्ति धर्म (नवाङ्ग त्रिपिटक) एवं नव प्रकार के लोकोत्तर धर्म (चार मार्ग, चार फल और निर्वाण) के भी गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये।

१८. **स्वाख्यात**—इस पद में पर्याप्ति धर्म भी संगृहीत हो जाता है, अन्यों में केवल लोकोत्तर धर्म। इनमें पर्याप्ति धर्म, क्योंकि आदि मध्य और अन्त में कल्याणकर, अर्थत: और शब्दश: परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाशक है, अत: स्वाख्यात है।

भगवान् जिस किसी गाथा की देशना करते हैं, उसके सभी भाग कल्याणकारी (भद्र) होते हैं; अत: वह प्रथमपाद से आदि में कल्याणकर, द्वितीय-तृतीय पाद से मध्य में कल्याणकर और अन्तिम पाद से अन्त में कल्याणकर है। एक अनुसन्धि (=अर्थ-क्रम) वाला सूत्र निदान (प्रारम्भ, जैसे 'एकं समयं भगवा...विहरति') से आरम्भ में कल्याणकर, निष्कर्ष से अन्त में कल्याणकर तथा शेष से मध्य में कल्याणकर है। अनेक अनुसन्धियों वाला सूत्र प्रथम अनुसन्धि से आदिकल्याणकर, अन्तिम से अन्त-कल्याणकर तथा शेष से मध्य-कल्याणकर है। साथ ही, निदान और उत्पत्ति (सुत्त-कथन का कारण) सहित होने से आदि में कल्याणकर, विनेय जनों

---

१. **समन्तभद्दकत्ता** ति। सब्बभागेहि सुन्दरत्ता।

२. **सनिदानसउप्पत्तिकत्ता** ति। यथावुत्तनिदानेन सनिदानताय सअट्ठुप्पत्तिकताय च।

३. "सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं" ति॥ (खु० नि० १/३५)
एवं वुत्तस्स सत्थुसासनस्स पकासको परियत्तिधम्मो।

४. **अत्थभूतेना** ति। उपकारकेन।

मग्गफलेहि मज्झेकल्याणो, निब्बानेन परियोसानकल्याणो। सीलसमाधीहि वा आदिकल्याणो, विपस्सनामग्गेहि मज्झेकल्याणो, फलनिब्बानेहि परियोसानकल्याणो। बुद्धसुबोधिताय आदिकल्याणो, धम्मसुधम्मताय मज्झेकल्याणो, सङ्घसुप्पटिप्पत्तिया परियोसानकल्याणो। तं सुत्वा तथत्थाय पटिपन्नेन अधिगन्तब्बाय अभिसम्बोधिया[1] वा आदिकल्याणो, पच्चेकबोधिया[2] मज्झेकल्याणो, सावकबोधिया[3] परियोसानकल्याणो।

सुय्यमानो चेस नीवरणविक्खम्भनतो सवनेन पि कल्याणमेव आवहती ति आदिकल्याणो, पटिपज्जियमानो समथविपस्सनासुखावहनतो पटिपत्तिया पि कल्याणं आवहती *ति मज्झेकल्याणो, तथापटिपन्नो*[4] च *पटिपत्तिफले निट्ठिते तादिभावावहनतो*[5] पटिपत्तिफलेन पि कल्याणं आवहती ति परियोसानकल्याणो ति एवं आदि-मज्झ-परियोसानकल्याणत्ता **स्वाक्खातो।**

यं पनेस भगवा धम्मं देसेन्तो सासनब्रह्मचरियं[6] मग्गब्रह्मचरियं[7] च पकासेति, नानानयेहि दीपेति, तं यथानुरूपं अत्थसम्पत्तिया सात्थं, ब्यञ्जनसम्पत्तिया सब्यञ्जनं। सङ्कासन-

---

के अनुरूप होने और अर्थ के विपरीत न होने से एवं हेतु-दृष्टान्त से युक्त होने से मध्य में कल्याणकर तथा श्रोताओं में श्रद्धोत्पादक निष्कर्ष के रूप में अन्त में कल्याणकर है।

समग्र शासन-धर्म (बुद्धवचन) ही, अपने उपकारक शील से आदि-कल्याणकर, शमथ-विपश्यना एवं मार्ग-फल से मध्य-कल्याणकर, फल (निर्वाण) से अन्त-कल्याणकर है। अथवा, जो उसे सुनकर उसमें प्रतिपन्न होता है, उसके द्वारा बुद्धज्ञान प्राप्त किये जाने से आदिकल्याणकर, प्रत्येकबुद्धज्ञान के रूप में मध्यकल्याणकर, तथा श्रावक-ज्ञान के रूप में अन्तकल्याणकर है।

एवं क्योंकि इसे सुनने से नीवरण दब जाते हैं, अर्थात् सुनने से भी यह कल्याण की ओर ही ले जाता है, अतः आदिकल्याणकर है। प्रतिपन्न होने वाले के लिए शमथ और विपश्यना द्वारा सुख का वाहक है, प्रतिपत्ति से भी कल्याण की ओर ले आता है, अतः मध्य में कल्याणकर है। वैसे प्रतिपन्न में, प्रतिपत्तिफल पूर्ण होने पर, निर्लिप्तता ('तादिभाव'), जो कि षडङ्ग उपेक्षा द्वारा सम्भव होती है, लाने से प्रतिपत्ति-फल के रूप में भी कल्याण का वाहक है, अतः अन्त में कल्याणकर है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त में कल्याणकर होने से **स्वाख्यात** है।

ये भगवान् जिस धर्म की देशना करते हुए शासन ब्रह्मचर्य (शील, समाधि, प्रज्ञा) तथा मार्ग-ब्रह्मचर्य (अर्हत् मार्ग) का प्रकाशन करते हैं, अनेक प्रकार से समझाते हैं, वह यथानुरूप अर्थ से परिपूर्ण होने से अर्थसहित, तथा व्यञ्जन से परिपूर्ण होने से व्यञ्जनसहित है।

---

१. **अभिसम्बोधिया** ति। सम्बुद्धञाणेन। २. **पच्चेकबोधिया** ति। पच्चेकबुद्धञाणेन।

३. **सावकबोधिया** ति। अरहत्तञाणेन।

४. **तथापटिपन्नो** ति। यथा समथविपस्सनामुखं आवहति, यथा वा सत्थारा अनुसिट्ठं, तथा पटिपन्नो सासनधम्मो।

५. **तादिभावावहनतो** ति। छळङ्गुपेक्खावसेन इट्ठादीसु तादिभावस्स लोकधम्मेहि अनुपलेपस्स आवहनतो।

६. अविसेसेन तिस्सो सिक्खा, सकलो च तन्तिधम्मो—**सासनब्रह्मचरियं**।

७. सब्बसिक्खानं मण्डभूतसिक्खत्तयसङ्गहितो अरियमग्गो—**मग्गब्रह्मचरियं**।

पकासन-विवरण-विभजन-उत्तानीकरण-पञ्ञत्ति-अत्थपदसमायोगतो[१] सात्थं, अक्खरपद-ब्यञ्जनाकारनिरुत्तिनिद्देससम्पत्तिया सब्यञ्जनं। अत्थगम्भीरता-पटिवेधगम्भीरताहि सात्थं, धम्मगम्भीरता-देसनागम्भीरताहि सब्यञ्जनं। अत्थपटिभानपटिसम्भिदाविसयतो सात्थं, धम्मनिरुत्तिपटिसम्भिदाविसयतो सब्यञ्जनं। पण्डितवेदनीयतो परिक्खकजनप्पसादकं ति सात्थं, सद्धेय्यतो लोकियजनप्पसादकं ति सब्यञ्जनं। गम्भीराधिप्पायतो सात्थं, उत्तानपदतो सब्यञ्जनं, उपनेतब्बस्स अभावतो सकलपरिपुण्णभावेन केवलपरिपुण्णं, अपनेतब्बस्स अभावतो निद्दोसभावेन परिसुद्धं।

अपि च, पटिपत्तिया अधिगमब्यत्तितो[२] सात्थं। परियत्तिया आगमब्यत्तितो[३] सब्यञ्जनं, सीलादिपञ्चधम्मक्खन्धयुत्ततो[४] केवलपरिपुण्णं, निरुपक्किलेसतो नित्थरणताय पवत्तितो लोकामिसनिरपेक्खतो च परिसुद्धं ति एवं सात्थसब्यञ्जनकेवलपरिपुण्ण-परिसुद्धब्रह्मचरियप्पकासनतो **स्वाक्खातो**।

अत्थविपल्लासाभावतो वा सुट्ठ अक्खातो ति स्वाक्खातो। यथा हि अञ्ञतित्थियानं

(अक्षरों द्वारा समझाने से) सङ्काशन, (पदों द्वारा) प्रकाशन, (व्यञ्जनों द्वारा) विवरण, (प्रकारों द्वारा) विभाजन, (निरुक्तियों से) व्याख्या, (निर्देशों से) प्रज्ञप्ति तथा अर्थ और पद के समायोग के कारण अर्थसहित है। अक्षर, पद, व्यञ्जन, प्रकार, निरुक्ति तथा निर्देश से परिपूर्ण होने के कारण व्यञ्जनसहित है। अर्थ-गाम्भीर्य एवं प्रतिवेध (गहराई तक समझना) गाम्भीर्य के कारण अर्थसहित तथा धर्मदेशना-गाम्भीर्य के कारण व्यञ्जनसहित है। अर्थ-प्रतिमान और प्रतिसम्भिदा (मीमांसापूर्ण ज्ञान) का विषय होने से अर्थसहित, धर्म की निरुक्ति एवं प्रतिसम्भिदा का विषय होने से व्यञ्जनसहित है। बुद्धिमानों द्वारा बोधगम्य होने से परीक्षकों को प्रसन्न करने वाला है, अत: अर्थसहित है। श्रद्धेय होने से जनसाधारण को प्रसन्न करने वाला है, अत: व्यञ्जनसहित है। गम्भीर अभिप्राय युक्त होने से अर्थसहित, पदों की स्पष्टता के कारण व्यञ्जनसहित है। इसमें कुछ और जोड़ने की आवश्यकता नहीं है, अत: सब प्रकार से परिपूर्ण है। इसलिये 'सर्वथा परिपूर्ण' है। इसमें से कुछ भी छोड़ने योग्य नहीं है, अत: निर्दोष (अत्याज्य) होने से परिशुद्ध है।

साथ ही, प्रतिपत्ति का ज्ञान प्रकट (स्पष्ट) होने से अर्थसहित, पर्याप्ति (=धर्म) का आगमन स्पष्ट होने से व्यञ्जनसहित है। यह शील आदि पाँच धर्मस्कन्ध (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञानदर्शन) से युक्त है, इसलिये सर्वथा परिपूर्ण है। क्लेशों से रहित, नि:सरणहेतु प्रवर्तित तथा लोकामिष (लौकिक पदार्थों) के प्रति अपेक्षारहित होने से परिशुद्ध है। यों, अर्थ-व्यञ्जन सहित सर्वथा परिपूर्ण तथा परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाशन करने से स्वाख्यात है।

अथवा अर्थ के वैपरीत्य (विपर्यास) का अभाव होने से भलीभाँति कहा गया

---

१. अक्खरेहि दीपनं **सङ्कासनं**। पदेहि **पकासनं**। ब्यञ्जनेहि **विवरणं**। आकारेहि **विभजनं**। निरुत्तीहि **उत्तानीकरणं**। निद्देसेहि पञ्ञापनं **पञ्ञत्ति**।

२. बोधस्स पाकटभावतो।

३. आगमानं पाकटभावतो।

४. सीलादीहि पञ्चहि धम्मकोट्ठासेहि अविरहितत्ता।

धम्मस्स अत्थो विपल्लासं आपज्जति, अन्तरायिका ति वुत्तधम्मानं अन्तरायिकत्ताभावतो, निय्यानिका ति वुत्तधम्मानं निय्यानिकत्ताभावतो। तेन ते दुरक्खातधम्मा येव होन्ति, न तथा भगवतो धम्मस्स अत्थो विपल्लासं आपज्जति। 'इमे धम्मा अन्तरायिका, इमे धम्मा निय्यानिका' ति एवं वुत्तधम्मानं तथाभावानतिक्कमनतो ति एवं ताव परियत्तिधम्मो स्वाक्खातो।

लोकुत्तरधम्मो पन निब्बानानुरूपाय पटिपत्तिया पटिपदानुरूपस्स च निब्बानस्स अक्खातत्ता **स्वाक्खातो**। यथाह—"**सुपञ्ञत्ता खो पन तेन भगवता सावकानं निब्बानगामिनी पटिपदा, संसन्दति निब्बानं च पटिपदा च। सेय्यथा पि नाम गङ्गोदकं यमुनोदकेन संसन्दति समेति, एवमेव सुपञ्ञत्ता खो पन तेन भगवता सावकानं निब्बानगामिनी पटिपदा, संसन्दति निब्बानं च पटिपदा चा**" (दी० नि० २/१६७) ति।

अरियमग्गो चेत्थ अन्तद्वयं[1] अनुपगम्म मज्झिमापटिपदाभूतो व "**मज्झिमा पटिपदा**" ति अक्खातत्ता स्वाक्खातो। सामञ्ञफलानि पटिप्पस्सद्धकिलेसानेव "पटिप्पस्सद्धकिलेसानी" ति अक्खातत्ता स्वाक्खातानि। निब्बानं सस्सतामतताणालेणादिसभावमेव सस्सतादिसभाववसेन अक्खातत्ता स्वाक्खातं ति। एवं लोकुत्तरधम्मो पि स्वाक्खातो। (१)

१९. **सन्दिट्ठिको** ति। एत्थ पन अरियमग्गो ताव अत्तनो सन्ताने रागादीनं अभावं करोन्तेन अरियपुग्गलेन सामं दट्ठब्बो ति **सन्दिट्ठिको**। यथाह—"**रत्तो खो, ब्राह्मण, रागेन**

(सु+आख्यात) है, अत: **स्वाख्यात है**। क्योंकि जैसे दूसरे धर्मावलम्बियों के धर्म में अर्थ का वैपरीत्य होता है, वैसे भगवान् के धर्म में अर्थ का अनर्थ नहीं होता। इसका कारण यह है कि (अन्य धर्मों में) जो धर्म बाधा देने वाले बतलाये जाते हैं, वे वास्तव में बाधा देने वाले नहीं होते और जो धर्म निर्वाण तक पहुँचाने वाले कहे जाते हैं, वे निर्वाण तक पहुँचाने वाले नहीं होते। अत: वे मिथ्या (गलत) प्रकार से बतलाये गये धर्म ही होते हैं। भगवान् के धर्म में इस तरह अर्थ का अनर्थ नहीं होता। "अमुक धर्म विघ्नकारक हैं, अमुक निर्वाण की ओर ले जाते हैं" ऐसे कहे गये धर्म, क्योंकि वैसे ही होते हैं, अतएव पर्याप्ति धर्म **स्वाख्यात** है।

लोकोत्तर धर्म **स्वाख्यात** है, क्योंकि निर्वाण के अनुरूप मार्ग एवं मार्ग के अनुरूप निर्वाण को बतलाया गया है। जैसा कि कहा है—"उन भगवान् ने श्रावकों को निर्वाणगामिनीप्रतिपदा ठीक से बतलायी है, निर्वाण और मार्ग में अनुकूलता है। यथा गङ्गाजल यमुनाजल में मिल जाता है। एकरूप हो जाता है, वैसे ही भगवान् ने...पूर्ववत्...अनुकूलता है।" (दी० २/१६७)

तथा, आर्यमार्ग दो अन्तों (शाश्वत, उच्छेद आदि) को त्याग, मध्यमा प्रतिपदा रूप है, तथा उसे 'मध्यमा प्रतिपदा' कहा भी जाता है; इसीलिये (जैसा है वैसा ही कहे जाने से) **स्वाख्यात** है। श्रामण्य के फल शान्त क्लेशों वाले हैं, एवं उन्हें "शान्त हो चुके क्लेशों वाला" ही कहा जाता है, अत: स्वाख्यात है। निर्वाण स्वभावत: शाश्वत (अविनाशी), अमृत, त्राण (उद्धार) शरण (लेण) है, (और उसे) शाश्वत आदि स्वभाव वाला कहा भी जाता है, अत: **स्वाख्यात** है। इस प्रकार, लोकोत्तर धर्म भी **स्वाख्यात** है। (१)

१९. **सन्दिट्ठिक** (सान्दृष्टिक)—क्योंकि यहाँ आर्यमार्ग, स्वचित्तसन्तान में राग आदि का

---

१. **अन्तद्वयं** ति। सस्सतुच्छेदं कामसुखअत्तकिलमथानुयोगं, लीनुद्धच्चं, पतिट्ठानायूहनं ति एवंपभेदं अन्तद्वयं।

अभिभूतो परियादिण्णचित्तो अत्तब्याबाधाय पि चेतेति, परब्याबाधाय पि चेतेति, उभयब्याबाधाय पि चेतेति। चेतसिकमपि दुक्खं दोमनस्सं पटिसंवेदेति। रागे पहीने नेव अत्तब्याबाधाय चेतेति, न परब्याबाधाय चेतेति, न उभयब्याबाधाय चतेति, न चेतसिकं दुक्खं दोमनस्सं पटिसंवेदेति। एवं पि खो, ब्राह्मण, सन्दिट्ठिको धम्मो होति'' (अ० नि० १/२०७) ति।

अपि च नवविधो पि लोकुत्तरधम्मो येन येन अधिगतो होति, तेन तेन परसद्धाय गन्तब्बतं हित्वा पच्चवेक्खणञाणेन सयं दट्ठब्बो ति **सन्दिट्ठिको।**

अथ वा पसत्था दिट्ठि सन्दिट्ठि, सन्दिट्ठिया जयती[1] ति सन्दिट्ठिको। तथा हेत्थ अरियमग्गो सम्पयुत्ताय, अरियफलं कारणभूताय, निब्बानं विसयिभूताय, सन्दिट्ठिया किलेसे जयति। तस्मा यथा रथेन जयतीति रथिको, एवं नवविधोपि लोकुत्तरधम्मो सन्दिट्ठिया जयती ति **सन्दिट्ठिको।**

अथ वा दिट्ठं ति दस्सनं वुच्चति। दिट्ठमेव सन्दिट्ठं, दस्सनं ति अत्थो। सन्दिट्ठं अरहती[2] ति सन्दिट्ठिको। लोकुत्तरधम्मो हि भावनाभिसमयवसेन सच्छिकिरियाभिसमयवसेन च दिस्समानो येव वट्टभयं निवत्तेति। तस्मा यथा वत्थं अरहती ति वत्थिको, एवं सन्दिट्ठं अरहती ति **सन्दिट्ठिको**॥ (२)

२०. अत्तनो फलदानं सन्धाय नास्स कालो ति अकालो। अकालो येव **अकालिको।** न पञ्चाहसत्ताहादिभेदं कालं खेपेत्वा फलं देति, अत्तनो पन पवत्तिसमनन्तरमेव फलदो ति वुत्तं होति।

नाश करने वाले आर्य पुद्गल द्वारा स्वयं देखे जाने योग्य है, अतः **सन्दिट्ठिक** है। जैसा कि कहा है—''ब्राह्मण, राग से अभिभूत एवं वशीभूत चित्त अपनी पीड़ा के चलते सोचता है, दूसरे की..., दोनों की...सोचता है, चैतसिक दुःख-दौर्मनस्य का अनुभव करता है। राग नष्ट हो जाने पर वह न तो अपनी पीड़ा के कारण सोचता है, न दूसरे...न चैतसिक दुःख-दौर्मनस्य का अनुभव करता है। इस प्रकार भी, ब्राह्मण, सान्दृष्टिक धर्म होता है।'' (अ० नि० १/२०७)

इसके अतिरिक्त, सभी नौ प्रकार के लोकोत्तर धर्म जिसे भी प्राप्त होते हैं, वह दूसरों पर श्रद्धा (विश्वास) करना छोड़, प्रत्यवेक्षण ज्ञान द्वारा स्वयं ही देख सकता है, अतः **सन्दिट्ठिक** है।

अथवा, प्रशस्त दृष्टि 'सन्दृष्टि' है। सन्दृष्टि द्वारा विजयी होता है, इसलिये सान्दृष्टिक है। और क्योंकि यहाँ आर्य-मार्ग सम्प्रयुक्त, आर्य-फल की कारणभूत, निर्वाण की विषयभूत सन्दृष्टि द्वारा क्लेशों को जीतता है, अतः जैसे कि रथ से जीतने वाला 'रथिक' होता है, वैसे ही सन्दृष्टि द्वारा जीतने से **सन्दिट्ठिक** है।

अथवा, 'दृष्ट' दर्शन को कहते हैं। दृष्ट ही सन्दृष्ट अर्थात् दर्शन है। सन्दृष्ट के योग्य है, अतएव 'सान्दृष्टिक' है। क्योंकि लोकोत्तरधर्म भावना के अभिसमय (स्पष्टज्ञान) तथा साक्षात्कार के अभिसमय के रूप में, देखने के साथ ही (संसार) वृत्त का भय नष्ट कर देता है, अतः जैसे वस्त्र के योग्य होनेसे 'वास्त्रिक' है, वैसे ही सन्दृष्ट के योग्य होने से **सन्दिट्ठिक** हैं। (२)

---

१. ''तेन दीव्यति'' (पा० सू० ४/४/२) इति पाणिनिसुत्तानुसारं वुत्तं।
२. ''तदर्हति'' (पा० सू० ५/१/६३) इति पाणिनिसुत्तानुसारं वुत्तं।

अथ वा अत्तनो फलदाने पकट्ठो कालो पत्तो अस्सा ति कालिको। को सो? लोकियो कुसलधम्मो। अयं पन समनन्तरफलत्ता न कालिको ति **अकालिको**। इदं मग्गमेव सन्धाय वुत्तं॥ (३)

२१. "एहि, पस्स इमं धम्मं" ति एवं पवत्तं एहिपस्सविधिं[1] अरहती ति **एहिपस्सिको**। कस्मा पनेस तं विधिं अरहती ति? विज्जमानत्ता[2] परिसुद्धत्ता[3] च। रित्तमुट्ठियं हि हिरञ्ञं वा सुवण्णं वा अत्थी ति वत्वा पि "एहि पस्स इमं" ति न सक्का वत्तुं। कस्मा? अविज्जमानत्ता। विज्जमानं पि च गूथं वा मुत्तं वा मनुञ्ञभावप्पकासनेन चित्तसम्पहंसनत्थं "एहि, पस्स इमं" ति न सक्का वत्तुं। अपि च खो पन तिणेहि वा पण्णेहि वा पटिच्छादेतब्बमेव होति। कस्मा? अपरिसुद्धत्ता। अयं पन नवविधो पि लोकुत्तरधम्मो सभावतो विज्जमानो विगतवलाहके आकासे सम्पुण्णचन्दमण्डलं विय पण्डुकम्बले निक्खित्तजातिमणि विय च परिसुद्धो। तस्मा विज्जमानत्ता परिसुद्धत्ता च एहिपस्सविधिं अरहती ति **एहिपस्सिको**॥ (४)

२२. उपनेतब्बो ति **ओपनेय्यिको**। अयं पनेत्थ विनिच्छयो—उपनयनं उपनयो, आदित्तं चेलं वा सीसं वा अज्झुपेक्खित्वा पि भावनावसेन अत्तनो चित्ते उपनयनं अरहती ति ओपनयिको, ओपनयिको व ओपनेय्यिको। इदं सङ्खते लोकुत्तरधम्मे युज्जति। असङ्खतो पन

---

२०. अपना फल देने में समय नहीं लगाता, इसलिये अकाल (कालातीत) है। अकाल ही **अकालिक** है। अर्थात् पाँच-सात दिन बाद नहीं, अपितु प्रवर्तित होते ही फल देने वाला है।

अथवा, फल देने में बहुत समय लगाता है, इसलिए 'कालिक' है। वह कौन? लौकिक कुशल धर्म। किन्तु यह (अलौकिक धर्म) तत्काल फल देने से कालिक नहीं है, इसलिए अकालिक है। यह मार्ग के विषय में ही कहा गया है। (३)

२१. "आओ, इस धर्म को देखो"—ऐसी 'एहिपस्सिक' (आओ, देखो वाली) विधि के योग्य होने से **एहिपस्सिक** है। क्यों इस विधि के योग्य है? विद्यमान (परमार्थतः उपलब्ध) होने से तथा (क्लेश-मल के अभाव के कारण) परिशुद्ध होने से। खाली मुट्ठी में 'हिरण्य या सोना है'—ऐसा भले ही कोई कहे, पर 'आओ, इसे देखो'—ऐसा तो नहीं कह सकता। क्यों? (सचमुच वहाँ सोना) अविद्यमान होने से। (दूसरी ओर) मल-मूत्र के विद्यमान होने पर भी, मनोज्ञता-प्रकाशन द्वारा (मन प्रसन्न करने के लिये) 'आओ, इसे देखो'—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह तो घास-फूस से ढँकने योग्य ही होता है। क्यों? अशुद्धता के कारण। किन्तु यह सभी नव प्रकार का लोकोत्तर धर्म स्वभावतः विद्यमान तथा मेघरहित आकाश में सम्पूर्ण चन्द्रमण्डल के समान और पीले कम्बल पर रखी गयी जातिमणि के समान परिशुद्ध है। यों विद्यमान होने और परिशुद्ध होने से 'एहिपस्सिक' विधि के योग्य है, इसलिए **एहिपस्सिक** है। (४)

२२. चित्त में लाने योग्य है, इसलिए **ओपनेय्यिक** है। अर्थ का स्पष्टीकरण यह है—'उपनयन' उपनय (पास लाना) है। अपने जलते हुए कपड़ों या सिर को भी अनदेखा करते हुए,

---

१. **विधिं** ति। विधानं, "एहि पस्सा" ति एवं पवत्तविधिवचनं।

२. **विज्जमानत्ता** ति। परमत्थतो उपलब्भमानत्ता।

३. **परिसुद्धत्ता** ति। किलेसमलविरहेन सब्बथा विसुद्धत्ता।

अत्तनो चित्तेन उपनयनं अरहती ति ओपनय्यिको। सच्छिकिरियावसेन अल्लीयनं अरहती ति अत्थो।

अथ वा निब्बानं उपनेती ति। अरियमग्गो उपनेय्यो। सच्छिकातब्बतं उपनेतब्बो ति फलनिब्बानधम्मो उपनेय्यो। उपनेय्यो एव ओपनेय्यिको॥ (५)

२३. **पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही** ति। सब्बेहि पि उग्घटितञ्ञूआदीहि[1] विञ्ञूहि अत्तनि अत्तनि वेदितब्बो—"भावितो मे मग्गो, अधिगतं फलं, सच्छिकतो निरोधो" ति। न हि उपज्झायेन भावितेन मग्गेन सद्धिविहारिकस्स किलेसा पहीयन्ति। न सो तस्स फलसमापत्तिया फासु विहरति। न तेन सच्छिकतं निब्बानं सच्छिकरोति। तस्मा न एस परस्स सीसे आभरणं विय दट्ठब्बो। अत्तनो पन चित्ते येव दट्ठब्बो, अनुभवितब्बो विञ्ञूही ति वुत्तं होति। बालानं पन अविसयो चेसो॥ (६)

२४. अपि च, स्वाक्खातो अयं धम्मो। कस्मा? सन्दिट्ठिकत्ता। सन्दिट्ठिको, अकालिकत्ता। अकालिको, एहिपस्सिकत्ता। यो च एहिपस्सिको, सो नाम ओपनेय्यिको होती ति।

२५. तस्सेवं स्वाक्खातत्तादिभेदे धम्मगुणे अनुस्सरतो "**नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति। न दोस ....पे०...न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं**

भावना द्वारा स्वचित्त में लाने योग्य है, अतः औपनयिक है। औपनयिक ही ओपनेय्यिक है। यह (कथन) संस्कृत लोकोत्तर धर्म (मार्ग) पर सम्पृक्त होता है। किन्तु असंस्कृत (निर्वाण) तो स्वचित्त द्वारा लाने योग्य है, अतः ओपनेय्यिक है। तात्पर्य यह है कि साक्षात्कार द्वारा (अपने साथ) जोड़ने योग्य है।

अथवा, निर्वाण की ओर ले जाने वाला आर्यमार्ग उपनेय्य है। साक्षात्कार की ओर ले जाने में समर्थ (मार्ग-) फल निर्वाणरूप धर्म है, जो कि उपनेय्य है। उपनेय्य ही ओपनेय्यिक है। (५)

२३. **पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि** (विज्ञों द्वारा स्वयं सूक्ष्मतया जानने योग्य)—सभी उद्घटितज्ञ आदि (द्र० पुग्गलपञ्ञत्ति, अ०, ४,४,३) विज्ञों द्वारा स्वयं में यों जानने योग्य है—"मैंने मार्ग की भावना की, फल प्राप्त हुआ, निरोध का साक्षात्कार किया"; क्योंकि उपाध्याय द्वारा भावितमार्ग से उसके समीपवर्ती (शिष्य आदि) के क्लेश नष्ट नहीं होते, वह उसकी फलसमापत्ति द्वारा सुख से विहार नहीं करता, उसके द्वारा साक्षात्कार किये गये निर्वाण का साक्षात्कार नहीं करता। अर्थात् यह दूसरे के सिर पर रखे आभूषणवत् दिखायी देने योग्य नहीं है, अपितु विज्ञों द्वारा स्वचित्त में ही इसे देखा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। बालकों (मूर्खों) का तो यह विषय ही नहीं है।

२४. इसके अतिरिक्त—यह धर्म स्वाख्यात है। क्यों? सान्दृष्टिक होने से। सान्दृष्टिक है, अकालिक होने से। अकालिक है, एहिपस्सिक होने से। जो एहिपस्सिक है, वही ओपनेय्यिक होता है।

२५. जब वह (योगी) स्वाख्यात आदि धर्म के गुणों का अनुस्मरण करता है, तब "उस

---

१. कतमो च पुग्गलो उग्घटितञ्ञू? इच्चेतस्स पञ्हस्स विस्सज्जनं **पुग्गलपञ्ञत्तियं** (६४ पि०) दट्ठब्बं।

होति धम्मं आरब्भा" (अं० नि० ३/१०) ति पुरिमनयेनेव[१] विक्खम्भितनीवरणस्य एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। धम्मगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणानुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं धम्मगुणानुस्सरणवसेन उप्पन्नत्ता धम्मानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

इमं च पन धम्मानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु एवं ओपनेय्यिकस्स धम्मस्स देसेतारं इमिना पङ्गेन समन्नागतं सत्थारं नेव अतीतंसे समनुपस्सामि, न पनेतरहि अञ्ञत्र तेन भगवता ति एवं धम्मगुणदस्सनेनेव सत्थरि सगारवो होति सप्पतिस्सो। धम्मे गरुचित्तीकारो सद्धादिवेपुल्लं अधिगच्छति, पीतिपामोज्जबहुलो होति, भयभेरवसहो, दुक्खाधिवासनसमत्थो, धम्मेन संवाससञ्ञं पटिलभति, धम्मगुणानुस्सतिया अज्झावुत्थं चस्स सरीरं पि चेतियघरमिव पूजारहं होति, अनुत्तरधम्माधिगमाय चित्तं नमति, वीतिक्कमितब्बवत्थुसमायोगे चस्स धम्मसुधम्मतं समनुस्सरतो हिरोत्तप्पं पच्चुपट्ठाति। उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय धम्मानुस्सतिया सदा ति॥

इदं धम्मानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

समय उसका चित्त न तो राग से क्षुब्ध होता है, न द्वेष से...पूर्ववत्...न मोह से क्षुब्ध होता है" (अं० नि० ३/१०)—इस पूर्व विधि के अनुसार ही, जिसके नीवरण शान्त हो चुके हैं, ऐसे (योगी) को एक ही क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु धर्म-गुणों के गाम्भीर्य या विविध गुणों के अनुस्मरण के प्रति उत्कण्ठा होने के कारण, अर्पणा प्राप्त नहीं होती, केवल उपचार ध्यान ही प्राप्त होता है। और उसे धर्म-गुणों के अनुस्मरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने से 'धर्मानुस्मृति' ही कहा जाता है।

इस धर्मानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु 'इस प्रकार ओपनेय्यिक धर्म की देशना करने वाले, इन अङ्गों से युक्त ऐसे शास्ता से पहले कभी नहीं मिला, न उन भगवान् के अतिरिक्त (ऐसे गुणी) किसी अन्य से (मिला)'—यों धर्म के गुणों को देखने से ही शास्ता के प्रति गौरव तथा प्रतिष्ठा से युक्त होता है। उसमें धर्म के प्रति बहुत अधिक आदर भाव और श्रद्धा आदि होते हैं। उसमें प्रीति-प्रमोद की बहुलता होती है। भय की भीषणता को सहने वाला ही दुःख सहने में समर्थ होता है। उसे अनुभव होता है कि मानो वह धर्म के साथ रह रहा हो। उसका शरीर भी, जिसमें धर्म-गुणों की अनुस्मृति रहती है, चैत्य-गृह के समान पूज्य होता है। उसकी अनुत्तर धर्म की प्राप्ति के प्रति रुचि रहती है। (शिक्षापदों के) उल्लङ्घन की परिस्थिति आ पड़ने पर, धर्म की सुधर्मता की स्मृति बनी रहने से उसे लज्जा-संकोच का अनुभव होता है। भले ही उत्तर (मार्ग-फल) की प्राप्ति न हो, किन्तु उसकी सुगति (तो अवश्य) होती है।

इसलिये ऐसे महान् गुणों वाली धर्मानुस्मृति के विषय में बुद्धिमान् को सदा निष्प्रमाद रहना चाहिये॥

यह धर्मानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

---

१. बुद्धानुस्सतियं वुत्तनयेन।

३. सङ्घानुस्सतिकथा

२६. सङ्घानुस्सतिं भावेतुकामेना पि रहोगतेन पटिसल्लीनेन "**सुप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो, उजुप्पटिपन्नो भगवतो सावसङ्घो, ञायप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो, सामीचिप्पटिपन्नो भगवतो सावकसङ्घो, यदिदं चत्तारिपुरिसयुगानि अट्ठ पुरिसपुग्गला—एस भगवतो सावकसङ्घो आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिणेय्यो, अञ्जलिकरणीयो, अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा**" (अ० नि० ३/४०) ति एवं अरियसङ्घगुणा अनुस्सरितब्बा।

२७. तत्थ **सुप्पटिपन्नो** ति। सुट्ठु पटिपन्नो। सम्मापटिपदं अनिवत्तिपटिपदं अनुलोमपटिपदं अपच्चनीकपटिपदं धम्मानुधम्मपटिपदं पटिपन्नो ति वुत्तं होति। भगवतो ओवादानुसासनिं सक्कच्चं सुणन्ती ति सावका। सावकानं सङ्घो **सावकसङ्घो,** सीलदिट्ठि-सामञ्ञताय सङ्घातभावं आपन्नो सावकसमूहो ति अत्थो। यस्मा पन सा सम्मापटिपदा उजु अवङ्का अकुटिला अजिम्हा, अरियो च ञायो[१] ति पि वुच्चति, अनुच्छविकत्ता च सामीची ति पि सङ्खं गता। तस्मा तं पटिपन्नो अरियसङ्घो **उजुप्पटिपन्नो ञायप्पटिपन्नो सामीचिप्पटिपन्नो** ति पि वुत्तो।

एत्थ च ये मग्गट्ठा, ते सम्मापटिपत्तिसमङ्गिताय सुप्पटिपन्ना। ये फलट्ठा, ते सम्मापटिपदाय अधिगन्तब्बस्स अधिगतत्ता अतीतं पटिपदं सन्धाय सुप्पटिपन्ना ति वेदितब्बा।

---

३. सङ्घानुस्मृति

२६. सङ्घानुस्मृति-भावना के अभिलाषी को भी एकान्त में जाकर, एकाग्रचित्त होकर, आर्यसङ्घ के गुणों का यों अनुस्मरण करना चाहिये—"भगवान् का श्रावकसङ्घ श्रेष्ठमार्ग पर चल रहा है, भगवान् ...पूर्ववत्... सीधे मार्ग पर चल रहा है, ...पूर्ववत्... उचितमार्ग पर चल रहा है, यह जो पुरुषों के चार जोड़े (युगल) अर्थात् आठ पुरुष पुद्गल हैं—यह भगवान् का श्रावकसङ्घ है (जो कि) आह्वनीय (आह्वान करने योग्य) है, पाहुन बनाने, दक्षिणा देने एवं प्रणाम करने योग्य है तथा लोक के लिये अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र है।"

२७. **सुप्पटिपन्न** (सुप्रतिपन्न, श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वाला)—सुष्ठु (भलीभाँति) प्रतिपन्न। अर्थात् (सङ्घ) सम्यक् प्रतिपदा (श्रेष्ठ मार्ग) में (संसार की ओर) न लौटने वाले, (सत्य के) अनुकूल, विरोधरहित, धर्म द्वारा शासित मार्ग में प्रतिपन्न है। भगवान् के उपदेशों को आदरपूर्वक सुनते हैं, अतः श्रावक हैं। श्रावकों का सङ्घ=**सावकसङ्घ,** अर्थात् शील और (सम्यक्) दृष्टि के विषय में समानता रखने से एक साथ रहने वाले श्रावकों का समूह। क्योंकि वह सम्यक्प्रतिपदा सीधा, छल-कपट से दूर, अकुटिल, अविकृत, आर्य तथा न्याय (या ज्ञेय) भी कहलाती है, (निर्वाण के) अनुरूप होने से समीचीन भी कहलाती है, अतः उसमें प्रतिपन्न आर्य सङ्घ भी '**उजुप्पटिपन्नो ञायप्पटिपन्नो सामिचिप्पटिपन्नो**' कहा जाता है।

यहाँ, जो लोग मार्ग पर चल रहे हैं, वे सम्यक् प्रतिपत्ति से युक्त होने के कारण सुप्रतिपन्न हैं। जो फल प्राप्त कर चुके हैं, उन्होंने क्योंकि सम्यक् प्रतिपदा द्वारा प्राप्तव्य को प्राप्त किया है, अतः पूर्व प्रतिपदा के सन्दर्भ में सुप्रतिपन्न हैं—ऐसा जानना चाहिये।

---

१. अपण्णकभावेन ञायति कमति निब्बानं, तं वा ञायति पटिविज्झीयति एतेना ति ञायो।

अपि च, स्वाक्खाते धम्मविनये यथानुसिट्ठं पटिपन्नत्ता पि अपण्णकपटिपदं पटिपन्नत्ता पि **सुप्पटिपन्नो**।

२८. मज्झिमाय पटिपदाय अन्तद्वयं अनुपगम्म पटिपन्नत्ता कायवचीमनोवङ्ककुटिल-जिम्हदोसप्पहानाय पटिपन्नत्ता च उजुप्पटिपन्नत्ता च **उजुप्पटिपन्नो**।

२९. ञायो वुच्चति निब्बानं। तदत्थाय पटिपन्नत्ता **ञायप्पटिपन्नो**।

३०. यथा पटिपन्ना सामीचिपटिपन्नारहा होन्ति, तथा पटिपन्नत्ता **सामीचिप्पटिपन्नो**।

३१. **यदिदं** ति। यानि इमानि। **चत्तारि पुरिसयुगानी** ति। युगलवसेन पठममग्गट्ठो फलट्ठो ति इदमेकं युगलं ति एवं चत्तारि पुरिसयुगलानि होन्ति। **अट्ठ पुरिसपुग्गला** ति। पुरिसपुग्गला होन्ति। एत्थ च पुरिसो ति वा पुग्गलो ति वा एकत्थानि एतानि पदानि। वेनेय्यवसेन पनेतं वुत्तं। **एस भगवतो सावकसंघो** ति। यानिमानि युगवसेन चत्तारि पुरिसयुगानि, पाटिएक्कतो अट्ठ पुरिसपुग्गला, एस भगवतो सावकसङ्घो।

३२. **आहुनेय्यो** ति आदीसु, आनेत्वा हुनितब्बं ति आहुनं। दूरतो पि आनेत्वा सीलवन्तेसु दातब्बं ति अत्थो। चतुन्नं पच्चयानमेतं अधिवचनं। तं आहुनं पटिग्गहेतुं युत्तो तस्स महप्फलकरणतो ति **आहुनेय्यो**।

अथ वा दूरतो पि आगन्त्वा सब्बसापतेय्यं पि एत्थ हुनितब्बं ति आहवनीयो।

इसके अतिरिक्त, स्वाख्यात धर्म-विनय के अनुशासन के अनुसार प्रतिपन्न होने से भी, अकलङ्कित मार्ग में प्रतिपन्न होने से भी **सुप्पटिपन्न** हैं।

२८. दो अन्तों को त्यागकर मध्यमा प्रतिपदा में प्रतिपन्न होने, कायिक वाचिक मानसिक धूर्तता, कुटिलता और विकृतिरूप दोषों का प्रहाण करने के उद्देश्य से प्रतिपन्न होने से **उजुप्पटि-पन्न** हैं।

२९. 'न्याय' निर्वाण को कहते हैं। उसके लिये प्रतिपन्न होने से **ञायप्पटिपन्न** हैं।

३०. जैसे प्रतिपन्न होने से (कोई) समीचीनप्रतिपन्न (सत्कार आदि) के योग्य होता है, वैसे प्रतिपन्न होने के कारण **सामीचिपटिपन्न** है।

३१. **यदिदं**—ये जो **चत्तारि पुरिसयुगानि**—युगल (जोड़े) के अनुसार, प्रथम मार्गस्थ-फलस्थ एक जोड़ा है। इसी प्रकार चार पुरुषयुगल होते हैं।

अट्ठ पुरिसपुग्गला—पुरुष (पुद्गल) के अनुसार एक प्रथम मार्गस्थ, एक फलस्थ—इस विधि से आठ ही पुरुष (पुद्गल) होते हैं। यहाँ, 'पुरुष या पुद्गल' (ऐसा अर्थ समझना चाहिये क्योंकि) ये (दोनों) पद एकार्थक हैं। विनेयजनों की भिन्नता के अनुसार यह कहा गया है। **एस भगवतो सावकसङ्घो**—ये जो युगल के अनुसार चार पुरुषयुगल हैं, तथा पृथक् पृथक् आठ पुरुष (पुद्गल) हैं—यह भगवान् का श्रावकसङ्घ है।

३२. **आहुनेय्य** आदि में, जो (कुछ) लाकर दिये जाने योग्य है, वह 'आहुन' (उपहार) है। अर्थात् दूर से भी लाकर शीलवानों को देने योग्य है। यह चार प्रत्ययों का अधिवचन है। महान् फल देने वाला होने से वह (सङ्घ) उपहार प्राप्त करने योग्य है, इसलिये **आहुनेय्य** है।

अथवा, दूर से भी आकर सारी सम्पत्ति भी यहाँ दे देने योग्य है, अतः आह्वनीय है। अथवा,

सक्कादीनं पि वा आहवनं अरहती ति आहवनीयो। यो चायं ब्राह्मणानं आहवनीयो नाम अग्गि, यत्थ हुतं महप्फलं ति तेसं लद्धि। सचे हुतस्स महप्फलताय आहवनीयो, सङ्घो व आहवनीयो। सङ्घे हुतं हि महप्फलं होति।

यथाह—

> "यो च वस्ससतं जन्तु अग्गिं परिचरे वने।
> एकं च भावितत्तानं मुहुत्तमपि पूजये।
> सा येव पूजना सेय्यो यं च वस्ससतं हुतं[1]"॥ (ध०प०, १०७गा०)

तदेतं निकायन्तरे[2] **आहवनीयो** ति पदं इध आहुनेय्यो ति इमिना पदेन अत्थतो एकं, ब्यञ्जनतो पनेत्थ किञ्चिमत्तमेव नानं। इति **आहुनेय्यो।**

३३. **पाहुनेय्यो** ति। एत्थ पन पाहुनं वुच्चति दिसाविदिसतो आगतानं पियमनापानं ञातिमित्तानं अत्थाय सक्कारेन पटियत्तं आगन्तुकदानं। तं पि ठपेत्वा ते तथारूपे पाहुनके सङ्घस्सेव दातुं युत्तं। सङ्घो व तं पटिग्गहेतुं युत्तो। सङ्घसदिसो हि पाहुनको नत्थि। तथा हेस एकबुद्धन्तरे च दिस्सति, अब्बोकिण्णं च पियमनापत्तकरेहि धम्मेहि समन्नागतो ति। एवं पाहुनमस्स दातुं युत्तं, पाहुनं च पटिग्गहेतुं युत्तो ति पाहुनेय्यो। येसं पन **पाहवनीयो** ति पाळि, तेसं यस्मा सङ्घो पुब्बकारं अरहति, तस्मा सब्बपठमं आनेत्वा एत्थ हुनितब्बं ति **पाहवनीयो**। सब्बप्पकारेन वा आवहनं अरहती ति **पाहवनीयो**। स्वायमिध तेनेव अत्थेन **पाहुनेय्यो** ति वुच्चति।

शक्र आदि के द्वारा भी लाकर दिये जाने योग्य है, अत: आह्वनीय है। और यह जो ब्राह्मणों की तथाकथित आहवनीय अग्नि है, उसमें देने (हवन करने) से महान् फल होता है, ऐसा उनका विश्वास है; किन्तु यदि दान के महाफलदायी होने से कोई आहवनीय हो, तो सङ्घ ही आहवनीय है, सङ्घ को दिया हुआ ही महाफलदायी होता है। जैसा कि कहा है—

"यदि कोई प्राणी सौ वर्ष तक वन में अग्निपूजन करे और एक भी ऐसे व्यक्ति की पूजा करे जिसने साधना का अभ्यास किया हो, तो वैसी पूजा ही उसके सौ वर्ष के हवन से श्रेष्ठ है"॥

अन्य निकायों के 'आह्वनीय' तथा यहाँ प्रयुक्त 'आहुनेय्य' पदों का अर्थ एक ही है, किन्तु व्यञ्जन (शब्द) का ही कुछ अन्तर है। इस प्रकार **आहुनेय्य** है।

३३. **पाहुनेय्य**—इधर-उधर से आये हुए, प्रिय सभी सम्बन्धियों-मित्रों के लिए आदर के साथ तैयार किये गये, आगन्तुकों को दिये जाने वाले दान को 'पाहुन' कहते हैं। उस (सगे-सम्बन्धी आदि के लिये दान) को भी छोड़कर, उन वैसे दानों को सङ्घ को ही देना उपयुक्त है। सङ्घ ही उसे लेने योग्य है। सङ्घ जैसा दान का पात्र (=पाहुनक) कोई नहीं है। यही ऐसा है जो कि एक बुद्धान्तर के बाद भी (विकारों से) अमिश्रित रूप में, तथा प्रिय लगने वाले धर्मों से युक्त है। यों, इसे ही पाहुन देना उपयुक्त है और यही पाहुन लेने योग्य है; अत: 'पाहुनेय्य' है।

---

१. **हुतं** ति । दिन्नं। २. **निकायन्तरे** ति। सब्बत्थिकवादिनिकाये।

३४. दक्खिणा ति पन परलोकं सद्दहित्वा दातब्बदानं वुच्चति। तं दक्खिणं अरहति, *दक्खिणाय* वा हितो यस्मा नं महप्फलकरणताय विसोधेती ति **दक्खिणेय्यो।**

३५. उभो हत्थे सिरस्मिं पतिट्ठापेत्वा सब्बलोकेन करियमानं अञ्जलिकम्मं अरहती ति **अञ्जलिकरणीयो।**

३६. **अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा** ति। सब्बलोकस्स असदिसं पुञ्ञविरूहनट्ठानं। *यथा हि रञ्ञो वा अमच्चस्स वा सालीनं वा यवानं वा* विरूहनट्ठानं रञ्ञो सालिक्खेत्तं रञ्ञो यवक्खेत्तं ति वुच्चति, एवं सङ्घो सब्बलोकस्स पुञ्ञानं विरूहनट्ठानं। सङ्घं निस्साय हि लोकस्स नानप्पकारहितसुखसंवत्तनिकानि पुञ्ञानि विरूहन्ति। तस्मा **सङ्घो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा** ति।

३७. एवं सुप्पटिपन्नतादिभेदे सङ्घगुणे अनुस्सरतो **"नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति। न दोस...पे०...न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति सङ्घं आरब्भा"** (अं० नि० ३/१०) ति पुरिमनयेनेव विक्खम्भितनीवरणस्स एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। सङ्घगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणानुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं सङ्घगुणानुस्सरणवसेन उप्पन्नत्ता सङ्घानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

किन्तु जिन (सर्वास्तिवादियों) के (ग्रन्थों में) 'प्राहवनीय' (पाह्वनीय) पालिपाठ है, उनके (लिये) क्योंकि सङ्घ अग्र स्थान पाने योग्य होने से सबसे पहले वहाँ लाकर देना चाहिये—इसलिये **पाहवनीय** है। अथवा, प्रकर्षतया (सब प्रकार से) आह्वान करने योग्य है, इसलिये प्राहवनीय है। यहाँ इसी अर्थ में **पाहुनेय्य** कहा गया है।

३४. परलोक में विश्वास रखते हुए दिया जाने वाला दान 'दक्षिणा' कहा जाता है। वह सङ्घ उस दक्षिणा के योग्य है या दक्षिणा का हित करता है, क्योंकि महान् फल देकर उसे विशुद्ध कर देता है—इसलिये **दक्खिणेय्य** है।

३५. दोनों हाथों को सिर पर रखकर समस्त लोक द्वारा प्रणम्य है, अतः **अञ्जलिकरणीय** है।

३६. **अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्स**—समस्त संसार के लिये पुण्य-उत्पाद का अनुपम स्थान (क्षेत्र) है। जैसे राजा या अमात्य के शालि या जौ उगने के स्थान को राजकीय शालि का खेत या राजकीय जौ का खेत कहते हैं, उसी तरह सङ्घ सारे संसार के पुण्यों का उत्पत्ति-स्थान है। सङ्घ के सहारे लोगों के नाना प्रकार के हित-सुख उत्पन्न करने वाले पुण्य उदित होते हैं। इसलिये **सङ्घो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्स**।

३७. इस प्रकार सुप्रतिपन्नता आदि के भेद से सङ्घ के गुणों का अनुस्मरण करते हुए **"उस समय चित्त न तो राग से क्षुब्ध होता है, न द्वेष ...पूर्ववत्... न मोह से क्षुब्ध होता है। उस समय सङ्घ के प्रति उसके चित्त की गति सीधी-सरल ही होती है"**। (अं० नि० ३/१०)—यों पूर्वोक्त विधि से ही, शान्त हो चुके नीवरणों वाले इस योगी को एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु सङ्घ के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण के प्रति अभिरुचि होने

इमं च पन सङ्घानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु सङ्घे सगारवो होति सप्पतिस्सो। सद्धादिवेपुल्लं अधिगच्छति, पीतिपामोज्जबहुलो होति, भयभेरवसहो, दुक्खाधिवासनसमत्थो, सङ्घेन संवाससञ्ञं पटिलभति। सङ्घगुणानुस्सतिया अज्झावुत्थं चस्स सरीरं सन्निपतितसङ्घमिव उपोसथागारं पूजारहं होति, सङ्घगुणाधिगमाय चित्तं नमति, वीतिक्कमितब्बवत्थुसमायोगे चस्स सम्मुखा सङ्घं पस्सतो विय हिरोत्तप्पं पच्चुपट्ठाति, उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय सङ्घानुस्सतिया सदा ति॥

इदं सङ्घानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

४. सीलानुस्सतिकथा

३८. सीलानुस्सतिं भावेतुकामेन पन रहोगतेन पटिसल्लीनेन "**अहो वत मे सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पसत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानी**" (अं० नि० ३/११) ति एवं अखण्डतादिगुणवसेन अत्तनो सीलानि अनुस्सरितब्बानि। तानि च गहट्ठेन गहट्ठसीलानि, पब्बजितेन पब्बजितसीलानि।

३९. गहट्ठसीलानि वा होन्तु पब्बजितसीलानि वा, येसं[१] आदिम्हि वा अन्ते वा एकं

से अर्पणा नहीं प्राप्त होती, उपचार-ध्यान ही प्राप्त होता है। सङ्घ के गुणों का बार बार स्मरण के कारण उत्पन्न होने से इस (ध्यान) को 'सङ्घानुस्मृति' कहते हैं।

इस सङ्घानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु सङ्घ के प्रति गौरव और प्रतिष्ठा रखता है, उसमें श्रद्धा आदि की अधिकता तथा प्रीति-प्रमोद आदि की बहुलता होती है। वह भयजन्य भीषणता एवं दुःख सहने में समर्थ होता है। उसे ऐसा लगता है मानों वह सङ्घ के साथ हो। सङ्घ के गुणों की अनुस्मृति जिसमें रहती है ऐसा उसका शरीर सङ्घ के एकत्र होने के स्थान—उपोसथागार—के समान पूजनीय हो जाता है। सङ्घ के गुणों की प्राप्ति हेतु चित्त में रुचि जागती है, (शिक्षापदों के) उल्लङ्घन की परिस्थिति आ पड़ने पर मानो सङ्घ सामने ही देख रहा हो—ऐसे लज्जा-संकोच होता है। उसे उत्तर (मार्ग-फल) भले ही न प्राप्त हो, किन्तु वह सुगति अवश्य प्राप्त करता है।

इसलिये बुद्धिमान् जिज्ञासु (साधक) ऐसे महान गुणों वाली सङ्घानुस्मृति के विषय में सदा प्रमादरहित बना रहे॥

यह सङ्घानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

४. शीलानुस्मृति

३८. शीलानुस्मृति की भावना के अभिलाषी को भी एकान्त में जाकर, एकाग्रचित्त होकर "अहा! मेरे शील तो अखण्ड, अछिद्र, अकलङ्क, अकल्मष, स्वाधीन, विज्ञों द्वारा प्रशंसित, निर्दोष, समाधिप्रदायक हैं" (अं नि० ३/११)—ऐसे अखण्डता आदि गुणों के अनुसार अपने शील का बार बार स्मरण करना चाहिये। उनमें भी गृहस्थों को गृहस्थों के शील का, प्रव्रजितों को प्रव्रजितों के शील का स्मरण करना चाहिये।

---

१. **येसं** ति। सीलादीनं।

पि न भिन्नं, तानि परियन्ते छिन्नसाटको विय न खण्डानी ति **अखण्डानि।** येसं वेमज्झे एकं पि न भिन्नं, तानि मज्झे विनिविद्धसाटको विय न छिद्दानी ति **अच्छिद्दानि।** येसं पटिपाटिया द्वे वा तीणि वा न भिन्नानि, तानि पिट्ठिया वा कुच्छिया वा उट्ठितेन दीघवट्टादिसण्ठानेन विसभागवण्णेन काळरत्तादीनं अञ्ञतरसरीरवण्णा गावी विय न सबलानी ति **असबलानि।** यानि अन्तरन्तरा न भिन्नानि, तानि विसभागबिन्दुचित्रा गावी विय न कम्मासानी ति **अकम्मासानि।** अविसेसेन वा सब्बानि पि सत्तविधेन मेथुनसंयोगेन कोधुपनाहादीहि च पापधम्मेहि अनुपहतत्ता अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि **अकम्मासानि।** तानि येव तण्हादासब्यतो मोचेत्वा भुजिस्सभावकरणेन **भुजिस्सानि।** बुद्धादीहि विञ्ञूहि पसत्थत्ता **विञ्ञूपसत्थानि।** तण्हादिट्ठीहि अपरामट्ठत्ता, केनचि वा 'अयं ते सीलेसु दोसो' ति एवं परामट्ठुं असक्कुणेय्यत्ताय **अपरामट्ठानि।** उपचारसमाधिं अप्पनासमाधिं वा, अथ वा पन मग्गसमाधिं फलसमाधिं चा पि संवत्तन्ती ति **समाधिसंवत्तनिकानि।**

एवं अखण्डतादिगुणवसेन अत्तनो सीलानि अनुस्सरतो "**नेवस्स तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति। न दोस...पे०...न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति, सीलं आरब्भा**", (अ० नि० ३/११) ति पुरिमनयेनेव[१] विक्खम्भित-नीवरणस्स एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। सीलगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणा-

३९. चाहे गृहस्थ शील हों या प्रव्रजित शील, जो आरम्भ से अन्त तक सर्वथा अखण्डित हैं, वे किनारे से फटे वस्त्र की तरह खण्डित न होने से **अखण्ड** हैं। जिनके बीच में एक भी खण्डित नहीं है, वे बीच में न छेद वाले कपड़े की तरह छिद्रयुक्त न होने से **अच्छिद्द** हैं। जो क्रमिक रूप से दो-तीन बार खण्डित नहीं हुए हैं, वे पीठ या पेट पर गोल-गोल काली, लाल आदि रंग-बिरंगी चित्तियों वाली गाय की तरह चितकबरी न होने से **असबल** (अशबल) हैं। जो बीच-बीच में अन्तर डालकर खण्डित नहीं हुए हैं, वे अनेक प्रकार की बिन्दियों वाली गाय के समान कल्मष (रंग-बिरंगे) न होने से **अकम्मास** (अकल्मष) हैं।

अथवा, सामान्य रूप में, सभी सात प्रकार के मैथुन-संसर्ग तथा, क्रोध, उपनाह आदि पापधर्मों द्वारा हानि न पहुँचाये जाने से अखण्ड, अछिद्र, अकलङ्क **अकम्मास हैं। वे ही** तृष्णा की दासता से छुड़ाकर स्वतन्त्र करने वाले हैं, अतः **भुजिस्स हैं।** बुद्ध आदि विज्ञों द्वारा प्रशंसित होने से **विञ्ञूपसत्थ** (विज्ञप्रशस्त) हैं। तृष्णा तथा (मिथ्या-) दृष्टि से दूषित न होने, या किसी के द्वारा 'तेरे शील में यह दोष है'—इस रूप में दोष न दिये जा सकने से **अपरामट्ठ** (अपरामृष्ट) हैं। उपचारसमाधि या अर्पणासमाधि, अथवा मार्गसमाधि और फलसमाधि को भी प्राप्त कराने वाले हैं, अतः **समाधिसंवत्तनिक** (समाधिसंवर्तनिक) हैं।

यों अखण्डता आदि गुणों के अनुसार शीलों का अनुस्मरण करते हुए योगी का 'उस समय चित्त न तो राग से क्षुब्ध होता है, न द्वेष...पूर्ववत्...न मोह से क्षुब्ध होता है। उस समय शील के प्रति चित्त की गति सीधी सरल ही होती है'—इस प्रकार पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही, शान्त नीवरणों वाले इस (योगी) को एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु शील के गुणों की

१. बुद्धानुस्सतियं वुत्तनयेन।

नुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं सीलगुणानुस्सरण-वसेन उप्पन्नत्ता सीलानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

इमं च पन सीलानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु सिक्खाय सगारवो होति, सभागवुत्ति, पटिसन्थारे अप्पमत्तो, अत्तानुवादादिभयविरहितो, अणुमत्तेसु वज्जेसु भयदस्सावी, सद्धादिवेपुल्लं अधिगच्छति, पीतिपामोज्जबहुलो होति। उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय सीलानुस्सतिया सदा ति॥

इदं सीलानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

५. चागानुस्सतिकथा

४०. चागानुस्सतिं भावेतुकामेन पन पकतिया चागाधिमुत्तेन निच्चप्पवत्तदानसंविभागेन भवितब्बं। अथ वा पन भावनं आरभन्तेन 'इतो दानि पभुति सति पटिग्गाहके अन्तमसो एकालोपमत्तं पि दानं अदत्वा न भुञ्जिस्सामी' ति समादानं कत्वा तं दिवसं गुणविसिट्ठेसु पटिग्गाहकेसु यथासत्ति यथाबलं दानं दत्वा तत्थ निमित्तं गण्हित्वा रहोगतेन पटिसल्लीनेन **"लाभा वत मे, सुलद्धं वत मे, योहं मच्छेरमलपरियुट्ठिताय पजाय विगतमलमच्छेरेन चेतसा विहरामि, मुत्तचागो पयतपाणि वोस्सग्गरतो याचयोगो दानसंविभागरतो"** (अ० नि० ३/११) ति एवं विगतमल-मच्छेरतादिगुणवसेन अत्तनो चागो अनुस्सरितब्बो।

गम्भीरता के कारण या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण के प्रति रुचि होने से अर्पणा नहीं प्राप्त होती, उपचारध्यान ही प्राप्त होता है। शील के गुणों के अनुस्मरणवशात् उत्पन्न यह (ध्यान) भी 'शीलानुस्मृति' कहा जाता है।

एवं इस शीलानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु शिक्षा (-पदों) के प्रति गौरवयुक्त होता है, (सब्रह्मचारियों के साथ ब्रह्मचर्य के विषय में) समानता रखने वाला होता है, (प्रिय वचनों से) स्वागत करने में अप्रमत्त होता है। आत्मनिन्दा आदि के भय से रहित होता है। अल्प दोष में भी भय देखता है। उसमें श्रद्धा आदि की अधिकता होती है, प्रीति-प्रमोद की अधिकता होती है। उत्तर (मार्ग-फल) को न प्राप्त करने पर भी, सुगति पाता है।

इसलिये ऐसे महान् गुणों वाली शीलानुस्मृति में बुद्धिमान् सदा प्रमादरहित रहे।

यह शीलानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

५. त्यागानुस्मृति

४०. त्यागानुस्मृति की भावना के अभिलाषी को स्वभाव से ही दान में रुचि रखने वाला, नित्य ही दान देने और बाँटने वाला होना चाहिये। अथवा, भावना आरम्भ करने वाले को—"अब से मैं दान लेने योग्य किसी के होने पर जब तक उसे दान नहीं दे लूँगा, तब तक एक ग्रास भी नहीं खाऊँगा"—ऐसा सङ्कल्प कर, उस दिन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न दान लेने वालों को यथाशक्ति देकर उस (दान) में निमित्त ग्रहण करके एकान्त में एकाग्र होकर 'मात्सर्य (कृपणतारूप) मल से रहित होना' आदि गुणों के अनुसार अपने त्याग का इस प्रकार अनुस्मरण करना चाहिये—"यह मेरा लाभ है, यह मेरा बहुत बड़ा लाभ है, कि मैं मात्सर्य-मल से अभिभूत सत्त्वों में मात्सर्य-

४१. तत्थ **लाभा वत मे** ति। मय्हं वत लाभा, ये इमे "**आयुं खो पन दत्वा आयुस्स भागी होति दिब्बस्स वा मानुसस्सवा**" (अं० नि० २/३९४) इति च, "**ददं पियो होति भजन्ति नं बहू**" (अं० नि० २/३९२) इति च, "**ददमानो पियो होति, सतं धम्ममनुक्कमं**" (अं० नि० २/३९३) इति च एवमादीहि नयेहि भगवता दायकस्स लाभा संवण्णिता, ते मय्हं अवस्सं भागिनो ति अधिप्पायो।

४२. **सुलद्धं वत मे** ति। यं मया इदं सासनं मनुस्सत्तं वा लद्धं, तं सुलद्धं वत मे। कस्मा? योहं मच्छेरमलिपरियुट्ठिताय पजाय...पे०...दानसंविभागरतो ति।

तत्थ **मच्छेरमलपरियुट्ठिताया** ति। मच्छेरमलेन अभिभूताय। **पजाया** ति। पजायनवसेन सत्ता वुच्चन्ति। तस्मा अत्तनो सम्पत्तीनं परसाधारणभावमसहनलक्खणेन चित्तस्स पभस्सरभावदूसकानं कण्हधम्मानं[१] अञ्ञतरेन मच्छेरमलेन अभिभूतेसु सत्तेसू ति अयमेत्थ अत्थो।

विगतमलमच्छेरेना ति। अञ्ञेसं पि रागदोसादिमलानं चेव मच्छेरस्स च विगतत्ता विगतमलमच्छेरेन। **चेतसा विहरामी** ति। यथावुत्तप्पकारचित्तो हुत्वा वसामी ति अत्थो। सुत्तेसु पन **महानामसक्कस्स** सोतापन्नस्स सतो निस्सयविहारं पुच्छतो निस्सयविहारवसेन देसितत्ता **अगारं अज्झावसामी** ति वुत्तं। तत्थ अभिभवित्वा वसामी ति अत्थो।

मलरहित चित्तवाला होकर रहता हूँ, उन्मुक्त भाव से दान करने वाला देने के लिये सदा तत्पर, देने में प्रसन्नता का अनुभव करने वाला, याच्ञा किये जाने योग्य को देने और बाँटने में लगा हुआ हूँ।"

४१. **लाभा वत मे**—"मुझे बहुत लाभ है। जो कि 'जीवन देकर दिव्य या मानव जीवन पाता है' (अं० नि० २/३९४), तथा 'देने वाला प्रिय होता है, उसके साथ बहुत से लोग लगे रहते हैं' (अं० नि० २/३९२), तथा 'सज्जनों के धर्म के अनुरूप, देते हुए प्रिय होता है' (अं० नि० २/३९३)—आदि प्रकार से भगवान् ने दाता को प्राप्त होने वाले जिन लाभों की प्रशंसा की है, वे मुझे अवश्य प्राप्त होंगे"—यह अभिप्राय है।

४२. **सुलद्धं वत मे**—यह मेरा बहुत बड़ा लाभ है कि मैंने (बुद्ध के) शासन को या मनुष्यत्व को पाया है। क्यों? जो कि मैं मात्सर्य-मल से अभिभूत सत्त्वों के बीच...पूर्ववत्...दान देने, बाँटने में लगा हूँ।

मच्छेरमलपरियुट्ठिताय—मात्सर्य मल से अभिभूत (वशीभूत) में। **पजाय**—उनका प्रजनन (वंशवृद्धि) होता है, अतः सत्त्वों को 'प्रजा' कहते हैं। इसलिये, अपनी सम्पत्ति की साझेदारी को न सह पाना जिसका लक्षण है और जो चित्त की प्रभास्वरता को दूषित करने वाले कृष्ण धर्मों (लोभ आदि) में से एक है, उस मात्सर्यरूप मल से अभिभूत सत्वों में—यहाँ यह अर्थ है।

विगतमलमच्छेरेन—अन्य राग-द्वेष आदि मलों तथा मात्सर्य से भी रहित होने से, मात्सर्य-मल से रहित के साथ। (यह चित्त का विशेषण है)। **चेतसा विहरामि**—अर्थात् यथोक्त प्रकार के चित्त वाला होकर रहता हूँ। किन्तु सूत्र (अ० नि० के **महानामसूत्र**) में स्रोतआपन्न महानाम

---

१. **कण्हधम्मानं** ति। लोभादिएकन्तकाळकानं पापधम्मानं।

४३. **मुत्तचागो** ति। विसट्ठचागो। **पयतपाणी** ति। परिसुद्धहत्थो। सक्कच्चं सहत्था देय्यधम्मं दातुं सदा धोतहत्थो येवा ति वुत्तं होति। **वोस्सग्गरतो** ति। वोस्सज्जनं वोस्सगो, परिच्चागो ति अत्थो। तस्मिं वोस्सग्गे सतताभियोगवसेन रतो ति वोस्सग्गरतो। **याचयोगो** ति। यं यं परे याचन्ति, तस्स तस्स दानतो याचनयोगो ति अत्थो। **याजयोगो** ति पि पाठो। यजनसङ्खातेन याजेन युत्तो ति अत्थो। **दानसंविभागरतो** ति। दाने च संविभागे च रतो। 'अहं हि दानं च देमि, अत्तना परिभुञ्जितब्बतो पि च संविभागं करोमि, एत्थेव चस्मि उभये रतो' ति एवं अनुस्सरती ति अत्थो।

४४. तस्सेवं विगतमलमच्छेरतादिगुणवसेन अत्तनो चागं अनुस्सरतो "**नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति न दोस...पे०...न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति चागं आरब्भा**" (अं० नि० ३/११) ति पुरिमनयेनेव विक्खम्भितनीवरणस्स एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। चागगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारचागगुणानुस्सरणाधि-मुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं चागगुणानुस्सरणवसेन उप्पन्नत्ता चागानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

इमं च पन चागानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु भिय्योसो मत्ताय चागाधिमुत्तो होति, अलोभज्झासयो, मेत्ताय अनुलोमकारी, विसारदो, पीतिपामोज्जबहुलो, उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

द्वारा निश्रय विहार (दैनिक कर्मस्थान) के विषय में पूछे जाने पर निश्रय विहार का निर्देश करते हुए **अगारं अज्झावसामि** (घर में रहता हूँ) कहा गया है। वहाँ ('राग आदि को) अभिभूत कर रहता हूँ'— यह अर्थ है।

४३. **मुत्तचागो**—उन्मुक्त भाव से दान देने वाला। **पयतपाणि**—परिशुद्धहस्त। अर्थात् सत्कारपूर्वक अपने हाथों से देय वस्तु को देने के लिए सदा हाथ धोये हुए (=तत्पर)। **वोस्सगरतो**—अवसर्जन ही अवसर्ग है, अर्थात् परित्याग। उस अवसर्ग में सदा रत=अवसर्गरत। **याचयोगो**—अर्थात् जिस जिस को दूसरे माँगते हैं, उस उस को देने से याच्ञा किये जाने योग्य। **याजयोग** भी पाठ है, अर्थात् यजनसंज्ञक याज से युक्त। **दानसंविभागरतो**—देने में, बाँटने में लगा हुआ। 'मैं दान देता हूँ, स्वयं के उपभोग्य को भी (दूसरों में) बाँट देता हूँ, तथा इन्हीं दोनों में लगा हुआ हूँ'—इस प्रकार अनुस्मरण करता है—यह अर्थ है।

४४. जब वह 'मात्सर्य-मल से रहित' आदि गुणों के अनुसार अपने त्याग का बारम्बार स्मरण करता है, तब "उस समय चित्त न तो राग से क्षुब्ध होता है, न द्वेष...पूर्ववत्...न मोह से क्षुब्ध होता है। उस समय त्याग के प्रति चित्त की गति सीधी-सरल ही होती है" (अं० नि० ३/११)—इस प्रकार पूर्वविधि के अनुसार ही, शान्त नीवरणों वाले (योगी) को एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु त्याग के गुणों की गम्भीरता या नाना प्रकार के त्याग गुणों के अनुस्मरण में रुचि होने के कारण, अर्पणा प्राप्त नहीं होती, उपचारध्यान ही प्राप्त होता है। वह (ध्यान) भी त्याग के गुणों के अनुस्मरण के फलस्वरूप उत्पन्न होने से 'त्यागानुस्मृति' कहा जाता है।

इस त्यागानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु त्याग के प्रति और भी अधिक रुचि रखता है, अलोभ

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय चागानुस्सतिया सदा ति॥

इदं चागानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

६. देवतानुस्सतिकथा

४५. देवतानुस्सतिं भावेतुकामेन पन अरियमग्गवसेन समुदागतेहि सद्धादीहि गुणेहि समन्नागतेन भवितब्बं। ततो रहोगतेन पटिसल्लानेन **"सन्ति देवा चातुमहाराजिका, सन्ति देवा तावतिंसा, यामा, तुसिता, निम्मानरतिनो, परनिम्मितवसवत्तिनो, सन्ति देवा ब्रह्मकायिका, सन्ति देवा ततुत्तरि, यथारूपाय सद्धाय समन्नागता ता देवता इतो चुता तत्थ उपपन्ना, मय्हं पि तथारूपा सद्धा संविज्जति। यथारूपेन सीलेन...यथारूपेन सुतेन...यथारूपेन चागेन... यथारूपाय पञ्ञाय समन्नागता ता देवता इतो चुता तत्थ उपपन्ना, मय्हं पि तथारूपा पञ्ञा संविज्जती"** (अं० नि० ३/१२) ति एवं देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो सद्धादिगुणा अनुस्सरितब्बा।

४६. सुत्ते पन—**"यस्मिं, महानाम, समये अरियसावको अत्तनो च तासं च देवतानं सद्धं च सीलं च सुतं च चागं च पञ्ञं च अनुस्सरति, नेवस्स तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होती"** (अं० नि० ३/१२) ति वुत्तं। किञ्चापि वुत्तं? अथ खो तं सक्खिट्ठाने ठपेतब्बदेवतानं अत्तनो सद्धादीहि समानगुणदीपनत्थं वुत्तं ति वेदितब्बं। **अट्ठकथायं** हि "देवता सक्खिट्ठाने ठपेत्वा अत्तनो गुणे अनुस्सरती" ति दळ्हं कत्वा वुत्तं।

को प्रमुखता देता है। वह मैत्रीभावना के अनुरूप कार्य करने वाला, निर्भीक, प्रीति-प्रमोद की अधिकता रखने वाला होता है।

इसलिये ऐसे महान् गुणों वाली त्यागानुस्मृति में रत बुद्धिमान् भिक्षु सदा प्रमादरहित रहे॥

यह त्यागानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

६. देवतानुस्मृति

४५. देवतानुस्मृति की भावना के अभिलाषी को आर्य-मार्ग (के अनुसरण) से उत्पन्न होने वाले श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होना चाहिये। तत्पश्चात् एकान्त में एकाग्रचित्त होकर, देवता को साक्षी मानते हुए इस प्रकार अपने श्रद्धा आदि गुणों का बार बार स्मरण करना चाहिये— "चातुर्महाराजिक (लोक) के देवता है, तावतिंस (त्रायस्त्रिंश) के देवता हैं, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित वशवर्ती, ब्रह्मकायिक देवता हैं, उनसे उच्चतर देवता भी हैं। वे देवता जिस प्रकार की श्रद्धा से युक्त होकर यहाँ (मृत्युलोक में) मर कर वहाँ (देवलोकों में) उत्पन्न हुए, उसी प्रकार की श्रद्धा मुझमें भी है। जैसे शील...श्रुत...त्याग...जैसी प्रज्ञा से युक्त होकर वे देवता यहाँ मरकर वहाँ उत्पन्न हुए, वैसी प्रज्ञा मुझमें भी है" (अं० नि० ३/१२)।

४६. यद्यपि सूत्र में—"महानाम, जिस समय आर्यश्रावक अपनी और उन देवताओं की श्रद्धा, शील, श्रुत, त्याग तथा प्रज्ञा का अनुस्मरण करता है, उस समय उसका चित्त राग से क्षुब्ध नहीं होता।" ऐसा कहा गया है, तथापि यह कथन साक्षी के स्थान पर रखे जाने वाले उन देवताओं

४७. तस्मा पुब्बभागे देवतानं गुणे अनुस्सरित्वा अपरभागे अत्तनो संविज्जमाने सद्धादिगुणे अनुस्सरतो चस्स "**नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति। न दोस...पे०... न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति देवता आरब्भा**" (अं० नि० ३/१२) ति पुरिमनयेनेव विक्खम्भितनीवरणस्स एकक्खणे झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। सद्धादिगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणानुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं देवतानं गुणसदिससद्धादिगुणानुस्सरणवसेन देवतानुस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

इमं च पन देवतानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु देवतानं पियो होति मनापो, भिय्योसो मत्ताय सद्धादिवेपुल्लं अधिगच्छति, पीतिपामोज्जबहुलो विहरति, उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय देवतानुस्सतिया सदा ति॥

इदं देवतानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

पकिण्णककथा

४८. यं पन एतासं वित्थारदेसनायं "**उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति तथागतं आरब्भा**" (अं० नि० ३/९) ति आदीनि वत्वा "**उजुगतचित्तो खो पन, महानाम,**

के एवं अपने श्रद्धा आदि गुणों की समानता सूचित करने के लिए ऐसा कहा गया जानना चाहिये, क्योंकि **अट्ठकथाओं** में यह बल देकर कहा गया है—"देवताओं को साक्षी बनाकर (साधक) अपने गुणों का अनुस्मरण करता है।"

४७. इसलिये (पूर्वोक्त प्रकार से) पहले देवताओं के गुणों का अनुस्मरण कर, बाद में अपने में वर्तमान श्रद्धा आदि गुणों का अनुस्मरण करते हुए उसका चित्त "उस समय न तो राग से क्षुब्ध होता है, न द्वेष...पूर्ववत्...न मोह से क्षुब्ध होता है" (अं० नि० ३/१२)—इस प्रकार पूर्व विधि से ही शान्त हो चुके नीवरणों वाले इस साधक को एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु श्रद्धा आदि गुणों की गम्भीरता के कारण, या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण के प्रति रुचि रहने से अर्पणा नहीं प्राप्त होती, उपचारध्यान ही प्राप्त होता है। दैवी गुणों के समान श्रद्धा आदि गुणों के अनुस्मरण से (उत्पन्न) यह (ध्यान) 'देवतानुस्मृति' कहलाता है।

इस देवतानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु देवताओं का प्रिय (=दुलारा) होता है। उसमें श्रद्धा आदि की अपेक्षाकृत अधिकता होती है। वह प्रीति-प्रमोद बहुल होकर साधना करता है। वह उत्तर (मार्ग-फल) न प्राप्त होने पर भी, सुगति अवश्य प्राप्त करता है।

इसलिये ऐसे महान् गुणों वाली देवतानुस्मृति में बुद्धिमान् सदा प्रमाद से रहित रहे॥

यह देवतानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

प्रकीर्णककथा

४८. जो इन (अनुस्मृतियों) की विस्तृत देशना में—"उस समय उसके चित्त की गति

अरियसावको लभति अत्थवेदं, लभति धम्मवेदं, लभति धम्मूपसंहितं पामोज्जं, पमुदितस्स पीति जायती" (अं० नि० ३/९) ति वुत्तं, तत्थ 'इति पि सो भगवा' ति आदीनं अत्थं निस्साय उप्पन्नं तुट्ठिं सन्धाय **लभति अत्थवेदं** ति वुत्तं। पाळिं निस्साय उप्पन्नं तुट्ठिं सन्धाय **लभति धम्मवेदं**। उभयवसेन **लभति धम्मूपसंहितं पामोज्जं** ति वुत्तं ति वेदितब्बं।

४९. यं च देवतानुस्सतियं **देवता आरब्भा** ति वुत्तं, तं पुब्बभागे देवता आरब्भ पवत्तचित्तवसेन देवतागुणसदिसे वा देवताभावनिप्फादके गुणे आरब्भ पवत्तचित्तवसेन वुत्तं ति वेदितब्बं।

५०. इमा पन छ अनुस्सतियो अरियसावकानं येव इज्झन्ति। तेसं हि बुद्धधम्मसङ्घगुणा पाकटा होन्ति। ते च अखण्डतादिगुणेहि सीलेहि, विगतमलमच्छेरेन चागेन, महानुभावानं देवतानं गुणसदिसेहि सद्धादिगुणेहि समन्नागता।

महानामसुत्ते (अं० नि० ३/८) च सोतापन्नस्स निस्सयविहारं पुट्ठेन भगवता सोतापन्नस्स निस्सयविहारदस्सनत्थमेव एता वित्थारतो कथिता।

गेधसुत्ते पि "**इदं, भिक्खवे, अरियसावको तथागतं अनुस्सरति, इति पि सो भगवा... पे०...उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति, निक्खन्तं मुत्तं वुट्ठितं गेधम्हा। गेधो ति खो, भिक्खवे, पञ्चन्नेतं कामगुणानं अधिवचनं। इदं पि खो, भिक्खवे, आरम्मणं करित्वा एवमिधेकच्चे सत्ता विसुज्झन्ती**''' (अं० नि० ३/३९) ति एवं अरियसावकस्स अनुस्सतिवसेन चित्तं विसोधेत्वा उत्तरि परमत्थविसुद्धिअधिगमत्थाय कथिता।

तथागत के प्रति सीधी-सरल ही होती है" (अं० नि० ३/९) आदि कहने के बाद—"महानाम, सरलचित्त आर्यश्रावक को ही अर्थवेद प्राप्त होता है, धर्मवेद प्राप्त होता है, धर्म के अनुपालन से प्रसन्नता होती है, प्रसन्न में प्रीति उत्पन्न होती है" (अं० नि० ३/९)—यह कहा गया है, वहाँ 'इति पि सो भगवा' आदि के अर्थ के कारण उत्पन्न हुई सन्तुष्टि के विषय में **लभति अत्थवेदं**—ऐसा कहा गया है। पालि (बुद्धवचन, धर्म) के कारण उत्पन्न हुई सन्तुष्टि के विषय में **लभति धम्मवेदं** (कहा गया है)। दोनों के विषय में **लभति धम्मूपसंहितं पामोज्जं** कहा गया है—ऐसा जानना चाहिये।

४९. और जो देवतानुस्मृति में **देवता आरब्भ** कहा गया है, वह पहले देवता के प्रति प्रवृत्त चित्त के अनुसार, अथवा देवता के गुणों के समान, देवत्व उत्पन्न करने वाले गुणों के अनुसार कहा गया जानना चाहिये।

५०. इन छह अनुस्मृतियों में आर्यश्रावक ही सिद्धि प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनमें बुद्ध-धर्म-सङ्घ के गुण प्रकट होते हैं एवं वे अखण्डता आदि गुणों वाले शीलों से, मात्सर्य-मल रहित त्याग से, महानुभाव देवताओं के गुणों के समान श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होते हैं। एवं **महानामसुत्त** (अं० नि० ३/८) में स्रोतआपन्न के निश्रयविहार के विषय में पूछे जाने पर भगवान् ने स्रोतआपन्न के निश्रय-विहार को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से इन्हें विस्तार से बतलाया है।

गेधसुत्त में भी—"भिक्षुओ, यहाँ आर्यश्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है। वह भगवान् ऐसे हैं; क्योंकि वह...पूर्ववत्...उस समय उसका चित्त सीधा-सरल ही होता है, गेध (लोभ) से

५१. आयस्मता **महाकच्चानेन** देसिते सम्बाधोकाससुत्ते पि "**अच्छरियं, आवुसो, अब्भुतं, आवुसो, यावञ्चिदं तेन भगवता जानता पस्सता अरहता सम्मासम्बुद्धेन सम्बाधे ओकासाधिगमो अनुबुद्धो सत्तानं विसुद्धिया...पे०...निब्बानस्स सच्छिकिरियाय यदिदं छ अनुस्सतिट्ठानानि। कतमानि छ? इधावुसो, अरियसावको तथागतं अनुस्सरति...पे०... एवमिधेकच्चे सत्ता विसुद्धिधम्मा भवन्ती**" (अं० नि० ३/४१; ४२) ति एवं अरियसावकस्सेव परमत्थविसुद्धिधम्मताय ओकासाधिगमवसेन कथिता।

उपोसथसुत्ते पि "**कथं च, विसाखे, अरियुपोसथो होति? उपक्किलिट्ठस्स, विसाखे, चित्तस्स उपक्कमेन परियोदपना होति। कथं च, विसाखे, उपक्किलिट्ठस्स चित्तस्स उपक्कमेन परियोदपना होति? इध, विसाखे, अरियसावको तथागतं अनुस्सरती**" (अं० नि० १/२७१) ति। एवं अरियसावकस्सेव उपोसथं उपवसतो चित्तविसोधनकम्मट्ठानवसेन उपोसथस्स महप्फलभावदस्सनत्थं कथिता।

एकादसनिपाते पि "**सद्धो खो, महानाम, आराधको होति नो अस्सद्धो। आरद्धविरियो उपट्ठितसति समाहितो पञ्ञवा, महानाम, आराधको होति, नो दुप्पञ्ञो। इमेसु खो त्वं, महानाम, पञ्चसु धम्मेसु पतिट्ठाय छ धम्मे उत्तरि भावेय्यासि। इध त्वं, महानाम, तथागतं अनुस्सरेय्यासि इति पि सो भगवा**" ति एवमरियसावकस्सेव "**तेसं नो, भन्ते, नानाविहारेन**

निकल चुका, मुक्त और उठा हुआ। भिक्षुओ, 'गेध' इन पाँच कामगुणों को कहते हैं। भिक्षुओ, कोई कोई सत्त्व इस (अनुस्मृति) को भी आलम्बन बनाकर विमुक्त हो जाते हैं" (अ० नि० ३/३९)—ये (अनुस्मृतियाँ) इसलिये बतलायी गयी हैं कि अनुस्मृति द्वारा आर्यश्रावक की चित्तशुद्धि हो तथा बाद में परमार्थविशुद्धि (निर्वाण) की प्राप्ति हो।

५१. आयुष्मान् **महाकच्चान** द्वारा देशित **सम्बाधोकाससुत्त** में भी—"आश्चर्य है, आयुष्मन्! अद्भुत है आयुष्मन्, जो कि उन जानने वाले, देखने वाले, अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध भगवान् ने सम्बाध (गृहस्थजीवन की सीमाओं) में अवकाश का अन्वेषण किया, सत्त्वों की विशुद्धि के लिये ...पूर्ववत्... निर्वाण के साक्षात्कार के लिये, जो कि वे छह अनुस्मृति (कर्म) स्थान हैं। कौन से छह? यहाँ आयुष्मन्! आर्यश्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है...पूर्ववत्...यहाँ कोई कोई सत्त्व विशुद्ध धर्मों वाले होते हैं" (अ० नि० ३/४१, ४२)—इस प्रकार यहाँ (अनुस्मृतियों को) आर्यश्रावकों की ही परमार्थविशुद्धि धर्मता द्वारा अवकाश की प्राप्ति के रूप में बतलाया गया है।

उपोसथसुत्त में भी—"विशाखे, आर्यों का उपोसथ क्या है?...विशाखे, उपक्लिष्ट (क्लेशसहित) चित्त का क्रमशः परिशोधन। विशाखे! उपक्लिष्ट चित्त का क्रमशः विशोधन क्या है? यहाँ, विशाखे, आर्यश्रावक तथागत का अनुस्मरण करता है" (अ० नि० १/२७१)—इस प्रकार उपोसथ में भाग लेने वाले आर्यश्रावक के चित्त की विशुद्धि करने वाले कर्मस्थान के रूप में उपोसथ का महान् फल दिखाने के लिये अनुस्मृतियाँ बतलायी हैं।

अङ्गुत्तरनिकाय के एकादश निपात में भी—"महानाम, श्रद्धालु ही मन को प्रसन्न करने वाला होता है, अश्रद्धालु नहीं। महानाम, वीर्यवान्, स्मृतिमान्, एकाग्रचित्त, प्रज्ञावान् ही मन को प्रसन्न करता है, दुष्प्रज्ञ नहीं। महानाम, तुम इन पाँच धर्मों में प्रतिष्ठित होकर छह उच्चतर धर्मों की भावना करना। यहाँ, महानाम! तुम तथागत का अनुस्मरण करना—"वे भगवान् ऐसे हैं

विहरतं केनस्स विहारेन विहरितब्बं" (अं० नि० ४/४४७) ति पुच्छतो विहारदस्सनत्थं कथिता।

५२. एवं सन्ते पि परिसुद्धसीलादिगुणसमन्नागतेन पुथुज्जनेता पि मनसि कातब्बा। अनुस्सववसेना पि बुद्धादीनं गुणे अनुस्सरतो चित्तं पसीदति येव। यस्सानुभावेन नीवरणानि विक्खम्भेत्वा उळारपामोज्जो विपस्सनं आरभित्वा अरहत्तं येव सच्छिकरेय्य। कटकन्धकारवासी **फुस्सदेवत्थेरो** विय।

सो किरायस्मा मारेन निम्मितं बुद्धरूपं दिस्वा 'अयं ताव सरागदोसमोहो एवं सोभति, कथं नु खो भगवा न सोभति? सो हि सब्बसो वीतरागदोसमोहो' ति बुद्धारम्मणं पीतिं पटिलभित्वा विपस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तं पापुणी ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
समाधिभावनाधिकारे **छअनुस्सतिनिद्देसो**
नाम सत्तमो परिच्छेदो॥

●●

इसलिये..."—इस प्रकार आर्यश्रावक के समान "भन्ते! नाना प्रकार की साधना वाले हमलोगों को कैसे साधना करना चाहिये?" (अं० नि० ४/४४७) ऐसा पूछे जाने पर साधना को दरसाने के लिये (अनुस्मृतियाँ) बतलायी गयी हैं।

५२. ऐसा (अर्थात् भिक्षु-जीवन में ही अनुस्मृतियों के अभ्यास की विशेष सार्थकता) होने पर भी परिशुद्ध शील आदि गुणों से युक्त पृथग्जन भी (उनमें) मन लगा सकता है; क्योंकि चाहे वह (धार्मिक प्रशिक्षण प्राप्त किये विना ही) कहीं से सुन सुनाकर भी बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करे तो भी चित्त प्रसन्न होता ही है। जिसके कारण नीवरण शान्त हो जाते हैं। अत्यधिक प्रमुदित होकर वह विपश्यना का आरम्भ कर, कटकन्धकारवासी **फुस्सदेव** स्थविर के समान अर्हत्त्व का भी साक्षात्कार कर लेता है।

उस आयुष्मान् ने मार द्वारा निर्मित बुद्ध के रूप को देखकर 'जब यह राग द्वेष मोह युक्त मार (बुद्ध के रूप में) ऐसा शोभित हो रहा है, तब भला भगवान् क्यों न शोभित होते होंगे, जो कि राग-द्वेष-मोह से सर्वथा रहित हैं'—इस प्रकार बुद्ध के प्रति प्रीति प्राप्त कर, विपश्यना का वर्धन कर अर्हत्त्व प्राप्त कर लिया था।

साधुजनों के प्रमोदार्थ रचित विसुद्धिमग्ग के
समाधिभावनाधिकार में **षडनुस्मृतिनिर्देश**
नामक सप्तम परिच्छेद समाप्त॥

●●

अनुस्सतिकम्मट्ठाननिद्देसो

अट्ठमो परिच्छेदो

मरणस्सतिकथा

१. इदानि इतो[1] अनन्तराय मरणस्सतिया भावनानिद्देसो अनुप्पत्तो। तत्थ **मरणं** ति। एकभवपरियापन्नस्स जीवितिन्द्रियस्स उपच्छेदो। यं पनेतं अरहन्तानं वट्टदुक्खसमुच्छेदसङ्खातं समुच्छेदमरणं[2], सङ्खारानं खणभङ्गसङ्खातं खणिकमरणं, रुक्खो मतो लोहं मतं ति आदीसु सम्मुतिमरणं[3] च, न तं इध अधिप्पेतं।

२. यं पि चेतं अधिप्पेतं, तं कालमरणं अकालमरणं ति दुविधं होति। तत्थ **कालमरणं** पुञ्ञक्खयेन वा आयुक्खयेन वा उभयक्खयेन वा होति। **अकालमरणं** कम्मुपच्छेदककम्मवसेन ।

३. तत्थ यं विज्जमानाय पि आयुसन्तानजनकपच्चयसम्पत्तिया केवलं पटिसन्धिजनकस्स कम्मस्स विपक्कविपाकत्ता मरणं होति, इदं **पुञ्ञक्खयेन मरणं** नाम। यं गतिकालाहारादिसम्पत्तिया अभावेन अज्जतनकालपुरिसानं विय वस्ससतमत्तपरिमाणस्स आयुनो

अनुस्मृतिकर्मस्थाननिर्देश

अष्टम परिच्छेद

७. मरण-स्मृति

१. अब इस (देवतानुस्मृति) के बाद मरण-स्मृति की भावना का प्रसङ्ग आता है।

मरणं—एक भव (की सीमा) में समाविष्ट जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद। किन्तु यह जो अर्हतों का (संसार-) चक्र के दु:खों का सर्वथा उच्छेद नामक समुच्छेदमरण है, या संस्कारों का क्षणभङ्ग नामक क्षणिक मरण है, और जो 'वृक्ष मर गया, लोहा मर गया', जैसे (कथनों) में संवृति-(लोकव्यवहार में प्रयुक्त) मरण है—वह (सब) यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

२. जो मरण यहाँ अभिप्रेत है, वह द्विविध है—कालमरण, अकालमरण। **कालमरण** पुण्यक्षय या आयु:क्षय या दोनों के क्षय से होता है, **अकालमरण** (जीवन के उत्पादक) कर्म के उपच्छेदक कर्म से।

३. उनमें, जो आयु को बनाये रखने वाले कारणों के विद्यमान होते हुए भी केवल प्रतिसन्धिजनक कर्म का परिपाक होने से मरण होता है, उसे **पुञ्ञक्खयेन मरणं** (पुण्यक्षय से होने वाला मरण) कहा जाता है। जो मरण गति (देवताओं जैसी सुगति), काल या आहार आदि के अभाव से आजकल के पुरुषों के समान केवल सौ वर्ष की आयु के क्षय के कारण होता

---

१. **इतो** ति। *देवतानुस्सतिया।* २. **समुच्छेदमरणं** *ति। अरहतो सन्तानस्स सब्बसो उच्छेदभूतं मरणं।*
३. रुक्खादि अल्लतादिविगमनं निस्साय मतवोहारो **सम्मुतिमरणं**।

खयवसेन मरणं होति, इदं **आयुक्खयेन मरणं** नाम। यं पन दूसीमारकलाबुराजादीनं[1] विय तं खणं येव ठानाचावनसमत्थेन कम्मुना उपच्छिन्नसन्तानानं, पुरिमकम्मवसेन वा सत्थाहरणादीहि उपक्कमेहि उपच्छिज्जमानसन्तानानं मरणं होति, इदं **अकालमरणं** नाम। तं सब्बं पि वुत्तप्पकारेन जीवितिन्द्रियुपच्छेदेन सङ्गहितं। इति जीवितिन्द्रियुपच्छेदसङ्खातस्स मरणस्स सरणं **मरणस्सति**।

४. तं भावेतुकामेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन "मरणं भविस्सति, जीवितिन्द्रियं उपच्छिज्जिस्सती" ति वा, "मरणं मरणं" ति वा योनिसो[2] मनसिकारो पवत्तेतब्बो।

अयोनिसो पवत्तयतो हि इट्ठजनमरणानुस्सरणे सोको उप्पज्जति विजातमातुया पियपुत्तमरणानुस्सरणे विय। अनिट्ठजनमरणानुस्सरणे पामोज्जं उप्पज्जति, वेरीनं वेरिमरणानुस्सरणे विय। मज्झत्तजनमरणानुस्सरणे संवेगो न उप्पज्जति, मतकळेवरदस्सने छवडाहकस्स विय। अत्तनो मरणानुस्सरणे सन्तासो उप्पज्जति, उक्खित्तासिकं वधकं दिस्वा भीरुकजातिकस्स विय।

तदेतं सब्बं पि सतिसंवेगञाणविरहतो होति। तस्मा तत्थ तत्थ हतमतसत्ते ओलोकेत्वा दिट्ठपुब्बसम्पत्तीनं सत्तानं मतानं मरणं आवज्जेत्वा सतिं च संवेगं च योजेत्वा "मरणं

है, उसे **आयुक्खयेन मरणं** कहा जाता है। जो दूसीमार, कलाबुराज[3] आदि के समान, उसी क्षण स्थान से च्युत करने में समर्थ कर्म द्वारा उपच्छिन्न जीवन-प्रवाह वालों का (मरण होता है), या फिर पूर्व कर्म के फलस्वरूप शस्त्राघात आदि उपायों से उपच्छिन्न जीवनप्रवाह वालों का मरण होता है, वह **अकालमरणं** कहा जाता है। वे सभी कथित जीवितेन्द्रय-उपच्छेद के अन्तर्गत आ जाते हैं।

४. उसकी भावना के अभिलाषी को एकान्त में एकाग्रचित्त होकर 'मरण होगा' 'जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा' ऐसे, या 'मरण मरण' ऐसे उपाय के साथ (उचित ढंग से) चिन्तन करना चाहिये।

यदि उचित ढंग से चिन्तन नहीं किया जाता है तो, प्रियपुत्र की मृत्यु के विषय में सोचते रहने वाली जन्मदात्री मां के समान, प्रियजनों की मृत्यु को सोचते रहने से शोक उत्पन्न होता है (वैसे ही) अप्रियजनों को मृत्यु के बारे में सोचते रहने से प्रसन्नता होती है, जैसे शत्रुओं को एक-दूसरे की मृत्यु के विषय में सोचने से होती है। मध्यस्थ (न प्रिय, न अप्रिय) जनों के मरण का अनुस्मरण करने से संवेग उत्पन्न नहीं होता, जैसे कि शव जलाने वाले (चाण्डाल) आदि को मृत शरीर देखने से (संवेग नहीं होता)। अपनी मृत्यु के अनुस्मरण से भय उत्पन्न होता है, तलवार उठाये वधिक को देखकर भीरु स्वभाव प्राणी के समान।

वे सभी (शोक आदि) स्मृति, संवेग और ज्ञान-रहितता से ही होते हैं। इसलिये यहाँ वहाँ

---

१. दूसीमारकथा म० निकाये मारतज्जनियसुत्ते, कलाबुराजकथा च जातकट्ठकथायं खन्तिवादजातके दट्ठब्बा।

२. **योनिसो** ति। उपायेन।

३. **दूसीमार की कथा** म० निकाय के 'मारतज्जनियसुत्त' में और **कलाबुराज की कथा** जातकट्ठकथा के 'खन्तिवादजातक' में द्रष्टव्य है।

भविस्सती" ति आदिना नयेन मनसिकारो पवत्तेतब्बो। एवं पवत्तेन्तो हि योनिसो पवत्तेति। उपायेन पवत्तेती ति अत्थो।

एवं पवत्तयतो येव हि एकच्चस्स नीवरणानि विक्खम्भन्ति, मरणारम्मणा सति सण्ठाति, उपचारप्पत्तमेव कम्मट्ठानं होति।

५. यस्स पन एत्तावता न होति, तेन वधकपच्चुपट्ठानतो[१], सम्पत्तिविपत्तितो[२], उपसंहरणतो[३], कायबहुसाधारणतो[४], आयुदुब्बलतो[५], अनिमित्ततो[६], अद्धानपरिच्छेदतो[७], खणपरित्ततो[८] ति इमेहि अट्ठहाकारेहि मरणं अनुस्सरित्तब्बं।

तत्थ **वधकपच्चुपट्ठानतो** ति। वधकस्स विय पच्चुपट्ठानतो। यथा हि 'इमस्स सीसं छिन्दिस्सामी' ति असिं गहेत्वा गीवाय चारयमानो वधको पच्चुपट्ठितो व होति, एवं मरणं पि पच्चुपट्ठितमेवा ति अनुस्सरितब्बं। कस्मा? सह जातिया आगततो, जीवितहरणतो च।

मारे गये या (स्वयं) मरे सत्त्वों को देखकर, पूर्व में सम्पत्तिशाली मृतकों के मरण का आवर्जन कर, "स्मृति और संवेग के साथ मरण होगा" आदि प्रकार से चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करते हुए ही वह उचित ढंग से (चिन्तन) करता है, अर्थात् उपाय के साथ करता है।

ऐसा करने पर ही किसी किसी के नीवरण शान्त हो जाते हैं, मरण-विषयक स्मृति स्थिर हो जाती है और कर्मस्थान (=ध्यान का विषय) उपचार को ही प्राप्त करता है।

५. किन्तु जिसका कर्मस्थान, इतना करने पर भी (उपचारप्राप्त) न हो, उसे इन आठ प्रकार से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये—१. वधिक प्रत्युपस्थान से (वधिक मानो पास खड़ा हो—इस रूप में), २. सम्पत्ति की विपत्ति से (आरोग्य आदि सम्पत्तियों के समान जीवित सम्पत्ति के नष्ट हो जाने के रूप में), ३. उपसंहरण से (दूसरों का मरण देखकर अपने मरण से तुलना के रूप में), ४. काय के जनसाधारण होने से (काय सबका समान है—इस रूप में), ५. आयु की दुर्बलता से (जीवन कभी भी नष्ट हो सकता है, इस रूप में), ६. अनिमित्त से (मरण का कोई निश्चित कारण न होने से), ७. अद्धानपरिच्छेद से (काल सीमित है, इस रूप में), और ८. क्षण के परिमित होने से (जीवन-क्षण के सीमित होने से)।

उनमें, **वधकपच्चुपट्ठानतो**—वधिक के समान पास में ही होने से। जैसे 'इसका सिर काटूँगा' ऐसा (सोच) तलवार लेकर गरदन पर चलाता हुआ वधिक पास ही उपस्थित हो, वैसे ही 'मृत्यु भी पास ही उपस्थित है'—ऐसा अनुस्मरण करना चाहिये। क्यों? क्योंकि (व्यक्ति की

---

१. **वधकपच्चुपट्ठानतो** ति। घातकस्स विय पति पति उपट्ठानतो आसन्नभावतो।
२. **सम्पत्तिविपत्तितो** ति। आरोग्यादिसम्पत्तीनं विय जीवितसम्पत्तिया विपज्जनतो।
३. **उपसंहरणतो** ति। परेसं मरणं दस्सेत्वा अत्तनो मरणस्स उपनयनतो।
४. **कायबहुसाधारणतो** ति। सरीरस्स बहूनं साधारणभावतो।
५. **आयुदुब्बलतो** ति। सरीरस्स आयुसो बहूनं साधारणभावतो।
६. **अनिमित्ततो** ति। मरणस्स ववत्थितनिमित्ताभावतो।
७. **अद्धानपरिच्छेदतो** ति। कालस्स परिच्छिन्नभावतो।
८. **खणपरित्ततो** ति। जीवितक्खणस्स इत्तरभावतो।

यथा हि अहिच्छत्तकमकुळं मत्थकेन पंसुं गहेत्वा व उग्गच्छति, एवं सत्ता जरामरणं गहेत्वा व निब्बत्तन्ति। तथा हि नेसं पटिसन्धिचित्तं उप्पादानन्तरमेव जरं पत्वा पब्बतसिखरतो पतितसिला विय भिज्जति सद्धिं सम्पयुत्तखन्धेहि। एवं खणिकमरणं ताव सह जातिया आगतं। जातस्स पन अवस्सं मरणतो इधाधिप्पेतं मरणं पि सह जातिया आगतं।

तस्मा एस सत्तो जातकालतो पट्ठाय यथा नाम उट्ठितो सुरियो अत्थाभिमुखो गच्छतेव, गतगतट्ठानतो ईसकं पि न निवत्तति। यथा वा नदी पब्बतेय्या सीघसोता हारहारिनी[1] सन्दते व वत्तते व, ईसकं पि न निवत्तति, एवं ईसकं पि अनिवत्तमानो मरणाभिमुखो व याति। तेन वुत्तं—

"यमेकरत्तिं पठमं गब्भे वसति माणवो।
अब्भुट्ठितो व सो याति स गच्छं न निवत्तती" ति॥

(खु० ३ : १/३५१)

एवं गच्छतो चस्स गिम्हाभितत्तानं कुन्नदीनं खयो विय, पातो आपोरसानुगतबन्धानं दुमप्फलानं पतनं विय, मुग्गराभिताळितानं मत्तिकभाजनानं भेदो विय, सुरियरस्मिसम्फुट्ठानं उस्सावबिन्दूनं विद्धंसनं विय च मरणमेव आसन्नं होति। तेनाह—

मृत्यु तो) जन्म के साथ ही आती हैं (निश्चित हो जाती है) और (कालान्तर में) जीवन का हरण कर लेती है।

जैसे कि अहिच्छत्रक का फूल सिर पर धूल लिये हुए ही उगता है, वैसे ही उन (सत्त्वों) का प्रतिसन्धिचित्त उत्पत्ति के बाद ही जरा को प्राप्त कर, पर्वत-शिखर से गिरी हुई शिला के समान, स्कन्धों के साथ छिन्न भिन्न हो जाता है। ऐसा क्षणिक मरण तो जन्म के साथ ही आया हुआ है। किन्तु यहाँ जो 'मरण' अभिप्रेत है, वह भी जन्म के साथ ही आया हुआ है; क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु अवश्यम्भावी है।

इसलिये यह सत्त्व जन्म से ही, अल्पमात्र भी पीछे न लौटते हुए मरण की ओर ही जाता है, जैसे कि उगा हुआ सूर्य अस्ताचल की तरफ जाता ही है, जहाँ-जहाँ से जा चुका है वहाँ से थोड़ा-सा भी पीछे नहीं लौटता; अथवा जैसे तेज धार वाली (खर-पतवार सबको) बहा डालने वाली पहाड़ी नदी आगे ही बहती जाती है, थोड़ा सा भी पीछे नहीं लौटती। इसलिये कहा गया है—

"जिस एक रात में प्राणी सर्वप्रथम गर्भ में वास करता है, वह आगे ही जाता है, पीछे नहीं लौटता॥" (खु० ३ : १/३५१)

इस प्रकार जाते हुए उस (सत्त्व) की मृत्यु ही पास में होती है, जैसे ग्रीष्म में तपती हुई क्षुद्र नदियों का क्षय; जैसे प्रातःकाल ही अनुबन्ध (=वृन्त, जहाँ फल डाल से जुड़े होते हैं) के पास रस न पहुँचने से फलों का गिरना, जैसे मुद्गर से पीटे गये मिट्टी के बर्तनों का फूटना, और जैसे सूर्य की किरणों के स्पर्श से ओस की बूँदों का नष्ट होना। इसी लिये कहा है—

---

१. **हारहारिनी** ति। पवाहे पतितस्स तिणपण्णादिकस्स अतिविय हरणसीला।

"अच्चयन्ति अहोरत्ता जीवितं उपरुज्झति।
आयु खीयति मच्चानं, कुन्नदीनं व ओदकं"॥ (सं०नि०१/१०८)
"फलानमिव पक्कानं पातो पपततो भयं।
एवं जातान मच्चानं निच्चं मरणतो भयं॥
यथा पि कुम्भकारस्स कतं मत्तिकभाजनं।
खुद्दकं च महन्तं च यं पक्कं यं च आमकं।
सब्बं भेदनपरियन्तं एवं मच्चान जीवितं॥ (खु०नि०१/३६०)
"उस्सावो व तिणग्गम्हि सुरियस्सुग्गमनं पति।
एवमायु मनुस्सानं, मा मं अम्म, निवारया" ति॥
(खु० नि० : ३ : १/२२८)

एवं उक्खित्तासिको वधको विय सह जातिया आगतं पनेतं मरणं गीवाय असिं चारयमानो सो वधको विय जीवितं हरति येव, न अहरित्वा निवत्तति। तस्मा सह जातिया आगततो जीवितहरणतो च उक्खित्तासिको वधको विय मरणं पि पच्चुपट्ठितमेवा ति एवं वधकपच्चुपट्ठानतो मरणं अनुस्सरितब्बं। (१)

६. **सम्पत्तिविपत्तितो** ति। इध सम्पत्ति नाम तावदेव सोभति, याव नं विपत्ति नाभिभवति, न च सा सम्पत्ति नाम अत्थि, या विपत्तिं अतिक्कम्म तिट्ठेय्य। तथा हि—

सकलं मेदिनिं भुत्वा दत्वा कोटिसतं सुखी।
अड्ढामलकमत्तस्स अन्ते इस्सरतं गतो॥
तेनेव देहबन्धेन पुञ्ञम्हि खयमागते।

"दिन-रात बीत रहे हैं, जीवन निरुद्ध हो रहा है। क्षुद्र नदियों के जल के समान मर्त्यों (मरणशीलों) की आयु का क्षय हो रहा है॥" (सं० नि० १/१०८)

"जिस प्रकार पके हुए फलों को सबेरे ही गिरने का भय रहता है, वैसे ही उत्पन्न हुए प्राणियों को सदैव मरण का भय बना रहता है॥

"जैसे कुम्हार के बनाये हुए मिट्टी के बर्तन—छोटे हों या बड़े, पक्के हों या कच्चे—सब के सब फूट जाने वाले होते हैं, वैसे ही मर्त्यों का जीवन भी समझना चाहिये॥ (खु० १/३६०)

"सूर्य निकलने पर तृणों के सिरों पर (पड़ी) ओस की बूँदों के समान मनुष्यों की आयु है। मां, मुझे मत रोको॥" (खु० ३ : १/२२८)

यों तलवार उठाये हुए वधिक के समान, उत्पत्ति के साथ आया हुआ यह मरण ग्रीवा पर तलवार चलाते हुए उस वधिक की तरह जीवन को लेकर ही छोड़ता है, बिना लिये नहीं रहता। इसलिये 'जन्म के साथ-साथ आने और जीवन हरण करने से, तलवार उठाये वधिक जैसा मरण भी पास ही है'—इस प्रकार वधिकप्रत्युपस्थान से मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

६. **सम्पत्तिविपत्तितो**—यहाँ (लोक में) सम्पत्ति तभी तक शोभित होती है, जब तक विपत्ति उस पर प्रभावी नहीं होती। और ऐसी कोई सम्पत्ति नहीं है जो विपत्ति का अतिक्रमण कर बची रहे। वैसे ही—समस्त पृथ्वी का भोग करके, सैकड़ों करोड़ देकर, सुखी रहने वाले का

मरणाभिमुखो सो पि असोको सोकमागतो ति॥

अपि च सब्बं आरोग्यं व्याधिपरियोसानं, सब्बं योब्बनं जरापरियोसानं, सब्बं जीवितं मरणपरियोसानं, सब्बो येव लोकसन्निवासो जातिया अनुगतो, जराय अनुसटो, ब्याधिना अभिभूतो, मरणेन अब्भाहतो। तेनाह—

"यथा पि सेला विपुला नभं आहच्च पब्बता।
समन्तायानुपरियेय्युं निप्पोथेन्ता चतुद्दिसा॥
एवं जरा च मच्चु च अधिवत्तन्ति पाणिनो।
खत्तिये ब्राह्मणे वेस्से सुद्दे चण्डालपुक्कुसे॥
न किञ्चि परिवज्जेति सब्बमेवाभिमद्दति।
न तत्थ हत्थीनं भूमि न रथानं न पत्तिया।
न चा पि मन्तयुद्धेन सक्का जेतुं धनेन वा" ति॥ (सं०नि० १/१६९)

एवं जीवितसम्पत्तिया मरणविपत्तिपरियोसानतं ववत्थपेन्तेन सम्पत्तिविपत्तितो मरणं अनुस्सरितब्बं। (२)

७. **उपसंहरणतो** ति। परेहि सद्धिं अत्तनो उपसंहरणतो। तत्थ सत्तहाकारेहि उपसंहरणतो मरणं अनुस्सरितब्बं—यसमहत्ततो, पुञ्ञमहत्ततो, थाममहत्ततो, इद्धिमहत्ततो, पञ्ञामहत्ततो, पच्चेकबुद्धतो, सम्मासम्बुद्धतो ति।

कथं? इदं मरणं नाम महायसानं महापरिवारानं सम्पन्नधनवाहनानं महासम्मतमन्धातु-महासुदस्सनदळ्हनेमिनिमिप्पभुतीनं पि उपरि निरासङ्कमेव पतितं, किमङ्ग पन मय्हं उपरि न पतिस्सति!

अन्त में आधे आँवले पर ही आधिपत्य रह गया। पुण्यों का क्षय होने पर उसी शरीर से मरणासन्न वह अशोक भी शोक को प्राप्त हुआ॥

और भी—सब (के) आरोग्य का अन्त व्याधि है, सभी यौवनों का अन्त बुढ़ापा है, सभी जीवनों का अन्त मृत्यु है। समस्त लोक जो जन्म ले रहा है, जरा (बुढ़ापे) से अनुसृत (क्रमशः ग्रसित) है, रोग-सन्त्रस्त है, मृत्यु से मारा हुआ है। अतः कहा है—

"जैसे गगनचुम्बी विशाल पर्वत चारों और फैलते हुए, चारों दिशाओं को चूर-चूर कर रहे हों वैसे ही यह जरा और मृत्यु क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, अन्त्यज (सभी) प्राणियों को कुचल देती है, वह किसी को भी नहीं छोड़ती॥

"उस मृत्यु के राज्य में न तो हाथियों के लिये स्थान है, न रथों या पैदल सेना के लिये, और न ही उसे मन्त्रयुद्ध से या धन से जीता जा सकता है॥ (सं० नि० १/१६९)

यों, जीवन रूपी सम्पत्ति मरणरूपी विपत्ति में ही पर्यवसित होती है—ऐसा विचार करते हुए सम्पत्ति-विपत्ति के रूप में मरण का अनुस्मरण करना चाहिये॥"

७. **उपसंहरणतो**—दूसरों के साथ अपनी तुलना से। यहाँ, सात प्रकार से तुलना करते हुए मरण का अनुस्मरण करना चाहिये—महायशस्वियों के साथ, महापुण्यवानों...महाबलवानों... महाऋद्धिमानों...महाप्राज्ञों...प्रत्येकबुद्धों...एवं सम्यक्सम्बुद्धों के साथ।

महायसा राजवरां महासम्मतआदयो।
ते पि मच्चुवसं पत्ता मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं ताव यसमहत्ततो अनुस्सरितब्बं।

कथं पुञ्ञमहत्ततो?

जोतिको[१] जटिलो[१] उग्गो मेण्डको[१] अथ पुण्णको[१]।
एते चञ्ञे च ये लोके महापुञ्ञा ति विस्सुता।
सब्बे मरणमापन्ना मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं पुञ्ञमहत्ततो अनुस्सरितब्बं।

कथं थाममहत्ततो?

वासुदेवो[२] बलदेवो भीमसेनो युधिट्ठिलो।
चाणूरो यो महामल्लो अन्तकस्स वसं गता॥
एवं थामबलूपेता इति लोकम्हि विस्सुता।
एते पि मरणं याता मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं थाममहत्ततो अनुस्सरितब्बं।

कथं इद्धिमहत्ततो?

पादङ्गुट्ठकमत्तेन वेजयन्तमकम्पयि।

कैसे? यह मरण तो महायशस्वियों, बहुत बड़े परिवार वालों, धन-वाहन से भरे-पूरे लोगों, महासम्मत, मान्धाता, महासुदर्शन, दृढ़नेमि, निमि आदि पर भी निःसङ्कोच गिर पड़ा, डरा नहीं; तो क्या मुझ पर नहीं गिरेगा!

"महायशस्वी महासम्मत आदि नृपश्रेष्ठ भी मृत्यु के वश में पड़ गये, फिर मुझ जैसे की तो बात ही क्या है!॥"

यों महायशस्वियों के साथ (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (१)

महापुण्यवानों के साथ कैसे तुलना करनी चाहिये?

"जोतिक, जटिल, उग्र, मेण्डक, पुण्यक (द्र०—इसी ग्रन्थ का बारहवाँ परिच्छेद)—ये सब एवं अन्य भी जो लोक में महापुण्यवानों के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे सभी मर गये। फिर मुझ जैसे का तो कहना ही क्या है!॥

यों पुण्यात्माओं के साथ (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (२)

बलवानों के साथ कैसे तुलना करनी चाहिये?

"वासुदेव (वासुदेव आदि की कथाएँ जातकट्ठकथाओं में देखें) बलदेव, भीमसेन, युधिष्ठिर और चाणूर जो महान योद्धा था—(ये सभी) मृत्यु के वश में पड़ गये॥

"ऐसे लोकप्रसिद्ध बलवान् भी जब मर गये तब मुझ जैसे का तो कहना क्या है!"॥

यों बलवानों के साथ (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (३)

---

१. एतेसं इद्धियो उपरि द्वादसम्हि परिच्छेदे सयमेव वण्णयिस्सति आचरियो।

२. वासुदेवादीनं कथा जातकट्ठकथायं दट्ठब्बा।

योनामिद्धिमतं सेट्ठो दुतियो अग्गसावको॥
सो पि मच्चुमुखं घोरं मिगो सीहमुखं विय।
पविट्ठो सह इद्धीहि मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं इद्धिमहत्ततो अनुस्सरितब्बं।

कथं पञ्ञामहत्ततो?

लोकनाथं ठपेत्वान ये चञ्ञे अत्थि पाणिनो।
पञ्ञाय सारिपुत्तस्स कलं नाग्घन्ति सोळसिं॥
एवं नाम महापञ्ञो पठमो अग्गसावको।
मरणस्स वसं पत्तो मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं पञ्ञामहत्ततो अनुस्सरितब्बं।

कथं पच्चेकबुद्धतो?

ये पि ते अत्तनो ञाणविरियबलेन सब्बकिलेससत्तुनिम्मथनं कत्वा पच्चेकबोधिं पत्ता खग्गविसाणकप्पा सयम्भुनो, ते पि मरणतो न मुत्ता, कुतो पनाहं मुच्चिस्सामी ति!

तं तं निमित्तमागम्म वीमंसन्ता महेसयो।
सयम्भुञाणतेजेन ये पत्ता आसवक्खयं॥
एकचरियनिवासेन खग्गसिङ्गसमूपमा।

ऋद्धिमानों के साथ कैसे तुलना करनी चाहिये?

श्रेष्ठ ऋद्धिमान् द्वितीय अग्रश्रावक (महामौद्गल्यायन) जिन्होंने पैर के अंगूठे के स्पर्श मात्र से वैजयन्त (प्रासाद) को कँपा दिया था, वे भी मृत्यु के भयानक मुख में अपनी सिद्धियों समेत वैसे ही समा गये, जैसे कि सिंह के मुख में हिरण समा जाता है। फिर मुझ जैसों की तो बात ही क्या है!॥

यों महान् ऋद्धिमानों से (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (४)

कैसे महाप्रज्ञावानों से तुलना करनी चाहिये?

लोकनाथ (भगवान् बुद्ध) के अतिरिक्त अन्य प्राणी प्रज्ञा में सारिपुत्र की सोलहवीं कला की भी बराबरी नहीं कर सकते। ऐसे महाप्राज्ञ प्रथम अग्रश्रावक भी मृत्यु के मुख में जा पड़े, फिर मुझ जैसे की बात ही क्या है!॥

यों महाप्रज्ञावानों के साथ (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (५)

कैसे प्रत्येकबुद्धों से तुलना करनी चाहिये?

जो अपने ज्ञान तथा वीर्य-बल से सर्वक्लेश-शत्रुओं का मर्दनकर, प्रत्येकबोधि प्राप्त कर गेंडे के समान एकाकी विचरण करने वाले स्वयम्भू (स्वयं ज्ञान प्राप्त करने वाले) हैं, वे भी मृत्यु से नहीं बच पाये, फिर मैं कैसे बचूँगा!

उन उन निमित्तों (लक्षणों) को पाकर मीमांसा करने वाले महर्षिगण जिन्होंने एकाकी विचरण और (एकाकी) निवास के विषय में गेंडे के सींग से समानता की है, वे (प्रत्येकबुद्ध) भी जब अपनी मृत्यु को नहीं टाल सके, तब मुझ जैसे की तो बात ही क्या है!॥

यों प्रत्येकबुद्ध से (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (६)

ते पि नात्तिगता मच्चुं मादिसेसु कथा व का ति॥

एवं पच्चेकबुद्धतो अनुस्सरितब्बं।

कथं सम्मासम्बुद्धतो?

यो पि सो भगवा असीतिअनुब्यञ्जनपटिमण्डितद्वत्तिंसमहापुरिसलक्खणविचित्ररूपकायो सब्बाकारपरिसुद्धसीलक्खन्धादिगुणरतनसमिद्धधम्मकायो यसमहत्त-पुञ्ञमहत्त-थाममहत्त-इद्धिमहत्त-पञ्ञामहत्तानं पारं गतो असमो असमसमो अप्पटिपुग्गलो अरहं सम्मासम्बुद्धो, सो पि सलिलवुट्ठिनिपातेन महाअग्गिक्खन्धो विय मरणवुट्ठिनिपातेन ठानसो वूपसन्तो।

एवं महानुभावस्स यं नामेतं महेसिनो।
न भयेन न लज्जाय मरणं वसमागतं॥
निल्लज्जं वीतसारज्जं सब्बसत्ताभिमद्दनं।
तयिदं मादिसं सत्तं कथं नाभिभविस्सती ति॥

एवं सम्मासम्बुद्धतो अनुस्सरितब्बं।

तस्सेवं यसमहत्तादिसम्पन्नेहि परेहि सद्धिं मरणसामञ्ञताय अत्तानं उपसंहरित्वा 'तेसं विय सत्तविसेसानं मय्हं पि मरणं भविस्सती' ति अनुस्सरतो उपचारप्पत्तं कम्मट्ठानं होती ति।

एवं उपसंहरणतो मरणं अनुस्सरितब्बं।

८. **कायबहुसाधारणतो** ति। अयं कायो बहुसाधारणो। असीतिया ताव किमिकुलानं साधारणो। तत्थ छविनिस्सिता पाणा छविं खादन्ति, चम्मनिस्सिता चम्मं खादन्ति, मंसनिस्सिता

कैसे सम्यक्सम्बुद्ध से (तुलना करनी चाहिये)?

वे भगवान् अस्सी अनुव्यञ्जनों से प्रतिमण्डित और बत्तीस महापुरुष-लक्षणों से युक्त, विचित्र रूपकाय (भौतिक शरीर) वाले; सब प्रकार से परिशुद्ध शीलस्कन्ध आदि गुण-रत्नों से समृद्ध धर्मकाय वाले; यशोमहत्ता, पुण्यमहत्ता, ऋद्धि की महत्ता, प्रज्ञा की महत्ता की चरम सीमा, अनुपम, अनुपमों के समान, अद्वितीय, अर्हत्, सम्यक्सम्बुद्ध थे, वे भी जल-वृष्टि होने से (बुझी) अग्नि की विशाल राशि के समान मरणरूपी वृष्टि से तुरन्त शान्त हो गये।

ऐसे महान् गुणों वाले महर्षि को भी वश में करते हुए निर्लज्ज, निडर, सभी सत्त्वों का मर्दन करने वाली जिस मृत्यु को न भय लगा, न लज्जा लगी, वह मुझ जैसे सत्त्व को क्यों नहीं अभिभूत करेगी!॥

यों सम्यक्सम्बुद्ध से (तुलना करते हुए) अनुस्मरण करना चाहिये। (७)

जब वह महान् यश आदि से सम्पन्न अन्यों के साथ मरणशीलता के विषय में अपनी तुलना करता है, तब 'उन विशेष सत्त्वों के समान मेरा भी मरण होगा'—ऐसा अनुस्मरण करते हुए, (उसका) कर्मस्थान उपचार-प्राप्त होता है (अर्थात् यों भावना करने वाला योगी उपचार-ध्यान प्राप्त कर लेता है)। यों तुलना करते हुए अनुस्मरण करना चाहिये। (३)

८. **कायबहुसाधारणतो**—यह काय बहुतों के लिये साधारण है (बहुत से जीव इसका उपभोग करते हैं)। अस्सी प्रकार के क्रिमियों के लिये साधारण है। बाहरी त्वचा पर रहने वाले

मंसं खादन्ति, न्हारुनिस्सिता न्हारुं खादन्ति, अट्ठिनिस्सिता अट्ठिं खादन्ति, मिञ्जनिस्सिता मिञ्जं खादन्ति। तत्थेव जायन्ति जीवन्ति मीयन्ति, उच्चारपस्सावं करोन्ति। कायो व नेसं सूतिघरं चेव गिलानसाला च सुसानं च वच्चकुटि च पस्सावदोणिका च। स्वायं तेसं पि किमिकुलानं पकोपेन मरणं निगच्छति येव। यथा च असीतिया किमिकुलानं, एवं अज्झत्तिकानं येव अनेकसतानं रोगानं बाहिरानं च अहिविच्छकादीनं मरणस्स पच्चयानं साधारणो।

यथा हि चतुमहापथे ठपिते लक्खम्हि सब्बदिसाहि आगता सरसत्तितोमरपासाणादयो निपतन्ति, एवं काये पि सब्बूपद्दवा निपतन्ति। स्वायं तेसं पि उपद्दवानं निपातेन मरणं निगच्छति येव। तेनाह भगवा—"**इध, भिक्खवे, भिक्खु दिवसे निक्खन्ते रत्तिया पटिगताय इति पटिसञ्चिक्खति—'बहुका खो पच्चया मरणस्स, अहि वा डसेय्य, विच्छिको वा मं डसेय्य, सतपदी वा मं डंसेय्य, तेन मे अस्स कालङ्किरिया, सो ममस्स अन्तरायो, उपक्खलित्वा वा पपतेय्यं, भत्तं वा मे भुत्तं ब्यापज्जेय्य, पित्तं वा मे कुप्पेय्य, सेम्हं वा मे कुप्पेय्य, सत्थका वा मे वाता कुप्पेय्युं, तेन मे अस्स कालङ्किरिया, सो ममस्स अन्तरायो**" (अं० नि० ३/३३) ति। एवं कायबहुसाधारणतो मरणं अनुस्सरितब्बं।

९. **आयुदुब्बलतो** ति। आयु नामेतं अबलं दुब्बलं। तथा हि सत्तानं जीवितं अस्सासपस्सासूपनिबद्धं चेव इरियापथूपनिबद्धं च सीतुण्हूपनिबद्धं च महाभूतूपनिबद्धं च आहारूपनिबद्धं च।

तदेतं अस्सासपस्सासानं समवुत्तितं लभमानमेव पवत्तति, बहि निक्खन्तनासिकवाते

क्रिमि बाहरी त्वचा को खाते रहते हैं। चर्म (भीतरी त्वचा) में रहने वाले (क्रिमि) चर्म खाते रहते हैं, मांस में रहने वाले मांस..., स्नायु में रहने वाले स्नायु...अस्थि में रहने वाले अस्थि...मज्जा में रहने वाले मज्जा खाते हैं। वहीं जन्म लेते, जीते-मरते हैं, मलमूत्र करते हैं। उनके लिये (हमारा) शरीर प्रसूति-गृह, चिकित्सालय, श्मशान, शौचालय और मूत्र का पात्र है। उन क्रिमियों के प्रकोप से भी यह (शरीर) मर ही जाता है। जैसे अस्सी प्रकार के क्रिमियों के लिये, वैसे ही अनेक आन्तरिक रोगों और बाहरी साँप-बिच्छू आदि मृत्यु के कारणों के लिये यह काय साधारण है।

जैसे चौराहे पर रखे हुए लक्ष्य पर सब दिशाओं से आये हुए बाण-बर्छियां, भाले, पत्थर आदि गिरते हैं, वैसे ही शरीर पर सभी उपद्रव गिरते रहते हैं। वह उन उपद्रवों से भी मर ही जाता है। इसलिये भगवान् ने कहा है—

"भिक्षुओ, यहाँ भिक्षु दिन बीत जाने पर, रात में यों सोचता है—'मृत्यु के अनेक कारण हैं। मुझे साँप डँस ले, या बिच्छू काट ले, गोजर डँस ले, उससे मेरी मृत्यु हो जाय और वह (ऐसा होना साधना-मार्ग में) मेरे लिये विघ्नकारी होगा। अथवा लड़खड़ाकर गिर पड़ूँ, अपच हो जाय, मेरा पित्त कुपित हो जाय, कफ कुपित हो जाय, या मेरा शस्त्रक वात (मरणासन्न शरीर को शस्त्र के समान काटने वाली वायु) कुपित हो जाय, उससे मैं मर जाऊँ तो वह मेरे लिये विघ्नकारी होगा।" (अं० ३/३३)। यों काय के बहुसाधारण रूप में मृत्यु का अनुस्मरण करना चाहिये। (४)

९. **आयुदुब्बलतो**—यह आयु निर्बल, दुर्बल है; क्योंकि सत्त्वों का जीवन श्वास-प्रश्वास पर निर्भर है, तथा ईर्य्यापथ...शीत-उष्ण...महाभूतों और आहार पर निर्भर है।

पन अन्तो अपविसन्ते, पविट्ठे वा अनिक्खमन्ते मतो नाम होति। चतुत्थं इरियापथानं पि समवुत्तितं लभमानमेव पवत्तति, अञ्ञतरञ्ञतरस्स पन अधिमत्तताय आयुसङ्खारा उपच्छिज्जन्ति। सीतुण्हानं पि समवुत्तितं लभमानमेव पवत्तति, अतिसीतेन पन अतिउण्हेन वा अभिमतस्स विपज्जति। महाभूतानं पि समवुत्तितं लभमानमेव पवत्तति, पथवीधातुया पन आपोधातुआदीनं वा अञ्ञतरञ्ञतरस्स पकोपेन बलसम्पन्नो पि पुग्गलो पत्थद्धकायो वा अतिसारादिवसेन किलिन्नपूतिकायो वा महाडाहपरेतो वा सम्भिज्जमानसन्धिबन्धनो वा हुत्वा जीवितक्खयं पापुणाति। कबळीकाराहारं पि युत्तकाले लभन्तस्सेव जीवितं पवत्तति, आहारं अलभमानस्स पन परिक्खयं गच्छती ति। एवं आयुदुब्बलतो मरणं अनुस्सरितब्बं।

१०. **अनिमित्ततो** ति। अववत्थानतो, परिच्छेदाभावतो ति अत्थो। सत्तानं हि—

जीवितं ब्याधि कालो च देहनिक्खेपनं गति।
पञ्चेते जीवलोकस्मिं अनिमित्ता न नायरे[१] ॥

तत्थ **जीवितं** ताव "एत्तकमेव जीवितब्बं, न इतो परं" ति एवं ववत्थानाभावतो अनिमित्तं। कललकाले पि हि सत्ता मरन्ति, अब्बुद-पेसि-घन-मासिक-द्वे-मास-तेमास-चतुमास-दसमासकाले पि। कुच्छितो निक्खन्तसमये पि। ततो परं वस्ससतस्स अन्ते पि बहि पि मरन्ति येव। (१)

वह (आयु या जीवन) श्वास प्रश्वास के समभाव से (बराबर) चलते रहने से ही चलता है, यदि नासिका से बाहर निकली वायु भीतर न जाय, तो जीवित (सत्त्व को) 'मृतक' कहा जाता है। चार ईर्य्यापथों के बराबर चलते रहने पर ही चलता है। यदि कोई एक (ईर्य्यापथ, जैसे बैठना लोटना) ही बना रह जाय, तो वही आयु-संसार का उपच्छेद (अर्थात् मृत्यु) है। सर्दी-गर्मी के भी समभाव से रहने पर ही चलता है, बहुत अधिक सर्दी या बहुत अधिक गर्मी से त्रस्त हो जाने पर भी जीवन जाता रहता है। महाभूतों के भी समभाव से रहने पर ही जीवन चलता है, पृथ्वीधातु या जलधातु आदि में से किसी के कुपित हो जाने पर बलशाली पुद्गल का भी शरीर पक्षाघातग्रस्त (पृथ्वीधातु के प्रकोप से), अत्यधिक दाहयुक्त (अग्निधातु के प्रकोप से), या जोड़-जोड़ से टूटा हुआ-सा (वायुधातु के प्रकोप से) होकर मृत्यु को प्राप्त होता है। भोजन (कवलीकार आहार-एक-एक ग्रास करके खाया जाने वाला आहार जो कि कर्मलोक में ही होता है) को भी उचित समय पर पाते रहने से ही जीवन चलता है, भोजन न मिलने पर इसका क्षय हो जाता है। यों, आयु की दुर्बलता के रूप में भी मरण का अनुस्मरण करना चाहिये। (५)

१०. **अनिमित्ततो**—निश्चय (व्यवस्थापन) का अभाव होने से। क्योंकि सत्त्वों के—

लोक में ये पाँच अनिमित्त हैं (इनके बारे में पहले से कुछ ज्ञात नहीं हो)—जीवन, रोग, काल, देहपात और गति॥

(अब इनका क्रमशः वर्णन करते हैं—)

इनमें **जीवितं** (जीवन) भी—"मात्र इतना ही जीना है, इसके बाद नहीं"—ऐसा निश्चय न होने से अनिमित्त है। कलल (गर्भाधान के समय से लेकर एक सप्ताह तक, प्रतिसन्धि ग्रहण

---

१. **न नायरे** ति। न ञायन्ति।

व्याधि पि "इमिना व ब्याधिना सत्ता मरन्ति, न अञ्ञेना" ति एवं ववत्थानाभावतो अनिमित्तो। चक्खुरोगेना पि हि सत्ता मरन्ति, सोतरोगादीनं अञ्ञतरेना पि। (२)

कालो पि "इमस्मिं येव काले मरितब्बं, न अञ्ञस्मिं" ति एवं ववत्थानाभावतो अनिमित्तो। पुब्बण्हे पि हि सत्ता मरन्ति, मज्झन्हिकादीनं अञ्ञतरस्मिं पि। (३)

देहनिक्खेपनं पि "इधेव मियमानानं देहेन पतितब्बं, न अञ्ञत्रा" ति एवं ववत्थानाभावतो अनिमित्तं। अन्तोगामे जातानं हि बहिगामे पि अत्तभावो पतति। बहिगामे जातानं पि अन्तोगामे। तथा थलजानं वा जले, जलजानं वा थले ति अनेकप्पकारतो वित्थारेतब्बं। (४)

गति पि "इतो चुतेन इध निब्बत्तितब्बं" ति एवं ववत्थानाभावतो अनिमित्ता। देवलोकतो हि चुता मनुस्सेसु पि निब्बत्तन्ति, मनुस्सलोकतो चुता देवलोकादीसु पि यत्थ कत्थचि निब्बत्तन्ती ति एवं यन्तयुत्तगोणो[१] विय गतिपञ्चके लोको सम्परिवत्तती ति एवं अनिमित्ततो मरणं अनुस्सरितब्बं। (५)

११. **अद्धानपरिच्छेदतो** ति। मनुस्सानं जीवितस्स नाम एतरहि परित्तो अद्धा, यो चिरं जीवति, सो वस्ससतं, अप्पं वा भिय्यो। तेनाह भगवा—"**अप्पमिदं, भिक्खवे, मनुस्सानं आयु,**

करने वाले जीव की अवस्था) के समय भी सत्त्व मर जाते हैं, अर्बुद, पेशी, घन (की अवस्था में भी), महीने, दो महीने, तीन महीने, चार महीने, दस महीने के होकर भी, गर्भाशय से निकलते समय भी। (यदि बच गये तो) उसके बाद (प्रायः) सौ वर्षों के भीतर, या उसके बाद भी मरते ही हैं। (१)

व्याधि (रोग) भी—"इसी रोग से सत्त्व मरते हैं, और किसी से नहीं" यह निश्चित न होने से अनिमित्त है। आँख के रोग से भी सत्त्व मरते हैं, कान के रोग से भी, या किसी अन्य रोग से भी। (२)

कालो (समय) भी—"इसी समय मरना है, और किसी समय नहीं" ऐसा निश्चय न होने से अनिमित्त है। पूर्वाह्न में भी सत्त्व मरते हैं, मध्याह्न आदि किसी दूसरे समय भी। (३)

देहनिक्खेपनं (शरीरपात) भी—"यहीं मरने वाले का शरीरपात होगा, कहीं अन्यत्र नहीं"—ऐसा निश्चय न होने से अनिमित्त है। गाँव में जन्मे हुओं का शरीरपात गाँव से बाहर भी होता है, गाँव के बाहर जन्मे हुओं का गाँव में भी। वैसे ही, स्थल पर जन्मे हुओं का जल में, जल में जन्म लेने वालों का स्थल पर—यों अनेक प्रकार से विस्तार कर लेना चाहिये। (४)

गति भी—"यहाँ च्युत होकर यहाँ उत्पन्न होता है" ऐसा निश्चय न होने से अनिमित्त है; क्योंकि देवलोक से च्युत हुए (सत्त्व) मनुष्यों में भी उत्पन्न होते हैं, मनुष्यलोक से च्युत हुए देवलोक आदि में भी जहाँ कहीं उत्पन्न होते हैं। यों कोल्हू (तेल पेरने के यन्त्र) में जुते हुए बैल की तरह (सत्त्व) पाँच गतियों वाले (नरक, पशु, प्रेत, मनुष्य, देव) लोक (योनियों) में घूमता रहता है। यों अनिमित्त होने के रूप में मरण का अनुस्मरण करना चाहिये। (५) (६)

११. **अद्धानपरिच्छेदतो** (समय के सीमित होने से)—आजकल के मनुष्यों का जीवन

---

१. *यन्तयुत्तगोणो विया ति। यथा यन्ते युत्तगोणो यन्तं नातिवत्तति, एवं लोको गतिपञ्चकं ति एत्तकेन* उपमा।

गमनीयो सम्परायो, कत्तब्बं कुसलं, चरितब्बं ब्रह्मचरियं, नत्थि जातस्स अमरणं। यो, भिक्खवे, चिरं जीवति, सो वस्सतं, अप्पं वा भिय्यो ति।

"अप्पमायुमनुस्सानं हीळेय्य नं सुपोरिसो।
चरेय्यादित्तसीसो व नत्थि मच्चुस्स नागमो" ति॥

(सं० नि० १/१८०)

अपरं पि आह—"भूतपुब्बं, भिक्खवे, अरको नाम सत्था अहोसी" ति सब्बं पि सत्तहि उपमाहि अरकसुत्तं (अं० नि० ३/३२७) वित्थारेतब्बं।

अपरं पि आह—"यो चायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—'अहो वताहं रत्तिन्दिवं जीवेय्यं, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं, बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। यो चायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—'अहो वताहं दिवसं जीवेय्यं, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। यो चायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—'अहो वताहं तदन्तरं जीवेय्यं यदन्तरं एकं पिण्डपातं भुञ्जामि, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं, बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। यो चायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—अहो वताहं तदन्तरं जीवेय्यं, यदन्तरं चत्तारो पञ्च आलोपे सङ्खादित्वा अज्झोहरामि, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं, बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। इमे वुच्चन्ति, भिक्खवे, भिक्खू पमत्ता विहरन्ति, दन्धं मरणस्सतिं भावेन्ति आसवानं खयाय।

"यो च ख्वायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—'अहो वताहं तदन्तरं

अल्प होता है। जो बहुत जीता है वह सौ वर्ष या उससे कुछ कम या अधिक जीता है। इसलिये भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, मनुष्यों की यह आयु अल्प है, दूसरे लोक में जाना है, कुशल (कर्म) करना चाहिये, ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। ऐसा नहीं है कि जन्म लेने वाला मरेगा ही नहीं। भिक्षुओ, जो दीर्घकाल तक जीता है, वह सौ वर्ष या उससे कुछ कम अधिक।

"मनुष्यों की आयु थोड़ी है। सत्पुरुष इसे उपेक्षा की दृष्टि से देखें। जिसका सिर जल रहा हो, ऐसे व्यक्ति सा व्यवहार करे। ऐसा नहीं कि मृत्यु कभी नहीं आयगी॥" (सं० १/१८०)

आगे कहा है—"भिक्षुओ! पूर्वकाल में अरक नाम के शास्ता हुए थे"—यों (यहाँ) सभी सात उपमाओं से **अरकसूत्र** (अं० नि० ३/३२७) की विस्तारपूर्वक बतलाना चाहिये।"

और भी कहा है—"भिक्षुओ! जो भिक्षु मरण-स्मृति की इस प्रकार भावना करता है—क्या ही अच्छा होता कि मैं एक रात-दिन (तक भी) जी पाता, भगवान् के शासन (सद्धर्म) को मन में (धारण) कर लेता, तो मैं बहुत कुछ कर लेता; और भिक्षुओ! जो भिक्षु मरणस्मृति की भावना यों करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं उतने समय जी पाता जितने समय में एक बार भोजन करता हूँ, भगवान् के शासन ...पूर्ववत्... कर लेता। और भिक्षुओ, जो भिक्षु मरणस्मृति की भावना यों करता है—'क्या ही अच्छा होता कि मैं उतना जी पाता जितने में चार-पाँस ग्राम चबाकर निगलता हूँ, भगवान् के शासन ...पूर्ववत्... कर लेता।' भिक्षुओ, इन्हीं भिक्षुओं के विषयमें कहा जाता है कि ये प्रमादी होकर विहार करते हैं, आस्रवों के क्षयहेतु मन्द मरणस्मृति की भावना करते हैं।

"और, भिक्षुओ! जो भिक्षु मरण-स्मृति की भावना यों करता है—'कितना अच्छा होता

जीवेय्यं, यदन्तरं एकं आलोपं सङ्खादित्वा अज्झोहरामि, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं, बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। यो चायं, भिक्खवे, भिक्खु एवं मरणस्सतिं भावेति—'अहो वताहं तदन्तरं जीवेय्यं, यदन्तरं अस्ससित्वा वा पस्ससामि, पस्ससित्वा वा अस्ससामि, भगवतो सासनं मनसिकरेय्यं, बहुं वत मे कतं अस्सा' ति। इमे वुच्चन्ति, भिक्खवे, भिक्खू अप्पमत्ता विहरन्ति, तिक्खं मरणस्सतिं भावेन्ति आसवानं खयाया'' (अं० नि० ३/५०३) **ति।**

एवं चतुपञ्चालोपसङ्खादनमत्तं अविस्सासियो परित्तो जीवितस्स अद्धा ति एवं अद्धानपरिच्छेदतो मरणं अनुस्सरितब्बं।

१२. **खणपरित्ततो** ति। परमत्थतो हि अतिपरित्तो सत्तानं जीवितक्खणो एकचित्तप्पवत्तिमत्तो येव। यथा नाम रथचक्कं पवत्तमानं पि एकेनेव नेमिप्पदेसेन पवत्तति, तिट्ठमानं पि एकेनेव तिट्ठति, एवमेव एकचित्तक्खणिकं सत्तानं जीवितं। तस्मिं चित्ते निरुद्धमत्ते सत्तो निरुद्धो ति वुच्चति। यथाह—**''अतीते चित्तक्खणे जीवित्थ, न जीवति, न जीविस्सति। अनागते चित्तक्खणे न जीवित्थ, न जीवति, जीविस्सति। पच्चुप्पन्ने चित्तक्खणे न जीवित्थ, जीवति, न जीविस्सति।**

''जीवितं अत्तभावो च सुखदुक्खा च केवला।
एकचित्तसमायुत्ता लहु सो वत्तते खणो॥
ये निरुद्धा मरन्तस्स तिट्ठमानस्स वा इध।
सब्बे पि सदिसा खन्धा गता अप्पटिसन्धिका॥
अनिब्बत्तेन न जातो पच्चुपन्नेन जीवति।

कि मैं उतने समय तक (भी) जीता जितने में एक ग्रास चबाकर निगलता हूँ, भगवान् के शासन... पूर्ववत्...कर लेता; और भिक्षुओ! जो भिक्षु मरणस्मृति की यों भावना करता है—''अरे! मैं उतने समय तक जीता जितने समय में साँस लेकर छोड़ता हूँ या साँस छोड़कर लेता हूँ, भगवान् के शासन ...पूर्ववत्... कर लेता।' भिक्षुओ! इन्हीं भिक्षुओं के बारे में कहा जाता है कि ये अप्रमत्त होकर विहरते हैं, आस्रवों के क्षय के लिये तीक्ष्ण मरण-स्मृति की भावना करते हैं''। (अं० नि० ३/५०३)

यों जीवन इतना सीमित है कि यह भी विश्वासयोग्य नहीं है कि चार-पाँच ग्रास भी खा पायेंगे या नहीं! इस प्रकार समय के सीमित होने के रूप में मरण का अनुस्मरण करना चाहिये।

१२. **खणपरित्ततो** (क्षण के सीमित होने से)—परमार्थत: तो सत्त्वों का जीवन-क्षण अत्यधिक सीमित है—एक चित्त-प्रवृत्तिमात्र तक ही। जैसे रथ का पहिया घूमते हुए भी एक ही नेमि-प्रदेश से चलता है, स्थिर रहने पर भी एक ही नेमि-प्रदेश से टिका रहता है; वैसे ही जीवन एक चित्त-क्षणसन्तान (तक) ही है। उस (एक) चित्त (क्षण) के निरुद्ध होने मात्र से 'सत्त्व निरुद्ध हो गया' ऐसा कहा जाता है। जैसा कि कहा है—''अतीत चित्तक्षण में वह जिया, अब नहीं जीता, न जियेगा। अनागत चित्तक्षण में न जिया था, न जीता है, (अपितु) जियेगा। प्रत्युत्पन्न चित्तक्षण में न जिया था, न जीयेगा, (अपितु) जीता है।

जीवन, व्यक्तित्व, सुख-दु:ख केवल एक चित्त में समायुक्त (मिले हुए) हैं, और वह *क्षण लघु है॥*

चित्तभङ्गा मतो लोको पञ्ञत्ति परमत्थिया'' ति॥ (खु०नि० ४:१/९८)

एवं खणपरित्ततो मरणं अनुस्सरितब्बं।

१३. इति इमेसं अट्ठन्नं आकारानं अञ्ञतरञ्ञतरेन अनुस्सरतो पि पुनप्पुनं मनसिकार-वसेन चित्तं आसेवनं लभति, मरणारम्मणा सतिं सन्तिट्ठति, नीवरणानि विक्खम्भन्ति, झानङ्गानि पातुभवन्ति। सभावधम्मत्ता पन संवेजनीयत्ता च आरम्मणस्स अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। लोकुत्तरज्झानं पन दुतियचतुत्थानि च आरुप्पज्झानानि सभावधम्मे पि भावनाविसेसेन अप्पनं पापुणन्ति। विसुद्धिभावनानुक्कमवसेन हि लोकुत्तरं अप्पनं पापुणाति। आरम्मणातिक्कमभावनावसेन आरुप्पं। अप्पनापत्तस्सेव हि झानस्स आरम्मणसमतिक्कमनमत्तं तत्थ होति। इध पन तदुभयं पि नत्थि, तस्मा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं मरणस्सतिबलेन उप्पन्नता मरणस्सतिच्चेव सङ्खं गच्छति।

इमं च पन मरणस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु सततं अप्पमत्तो होति, सब्बभवेसु अनभिरतिसञ्ञं पटिलभति, जीवितनिकन्तिं जहाति, पापगरही होति, असन्निधिबहुलो, परिक्खारेसु विगतमलमच्छेरो, अनिच्चसञ्ञा चस्स परिचयं गच्छति, तदनुसारेनेव च दुक्खसञ्ञा अनत्तसञ्ञा च उपट्ठाति। यथा अभावितमरणा सत्ता सहसा वाळमिग-यक्ख-

---

मृतकों के या यहाँ रहने वालों के निरुद्ध स्कन्ध एक जैसे हैं, जो कभी न लौटने के लिये जा चुके हैं॥

अनुत्पन्न चित्त से उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत्पन्न से ही जीता है, भङ्ग होने पर यह लोक मर जाता है। (अर्थात् 'अमुक व्यक्ति जीवित है'—यह कथन केवल लोक-व्यवहार की दृष्टि से ही सत्य है)। (खु० नि० ४ : १/९८)

यों क्षणपरिमितता के रूप में मरण-स्मृति का अनुस्मरण करना चाहिये। (८)

१३. इन आठ प्रकारों में से किसी एक रूप में भी अनुस्मरण करने से, बारंबार मन में लाते रहने से, चित्त अभ्यस्त होता है। मरण को आलम्बन बनानेवाली स्मृति टिक जाती है, नीवरण शान्त हो जाते हैं, ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु, क्योंकि आलम्बन स्वभाव-धर्म है (अर्थात् मृत्यु प्राणियों के लिये स्वाभाविक है) और संवेग उत्पन्न करने वाला है। अत: अर्पणा प्राप्त नहीं होती, उपचारध्यान ही प्राप्त होता है। किन्तु लोकोत्तर ध्यान और द्वितीय-तृतीय आरूप्य ध्यान स्वभाव धर्म में भी भावना की विशेषता से अर्पणा प्राप्त करते हैं; क्योंकि लोकोत्तर (ध्यान) विशुद्धि-भावना (शील, चित्त आदि छह की विशुद्धिभावना) के क्रमिक विकास द्वारा अर्पणा प्राप्त करता है, आरूप ध्यान आलम्बन का अतिक्रमण (करते हुए) भावना द्वारा; क्योंकि (आरूप्य ध्यान में) अर्पणा प्राप्त ध्यान का ही आलम्बन-समतिक्रमण मात्र होता है (द्र०-दशम परिच्छेद)। यहाँ तो दोनों में से कोई भी ध्यान नहीं है, अत: ध्यान केवल उपचारप्राप्त ही होता है। वह मरणस्मृति के बल से उत्पन्न होने से मरण-स्मृति ही कहा जाता है।

इस मरणस्मृति में लगा हुआ भिक्षु सदैव अप्रमादी रहता है, सभी भवों के प्रति वैराग्य भाव (अनभिरति संज्ञा) प्राप्त करता है, जीवन के प्रति मोह छोड़ देता है, पापनिन्दक होता है, अपरिग्रही होता है। उपभोग्य वस्तुओं (परिष्कार) के बारे में उसमें रञ्चमात्र भी कृपणता नहीं होती।

सप्प-चोर-वधकाभिभूता विय मरणसमये भयं सन्तासं सम्मोहमापज्जन्ति, एवं अनापज्जित्वा अभयो असम्मूळ्हो कालं करोति। सचे दिट्ठे व धम्मे अमतं नाराधेति, कायस्स भेदा सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमादं कयिराथ सुमेधसो।
एवं महानुभावाय मरणस्सतिया सदा ति॥

इदं मरणस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

८. कायगतासतिकथा

१४. इदानि यं तं अञ्ञत्र बुद्धुप्पादा अप्पत्तपुब्बं सब्बतितिथियानं अविसयभूतं, तेसु तेसु सुत्तन्तेसु—"**एकधम्मो, भिक्खवे, भावितो बहुलीकतो महतो संवेगाय संवत्तति। महतो अत्थाय संवत्तति। महतो योगक्खेमाय संवत्तति। महतो सतिसम्पजञ्ञाय सवत्तति। ञाण-दस्सनपटिलाभाय संवत्तति। दिट्ठधम्मसुखविहाराय संवत्तति। विज्जाविमुत्तिफल-सच्छिकिरियाय संवत्तति। कतमो एकधम्मो? कायगता सति**" (अं० नि० १/६४)। "**अमतं ते, भिक्खवे, परिभुञ्जन्ति, ये कायगतासतिं परिभुञ्जन्ति। अमतं ते, भिक्खवे, न परिभुञ्जन्ति, ये कायगतासतिं न परिभुञ्जन्ति। अमतं तेसं, भिक्खवे, परिभुत्तं...अपरिभुत्तं...परिहीनं... अपरिहीनं...विरुद्धं...अविरुद्धं, येसं कायगतासति आरद्धा**" (अं० नि० १/६७) ति एवं

उसमें अनित्यसंज्ञा विकसित होती है, तत्पश्चात् दु:ख-संज्ञा और अनात्म-संज्ञा भी। मरण की भावना न करने वाले सत्त्व सहसा (किसी) हिंसक जन्तु, यक्ष, सर्प, चोर, वधिक आदि के वश में पड़ जाने के समान, मृत्युकाल में भय, सन्त्रास, सम्मोह में जिस तरह पड़ जाते हैं, उस तरह न पड़ते हुए भय और सम्मोह से रहित होकर मरता है। यदि इसी जन्म में अमृत (निर्वाण) को नहीं पाता है, तो देहान्त के बाद सुगतिपरायण होता है।

अत: ऐसी महान् गुणों वाली मरण-स्मृति में बुद्धिमान् साधक सदा प्रमादरहित रहे॥

यह मरणस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

८. कायगतास्मृति

अब, जो कि बुद्ध की उत्पत्ति हुए विना कभी नहीं होती, जो सभी तीर्थिकों का अविषय है, तथा जो उन-उन सूत्रों में; जैसे—

"भिक्षुओ! एक धर्म की भावना करना, वृद्धि करना, महान् संवेग के लिए होता है, महान् अर्थ...महान् योगक्षेम...महान् स्मृति-सम्प्रजन्य...ज्ञान-दर्शन के लाभ...इस जीवन में सुखपूर्वक विहार...विद्याविमुक्ति-फल (तीन विद्यायें, निर्वाण और चार श्रामण्य-फल) के लिये होता है। कौन सा एक धर्म? कायगतास्मृति"। (अं० नि० १/६४)

"भिक्षुओ! जो कायगता स्मृति का परिभोग करते हैं, वे अमृत का परिभोग करते हैं। भिक्षुओ! जो कायगता स्मृति का परिभोग नहीं करते, वे अमृत का परिभोग नहीं करते। भिक्षुओ! उन्होंने अमृत का परिभोग किया...नहीं किया...उपेक्षा की...उपेक्षा नहीं की...विरोध किया...विरोध नहीं किया, जिन्होंने कायगता स्मृति प्राप्त की" (अं० नि० १/६७)—इस प्रकार (कायगतास्मृति

भगवता अनेकेहि आकारेहि पसंसित्वा "**कथं भाविता, भिक्खवे, कायगता सति कथं बहुलीकता महप्फला होति महानिसंसा? इध, भिक्खवे, भिक्खु अरञ्ञगतो वा**" (अं० नि० ३/१७५) ति आदिना नयेन आनापानपब्बं, इरियापथपब्बं, चतुसम्पजञ्ञपब्बं, पटिक्कूलमनसिकारपब्बं, धातुमनसिकारपब्बं, नव सिवथिकपब्बानी ति इमेसं चुद्दसन्नं पब्बानं वसेन कायगतासतिकम्मट्ठानं निद्दिट्ठं, तस्स भावनानिद्देसो अनुप्पत्तो।

तत्थ यस्मा इरियापथपब्बं, चतुसम्पजञ्ञपब्बं, धातुमनसिकारपब्बं—ति इमानि तीणि विपस्सनावसेन वुत्तानि। नव सिवथिकपब्बानि विपस्सनाञाणेसु येव आदीनवानुपस्सनावसेन वुत्तानि। या पि चेत्थ उद्धुमातकादीसु समाधिभावना इज्झेय्य, सा **असुभनिद्देसे** पकासिता येव। अनापानपब्बं पन पटिक्कूलमनसिकारपब्बं च इमानेवेत्थ द्वे समाधिवसेन वुत्तानि। तेसु आनापानपब्बं आनापानस्सतिवसेन विसुं कम्मट्ठानं येव।

यं पनेतं "**पुन च परं, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं उद्धं पादतला अधो केसमत्थका तचपरियन्तं पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति—अत्थि इमस्मिं काये केसा लोमा...पे०...मुत्तं**" (म० नि० ३/११७७) ति एवं मत्थलुङ्गं अट्ठिमिञ्जेन सङ्गहेत्वा पटिक्कूलमनसिकारवसेन देसितं द्वत्तिंसाकारकम्मट्ठानं, इदमिध **कायगता सती** ति अधिप्पेतं।

की भगवान् ने अनेक प्रकार से प्रशंसा कर "भिक्षुओ कैसे भावना करने से, कैसे बढ़ाने से कायगतास्मृति अत्यधिक फल देने वाली, अत्यधिक लाभप्रद होती है? भिक्षुओ! यहाँ भिक्षु वन में जाकर अथवा..." (अं० नि० ३/१७५)।

इत्यादि प्रकार से आनापानपर्व, ईर्यापथपर्व, चतुःसम्प्रजन्यपर्व, प्रतिकूलमनस्कारपर्व, धातुमनस्कारपर्व, नौ सीवथिक (श्मशान) पर्व—इन (५+९=१४) चौदह पर्वों (विषय-विभागों) के अनुसार बतलायी गयी है, उस कायगतास्मृति कर्मस्थान की भावना (-विधि) का वर्णन आरम्भ किया जा रहा है।

इनमें, ईर्य्यापथपर्व, चतुःसम्प्रजन्यपर्व, धातुमनस्कारपर्व—ये तीन विपश्यना के अनुसार कहे गये हैं (अर्थात् वे विपश्यना से सम्बद्ध हैं)। नौ सीवथिकपर्व विपश्यना-ज्ञान में ही आदीनव-अनुपश्यना के अनुसार कहे गये हैं। और जो भी उद्धूमातक आदि (पर) समाधि-भावना यहाँ सूचित हो सकती है, उन पर पीछे **अशुभनिर्देश** में प्रकाश डाला ही जा चुका है। यहाँ केवल ये दो ही समाधि से सम्बद्ध बतलाये गये हैं—आनापानपर्व और प्रतिकूलमनस्कारपर्व। उनमें से आनापानपर्व 'आनापान स्मृति' के रूप में एक पृथक् कर्मस्थान ही है।

किन्तु जो—

"और फिर, भिक्षुओ, भिक्षु इसी काय को तलबे से लेकर मस्तिष्क के केशों तक त्वचा से आच्छादित, नाना प्रकार की गन्दगियों से भरा हुआ यों देखता है—इसी काय में केश, लोम, नाखून, दाँत, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थिमज्जा (बोनमैरो), वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोम, प्लीहा, फुस्फुस, आँत, छोटी आँत, उदरस्थ पदार्थ, मल, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीव, रक्त, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, थूक, पोंटा (नाक का मैल), लसीका (केहुनी आदि जोड़ों में पाया जाने वाला चिपचिपा पदार्थ), मूत्र हैं।" (म० नि० ३/११७७)

१५. तत्थायं पाळिवण्णनापुब्बङ्गमो भावनानिद्देसो—

इममेव कायं ति। इमं चतुमहाभूतिकं पूतिकायं। **उद्धं पादतला** ति। पादतला उपरि। **अधो केसमत्थका** ति केसग्गतो हेट्ठा। **तचपरियन्तं** ति। तिरियं तचपरिच्छिन्नं। **पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खती** ति। नानप्पकारकेसादिअसुचिभरितो अयं कायो ति पस्सति। कथं? **अत्थि इमस्मिं काये केसा...पे०...मुत्तं** ति।

तत्थ **अत्थी** ति। संविज्जन्ति। **इमस्मिं** ति। य्वायं उद्धं पादतला अधो केसमत्थका तचपरियन्तो पूरो नानप्पकारस्स असुचिनो ति वुच्चति, तस्मिं। **काये** ति। सरीरे। सरीरं हि असुचिसञ्चयतो कुच्छितानं केसादीनं चेव चक्खुरोगादीनं च रोगसतानं आयभूततो कायो ति वुच्चति। **केसा लोमा** ति। एते केसादयो द्वत्तिंसाकारा। तत्थ 'अत्थि इमस्मिं काये केसा', 'अत्थि इमस्मिं काये लोमा' ति एवं सम्बन्धो वेदितब्बो।

इमस्मिं हि पादतला पट्ठाय उपरि, केसमत्थका पट्ठाय हेट्ठा, तचतो पट्ठाय परितो ति एत्तके व्याममत्ते कळेवरे, सब्बाकारेन पि विचिनन्तो न कोचि किञ्चि मुत्तं वा मणिं वा वेळुरियं वा अगरु वा कुङ्कुमं वा कप्पूरं वा वासचुण्णादिं वा अणुमत्तं पि सुचिभावं पस्सति, अथ खो परमदुग्गन्धजेगुच्छं असिरिकदस्सनं नानप्पकारं केसलोमादिभेदं असुचिं येव पस्सति। तेन वुत्तं—'अत्थि इमस्मिं काये केसा लोमा...पे०....मुत्तं' ति।

अयमेत्थ पदसम्बन्धतो वण्णना॥

१६. इमे पन कम्मट्ठानं भावेतुकामेन आदिकम्मिकेन कुलपुत्तेन वुत्तप्पकारं कल्याण-

---

इस प्रकार मस्तिष्क को अस्थि-मज्जा के अन्तर्गत मानते हुए, प्रतिकूल मनस्कार के रूप में उपदिष्ट बत्तीस आकारों (प्रकारों) वाला कर्मस्थान है, वही यहाँ **कायगतासति** (कायगता स्मृति) के रूप में अभिप्रेत है।

१५. यहाँ पहले पालि की व्याख्या रखते हुए, भावना का वर्णन इस प्रकार है—

इममेव कायं—चार महाभूतों से निर्मित इस पूतिकाय को। **उद्धं पादतला**—तलवे से ऊपर। **अधो केसमत्थका**—केशों के नीचे। **तचपरियन्तं**—चारों ओर से त्वचा से परिवेष्टित। **पूरं नानप्पकारस्स असुचिनो पच्चवेक्खति**—इस काय को नाना प्रकार की केश आदि गन्दगियों से भरा हुआ देखता है। कैसे? इसी शरीर में केश ...पूर्ववत्... मूत्र है। इसमें, **अत्थि**—वर्तमान है। **इमस्मि**—यह जो तलवे से लेकर केश तक त्वचा के भीतर नाना प्रकार की गन्दगियों से भरा हुआ कहा जाता है, उसमें। **काये**—शरीर में। शरीर गन्दगी का भण्डार होने से, कुत्सित केश आदि का तथा नेत्र-रोग आदि सैकड़ों रोगों का उत्पत्ति (आय) स्थान होने से 'काय' कहा जाता है। **केसा लोमा**—ये केश आदि बत्तीस प्रकार। यहाँ, 'इसी शरीर में केश हैं', 'इसी शरीर में रोम हैं'—यों सम्बन्ध समझ लेना चाहिये।

क्योंकि तलवे से ऊपर, केशों से नीचे, चारों ओर से त्वचा वाले इस ऐसे एक व्याम (चार हाथ लम्बे) मात्र शरीर पर सब प्रकार से विचार करते हुए कोई (व्यक्ति) मोती, मणि, वैदूर्य, अगरु, कुङ्कुम, कपूर या सुगन्धित चूर्ण आदि (प्रसाधन की वस्तुओं) में रञ्चमात्र भी शुचिता (पवित्रता, सौन्दर्य) नहीं देखता है, अपितु वह तो परम दुर्गन्धित, जुगुप्साजनक, अशुभ दर्शन,

मित्तं उपसङ्कमित्वा इदं कम्मट्ठानं गहेतब्बं। तेनापिस्स कम्मट्ठानं कथेन्तेन सत्तधा उग्गह-कोसल्लं, दसधा च मनसिकारकोसल्लं आचिक्खितब्बं।

तत्थ १. वचसा, २. मनसा, ३. वण्णतो, ४. सण्ठानतो, ५. दिसतो, ६. ओकासतो, ७. परिच्छेदतो ति एवं **सत्तधा उग्गहकोसल्लं** आचिक्खितब्बं।

इमस्मिं हि पटिक्कूलमनसिकारकम्मट्ठाने यो पि तिपिटको होति, तेनापि मनसिकारकाले पठमं **वाचाय सज्झायो** कातब्बो। एकच्चस्स हि सज्झायं करोन्तस्सेव कम्मट्ठानं पाकटं होति। मलयवासीमहादेवत्थेरस्स सन्तिके उग्गहितकम्मट्ठानानं द्विन्नं थेरानं विय। थेरो किर तेहि कम्मट्ठानं याचितो 'चत्तारो मासे इमं येव सज्झायं करोथा' ति द्वत्तिंसाकारपाळिं अदासि। ते किञ्चापि नेसं द्वे तयो निकाया पगुणा, पदक्खिणग्गहिताय पन चत्तारो मासे द्वत्तिंसाकारं सज्झायन्ता व सोतापन्ना अहेसुं। तस्मा कम्मट्ठानं कथेन्तेन आचरियेन अन्तेवासिको वत्तब्बो—"पठमं ताव वाचाय सज्झायं करोही" ति।

करोन्तेन च **तचपञ्चका**दीनि परिच्छिन्दित्वा अनुलोमपटिलोमवसेन सज्झायो कातब्बो। केसा लोमा नखा दन्ता तचो ति हि वत्वा पुन पटिलोमतो तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

नाना प्रकार की केश लोम आदि गन्दगियों को ही देखता है। अत: कहा है—'इस काय में केश, लोम ...पूर्ववत्... मूत्र है।'

यहाँ यह शब्द-संरचना (पद-सम्बन्ध) के अनुसार वर्णन किया गया है।

१६. इस कर्मस्थान की भावना के इच्छुक, आरम्भ करने वाले कुलपुत्र को उक्त प्रकार के (द्र०-तृतीय परिच्छेद) कल्याणमित्र के पास जाकर इस कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिये। उस कर्मस्थान का उपदेश देने वाले को भी सात प्रकार के उद्ग्रहकौशल (सीखने में निपुणता) और दस प्रकार के मनस्कारकौशल (चिन्तन करने में कुशलता) को बतलाना चाहिये।

इनमें, १. वचन से, २. मन से, ३. वर्ण से, ४. संस्थान से, ५. दिशा से, ६. अवकाश से, ७. परिच्छेद से—यों **सत्तधा उग्गहकोसल्ल** बतलाना चाहिये।

इस प्रतिकूल (वितृष्णाजनक) के चिन्तनरूपी कर्मस्थान में, जो कि त्रैपिटक (तीन पिटकों में पारङ्गत) हो, उसे भी चिन्तन करते समय सर्वप्रथम **वाचाय सज्झायो** (बोल-बोल कर पाठ) करना चाहिये। किसी-किसी को तो, मलयवासी **महादेव स्थविर** के समीप कर्मस्थान ग्रहण करने वाले दो स्थविरों के समान, पाठ करते-करते ही कर्मस्थान स्पष्टरूप में भासित होने लगता है। जब उन दो स्थविरों ने कर्मस्थान की याचना की, तब स्थविर ने 'चार महीनों तक इसी का पाठ करो' यों कहकर बत्तीस आकारों (का निर्देशन करने) वाली पालि को दे दिया। उन (दोनों) ने, यद्यपि वे (क्रमश:) दो और तीन निकायों में पारङ्गत थे फिर भी उनने आचार्य की प्रदक्षिणा कर (कर्मस्थान) ग्रहण किया और चार महीने तक बत्तीस आकार का पाठ किया और उसे करते करते ही स्रोतआपन्न हो गये। इसलिये कर्मस्थान बतलाने वाले आचार्य को शिष्य से कहना चाहिये—"पहले बोल-बोलकर पाठ करो।"

साथ ही वैसा करने वाले को चाहिये कि त्वचापञ्चक आदि को बाँट-बाँटकर, अनुलोम

तदनन्तरं **वक्कपञ्चके** मंसं न्हारु अट्ठि अट्ठिमिञ्जं वक्कं ति वत्वा, पुन पटिलोमतो वक्कं अट्ठिमिञ्जं अट्ठि न्हारु मंसं, तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

ततो **पप्फासपञ्चके** हदयं यकनं किलोमकं पिहकं पप्फासं ति वत्वा पुन पटिलोमतो पप्फासं पिहकं किलोमकं यकनं हदयं, वक्कं अट्ठिमिञ्जं अट्ठि न्हारु मंसं, तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

ततो **मत्थलुङ्गपञ्चके** अन्तं अन्तगुणं उदरियं करीसं मत्थलुङ्गं ति वत्वा, पुन पटिलोमतो मत्थलुङ्गं करीसं उदरियं अन्तगुणं अन्तं, पप्फासं पिहकं किलामकं यकनं हदयं, वक्कं अट्ठिमिञ्जं अट्ठि न्हारु मंसं, तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

ततो **मेदछक्के** पित्तं सेम्हं पुब्बो लोहितं सेदो मेदो ति वत्वा, पुन पटिलोमतो मेदो सेदो लोहित पुब्बो सेम्हं पित्तं, मत्थलुङ्गं करीसं उदरियं अन्तगुणं अन्तं पप्फासं पिहकं किलोमकं यकनं हदयं, वक्कं अट्ठिमिञ्जं अट्ठि न्हारु मंसं, तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

ततो **मुत्तछक्के** अस्सु वसा खेळो सिङ्घाणिका लसिका मुत्तं ति वत्वा, पुन पटिलोमतो मुत्तं लसिका सिङ्घाणिका खेळा वसा अस्सु, मेदो सेदो लोहितं पुब्बो सेम्हं पित्तं, मत्थलुङ्गं करीसं उदरियं अन्तगुणं अन्तं, पप्फासं पिहकं किलोमकं यकनं हदयं, वक्कं अट्ठिमिञ्जं अट्ठि न्हारु मंसं, तचो दन्ता नखा लोमा केसा ति वत्तब्बं।

और प्रतिलोम पाठ करे, 'केश, रोम, नाखून, दाँत, त्वचा' यों कहकर फिर इसे उलट कर 'त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश'—यों कहना चाहिये।

तदनन्तर वृक्कपञ्चक में 'मांस, न्हारु, अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्क'—यों कहकर 'वृक्क, अस्थिमज्जा, अस्थि, न्हारु, मांस, त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश' यों कहना चाहिये। [यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इस दूसरे वृक्कपञ्चक में प्रतिलोमक्रम से कथन करते समय त्वचापञ्चक के भी प्रतिलोमक्रम का समावेश कर लिया गया है। ऐसे ही आगे आगे वालों में पहले पहले वालों का समावेश है—अनु०]।

उसके बाद फुस्फुसपञ्चक में 'हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस' यों कहकर, पुनः उलटकर 'फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थिमज्जा, अस्थि, न्हारु, मांस, त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश' यों कहना चाहिये।

उसके बाद मस्तिष्कपञ्चक में—'आँत, आँतों का बन्धन, उदरस्थ पदार्थ, मल, मस्तिष्क' कहकर फिर उलटकर 'मस्तिष्क, मल, उदरस्थ पदार्थ, आँतों का बन्धन, आँत, फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थिमज्जा, अस्थि, स्नायु, मांस, त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश' कहना चाहिये।

फिर मेदषष्ठक में—'पित्त, कफ, पीब, लहू, पसीना, मेद' कहकर फिर उलटकर 'मेद, पसीना, लहू, पीब, कफ, पित्त, मस्तिष्क, उदरस्थ पदार्थ, आँतों का बन्धन, आँत, फुफ्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थिमज्जा, अस्थि, स्नायु, मांस, त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश कहना चाहिये।

तत्पश्चात् मूत्रषष्ठक में—'आसूँ, चर्बी, थूक, पोंटा, लसिका, मूत्र' कहकर फिर उलटकर

एवं कालसतं कालसहस्सं कालसतसहस्सं पि वाचाय सज्झायो कातब्बो। **वचसा** सज्झायेन हि कम्मट्ठानतन्ति पगुणा होति, न इतो चितो च चित्तं विधावति। कोट्ठासा पाकटा होन्ति, हत्थसङ्खलिका[१] विय वतिपादपन्ति विय च खायन्ति। (१)

यथा पन वचसा, तथेव **मनसा पि सज्झायो** कातब्बो। वचसा सज्झायो हि मनसा सज्झायस्स पच्चयो होति। मनसा सज्झायो लक्खणपटिवेधस्स पच्चयो होति। (२)

वण्णतो ति। केसादीनं वण्णो ववत्थपेतब्बो। (३)

सण्ठानतो ति। तेसं येव सण्ठानं ववत्थपेतब्बं। (४)

दिसतो ति। इमस्मिं हि सरीरे नाभितो उद्धं उपरिमदिसा, अधो हेट्ठिमदिसा, तस्मा 'अयं कोट्ठासो इमिस्सा नाम दिसाया' ति दिसा ववत्थपेतब्बा। (५)

ओकासतो ति। 'अयं कोट्ठासो इमस्मिं नाम ओकासे पतिट्ठितो' ति एवं तस्स तस्स ओकासो ववत्थपेतब्बो। (६)

परिच्छेदतो ति। सभागपरिच्छेदो, विसभागपरिच्छेदो ति द्वे परिच्छेदा। तत्थ अयं कोट्ठासो हेट्ठा च उपरि च तिरियं च इमिना नाम परिच्छिन्नो ति एवं सभागपरिच्छेदो वेदि-

---

'मूत्र, लसिका, पोंटा, थूक, चर्बी, आँसू, मेद, पसीना, लहू, पीब, कफ, पित्त, मस्तिष्क, मल, उदरस्थ पदार्थ, आँतों का बन्धन, आँत, फुप्फुस, प्लीहा, क्लोमक, यकृत, हृदय, वृक्क, अस्थिमज्जा, अस्थि, स्नायु, मांस, त्वचा, दाँत, नाखून, रोम, केश' कहना चाहिये।

यों सौ बार, हजार बार, लाख बार भी बोल-बोल कर पाठ करना चाहिये। क्योंकि **वचसा** (बोलकर) पाठ करने से कर्मस्थान सुपरिचित होता है, चित्त भी इधर-उधर नहीं दौड़ता। (शरीर के) प्रत्येक भाग प्रकट होते हैं (मानस पटल पर उलटकर सामने आते हैं), हाथ की अङ्गुलियों की पंक्ति के समान और चहारदीवारी में लगे खम्भों की पंक्ति के समान प्रतीत होते हैं। (१)

जैसे बोलकर, वैसे ही **मनसा पि सज्झायो** (मन में भी पाठ) करना चाहिये। बोलकर किया गया पाठ मन में किये जाने वाले पाठ का प्रत्यय (हेतु) होता है (अर्थात् पहले बोलकर किया गया पाठ मानसिक पारायण के लिये आवश्यक है)। मन में किया गया पाठ (प्रतिकूल के) लक्षण-प्रतिवेध (गहराई से समझना) का प्रत्यय होता है। (२)

वण्णतो—केश आदि के वर्ण को निश्चित करना चाहिये। (३)

सण्ठानतो—उन केश आदि के ही आकार का निश्चय करना चाहिये। (४)

दिसतो—'इस शरीर में नाभि में ऊपर ऊपरी दिशा, नीचे निचली दिशा है, 'यह भाग इस दिशा में है'—यों दिशा का निश्चय करना चाहिये। (५)

ओकासतो—'यह भाग इस अवकाश में स्थित है', यों उस उस अवकाश का निश्चय करना चाहिये। (६)

परिच्छेदतो—परिच्छेद दो होते हैं—सभागपरिच्छेद (समानता के आधार पर सीमा-निर्धारण), और विसभागपरिच्छेद (असमानता के आधार पर सीमा-निर्धारण)। इनमें, यह जो भाग

---

१. **हत्थसङ्खलिका** ति। अङ्गुलिपन्ति।

तब्बो। केसा न लोमा, लोमा पि न केसा ति एवं अमिस्सकतावसेन विसभागपरिच्छेदो वेदितब्बो। (७)

एवं सत्तधा उग्गहकोसल्लं आचिक्खन्तेन पन इदं कम्मट्ठानं असुकस्मिं सुत्ते पटिक्कूलवसेन कथितं, असुकस्मिं धातुवसेना ति ञत्वा आचिक्खितब्बं। इदं हि **महासतिपट्ठाने** (दी० नि० २/५२०) पटिक्कूलवसेनेव कथितं। **महाहत्थिपदोपम-महाराहुलोवाद-धातुविभङ्गेसु** धातुवसेन कथितं। **कायगतासतिसुत्ते** (म० नि० ३/११७५) पन यस्स वण्णतो उपट्ठाति, तं सन्धाय चत्तारि झानानि विभत्तानि। तत्थ धातुवसेन कथितं विपस्सनाकम्मट्ठानं होति, पटिक्कूलवसेन कथितं समथकम्मट्ठानं। तदेतं इध समथकम्मट्ठानमेवा ति।

१७. एवं सत्तधा उग्गहकोसल्लं आचिक्खित्वा १. अनुपुब्बतो, २. नातिसीघतो, ३. नातिसणिकतो, ४. विक्खेपपटिबाहनतो, ५. पण्णत्तिसमतिक्कमनतो, ६. अनुपुब्बमुञ्चनतो, ७. अप्पनातो, ८-१०. तयो च सुत्तन्ता ति एवं **दसधा मनसिकारकोसल्लं** आचिक्खितब्बं।

तत्थ **अनुपुब्बतो** ति। इदं हि सज्झायकरणतो पट्ठाय अनुपटिपाटिया मनसिकातब्बं, न एकन्तरिकाय। एकन्तरिकाय हि मनसिकरोन्तो, यथा नाम अकुसलो पुरिसो द्वत्तिंसपदं निस्सेणिं एकन्तरिकाय आरोहन्तो किलन्तकायो पतति, न आरोहनं सम्पादेति; एवमेव भावनासम्पत्तिवसेन अधिगन्तब्बस्स अस्सादस्स अनधिगमा किलन्तचित्तो पतति, न भावनं सम्पादेति। (१)

नीचे, ऊपर, चारों ओर से इससे परिच्छिन्न है—इसे सभागपरिच्छेद समझना चाहिये। केश रोम नहीं है, रोम भी केश नहीं हैं—यों उनके भिन्न होने के अनुसार विसभागपरिच्छेद मानना चाहिये। (७)

यों सात प्रकार के उद्ग्रह-कौशल बतलाने वाले को 'यह कर्मस्थान अमुक सूत्र में प्रतिकूल के रूप में कहा गया है, अमुक में धातु के रूप में'—ऐसा जानकर (ही) बतलाना चाहिये। क्योंकि **महासतिपट्ठानसुत्त** (दी० नि० २/५२०) में यह प्रतिकूल के रूप में कहा गया है। **महाहत्थिपदोपम, महाराहुलोवाद** और **धातुविभङ्ग** (तीनों म० नि० में द्र०) में धातु के रूप में। किन्तु **कायगतासतिसुत्त** (म० नि० ३/११७५) में उसके लिए ध्यान के चार विभाग किये गये हैं जिसके मन में (केश आदि) स्पष्ट रूप से उपस्थित होते हैं। वहाँ धातुके रूप में बतलाया गया (कर्मस्थान) विपश्यनाकर्मस्थान होता है और प्रतिकूल के रूप में कहा गया कर्मस्थान है शमथकर्मस्थान।

१७. यों सात प्रकार का उद्ग्रहकौशल बताने के बाद **दसधा मनसिकारकोसल्लं** (दस प्रकार की चिन्तन-कुशलता को) यों बतलना चाहिये—१. क्रमशः, २. न बहुत शीघ्र, ३. न बहुत धीरे, ४. विक्षेपपरिहार से, ५. प्रज्ञप्ति के समतिक्रमण से, ६. क्रमशः परित्याग से, ७. अर्पणा से, और ८ से १० तक तीन सूत्रान्त से।

इसमें, **अनुपुब्बतो**—जब से पाठ आरम्भ करे, तब से क्रमशः चिन्तन करना चाहिये, छोड़ छोड़कर नहीं। छोड़-छोड़कर चिन्तन करने से उस आनन्द की प्राप्ति नहीं होती जो भावनासम्पत्ति के कारण प्राप्त हो सकता था। अतः उससे मानसिक विश्रान्ति (थकान) हो जाती है और वह भावना करने में असफल हो जाता है, जैसे कि यदि कोई अनार्य बत्तीस डण्डों वाली सीढ़ी पर (एक-एक डण्डा) छोड़-छोड़कर चढ़े तो थककर गिर पड़ता है, चढ़ नहीं पाता। (१)

अनुपुब्बतो मनसिकरोन्तेना पि च **नातिसीघतो** मनसिकातब्बं। अतिसीघतो मनसि-करोतो हि यथा नाम तियोजनं मग्गं पटिपज्जित्वा ओक्कमनविस्सज्जनं[1] असल्लक्खेत्वा सीघेन जवेन सत्तक्खत्तुं पि गमनागमनं करोतो पुरिसस्स किञ्चापि अद्धानं परिक्खयं गच्छति, अथ खो पुच्छित्वा व गन्तब्बं होति; एवमेव केवलं कम्मट्ठानं परियोसानं पापुणाति, अविभूतं पन होति, न विसेसं आवहति, तस्मा नातिसीघतो मनसिकातब्बं। (२)

यथा च नातिसीघतो, एवं **नातिसणिकतो** पि। अतिसणिकतो मनसिकरोतो हि यथा नाम तदहेव तियोजनमग्गं गन्तुकामस्स पुरिसस्स अन्तरामग्गे रुक्खपब्बततळाकादीसु विलम्बमानस्स मग्गो परिक्खयं न गच्छति, द्वीह-तीहेन परियोसापेतब्बो होति, एवमेव कम्मट्ठानं परियोसानं न गच्छति, विसेसाधिगमस्स पच्चयो न होति। (३)

विक्खेपपटिबाहनतो ति। कम्मट्ठानं विस्सज्जेत्वा बहिद्धा पुथुत्तारम्मणे चेतसो विक्खेपो पटिबाहितब्बो। अप्पटिबाहतो हि यथा नाम एकपदिकं पपातमग्गं पटिपन्नस्स पुरिसस्स अक्कमनपदं असल्लक्खेत्वा इतो चितो च विलोकयतो पदवारो विरज्झति, ततो सतपोरिसे पपाते पतितब्बं होति; एवमेव बहिद्धा विक्खेपे सति कम्मट्ठानं परिहायति परिधंसति। तस्मा विक्खेपपटिबाहनतो मनसिकातब्बं। (४)

क्रमशः चिन्तन करते हुए भी, **नातिसीघतो** (बहुत जल्दी नहीं) चिन्तन करना चाहिये। बहुत शीघ्र चिन्तन करने से यद्यपि वह कर्मस्थान के अन्त तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे (कर्मस्थान) स्पष्ट नहीं होता और न ही उसमें कोई विशिष्टता आ पाती है; वैसे ही जैसे कि तीन योजन लम्बा रास्ता पार करने वाला व्यक्ति यदि इस पर ध्यान न दे कि किधर मुड़ना है किधर नहीं, अपितु सीधे दौड़ते हुए सौ बार भी आय जाय, तो यात्रा समाप्त कर लेने पर भी (फिर जाना पड़े तो) उसे पूछकर ही जाना पड़ता है। इसलिये बहुत शीघ्रता से चिन्तन नहीं करना चाहिये। (२)

जैसे बहुत शीघ्रता से नहीं, वैसे ही **नातिसणिकतो** (बहुत धीरे-धीरे भी नहीं)। क्योंकि बहुत धीरे धीरे चिन्तन करने वाला कर्मस्थान के अन्त तक नहीं पहुँच पाता, और फलस्वरूप विशिष्टता भी प्राप्त नहीं कर पाता; वैसे ही जैसे कि उसी दिन तीन योजन का मार्ग तय करने का इच्छुक व्यक्ति यदि मार्ग में आये पेड़, पहाड़, तालाब आदि के विशेष ज्ञान के लिये देर लगाने लगे तो मार्ग समाप्त ही न हो और यात्रा में दो तीन दिन लग जाते हैं। (३)

विक्खेपपटिबाहनतो—कर्मस्थान को छोड़ अनेक बाह्य आलम्बनों में चित्त के भटकाव को रोकना चाहिये। यदि न रोका गया तो बाहर भटकने से स्मृतिकर्मस्थान उपेक्षित होकर नष्ट हो जाता है; जैसे कि कोई व्यक्ति जो किसी ऐसे झरने के (ऊपर ऊपर बने) मार्ग पर आ पहुँचे जिस पर केवल एक ही पैर रखकर खड़े होने या चलने की जगह हो, और वह व्यक्ति अपने पैर पर ध्यान न देकर इधर उधर देखे, तो वह फिसल जाता है और उसे सौ पौरुषमान गहरे प्रपात में गिरना पड़ता है। (४)

---

१. **ओक्कमनविसज्जनं** ति। क्व? पटिपज्जितब्बविस्सज्जेतब्बे मग्गे।

पण्णत्तिसमतिक्कमनतो ति। या अयं केसा लोमा ति आदिका पण्णत्ति, तं अतिक्कमित्वा पटिक्कूलं ति चित्तं ठपेतब्बं। यथा हि उदकदुल्लभकाले मनुस्सा अरञ्ञे उदपानं दिस्वा तत्थ तालपण्णादिकं किञ्चिदेव सञ्ञाणं बन्धित्वा तेन सञ्ञाणेन आगन्त्वा न्हायन्ति चेव पिबन्ति च। यदा पन नेसं अभिण्हसञ्चारेन आगतागतपदं पाकटं होति, तदा सञ्ञाणेन किच्चं न होति, इच्छितिच्छितक्खणे गन्त्वा न्हायन्ति चेव पिबन्ति च; एवमेव पुब्बभागे केसा लोमा ति पण्णत्तिवसेन मनसिकरोतो पटिक्कूलभावो पाकटो होति। अथ केसा लोमा ति पण्णत्तिं समतिक्कमित्वा पटिक्कूलभावे येव चित्तं ठपेतब्बं। (५)

अनुपुब्बमुञ्चनतो ति। यो यो कोट्ठासो न उपट्ठाति, तं तं मुञ्चन्तेन अनुपुब्बमुञ्चनतो मनसिकातब्बं। आदिकम्मिकस्स हि 'केसा' ति मनसिकरोतो मनसिकारो गन्त्वा 'मुत्तं' ति इमं परियोसानकोट्ठासमेव आहच्च तिट्ठति। 'मुत्तं' ति च मनसिकरोतो मनसिकारो गन्त्वा 'केसा' ति इमं आदिकोट्ठासमेव आहच्च तिट्ठति। अथस्स मनसिकरोतो मनसिकरोतो केचि कोट्ठासा उपट्ठहन्ति, केचि न उपट्ठहन्ति। तेन ये ये उपट्ठहन्ति, तेसु तेसु ताव कम्मं कातब्बं, याव द्वीसु उपट्ठितेसु तेसं पि एको सुट्ठुतरं उपट्ठहति। एवं उपट्ठितं पन तमेव पुनप्पुनं मनसिकरोन्तेन अप्पना उप्पादेतब्बा।

तत्रायं उपमा—यथा हि द्वत्तिंसतालके तालवने वसन्तं मक्कटं गहेतुकामो लुद्दो आदिम्हि ठिततालस्स पण्णं सरेन विज्झित्वा उक्कुट्ठिं करेय्य, अथ खो सो मक्कटो पटिपाटिया तस्मिं तस्मिं

पण्णत्तिसमतिक्कमनतो—जो यह केश, रोम आदि प्रज्ञप्ति (नाम) है, उसका अतिक्रमण कर (उनके सामान्य धर्म अर्थात्) प्रतिकूल (पक्ष) पर चित्त को स्थिर करना चाहिये। जैसा कि जब पानी कठिनाई से मिलता है तब लोग वन में पानी का सोता देखकर वहाँ ताड़-पत्र आदि किसी चिह्न (पहचान) को बाँधकर (लटका देते हैं), लोग उसी चिह्न के सहारे (वहाँ) पहुँचकर नहाते और पीते हैं। किन्तु जब उनके रात-दिन आते जाते रहने से पदचिह्न साफ-साफ दिखायी देते हैं, तब उस (पूर्वोक्त) चिह्न का कोई उपयोग नहीं रह जाता, वहाँ जब जब लोग चाहते हैं, तब तब आकर नहाते पीते हैं। वैसे ही पहले केश, रोम—यों नाम के साथ (प्रतिकूलता) का चिन्तन करते करते प्रतिकूल भाव प्रकट हो जाता है। ऐसा होने पर 'केश, रोम'—यों प्रज्ञप्ति को छोड़कर प्रतिकूलत्व मात्र में ही चित्त को स्थिर करना चाहिये। (५)

अनुपुब्बमुच्चनतो—जो-जो भाग (मन में स्पष्टतया) प्रतीत न होते हों, उन्हें क्रमशः छोड़ते हुए चिन्तन करना चाहिये, क्योंकि जब साधन प्रारम्भ करने वाला 'केश' 'केश' यों चिन्तन करता है, तब (उसका) चिन्तन अन्तिम भाग 'मूत्र' पर जाकर टिक जाता है। इस प्रकार (चिन्तन के एक छोर से दूसरे छोर पर भागमे की प्रक्रिया के क्रम में) कोई भाग तो (मन में) उपस्थित होते हैं, कोई नहीं होते। इसलिये जो उपस्थित होते हों, उन पर तब तक (चिन्तन का अभ्यास रूप) कर्म करते रहना चाहिये, जब तक कि उन दोनों में से कोई एक भी अच्छी तरह से उपस्थित नहीं हो जाता। जब उपस्थित हो जाय, तब उसी पर बार बार चिन्तन करते हुए अर्पणा उत्पन्न करनी चाहिये।

यहाँ पर उपमा है—जिस प्रकार कि बत्तीस ताड़ के पेड़ों वाले ताड़-वन में रहने वाले

ताले पतित्वा परियन्ततालमेव गच्छेय, तत्थ पि गन्त्वा लुद्देन तथेव कते पुन तेनेव नयेन आदितालं आगच्छेय्य, सो एवं पुनप्पुन पटिपाटियमानो उक्कुट्ठुक्कुट्ठिट्ठाने येव उट्ठहित्वा अनुक्कमेन एकस्मिं ताले निपतित्वा तस्स वेमज्झे मकुलतालपण्णसूचिं दळ्हं गहेत्वा विज्झियमानो पि न उट्ठहेय्य, एवंसम्पदमिदं दट्ठब्बं।

तत्रिदं ओपम्मसंसन्दनं—यथा हि तालवने द्वत्तिंस ताला, एवं इमस्मिं काये द्वत्तिंसकोट्ठासा। मक्कटो विय चित्तं। लुद्दो विय योगावचरो। मक्कटस्स द्वत्तिंसतालके तालवने निवासो विय योगिनो चित्तस्स द्वत्तिंसकोट्ठासके काये आरम्मणवसेन अनुसञ्चरणं। लुद्देन आदिम्हि ठिततालस्स पण्णं सरेन विज्झित्वा उक्कुट्ठिया कताय मक्कटस्स तस्मिं तस्मिं ताले पतित्वा परियन्ततालगमनं विय योगिनो 'केसा' ति मनसिकारे आरद्धे पटिपाटिया गन्त्वा परियोसानकोट्ठासे येव चित्तस्स सण्ठानं। पुन पच्चागमने पि एसेव नयो। पुनप्पुनं पटिपाटियमानस्स मक्कटस्स उक्कुट्ठुक्कुट्ठिट्ठाने उट्ठानं विय पुनप्पुनं मनसिकरोतो केसुचि केसुचि उपट्ठितेसु अनुपट्ठहन्ते विस्सज्जेत्वा उपट्ठितेसु परिकम्मकरणं। अनुक्कमेन एकस्मिं ताले निपतित्वा तस्स मज्झे मकुळतालपण्णसूचिं दळ्हं गहेत्वा विज्झियमानस्स पि अनुट्ठानं विय अवसाने द्वीसु उपट्ठितेसु यो सुट्ठुतरं उपट्ठाति, तमेव पुनप्पुनं मनसिकरित्वा अप्पनाय उप्पादनं।

किसी बन्दर को पकड़ने का इच्छुक बहेलिया आरम्भ के ताड़ (-वृक्ष) के पत्ते पर बाण मारकर शोर मचाए और वह बन्दर बारी बारी से सभी ताड़ (-वृक्षों) पर कूदते हुए अन्तिम वाले पर ही चला जाय। जब बहेलिया वहाँ भी जाकर वैसा ही करे, तब फिर से उसी तरह आरम्भ में स्थित ताड़ पर आ जाय। ऐसा बार बार हो और वह जिस जिस स्थान पर शोर किया जाय वहाँ से उठकर क्रमशः एक ताड़ पर कूदे और उसके बीच वाले मुकुलित ताड़ के पत्तों के नुकीले भाग को कसकर पकड़ ले (और फिर) बाण से बिंध ही जाये, उठ न सके। ऐसा ही यहाँ भी समझना चाहिये।

इस उपमा का (प्रस्तुत प्रसङ्ग में) प्रयोग यों है—ताड़वन में बत्तीस ताड़ों के समान इस शरीर में बत्तीस भाग हैं। बन्दर जैसा चित्त है। बहेलिया जैसा योगी है। बत्तीस ताड़ों वाले ताड़वन में निवास के समान, योगी के चित्त को बत्तीस भागों वाले शरीर में आलम्बन के अनुसार सञ्चरण करना है! जैसे बहेलिये द्वारा आरम्भिक ताड़ के पत्ते को बाण से बेधकर कोलाहल मचाने पर बन्दर प्रत्येक ताड़ पर कूदते हुए अन्तिम ताड़ पर जा पहुँचता है, वैसे ही योगी जब 'केश' 'केश'—यों चिन्तन प्रारम्भ करता है, तब उसका चित्त क्रमशः जाकर अन्तिम भाग (मूत्र) पर ही जा टिकता है। पुनः वापस आने में भी ऐसा ही होता है। जैसे कि बार बार इसी ढंग से आता जाता हुआ बन्दर जहाँ जहाँ शोर किया जाता है, वहाँ वहाँ से उठ जाता है, वैसे ही बार बार चिन्तन करते हुए किसी किसी (भाग) के उपस्थित होने पर, न उपस्थित होने वाले को छोड़ते हुए उपस्थित में प्रारम्भिक प्रयत्न (परिकर्म) का सम्पादन है। जैसे कि क्रमशः बन्दर किसी एक ताड़ पर कूद कर उसके बीच मुकुलित ताड़ की नोक को कसकर पकड़ ले और विंध जाने पर भी उठ न सके, वैसे ही अन्त में उपस्थित हुए दो में से जो अधिक अच्छी तरह उपस्थित होता हो, उसी पर बारम्बार चिन्तन करके अर्पणा का उत्पादन करता है।

अपरा पि उपमा—यथा नाम पिण्डपतिको भिक्खु द्वत्तिंसकुलं गामं उपनिस्साय वसन्तो पठमगेहे येव द्वे भिक्खा लभित्वा परतो एकं विस्सज्जेय्य। पुनदिवसे तिस्सो लभित्वा परतो द्वे विस्सज्जेय्य। ततियदिवसे आदिम्हि येव पत्तपूरं लभित्वा आसनसालं गन्त्वा परिभुञ्जेय्य। एवंसम्पदमिदं दट्ठब्बं।

द्वत्तिंसकुलगामो विय हि द्वत्तिंसाकारो। पिण्डपातिको विय योगावचरो। तस्स तं गामं उपनिस्साय वासो विय योगिनो द्वत्तिंसाकारे परिकम्मकरणं। पठमगेहे द्वे भिक्खा लभित्वा परतो एकिस्सा विस्सज्जनं विय, दुतियदिवसे तिस्सो लभित्वा परतो द्विन्नं विस्सज्जनं विय च मनसिकरोतो मनसिकरोतो अनुपट्ठहन्ते विस्सज्जेत्वा उपट्ठितेसु याव कोट्ठासद्वये परिकम्मकरणं। ततियदिवसे आदिम्हि येव पत्तपूरं लभित्वा आसनसालायं निसीदित्वा परिभोगो विय द्वीसु यो सुट्ठुतरं उपट्ठाति, तमेव पुनप्पुनं मनसिकरित्वा अप्पनाय उप्पादनं। (६)

अप्पनातो ति। अप्पनाकोट्ठासतो। केसादीसु एकेकस्मिं कोट्ठासे अप्पना होती ति वेदितब्बा ति अयमेवेत्थ अधिप्पायो। (७)

तयो च सुत्तन्ता ति। अधिचित्तं[1], सीतिभावो[2], बोज्झङ्गकोसल्लं ति इमे तयो सुत्तन्ता विरियसमाधियोजनत्थं वेदितब्बा ति अयमेत्थ अधिप्पायो। तत्थ—

"**अधिचित्तमनुयुत्तेन, भिक्खवे, भिक्खुना तीणि निमित्तानि कालेन कालं**

अन्य उपमा भी है—जैसे कोई पिण्डपातिक भिक्षु बत्तीस घरों वाले गाँव के पास ठहरे। और पहले वाले घर से ही दुगुनी भिक्षा पाकर उसके अगले (घर) को छोड़ दे। अगले दिन तिगुनी पाकर अगले दो (घरों) को छोड़ दे। तीसरे दिन (भी) पहले (घर) से ही पात्र भर कर भिक्षा पाकर (कहीं और न जाकर सीधे) विश्रामशाला में जाकर खा ले। यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये।

गाँव के बत्तीस घरों के समान बत्तीस आकार हैं। पिण्डपातिक जैसा योगी है। उस गाँव के पास उसके रहने के समान बत्तीस आकारों में योगी का परिकर्म है। पहले घर से दुगुनी भिक्षा पाकर अगले एक को छोड़ देने जैसा, और दूसरे दिन तिगुनी पाकर अगले दो को छोड़ देने जैसा, चिन्तन करते करते अनुपस्थित होने वाले को छोड़कर दो उपस्थित भागों में ही परिकर्म का सम्पादन है। तीसरे दिन पहले ही पात्र भर पाकर विश्रामशाला में जाकर परिभोग करने के समान, दो में से जो अधिक अच्छी तरह उपस्थित हो, उसी का बार बार चिन्तन कर अर्पणा का उत्पादन करना है। (६)

अप्पनातो—अर्पणा के भागों से। अभिप्राय यह है कि केश आदि में से एक-एक भाग में अर्पणा (प्राप्त) होती है—ऐसा जानना चाहिये। (७)

तयो च सुत्तन्ता—अधिचित्त (शमथ-विपश्यनाचित्त), शीत-भाव (निर्वाण), बोध्यङ्ग कौशल—ये तीन सूत्रान्त वीर्य और समाधि को सम्बद्ध करने के लिये हैं—ऐसा जानना चाहिये। उनमें—

---

१. **अधिचित्तं** ति। समथविपस्सनाचित्तं। २. **सीतिभावो** ति। निब्बानं।

मनसिकातब्बानि—कालेन कालं समाधिनिमित्तं मनसिकातब्बं, कालेन कालं पग्गहनिमित्तं मनसिकातब्बं, कालेन कालं उपेक्खानिमित्तं मनसिकातब्बं। सचे, भिक्खवे, अधिचित्तमनुयुत्तो भिक्खु एकन्तं समाधिनिमित्तं येव मनसिकरेय्य, ठानं तं चित्तं कोसज्जाय संवत्तेय्य। सचे, भिक्खवे, अधिचित्तमनुयुत्तो भिक्खु एकन्तं पग्गहनिमित्तं येव मनसिकरेय्य, ठानं तं चित्तं उद्धच्चाय संवत्तेय्य। सचे, भिक्खवे, अधिचित्तमनुयुत्तो भिक्खु एकन्तं उपेक्खानिमित्तं येव मनसिकरेय्य, ठानं तं चित्तं न सम्मा समाधियेय्य आसवानं खयाय। यतो च खो, भिक्खवे, अधिचित्तमनुयुत्तो भिक्खु कालेन कालं समाधिनिमित्तं पग्गहनिमित्तं उपेक्खानिमित्तं मनसिकरोति, तं होति चित्तं मुदुं च कमञ्ञं च पभस्सरं च, न च पभङ्गु, सम्मा समाधियति आसवानं खयाय।

सेय्यथापि, भिक्खवे, सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा उक्कं बन्धति, उक्कामुखं आलिम्पेति, उक्कामुखं आलिम्पेत्वा सण्डासेन जातरूपं गहेत्वा उक्कामुखे पक्खिपित्वा कालेन कालं अभिधमति, कालेन कालं उदकेन परिप्फोसेति, कालेन कालं अज्झुपेक्खति। सचे, भिक्खवे, सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा तं जातरूपं एकन्तं अभिधमेय्य, ठानं तं जातरूपं डहेय्य। सचे, भिक्खवे, सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा तं जातरूपं एकन्तं उदकेन परिप्फोसेय्य, ठानं तं जातरूपं निब्बायेय्य। सचे, भिक्खवे, सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा तं जातरूपं एकन्तं अज्झुपेक्खेय्य, ठानं तं जातरूपं न सम्मापरिपाकं गच्छेय्य। यतो च खो, भिक्खवे, सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा तं जातरूपं कालेन

"भिक्षुओ, अधिचित्त में लगे हुए भिक्षु को तीन निमित्तों का समय समय पर चिन्तन करना चाहिये; समय समय पर समाधिनिमित्त का चिन्तन करना चाहिये। समय समय पर प्रग्रह (पकड़कर रखना वीर्य) निमित्त का...समय समय पर उपेक्षानिमित्त का चिन्तन करना चाहिये। यदि भिक्षुओ! अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु केवल समाधिनिमित्त का ही चिन्तन करे, तो सम्भव है कि वह चित्त आलस्य की ओर ले जाय। यदि भिक्षुओ! अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु केवल प्रग्रहनिमित्त का ही चिन्तन करे, तो सम्भव है कि वह चित्त औद्धत्य की ओर ले जाय। यदि भिक्षुओ! अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु केवल उपेक्षानिमित्त का ही चिन्तन करे, तो सम्भव है कि आस्रवों के क्षय के लिये वह चित्त सम्यक् रूप से समाधिस्थ न हो। भिक्षुओ! क्योंकि अधिचित्त में लगा हुआ भिक्षु समय समय पर समाधिनिमित्त, प्रग्रहनिमित्त एवं उपेक्षानिमित्त का चिन्तन करता है, इसलिये (उसका) वह चित्त मृदु, कर्मण्य और प्रभास्वर होता है।

"भिक्षुओ, जैसे सुनार या सुनार का कोई शिष्य (सहायक) भट्ठी तैयार करता है, भट्ठी के मुख में अग्नि जलाता है, चिमटे से अपरिष्कृत सोने को पकड़कर भट्ठी के मुख में डालकर समय-समय पर फूँकता (दहकाता) है, समय-समय पर पानी छिड़कता है, समय समय पर उसे यों ही रहने देता है। भिक्षुओ! यदि वह सुनार या सुनार का शिष्य उस अपरिष्कृत सोने पर केवल फूँक मारता रहे, तो सम्भव है कि वह सोना भस्म हो जाय। भिक्षुओ! यदि वह सुनार या...केवल पानी ही छिड़कता रहे, तो सम्भव है कि वह सोना ठण्डा पड़ जाय। यदि भिक्षुओ! वह सुनार या...सोने को वैसे ही छोड़ दे, तो सम्भव है कि वह सोना ठीक से परिष्कृत न हो। भिक्षुओ! क्योंकि सुनार या उसका शिष्य उस अपरिष्कृत सोने को समय-समय पर फूँकता है, समय समय

कालं अभिधमति, कालेन कालं उदकेन परिप्फोसेति, कालेन कालं अज्झुपेक्खति, तं होति जातरूपं मुदुं च कम्मञ्ञं च पभस्सरं च, न च पभङ्गु, सम्मा उपेति कम्माय। यस्सा यस्सा च पिळन्धनविकतिया आकङ्खति—यदि पट्टिकाय यदि कुण्डलाय यदि गीवेय्याय यदि सुवण्णमालाय, तं चस्स अत्थं अनुभोति।

एवमेव खो, भिक्खवे, अधिचित्तमनुयुत्तेन...पे०...समाधियति आसवानं खयाय। यस्स यस्स च अभिञ्ञा सच्छिकरणीयस्स धम्मस्स चित्तं अभिनिन्नामेति अभिञ्ञासच्छिकिरियाय, तत्र तत्रेव सक्खिभब्बतं पापुणाति, सति सति आयतने" (अं० नि० १/३३६) ति। (८)

इदं सुत्तं **अधिचित्तं** ति वेदितब्बं।

"छहि भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो भिक्खु भब्बो अनुत्तरं सीतिभावं सच्छिकातुं। कतमेहि छहि? इध, भिक्खवे, भिक्खु यस्मिं समये चित्तं निग्गहतेब्बं, तस्मिं समये चित्तं निग्गण्हाति। यस्मिं समये चित्तं पग्गहेतब्बं, तस्मिं समये चित्तं पग्गण्हाति। यस्मिं समये चित्तं सम्पहंसितब्बं, तस्मिं समये चित्तं सम्पहंसेति। यस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खितब्बं, तस्मिं समये चित्तं अज्झुपेक्खति। पणीताधिमुत्तिको च होति निब्बानाभिरतो। इमेहि खो, भिक्खवे, छहि धम्मेहि समन्नागतो भिक्खु भब्बो अनुत्तरं सीतिभावं सच्छिकातुं" (अं० ३/१७३) ति। (९)

इदं सुत्तं **सीतिभावो** ति वेदितब्बं।

बोज्झङ्गकोसल्लं पन **"एवमेव खो, भिक्खवे, यस्मि समये लीनं चित्तं होति, अकालो तस्मिं समये पस्सद्धिसम्बोज्झङ्गस्स भावनाया"** (म० नि० ३/११७३) ति अप्पनाकोसल्ल-कथायं दस्सितमेव। (१०)

पर... इसीलिए वह अपरिष्कृत सोना मृदु (लचीला), कर्मण्य (काम में लाने योग्य) और प्रभास्वर (चमकीला) होता है, टूटने वाला नहीं होता। वह उससे जैसा जैसा आभूषण गढ़ना चाहता है—पट्टी, कुण्डल, कण्ठहार या स्वर्णमाला—वह (सोना) उसका मन्तव्य पूरा करता है।

"वैसे ही भिक्षुओ! अधिचित्त में लगा हुआ...पूर्ववत्...आस्रवों के क्षय हेतु समाधिस्थ होता है। अभिज्ञा (अपरोक्ष ज्ञान) के साक्षात्कार के लिये, अभिज्ञा का साक्षात्कार कराने वाले जिस जिस धर्म की ओर चित्त को उन्मुख करता है, अवसर आने पर, उसमें ही साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त करता है। (अं० नि० १/३३६)। (८)

इस सूत्र को **अधिचित्तं** (अधिचित्त) जानना चाहिये।

"भिक्षुओ, छह धर्मों से युक्त भिक्षु अनुत्तर शीत-भाव के साक्षात्कार में समर्थ होता है। किन छह से? भिक्षुओ, यहाँ भिक्षु जिस समय चित्त का निग्रह करना चाहिये उस समय चित्त का निग्रह करता है। जिस समय चित्त का प्रग्रह करना चाहिये, उस समय चित्त का प्रग्रह करता है। जिस समय चित्त का सम्प्रहर्षण (प्रोत्साहन) करना चाहिये उस समय चित्त को सम्प्रहर्षित करता है। जिस समय चित्त की उपेक्षा करनी चाहिये उस समय चित्त की उपेक्षा करता है। प्रणीत (लोकोत्तर धर्मों) में अधिमुक्ति (दृढ़ निश्चय) वाला एवं निर्वाण में रुचि रखने वाला होता है। भिक्षुओ, इन्हीं छह धर्मों से युक्त भिक्षु अनुत्तर शीत-भाव का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।" (अं० नि० ३/१७३) (९)

इस सूत्र को **सीतिभावो** (शीतभाव) जानना चाहिये।

इति इदं सत्तविधं उग्गहकोसल्लं सुग्गहितं कत्वा इदं च दसविधं मनसिकारकोसल्लं सुट्ठु ववत्थपेत्वा तेन योगिना उभयकोसल्लवसेन कम्मट्ठानं साधुकं उग्गहेतब्बं।

सचे पनस्स आचरियेन सद्धिं एकविहारे येव फासु होति, एवं वित्थारेन अकथापेत्वा कम्मट्ठानं सुट्ठु ववत्थपेत्वा कम्मट्ठानं अनुयुञ्जन्तेन विसेसं लभित्वा उपरूपरि कथापेतब्बं। अञ्ञत्थ वसितुकामेन यथावुत्तेन विधिना वित्थारतो कथापेत्वा पुनप्पुनं परिवत्तेत्वा सब्बं गण्ठिट्ठानं छिन्दित्वा पथवीकसिणनिद्देसे वुत्तनयेनेव अननुरूपं सेनासनं पहाय अनुरूपे विहारे वसन्तेन खुद्दकपलिबोधुपच्छेदं कत्वा पटिक्कूलमनसिकारे परिकम्मं कातब्बं।

करोन्तेन पन केसेसु ताव निमित्तं गहेतब्बं। कथं? एकं वा द्वे वा केसे लुञ्चित्वा हत्थतले ठपेत्वा वण्णो ताव ववत्थपेतब्बो। छिन्नट्ठाने पि केसे ओलोकेतुं वट्टति। उदकपत्ते वा यागुपत्ते वा ओलोकेतुं पि वट्टति येव। काळककाले दिस्वा काळका ति मनसिकातब्बा, सेतकाले सेता ति। मिस्सककाले पन उस्सदवसेन मनसिकातब्बा होन्ति। यथा च केसेसु, एवं सकले पि तचपञ्चके दिस्वा व निमित्तं गहेतब्बं॥

बोज्झङ्गकोसल्लं (बोध्यङ्ग-कौशल) तो अर्पणा-कौशल (द्र० पृथ्वी कसिणनिर्देश, चतुर्थ परिच्छेद) के प्रसङ्ग में इस प्रकार प्रदर्शित किया ही जा चुका है—"भिक्षुओ, इसी प्रकार, जिस समय चित्त गिरा-गिरा सा होता है, वह समय प्रश्रब्धि-सम्बोध्यङ्ग की भावना की दृष्टि से अनुपयुक्त है।" (म० नि० ३/११७३) (१०)

यों, इस सप्तविध उद्ग्रहकौशल को भलीभाँति ग्रहण कर, एवं इस दशविध मनस्कार-कौशल का अच्छी तरह से निश्चय कर, उस योगी को दोनों कौशलों के अनुसार कर्मस्थान को उचित ढंग से सीखना चाहिये।

यदि उसे आचार्य के साथ एक ही विहार में रहने में सुविधा हो, तो वह (भिक्षु कर्मस्थान के विषय में आचार्य से) विस्तार सहित (एक ही साथ) न कहलवाकर, (कर्मस्थान का) अच्छी तरह निश्चय कर, उसमें लग जाय और (क्रमशः) विशेष (अवस्थाओं) की प्राप्ति करते हुए आगे आगे कहलवाता जाय। जो कहीं अन्यत्र रहना चाहे तो उसे चाहिये कि यथोक्त विधि से एक ही साथ विस्तार से कहलवाकर, बार बार आकर सन्देहों का निराकरण करते हुए; पृथ्वीकसिण निर्देश में बतलायी गयी विधि के अनुसार ही, प्रतिकूल शयनासन का परित्याग कर अनुकूल शयनासन में रहे तथा छोटे छोटे पलिबोधों (बाधाओं) को नष्ट करते हुए प्रतिकूल (कर्मस्थान) के चिन्तन का प्रयास प्रारम्भ करे।

ऐसा करने वाले को पहले केशों में निमित्त ग्रहण करना चाहिये। कैसे? एक या दो केश उखाड़कर हथेली पर रखकर पहले वर्ण (रंग) का निश्चय करना चाहिये। जहाँ केश काटे जाते हों, वहाँ भी (जाकर) केशों का निरीक्षण किया जा सकता है। जल-भरे पात्र में या यवागू के पात्र में भी देखा जा सकता है। जब वे देखने में काले लगें तब 'काले हैं'—यों चिन्तन करना चाहिये, सफेद लगें तो 'सफेद हैं'—इस प्रकार। मिश्रित रंग के लगें तो जो रंग प्रमुख हो उसके अनुसार चिन्तन करना चाहिये। जैसा कि केशों के बारे में है, वैसे ही सभी त्वचापञ्चक को देखकर निमित्त का ग्रहण करना चाहिये॥

कोट्ठासववत्थापनकथा

१८. एवं निमित्तं गहेत्वा सब्बकोट्ठासे वण्ण-सण्ठान-दिसोकास-परिच्छेदवसेन ववत्थपेत्वा वण्णसण्ठानगन्धआसयोकासवसेन पञ्चधा पटिक्कूलता ववत्थपेतब्बा।

तत्रायं सब्बकोट्ठासेसु अनुपुब्बकथा—

१९. **केसा** ताव पकति**वण्णेन** काळका अद्दारिट्ठकवण्णा[1]। **सण्ठानतो** दीघ-वट्टलिकातुलादण्डसण्ठाना। **दिसतो** उपरिमदिसाय जाता। **ओकासतो** उभासु पस्सेसु कण्णचूळिकाहि, पुरतो नलाटन्तेन, पच्छतो गलवाटकेन परिच्छिन्ना सीसकटाहवेठनं अल्लचम्मं केसानं ओकासो। **परिच्छेदतो** सीसवेठनचम्मे वीहग्गमत्तं पविसित्वा पतिट्ठितेन हेट्ठा अत्तनो मूलतलेन, उपरि आकासेन, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्ना, द्वे केसा एकतो नत्थी ति अयं सभागपरिच्छेदो। केसा न लोमा, लोमा न केसा ति एवं अवसेस-एकतिंसकोट्ठासेहि अमिस्सीकता केसा नाम पाटियेक्को एककोट्ठासो ति अयं विसभागपरिच्छेदो। इदं केसानं वण्णादितो ववत्थापनं।

इदं पन नेसं वण्णादिवसेन पञ्चधा पटिक्कूलतो ववत्थापनं—केसा नामेते वण्णतो पि पटिक्कूला। सण्ठानतो पि गन्धतो पि आसयतो पि ओकासतो पि पटिक्कूला।

कोष्ठव्यवस्थापन

(शरीर के भागों का निश्चय)

१८. यों निमित्त का ग्रहण कर, सभी भागों का वर्ण-संस्थान-दिशा-अवकाश-परिच्छेद के अनुसार निश्चय कर वर्ण, संस्थान, गन्ध, आश्रय, अवकाश के अनुसार पञ्चविध प्रतिकूलता का निश्चय करना चाहिये।

अब यहाँ सभी भागों की क्रमशः व्याख्या की जा रही है—

१९. **केसा**—(केश) स्वाभाविक रूप में **वण्णेन** (रंग से) काले, कच्चे अरिष्ट के फल के रंग के होते हैं। **सण्ठानतो** (आकार से) लम्बी गोल तराजू के डण्डों जैसे (लम्बे) आकार के होते हैं। **दिसतो** (दिशा से) ऊपरी दिशा (नाभि से ऊपरी दिशा) में होते हैं। **ओकासतो** (अवकाश से) दोनों ओर की कनपटी, आगे ललाट, पीछे गर्दन के गड्ढे से जिसकी सीमा आरम्भ होती है, ऐसा शिरःकपाल को परिवेष्टित करने वाला भीतरी चर्म केशों का अवकाश (स्थान) है। **परिच्छेदतो**—सिर को ढँकने वाले चर्म में धान की नोक के बराबर भीतर घुसकर स्थित हो, अपनी जड़ की सतह द्वारा नीचे से, आकाश द्वारा ऊपर से, चारों ओर एक दूसरे से परिच्छिन्न हो। दो केश एक साथ नहीं है—यह सभाग परिच्छेद है। केश लोम नहीं हैं, लोम केश नहीं हैं, यों शेष इकत्तीस भागों से मिश्रित (एकरूप) न होने के कारण केश एक भिन्न ही भाग है— यह विसभाग परिच्छेद है। यह केशों का वर्ण आदि के अनुसार निश्चय है।

वर्ण आदि के अनुसार उनका पाँच प्रकार से प्रतिकूल होने का यह निश्चय है— ये केश

---

१. **अद्दारिट्ठकवण्णा** ति। अभिनवारिट्ठफलवण्णा।

मनुञ्ञे पि हि यागुपत्ते वा भत्तपत्ते वा केसवण्णं किञ्चि दिस्वा 'केसमिस्सकमिदं हरथ नं' ति जिगुच्छन्ति, एवं केसा **वण्णतो** पटिक्कूला। रत्तिं भुञ्जन्ता पि केससण्ठानं अक्कवाकं वा मकचिवाकं वा छुपित्वा पि तथेव जिगुच्छन्ति। एवं **सण्ठानतो** पटिक्कूला।

तेलमक्खनपुप्फधूपादिसङ्खारविरहितानं च केसानं गन्धो परमजेगुच्छो होति ततो जेगुच्छतरो अग्गिम्हि पक्खित्तानं। केसा हि वण्णसण्ठानतो अप्पटिक्कूला पि सियुं, गन्धेन पन पटिक्कूला येव। यथा हि दहरस्स कुमारस्स वच्चं वण्णतो हलिद्दिवण्णं, सण्ठानतो पि हलिद्दि-पिण्डसण्ठानं, सङ्कारट्ठाने छड्डितं च उद्धुमातककाळसुनखसरीरं वण्णतो तालपक्कवण्णं, सण्ठानतो वट्टेत्वा विस्सट्ठमुदिङ्गसण्ठानं, दाठा पिस्स सुमनमकुलसदिसा ति उभयं पि वण्णसण्ठानतो सिया अप्पटिक्कूलं, गन्धेन पन पटिक्कूलमेव, एवं केसा पि सियुं वण्णसण्ठानतो अपटिक्कूला, **गन्धेन** पन पटिक्कूला येवा ति।

यथा पन असुचिट्ठाने गामनिस्सन्देन जातानि सूपेय्यपण्णानि नागरिकमनुस्सानं जेगुच्छानि होन्ति अपरिभोगानि, एवं केसा पि पुब्बलोहितमुत्तकरीसपित्तसेम्हादिनिस्सन्देन जातत्ता जेगुच्छा ति। इदं नेसं **आसयतो** पाटिक्कुल्यं।

इमे च केसा नाम गूथरासिम्हि उट्ठितकण्णिकं विय एकतिंसकोट्ठासरासिम्हि जाता। ते सुसानसङ्कारट्ठानादीसु जातसाकं विय, परिक्खादिसु जातकमलकुवलयादिपुप्फं विय च असुचिट्ठाने जातत्ता परमजेगुच्छा ति। इदं नेसं **ओकासतो** पाटिक्कुल्यं। (१)

वर्ण से भी प्रतिकूल हैं, संस्थान से भी, गन्ध से भी, आश्रय से भी और अवकाश से भी प्रतिकूल हैं।

मन को भाने वाले यवागू या भात के पात्र में केश के रंग जैसा कुछ देखकर—'इसमें केश पड़ा है, इसे ले जाओ'—यों घृणा (जुगुप्सा) करते हैं। यों केश **वण्ण** से प्रतिकूल हैं। (१)

रात में भोजन करने वाले भी (मन्द प्रकाश में रंग का ज्ञान न हो सकने से) केश की आकृति के मदार के रेशे या मकचि (पटुआ) के रेशे का स्पर्श हो जाने पर भी वैसे ही घृणा करता है। यों, **सण्ठान** से भी प्रतिकूल हैं। (२)

तैलमर्दन, पुष्प-धूप आदि से संस्कृत न किये गये केशों की गन्ध अति घृणित होती है, उससे भी अधिक घृणित आग में फेंके गये (केशों) की; क्योंकि केश चाहे वर्ण और आकृति से प्रतिकूल न भी प्रतीत हों, गन्ध से तो प्रतिकूल होते ही हैं। जैसे कि छोटे बच्चे का मल रंग में हल्दी के रंग का, आकार में भी हल्दी की पिण्डी के आकार का होता है, और जैसे घूरे पर फेंके गये काले कुत्ते का फूला हुआ मृत शरीर रंग में पके हुए ताड़ जैसा होता है और आकार में मढ़कर छोड़ दिये गये मृदङ्ग के आकार का, उसकी दाढ़ भी चमेली की कलियों जैसी होती है। यों रंग और आकार दोनों से भी (वह) अप्रतिकूल हो सकता है, किन्तु **गन्ध** से तो प्रतिकूल ही है। (३)

जैसे कि मलिन स्थान पर गाँव भर के मैले से उत्पन्न, सूप बनाने के लिये पत्ते घृणित और अनुपयोगी होते हैं; वैसे ही केश भी, पीब, रक्त, मूत्र मल, पित्त, कफ आदि के परिपाक से उत्पन्न होने के कारण, घृणित हैं। यह उनकी **आसय** से (आश्रय से) प्रतिकूलता है। (४)

यथा च केसानं, एवं सब्बकोट्ठासानं वण्णसण्ठानगन्धासयोकासवसेन पञ्चधा पटिक्कूलता वेदितब्बा। वण्णसण्ठानदिसोकासपरिच्छेदवसेन पन सब्बे पि विसुं विसुं ववत्थपेतब्बा।

२०. तत्थ **लोमा** ताव पकति**वण्णतो** न केसा विय असम्भिन्नकाळका, काळपिङ्गला पन होन्ति। **सण्ठानतो** ओनतग्गा तालमूलसण्ठाना। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जाता। **ओकासतो** ठपेत्वा केसानं पतिट्ठितोकासं च हत्थपादतलानि च येभुय्येन अवसेससरीरवेठनचम्मे जाता। **परिच्छेदतो** सरीरवेठनचम्मे लिखामत्तं पविसित्वा पतिट्ठितेन हेट्ठा अत्तनो मूलतलेन, उपरि आकासेन, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्ना, द्वे लोमा एकतो नत्थि। अयं नेसं सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२)

२१. **नखा** ति। वीसतिया नखपत्तानं नामं। ते सब्बे पि **वण्णतो** सेता। **सण्ठानतो** मच्छसकलिकसण्ठाना। **दिसतो** पादनखा हेट्ठिमदिसाय, हत्थनखा उपरिमदिसाया ति द्वीसु दिसासु जाता। **ओकासतो** अङ्गुलीनं अग्गपिट्ठेसु पतिट्ठिता। **परिच्छेदतो** द्वीसु दिसासु अङ्गुलिकोटिमंसेहि, अन्तो अङ्गुलिपिट्ठिमंसेन, बहि चेव अग्गे च आकासेन, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्ना, द्वे नखा एकतो नत्थि। अयं नेसं सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (३)

ये केश मल के ढेर पर उगी हुई फफूँदी के समान, इकतीस भागों के ढेर पर उत्पन्न हुए हैं। ये श्मशान में और कूड़े के ढेर आदि पर उत्पन्न साग के समान, और नालियों में उगे कमल या कमलिनी आदि के फूल के समान, अपवित्र स्थान पर उत्पन्न होने से अति घृणित ही हैं। यह इनकी **ओकासतो** (अवकाश की दृष्टि से) प्रतिकूलता है। (५) (१)

केशों की तरह ही सभी भागों की वर्ण, संस्थान, गन्ध, आश्रय, अवकाश के अनुसार पाँच प्रकार की प्रतिकूलता जाननी चाहिये। वर्ण, आकार, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार सबका पृथक् पृथक् निश्चय (अधोलिखित प्रकार से) करना चाहिये—

२०. उनमें, **लोम** स्वाभाविक रूप में **वण्णतो** केश जैसे एकदम काले नहीं होते, अपितु कालापन लिये हुए भूरे होते हैं। **सण्ठानतो**—झुके हुए सिरों वाली ताड़ की जड़ों के समान होते हैं। **दिसतो**—दोनो दिशाओं में (शरीर के ऊपरी-निचले भागों में) होते हैं। **ओकासतो**—जहाँ केश हैं उस स्थान को और हथेली-तलवे को छोड़कर प्रायः शेष शरीर को ढँकने वाले चर्म में उत्पन्न हैं। **परिच्छेदतो**—शरीर को लपेटे हुए चमड़े में लीख (जूँ के अण्डे) के बराबर गहराई में घुसकर स्थित हो, नीचे से अपनी जड़ की सतह द्वारा, ऊपर आकाश द्वारा, चारों ओर एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। दो लोम एक साथ नहीं है—यह उनका सभागपरिच्छेद है। विसभागपरिच्छेद केश के समान ही है। (२)

२१. **नखा**—अर्थात् बीस नख-पत्र। वे सभी **वण्णतो** सफेद हैं। **सण्ठानतो**—मछली के टुकड़ों के आकार के हैं। **दिसतो**—पैर के नाखून निचली दिशा में, हाथ के नाखून ऊपरी दिशा में—यों दो दिशाओं में उत्पन्न हैं। **ओकासतो**—अगुलियों के पृष्ठभाग के छोरों पर प्रतिष्ठित है। **परिच्छेदतो**—दो दिशाओं में अंगुलियों के छोरों के मांस से, अन्त में अंगुली के पृष्ठ भाग के मांस से, बाहर और सामने की ओर से आकाश से, चारों ओर से एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं।

२२. **दन्ता** ति। परिपुण्णदन्तस्स द्वत्तिंस दन्तट्ठिकानि। ते पि **वण्णतो** सेता। **सण्ठानतो** अनेकसण्ठाना। तेसं हि हेट्ठिमाय ताव दन्तपाळिया मज्झे चत्तारो दन्ता मत्तिकापिण्डे पटिपाटिया ठपितअलाबुबीजसण्ठाना। तेसं उभोसु पस्सेसु एकेको एकमूलको एककोटिको मल्लिकमुकुल-सण्ठानो। ततो एकेको द्विमूलको द्विकोटिको यानक-उपत्थम्भिनिसण्ठानो[1], ततो द्वे द्वे तिमूला तिकोटिका। ततो द्वे द्वे चतुमूला चतुकोटिका ति। उपरिमपाळिया पि एसेव नयो। **दिसतो** उपरिमदिसाय जाता। **ओकासतो** द्वीसु हनुकट्ठिकेसु पतिट्ठिता। **परिच्छेदतो** हेट्ठा हनुकट्ठिके पतिट्ठितेन अत्तनो मूलतलेन, उपरि आकासेन, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्ना, द्वे दन्ता एकतो नत्थि। अयं नेसं सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (४)

२३. **तचो** ति सकलसरीरं वेठेत्वा ठितचम्मं। तस्स उपरि काळसामपीतादिवण्णा छवि नाम, या सकलसरीरतो पि सङ्कड्ढियमाना बदरट्ठिमत्ता होति। तचो पन **वण्णतो** सेतो येव। सो चस्स सेतभावो अग्गिजालाभिघातपहरणप्पहारादीहि विद्धंसिताय छविया पाकटो होति। **सण्ठानतो** सरीरसण्ठानो व होति। अयमेत्थ सङ्खेपो।

वित्थारतो पन पादङ्गुलित्तचो कोसकारककोससण्ठानो। पिट्ठिपादत्तचो पुटबन्धउपाहन-

---

दो नाखून एक साथ नहीं है—यह उनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश आदि के समान ही है। (३)

२२. **दन्ता**—जिसके पूरे दाँत होते हैं, उसे बीस दाँत की अस्थियाँ होती हैं। वे भी **वण्णतो** सफेद होते हैं। **सण्ठानतो**—अनेक आकार के। निचली दन्त-पंक्ति के बीच के चार दाँत मिट्टी के पिण्ड में करीने से जड़े गये लौकी के बीज के आकार के होते हैं। उनके दोनों ओर एक एक दाँत एक जड़ और एक नोक वाले तथा चमेली की कली जैसे होते हैं। उसके बाद के एक एक दाँत दो जड़ों और दो नोकों वाले, गाड़ी के धुरप्रदेश में उसे खड़ा करने के लिये लगाये गये डण्डे के समान होते हैं। बाद के दो दो तीन जड़ों वाले और तीन नोकों वाले होते हैं। उसके बाद के दो दो चार जड़ों वाले और चार नोकों वाले। ऊपर की पंक्ति में भी ऐसा ही है। **दिसतो**—ऊपरी दिशा में होते हैं। **ओकासतो**—दोनों जबड़ों की हड्डियों में जड़े होते हैं। **परिच्छेदतो**—जबड़े की हड्डियों में जड़े होने से, नीचे की ओर अपनी जड़ों की सतह से, ऊपर की ओर आकाश से, चारों ओर एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। दो दाँत एक साथ नहीं हैं। यह उनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के ही समान है। (४)

२३. **तचो**—समस्त शरीर को लपेटकर स्थित चर्म (भीतरी त्वचा)। उसके ऊपर काले, साँवले, पीले आदि रंग वाली बाहरी त्वचा (छवि) होती है। जो कि यदि पूरे शरीर से भी खींच ली जाय तो (एकत्र कर देने पर) बेर के बीज मात्र (परिमाण की) होती है। त्वचा **वण्णतो** सफेद ही होती है। ऊपरी त्वचा यदि आग की लपट से जल जाय, चोट-चपेट लग जाय, तब उस भीतरी त्वचा की सफेदी प्रकट हो जाती है। **सण्ठानतो**—शरीर के ही आकार की होती है। यह आकार के विषय में संक्षेप है।

किन्तु विस्तार से—पैर की अंगुलियों की त्वचा रेशम के कीड़े के कोष (खोल) जैसी

---

१. **यानकउपत्थम्भिनी** ति। सकटस्स धुरट्ठाने उपत्थम्भकदण्डो।

सण्ठानो। जङ्घत्तचो भत्तपुटकतालपण्णसण्ठानो। ऊरुत्तचो तण्डुलभरितदीघत्थविकसण्ठानो। आनिसदत्तचो उदकपूरितपटपरिस्सावनसण्ठानो। पिट्ठित्तचो फलकोनद्धचम्मसण्ठानो। कुच्छित्तचो वीणादोणिकोनद्धचम्मसण्ठानो। उरत्तचो येभुय्येन चतुरस्ससण्ठानो। उभयबाहुत्तचो तूणीरोनद्धचम्मसण्ठानो। पिट्ठिहत्थत्तचो खुरकोससण्ठानो, फणकत्थविकसण्ठानो वा। हत्थङ्गुलितचो कुञ्चिककोसकसण्ठानो। गीवत्तचो गलकञ्चुकसण्ठानो। मुखत्तचो छिद्दावछिद्दो कीटकुलावकसण्ठानो। सीसत्तचो पत्तत्थविकसण्ठानो ति।

तचपरिग्गण्हकेन च योगावचरेन उत्तरोट्ठतो पट्ठाय उपरिमुखं ञाणं पेसेत्वा पठमं ताव मुखं परियोनन्धित्वा ठितचम्मं ववत्थपेतब्बं। ततो नलाटट्ठिचम्मं। ततो थविकाय पक्खित्तपत्तस्स च थविकाय च अन्तरेन हत्थमिव सीसट्ठिकस्स च सीसचम्मस्स च अन्तरेन ञाणं पेसेत्वा अट्ठिकेन सद्धिं चम्मस्स एकाबद्धभावं वियोजेन्तेन सीसचम्मं ववत्थपेतब्बं। ततो खन्धचम्मं। ततो अनुलोमेन पटिलोमेन च दक्खिणहत्थचम्मं। अथ तेनेव नयेन वामहत्थचम्मं। ततो पिट्ठिचम्मं तं ववत्थपेत्वा अनुलोमेन पटिलोमेन च दक्खिणपादचम्मं। अथ तेनेव नयेन वामपादचम्मं। ततो अनुक्कमेनेव वत्थि-उदर-हदय-गीवचम्मानि ववत्थपेतब्बानि। अथ

होती है। पैर के पृष्ठभाग की त्वचा बूट (=जूते=पुटबन्ध-उपानह) के आकार की होती है। घुटने की त्वचा भात लपेटे हुए ताड़-पत्र के आकार की, जाँघ की त्वचा चावल से भरी लम्बी थैली के आकार की, जिसे टेककर बैठते हैं, पुट्ठे की त्वचा पानी से भरे, पानी छानने के कपड़े के आकार की, पीठ की त्वचा तख्ते पर मढ़े गये चमड़े के आकार की, हृदय प्रदेश की त्वचा प्रायः चौकोर आकार की, दोनों बाहों की त्वचा तरकश पर मढ़े चमड़े के आकार की, हाथ के पृष्ठभाग की त्वचा छुरी रखने की थैली के आकार की या कंघी रखने की खोली के आकार की होती है। हाथ की अंगुलियों की त्वचा चाभी रखने की थैली के आकार की, गरदन की त्वचा गले पर लपेटे गये कपड़े के आकार की, मुख की त्वचा क्रिमियों के छेदों से भरे हुए घोंसले के आकार की होती है।

त्वचा पर चिन्तन करने वाले योगी को ऊपरी ओंठ से लेकर मुख के ऊपर की ओर ज्ञान सम्प्रेषित कर (अन्तर्निरीक्षण का विषय बनाकर) ध्यान केन्द्रित कर, सबसे पहले मुख को ढककर स्थित त्वचा का निश्चय करना चाहिये। तत्पश्चात् ललाट की अस्थि की त्वचा का। तत्पश्चात् थैली में रखे पात्र और थैली के बीच हाथ (डालने के) समान, सिर की हड्डी और सिर के चर्म के भीतर ज्ञान को सम्प्रेषित कर, अस्थि के साथ चर्म के भीतर ज्ञान को सम्प्रेषित कर, अस्थि के साथ चर्म के एकाबद्ध (एक साथ बँधे) भाव को (वैचारिक स्तर पर) वियुक्त करते हुए, सिर के चर्म का निश्चय करना चाहिये। उसके बाद कन्धों के चर्म का। फिर अनुलोम प्रतिलोम रूप से दाहिने हाथ के चर्म का। फिर उसी विधि से बाएं हाथ के चर्म का। फिर पीठ के चर्म का निश्चय कर, अनुलोम और प्रतिलोम रूप से दाहिने पैर के चर्म का। फिर इसी विधि से बाएं पैर के चर्म का। फिर क्रमशः वस्ति (मूत्राशय), पेट, हृदय (छाती), ग्रीवा के चर्मों का निश्चय करना चाहिये। फिर ग्रीवा के चर्म के बाद निचली ठुड्डी (जबड़े) के चर्म का निश्चय कर ऊपर नीचे के ओठों तक ले जाकर (चिन्तन-क्रिया को) समाप्त करना चाहिये। यों स्थूल का ग्रहण करने

गीवचम्मानन्तरं हेट्ठिमहनुचम्मं ववत्थपेत्वा अधरोट्ठपरियोसानं पापेत्वा निट्ठपेतब्बं। एवं ओळारिकोळारिकं परिगण्हन्तस्स सुखुमं पि पाकटं होति। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातो। **ओकासतो** सकलसरीरं परियोनन्धित्वा ठितो। **परिच्छेदतो** हेट्ठा पतिट्ठिततलेन, उपरि आकासेन परिच्छिन्नो, अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (५)

२४. **मंसं** ति। नव मंसपेसिसतानि। तं सब्बं पि **वण्णतो** रत्तं किंसुकपुप्फसदिसं। **सण्ठानतो** जङ्घपिण्डिकमंसं तालपण्णपुटभत्तसण्ठानं। ऊरुमंसं निसदपोतसण्ठानं[1]। आनिसदमंसं उद्धनकोटिसण्ठानं। पिट्ठिमंसं तालगुळपटलसण्ठानं। पासुकद्वयमंसं कोट्ठलिकाय कुच्छियं तनुमत्तिकालेपसण्ठानं। थनमंसं वट्टेत्वा अवक्खित्तमत्तिकापिण्डसण्ठानं बाहुद्वयमंसं द्विगुणं कत्वा ठपितनिच्चम्ममहामूसिकसण्ठानं। एवं ओळारिकोळारिकं परिगण्हन्तस्स सुखुमं पि पाकटं होति। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** साधिकानि तीणि अट्ठिसतानि अनुलिम्पित्वा ठितं। **परिच्छेदतो** हेट्ठा अट्ठिसङ्घाते पतिट्ठिततलेन, उपरि तचेन, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्नं, अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (६)

२५. **न्हारू** ति। नव न्हारुसतानि। **वण्णतो** सब्बे पि न्हारू सेता। **सण्ठानतो** नानासण्ठाना। एतेसु हि गीवाय उपरिमभागतो पट्ठाय पञ्चमहान्हारू सरीरं विनन्धमाना

पर सूक्ष्म भी प्रकट हो जाता है। **दिसतो**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न। **ओकासतो**—पूरे शरीर को लपेट कर स्थित। **परिच्छेदतो**—नीचे प्रतिष्ठित सतह से, ऊपर आकाश से परिच्छिन्न है—यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश आदि के ही समान है। (५)

२४. **मंसं**—नौ सौ मांसपेशियाँ।[2] वे सभी **वण्णतो** रक्त (वर्ण के) किंशुक के फूल के समान हैं। **सण्ठानतो**—घुटने का मांस भात पर लपेटे गये ताड़-पत्र के आकार का है। जाँघ का मांस लोढ़े के आकार का है। पुट्ठे का मांस चूल्हे के ऊपरी भाग के आकार का है। पीठ का मांस ताड़ से बने गुड़ के पटल (जो कि ताड़ की चटाई पर ताड़ के गूदे को फैलाकर सुखाया जाता है) के आकार का है। दोनों पसलियों का मांस कोठरी के भीतर (कुक्षि में) पतली मिट्टी के लेप के आकार का, स्तन का मांस गोला बनाकर फेंके गये मिट्टी के लोंदे के आकार का है। दोनों हाथों का मांस दोहरा करके रखे गये चर्मविहीन बहुत बड़े चूहे के आकार का है। यों स्थूल स्थूल का ग्रहण करते करते सूक्ष्म भी प्रकट हो जाता है। **दिसतो**—दो दिशाओं में उत्पन्न। **ओकासतो**—तीन सौ से अधिक हड्डियों को लेप कर स्थित। **परिच्छेदतो**—नीचे हड्डियों के संघात में प्रतिष्ठित सतह से, ऊपर त्वचा से, चारों ओर एक दूसरे से परिच्छिन्न है—यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (६)

२५. **न्हारु**—नौ सौ स्नायु (नस)। **वण्णतो**—सभी नसें सफेद हैं। **सण्ठानतो**—अनेक आकार की है। शरीर को एक में बाँधने वाली बड़ी नसों में पाँच ग्रीवा के ऊपरी भाग के आरम्भ

---

१. **निसदपोतो** सिलापुत्तको। धञ्ञादीनं परिमद्दनत्थं सिलाखण्डं तच्छेत्वा कतो।

२. मांसपेशियों की उपर्युक्त संख्या आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार भी समान है।

पुरिमपस्सेन ओतिण्णा पञ्च पच्छिमपस्सेन, पञ्च दक्खिणपस्सेन, पञ्च वामपस्सेन। दक्खिणहत्थं विनन्धमाना पि हत्थस्स पुरिमपस्सेन पञ्च पच्छिमपस्सेन पञ्च। तथा वामहत्थं विनन्धमाना, दक्खिणपादं विनन्धमाना पि पादस्स पुरिमपस्सेन पञ्च, पच्छिमपस्सेन पञ्च। तथा वामपादं विनन्धमाना पी ति एवं सरीरधारका नाम सट्ठि महान्हारू कायं विनन्धमाना ओतिण्णा। ये **कण्डरा** ति पि वुच्चन्ति। ते सब्बे पि कन्दमकुलसण्ठाना। अञ्ञे पन तं तं पदेसं अज्झोत्थरित्वा ठिता। ततो सुखुमतरा सुत्तरज्जुकसण्ठाना। अञ्ञे ततो सुखुमतरा पूतिलतासण्ठाना, अञ्ञे ततो सुखुमतरा महावीणातन्तिसण्ठाना। अञ्ञे थूलसुत्तकसण्ठाना। हत्थपादपिट्ठीसु न्हारू सकुण-पादसण्ठाना। सीसे न्हारू दारकानं सीसजालकसण्ठाना। पिट्ठियं न्हारू आतपे पसारित-अल्लजालसण्ठाना। अवसेसा तंतंअङ्गपच्चङ्गानुगता न्हारू सरीरे पटिमुक्कजालकञ्चुकसण्ठाना। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जाता। **ओकासतो** सकलसरीरे अट्ठीनि आबन्धित्वा ठिता। **परिच्छेदतो** हेट्ठा तिण्णं अट्ठिसतानं उपरि पतिट्ठिततलेहि, उपरि मंसचम्मानि आहच्च ठितप्पदेसेहि, तिरियं अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्ना, अयं नेसं सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (७)

२६. **अट्ठी** ति। ठपेत्वा द्वत्तिंस दन्तट्ठीनि, अवसेसानि चतुसट्ठि हत्थट्ठीनि, चतुसट्ठि

कर सामने की ओर से नीचे उतरती हैं, एवं अन्य पाँच पीछे से, पाँच दाहिनी ओर से और पाँच बायीं ओर से। दाहिने हाथ को बाँधने वाली (नसों) में से पाँच हाथ के सामने की ओर से नीचे आती हैं, पाँच पीछे की ओर से। वैसे ही बायें हाथ को बाँधने वाली भी। दाहिने पैर को बाँधने वाली नसों में से पाँच सामने की ओर से नीचे आती हैं, पाँच पीछे की ओर से। वैसे ही बायें पैर को बाँधने वाली भी। यों, 'शरीरधारक' कहलाने वाली साठ नसें शरीर को बाँधे हुए नीचे आती हैं। उन्हें कण्डरा[१] (बड़ी नस या नाड़ी) भी कहते हैं।

ये कन्द (शकरकन्द) की कली के आकार की होती हैं। अन्य उन उन प्रदेशों (शरीर के भागों) में प्रविष्ट होकर स्थित हैं। जो उनसे भी पतली हैं वे सूत की रस्सी के आकार की हैं। जो उनसे भी पतली हैं, वे पूतिलता (गुडूची) के आकार की हैं। जो उनसे भी पतली हैं वे बड़ी वीणा के तारों के आकार की हैं। अन्य मोटे सूत के आकार की। हाथ पैर और पीठ की नसें पक्षी के पञ्जों के आकार की हैं। सिर की नसें बच्चों के सिर पर की जाली (जालीदार टोपी?) के आकार की हैं। पीठ की नसें धूप में फैलाये गये गीले जाल के आकार की हैं। उस उस अङ्ग-प्रत्यङ्ग में जुड़ी हुई अन्य नसें शरीर की पहनी हुई कसी कसाई जालीदार बण्डी (जैकेट) के आकार की हैं।

दिसतो—दोनों दिशाओं में उत्पन्न हैं। **ओकासतो**—समस्त शरीर में हड्डियों को बाँधकर। **परिच्छेदतो**—नीचे तीन सौ हड्डियों के ऊपर प्रतिष्ठित सतह से, ऊपर मांस और चर्म से लिप्त भागों

---

१. "कण्डरा तु महासिरा"—अभिधान०, २७९।
स्नायु से सम्बद्ध उपर्युक्त विवरण की आधुनिक शरीरविज्ञान के साथ आश्चर्यजनक समानता है। विसुद्धिमग्ग में अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस आदि के जो रंग आकार, स्थान, संख्या आदि वर्णित हैं, उनकी भी आधुनिक शरीरविज्ञान के साथ समानता है।

पादट्ठीनि, चतुसट्ठि मंसनिस्सितानि मुदुअट्ठीनि, द्वे पण्हिकट्ठीनि, एकेकस्मिं पादे द्वे द्वे गोप्फकट्ठानि, एकं जण्णुकट्ठि, एकं उरुट्ठि, द्वे कटिट्ठीनि, अट्ठारस पिट्ठिकण्टकट्ठीनि, चतुवीसति फासुकट्ठीनि, चुद्दस ऊरट्ठीनि, एकं हदयट्ठि, द्वे अक्खट्ठीनि, द्वे कोट्ठट्ठानि, द्वे बाहुट्ठीनि, द्वे द्वे अग्गबाहुट्ठीनि, सत्त गीवट्ठीनि, द्वे हनुकट्ठानि, एकं नासिकट्ठि, द्वे अक्खिट्ठीनि, द्वे कण्णट्ठीनि, एकं नलाट्टठि, एकं मुद्धट्ठि, नव सीसकपालट्ठीनी ति एवं तिमत्तानि अट्ठिसतानि, तानि सब्बानि पि **वण्णतो** सेतानि।

सण्ठानतो नानासण्ठानानि।

तत्थ हि अग्गपादङ्गुलिअट्ठीनि कतकबीजसण्ठानानि। तदन्तरानि मज्झपब्बट्ठानि पनसट्ठिसण्ठानानि। मूलपब्बट्ठीनि पणवसण्ठनानि। पिट्ठिपादट्ठीनि कोट्टितकन्दलकन्दरासि-सण्ठानानि। पण्हिकट्ठि एकट्ठितालफलबीजसण्ठानं।

गोप्फकट्ठीनि बद्धकीळागोलकसण्ठानानि, जङ्घट्ठीनं गोप्फकट्ठिसु पतिट्ठितट्ठानं अनपनीततचसिन्दिकळसण्ठानं। खुद्दकजङ्घट्ठिकं धनुकदण्डसण्ठानं। महन्तं मिलातसप्पपिट्ठि-सण्ठानं। जण्णुकट्ठि एकतो परिक्खीणफेणकसण्ठानं। तत्थ जङ्घट्ठिकस्स पतिट्ठितट्ठानं अति-खिणग्गगोसिङ्गसण्ठानं। ऊरुट्ठि दुत्तच्छितवासिफरसुदण्डसण्ठानं। तस्स कट्टिठिम्हि पतिट्ठितट्ठानं कीळागोलकसण्ठानं। तेन कटिट्ठिनो पतिट्ठितट्ठानं अग्गच्छिन्नमहापुन्नागफलसण्ठानं।

से, चारों ओर एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। यह इनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (७)

२६. **अट्ठि**—बत्तीस दाँत की अस्थियों (हड्डियों) को छोड़कर, शेष—चौसठ हाथ की अस्थियाँ, चौंसठ पैर की अस्थियाँ, चौसठ मांस के सहारे रहने वाली कोमल अस्थियाँ, दो एड़ी की...प्रत्येक पैर में दो दो नरहर (घुटने के नीचे का पैर) की..., एक घुटने की..., एक जंघा की..., दो कटि (कमर) की..., अट्ठारह पीठ की काँटेनुमा अस्थियाँ, चौबीस पर्शु (पँसली) की..., चौदह छाती की..., एक हृदय की..., दो अक्षक (हँसली) की..., दो पेट की..., दो बांह की..., दो दो अग्रभुजाओं की..., सात गले की..., दो ठुड्डी की..., एक नाक की..., दो आँख की..., दो कान की..., एक ललाट की..., एक मूर्धा की..., नौ सिर (शिरःकपाल) की अस्थियाँ—इस प्रकार तीन सौ अस्थियाँ हैं।

वे सभी **वण्णतो** सफेद हैं। **संस्थान से**—नाना आकार की हैं।

उनमें, पैर की अंगुलियों के अग्रभाग की अस्थियां रीठा के बीज के आकार की हैं। उसके बाद मध्यवर्ती (अस्थियाँ) कटहल के बीज के आकार की। मूल प्रदेश की अस्थियाँ ढोल (एक प्रकार का वाद्य) के आकार की हैं। पैर के पृष्ठभाग की अस्थियाँ कूटे हुए शकरकन्द के गुच्छों के आकार की होती हैं। एड़ी की अस्थि एक गुठली वाले ताड़ के फल के बीज के आकार की होती हैं।

गुल्फ की अस्थियाँ एक साथ बांधी हुई दो खेलने की गोलियों के आकार की हैं। नरहर की अस्थियां जहां वे गुल्फ की अस्थियों पर प्रतिष्ठित हैं, छिलके सहित खजूर के...आकार की हैं। नरहर की छोटी हड्डी धनुष के डण्डे के समान हैं। बड़ी हड्डी मुरझाये हुए (सूखे हुए) साँप

कटिट्ठीनि द्वे पि एकबद्धानि हुत्वा कुम्भकारिकउद्धनसण्ठानानि। पाटियेक्कं कम्मार-कूटयोत्तकसण्ठानानि। कोटियं ठितं आनिसदट्ठि अधोमुखं कत्वा गहितसप्पफणसण्ठानं, सत्त-ठ्ठानेसु छिद्दावछिद्दं। पिट्ठिकण्टकट्ठीनि अब्भन्तरतो उपरूपरि ठपितसीसपट्टवेठकसण्ठानानि, बाहिरतो वट्टनावळिसण्ठानानि। तेसं अन्तरन्तरा ककचदन्तसदिसा द्वे तयो कण्टका होन्ति।

चतुवीसतिया पासुकट्ठीसु अपरिपुण्णानि अपरिपुण्णअसिसण्ठानानि। परिपुण्णानि परिपुण्णअसिसण्ठानानि। सब्बानि पि ओदातकुक्कुटस्स पसारितपक्खसण्ठानानि। चुद्दस ऊरट्ठीनि जिण्णसन्दमानिकपञ्जरसण्ठानानि। हदयट्ठि दब्बिफणसण्ठानं। अक्खकट्ठीनि खुद्दक-लोहवासिदण्डसण्ठानानि। कोट्टट्ठीनि एकतो परिक्खाणसीहळकुद्दालसण्ठानानि।

बाहुट्ठीनि आदासदण्डकसण्ठानानि। अग्गबाहुट्ठीनि यमकतालकन्दसण्ठानानि। मणिबन्धट्ठीनि एकतो अल्लियापेत्वा ठपितसीसकपट्टवेठकसण्ठानानि। पिट्ठिहत्थट्ठीनि कोट्टित-कन्दलकन्दरासिसण्ठानानि। हत्थङ्गुलीसु मूलपब्बट्ठीनि पणवसण्ठानानि, मज्झपब्बट्ठीनि अपरिपुण्णपनसट्ठिसण्ठानानि, अग्गपब्बट्ठीनि कतकबीजसण्ठानानि।

की पीठ के आकार की। घुटने की अस्थि एक ओर से पिघले हुए (परिक्षीण) फेन के आकार की हैं। जहां नरहर की अस्थि प्रतिष्ठित है, वह स्थान आगे से बहुत भोथरे हो चुके गाय के सींग के आकार का होता है। जंघा की अस्थि अनगढ़ कुल्हाड़ी या हथौड़ी की मूठ (डण्डे) के आकार की है। यह जिस स्थान पर कमर की हड्डी पर प्रतिष्ठित है, वह खेलने की गोली (कञ्चे) के आकार की है। कमर की अस्थि का वह स्थान जहां यह (जंघे की अस्थि) प्रतिष्ठित हैं, अग्रभाग पर कटे हुए बड़े (आकार के) पुन्नाग (एक प्रकार का फल) के फल के समान होता है।

कटि (कमर) की दोनों अस्थियां एक साथ जुड़ी होने पर कुम्हार द्वारा बनाये चूल्हे के आकार की हैं। अलग अलग देखे जाने पर वे लोहार की निहाई को बांधने वाली जंजीर के समान हैं। पुट्ठे की अस्थियां, अपने अन्तिम भाग में, पकड़कर मुँह नीचा कर दिये गये सांप के फन के आकार की है, जो सात आठ स्थान पर छिद्रों से युक्त है। पीठ की कण्टकसदृश अस्थियां अन्दर से एक के ऊपर एक रखे हुए शीशे की चद्दर (पत्र) से बनी नलियों के आकार की हैं, बाहर से मनकों की लड़ी के आकार की हैं। उनके बीच बीच में आरे के दाँतों के समान दो तीन कांटे होते हैं।

पसली की चौबीस हड्डियों में जो अपरिपक्व हैं, वे आधी अधूरी तलवार के आकार की हैं। जो परिपक्व हैं, वे पूरी तलवार के आकार की हैं। कुल मिलाकर वे सफेद मुर्गे के पसरे पंखों के आकार की हैं। चौदह छाती की अस्थियां रथ के जर्जरित ढाँचे के आकार की हैं। हृदय (कलेजा) की अस्थि करछुल की कटोरी के आकार की है। हँसली की अस्थियों का आकार लोहे की छोटी हथौड़ी की मूठ के समान है। पेट की अस्थियां एक ओर से घिसी हुई सिंहल (श्रीलंका) की कुदाल के आकार की है।

बाँह की अस्थियाँ दर्पण की मूठ के आकार की हैं। अग्र बाहु की अस्थियाँ जुडवाँ ताड-कन्द के आकार की हैं। पहुँचे (मणिबन्ध) की अस्थियाँ एक साथ मिलाकर रखे गये, सीसे के पत्तर से बनी नलियों के आकार की हैं। हाथ के पृष्ठभाग की अस्थियाँ कूटे हुए शकरकन्द के गुच्छे के आकार की हैं। हाथ की अंगुलियों के मूलभाग की अस्थियाँ ढोल के आकार की हैं,

सत्त गीवट्ठीनि दण्डेन विज्झित्वा पटिपाटिया ठपितवंसकळीरचक्कलकसण्ठानानि। हेट्ठिमहनुकट्ठि कम्मारानं अयोकूटयोत्तकसण्ठानं। उपरिमं अवलेखनसत्थकसण्ठानं[१]। अक्खिकूपनासकूपट्ठीनि अपनीतमिञ्जतरुणतालट्ठिसण्ठानानि। नलाटट्ठि अधोमुखट्ठपितसङ्ख-थालककपालसण्ठानं। कण्णचूळिकट्ठीनि न्हापितखुरकोससण्ठानानि। नलाटकण्णचूळिकानं उपरि पट्टबन्धनोकासे अट्ठिसङ्कुटितघटपुण्णपटलखण्डसण्ठानं। मुद्धट्ठि मुखच्छिन्नवङ्कनाळि-केरसण्ठानं। सीसट्ठीनि सिब्बेत्वा ठपितजज्जरलाबुकटाहसण्ठानानि।

दिसतो द्वीसु दिसासु जातानि। ओकासतो अविसेसेन सकलसरीरे ठितानि। विसेसेन पनेत्थ सीसट्ठीनि गीवट्ठीसु पतिट्ठितानि। गीवट्ठीनि पिट्ठिकण्टकट्ठीसु, पिट्ठिकण्टकट्ठीनि कटिट्ठीसु, कटिट्ठीनि ऊरुट्ठीसु, ऊरुट्ठीनि जण्णुकट्ठीसु, जण्णुकट्ठीनि जङ्घट्ठीसु, जङ्घट्ठीनि गोप्फकट्ठीसु, गोप्फकट्ठीनि पिट्ठिपादट्ठीसु पतिट्ठितानि। **परिच्छेदतो** अन्तो अट्ठिमिञ्जेन उपरितो मंसेन, अग्गे मूले च अञ्ञमञ्ञेन परिच्छिन्नानि। अयं नेसं सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (८)

२७. **अट्ठिमिञ्जं** ति। तेसं अट्ठीनं अब्भन्तरगतं मिञ्जं। तं **वण्णतो** सेतं। **सण्ठानतो**

मध्यभाग की अस्थियाँ अपरिपक्व कटहल के बीज के आकार की तथा अग्रभाग की अस्थियाँ रीठे के बीज के आकार की हैं।

सात गले की अस्थियाँ डण्डे में क्रम से पिरोये गये बाँस के कटे हुए छल्लों के समान है। निचली ठुड्डी (जबड़े) की अस्थि लोहार (कर्मकार) के लोहे की निहाई को बाँधने वाली जञ्जीर के समान है। ऊपरी (जबड़े की) अस्थि (ईंख के छिलके को) छीलने वाले हथियार (हँसुआ) के आकार की है। आँखों के गड्ढे और नाक के गड्ढे की अस्थियाँ कच्चे ताड़ (के फल) की गुठली के आकार की हैं, जिनकी गिरी निकाल दी गयी हो (और केवल खोल बचा हो)। ललाट की अस्थि औंधे मुँह रखे हुए शङ्ख से बने कटोरे के आकार की है। कनपटियों की अस्थियां नाई के छुरे रखने की थैली के आकार की हैं। ललाट और कनपटी से ऊपर के उस स्थान की अस्थि, जहाँ पर पगड़ी बाँधी जाती है, ईंढी के आकार की है। मूर्धा की अस्थि मुख पर से कटे हुए टेढ़े (आकार वाले) नारियल के आकार की है। सिर की अस्थियाँ सी कर रखे हुए जर्जरित (सूखी, पुरानी) लौकी के कटोरे के आकार की हैं।

दिसतो—दोनों दिशाओं में उत्पन्न हैं। **ओकासतो**—सामान्यत: पूरे शरीर में हैं। विशेषत:—सिर की अस्थियाँ गरदन की अस्थियों पर प्रतिष्ठित हैं। गरदन (गले) की अस्थियाँ पीठ की काँटे (नुमा) अस्थियों पर, पीठ की काँटे (नुमा) अस्थियाँ कमर की अस्थियों पर, कमर की अस्थियाँ जंघा की अस्थियों पर, जंघा की अस्थियाँ घुटने की अस्थियों पर, घुटने की अस्थियाँ नरहर की अस्थियों पर, नरहर की अस्थियाँ गुल्फ की अस्थियों पर, और गुल्फ की अस्थियाँ पैर की अस्थियों पर प्रतिष्ठित हैं।

परिच्छेदतो—भीतर से अस्थि-मज्जा से, ऊपर से मांस से, आगे और मूल से एक दूसरे से परिच्छिन्न हैं। यह इनका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (८)

---

१. **अवलेखनसत्थकं** ति। उच्छु-तचावलेखनसत्थकं।

महन्तमहन्तानं अट्ठीनं अब्भन्तरगतं बेळुनाळियं पक्खित्तसेदितमहावेत्तग्गसण्ठानं। खुद्दानुखुद्दकानं अब्भन्तरगतं वेलुयट्ठिपब्बेसु पक्खित्तसेदिततनुवेत्तग्गसण्ठानं। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** अट्ठीनं अब्भन्तरे पतिट्ठितं। **परिच्छेदतो** अट्ठीनं अब्भन्तरतलेहि परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (९)

२८. **वक्कं** ति। एकबन्धना द्वे मंसपिण्डिका। तं **वण्णतो** मन्दरत्तं पालिभद्दकट्ठिवण्णं। **सण्ठानतो** दारकानं यमककीळागोळकसण्ठानं, एकवण्टपटिबद्धअम्बफलद्वयसण्ठानं वा। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** गलवाटका निक्खन्तेन एकमूलेन थोकं गन्त्वा द्विधा भिन्नेन थूलन्हारुना विनिबद्धं हुत्वा हदयमंसं परिक्खिपित्वा ठितं। **परिच्छेदतो** वक्कं वक्कभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१०)

२९. **हदयं** ति हदयमंसं। तं **वण्णतो** रत्तपदुमपत्तपिट्ठिवण्णं। **सण्ठानतो** बाहिरपत्तानि अपनेत्वा अधोमुखं ठपितपदुममकुलसण्ठानं। बहि मट्ठं, अन्तो कोसातकीफलस्स अब्भन्तरसदिसं। पञ्ञवन्तानं थोकं विकसितं, मन्दपञ्ञानं मकुलितमेव। अन्तो चस्स पुन्नागट्ठिपतिट्ठानमत्तो आवाटको होति, यत्थ अद्धपसतमत्तं लोहितं सण्ठाति, यं निस्साय मनोधातु च मनोविञ्ञाणधातु च वत्तन्ति।

---

२७. **अस्थिमज्जा**—उन अस्थियों के भीतर की मज्जा। वह **वर्ण से** श्वेत हैं। **संस्थान से**—बड़ी बड़ी अस्थियों के भीतर (की अस्थिमज्जा) बाँस की नली में डाले गये, नमीयुक्त डण्डे के नोक के आकार की होती है। छोटी छोटी (अस्थियों) के भीतर (की अस्थिमज्जा) बाँस की लाठी के जोड़ जोड़ में डाले गये, नमीयुक्त पतले डण्डे के नोक के आकार की होती है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—अस्थियों के भीतर प्रतिष्ठित है। **परिच्छेद से**—अस्थियों की भीतरी सतह से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (९)

२८. **वृक्क** (गुर्दा)—एक में बँधे हुए मांस के दो पिण्ड। वह **वर्ण से** हल्का लाल, पारिभद्रक की गुठली के रंग का है। **संस्थान से**—बच्चों के खेलने वाली गेंद के जोड़े के आकार का, या एक ही वृन्त (पतली डण्डी) में बँधे हुए आम के दो फलों के आकार का है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में उत्पन्न है। **अवकाश से**—यह हृदय के मांस के दोनों ओर रहता है, एक ऐसी मोटी नस से बँधा हुआ होता है, जो कि गले के गड्ढे (गलवाटक) से इकहरे रूप में उतरती है, और कुछ दूर जाकर दो भागों में बँट जाती है। **परिच्छेद से**—वृक्क, वृक्क भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग-परिच्छेद केश के समान ही है। (१०)

२९. **हृदय**—हृदय का मांस। यह **वर्ण से** लाल कमल के पत्ते के पृष्ठभाग के रंग का है। **संस्थान से**—बाहरी पत्तों को हटाकर, औंधे मुँह रखी हुई कमल की कली के आकार का है। बाहर से स्निग्ध, भीतर से कोशातकी (परवल?) के फल के भीतरी भाग के समान है। तीव्र प्रज्ञावानों का हृदय कुछ विकसित होता है, मन्द प्रज्ञावानों का केवल अधखिला। उसके भीतर पुन्नाग के बीज को रखने भर का गड्ढा होता है, जिसमें आधी अञ्जलि भरने योग्य रक्त भरा रहता है, जिसके आश्रय से मनोधातु और मनोविज्ञान धातु होते हैं।

तं पनेतं रागचरितस्स रत्तं होति, दोसचरितस्स काळकं, मोहचरितस्स मंसधोवनउदक-सदिसं, वितक्कचरितस्स कुलत्थयूसवण्णं, सद्धाचरितस्स कणिकारपुप्फवण्णं, पञ्ञाचरितस्स अच्छं विप्पसन्नं अनाविलं पण्डरं परिसुद्धं निद्धोतजातमणि विय जुतिमन्तं खायति। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** सरीरब्भन्तरे द्विन्नं थनानं मज्झे पतिट्ठितं। **परिच्छेदतो** हदयं हदयभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (११)

३०. **यकनं** ति यमकमंसपटलं। तं **वण्णतो** रत्तं पण्डुकधातुकं, नातिरत्तकुमुदस्स पत्तपिट्ठिवण्णं। **सण्ठानतो** मूले एकं अग्गे यमकं कोविळारपत्तसण्ठानं। तं च दन्धानं एकमेव होति महन्तं, पञ्ञवन्तानं द्वे वा तीणि वा खुद्दकानि। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** द्विन्नं थनानं अब्भन्तरे दक्खिणपस्सं निस्साय ठितं। **परिच्छेदतो** यकनं यकनभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१२)

३१. **किलोमकं** ति। पटिच्छन्नापटिच्छन्नभेदतो दुविधं परियोनहनमंसं। तं दुविधं पि **वण्णतो** सेतं दुकूलपिलोतिकवण्णं। **सण्ठानतो** अत्तनो ओकाससण्ठानं। **दिसतो** पटिच्छन्नकिलोमकं उपरिमाय दिसाय। इतरं द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** पटिच्छन्नकिलोमकं हदयं च वक्कं च पटिच्छादेत्वा, अपटिच्छन्नकिलोमकं सकलसरीरे चम्मस्स हेट्ठतो मंसं

वह रागचरित का लाल होता है, द्वेषचरित का काला, मोहचरित का मांस के धोवन जैसा, वितर्कचरित का कुलत्थ (कुलथी) के जूस के रंग का, श्रद्धाचरित का कर्णिकार के (पीले) फूल के रंग का, प्रज्ञाचरित का पारदर्शी, स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल, परिशुद्ध, धुली हुई श्रेष्ठमणि के समान प्रभास्वर जान पड़ता है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में है। **अवकाश से**—शरीर के भीतर, दोनों स्तनों के बीच में प्रतिष्ठित है। **परिच्छेद से**—हृदय, हृदय-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (११)

३०. **यकृत**—मांस का युग्मपटल। वह **वर्ण से**—भूरापन लिये हुए लाल, हल्के लाल फूल की पत्ती के पृष्ठभाग के रंग का है। **संस्थान से**—मूल में एक, आगे दो, (इस प्रकार) कोविदार (कचनार?) के पत्तों के जोड़े के आकार का है। वह मन्द बुद्धि वालों का एक ही (किन्तु) बड़ा सा होता है, प्रज्ञावानों का दो या तीन छोटा छोटा। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में उत्पन्न है। **अवकास से**—दोनों स्तनों के भीतर दाहिनी ओर स्थित है। **परिच्छेद से**—यकृत, यकृत भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१२)

३१. **क्लोम**[१] (शरीर का वह भाग जो पेट को छाती से पृथक् करता है)—यह मांस का आवरण है, जो दो प्रकार का है—प्रतिच्छन्न (छिपा हुआ) और अप्रतिच्छन्न। वे दोनों ही **वर्ण से**—दुशाले के रंग जैसा (हल्का पीलापन लिये हुए) सफेद हैं। **दिशा से**—प्रतिच्छन्न क्लोम ऊपरी दिशा में, दूसरा दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—प्रतिच्छन्न क्लोम हृदय एवं वृक्क को आच्छादित कर, एवं अप्रतिच्छन्न क्लोम समस्त शरीर के चर्म के नीचे, मांस को बाँधकर स्थित

---

१. मिडारेफ या डायाफॉम। यह एक प्रकार से पाचनयन्त्र को शरीर के ऊपरी भाग से पृथक् करने वाली विभाजक रेखा है। इसका आकार कुछ कुछ इस प्रकार का ⌒ (धनुषाकार) होता है।

परियोनन्धित्वा ठितं। **परिच्छेदतो** हेट्ठा मंसेन, उपरि चम्मेन, तिरियं किलोमकभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१३)

३२. **पिहकं** ति। उदरजिह्वामंसं। तं **वण्णतो** नीलं निग्गुण्डिपुप्फवण्णं। **सण्ठानतो** सत्तङ्गुलप्पमाणं अबन्धनं काळवच्छकजिव्हासण्ठानं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** हदयस्स वामपस्से उदरपटलस्स मत्थकपस्सं निस्साय ठितं, यस्मिं पहरणप्पहारेन बहिनिक्खन्ते सत्तानं जीवितक्खयो होति। **परिच्छेदतो** पिहकभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१४)

३३. **पप्फासं** ति। द्वत्तिंसमंसखण्डप्पभेदं पप्फासमंसं। तं **वण्णतो** रत्तं नातिपक्कउदुम्बरफलवण्णं। **सण्ठानतो** विसमच्छिन्नबहलपूवखण्डसण्ठानं। अब्भन्तरे असितपीतानं अभावे उग्गतेन कम्मजतेजुस्मना अब्भाहतत्ता सङ्खादितपलालपिण्डमिव निरसं निरोजं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** सरीरब्भन्तरे द्विन्नं थनानमन्तरे हदयं च यकनं च उपरि छादेत्वा ओलम्बन्तं ठितं। **परिच्छेदतो** पप्फासभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१५)

३४. **अन्तं** ति। पुरिसस्स द्वत्तिंसहत्थं, इत्थिया अट्ठवीसतिहत्थं एकवीसतिया ठानेसु ओभग्गा अन्तवट्टि। तदेतं **वण्णतो** सेतं सक्खरसुधावण्णं। **सण्ठानतो** लोहितदोणियं आभुजित्वा

है। **परिच्छेद से**—नीचे मांस से, ऊपर चर्म से, चारों ओर से क्लोम भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। और विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१३)

३२. **प्लीहा**[१]—पेट की जिह्वा का मांस। वह **वर्ण से**—निर्गुण्डी (सिन्दुवार) के फूल के समान नीले रंग का है। **संस्थान से**—सात अङ्गुल की माप का, बन्धनरहित, काले बछड़े की जीभ के आकार का है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में उत्पन्न है। **अवकाश से**—हृदय के बायीं ओर, पेट के ऊपरी भाग के पास स्थित है। जब चोट चपेट लगने से यह बाहर आ जाता है, तब प्राणियों का जीवन जाता रहता है। **परिच्छेद से**—प्लीहा-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१४)

३३. **फुप्फुस** (=फेफड़ा)—फुफ्फुस का मांस दो तीन मांसखण्डों में बँटा होता है। वह **वर्ण से**—लाल, अधपके गूलर के फल के रंग का होता है। **संस्थान से**—तिर्यक् (टेढ़े मेढ़े) ढंग से कटे हुए, मोटे पुए के टुकड़े के आकार का होता है। (पेट के) भीतर खाया पिया न पहुँचने पर, उग्र कर्मज जठराग्नि की गर्मी से पीड़ित होकर, चबाये हुए पुआल की सिट्ठी के समान, नीरस, ओजरहित होता है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में उत्पन्न हैं। **अवकाश से**—शरीर के भीतर दोनों छातियों के बीच में, हृदय एवं यकृत को ऊपर से ढँके हुए, लटकता हुआ स्थित है। **परिच्छेद से**—फुफ्फुस भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१५)

---

१. स्प्लीन (तिल्ली) यह संयोजी ऊतकों से निर्मित होता है एवं कैप्सूल के आकार का होता है। इसका कार्य है मृत हो चुके लाल रक्त कणों को नष्ट करना, हानिकारक विषाणुओं से लड़ना एवं प्रतिरोधकों को निर्माण करना आदि।

ठपितसीसच्छिन्नसप्पसण्ठानं। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** उपरि गलवाटके हेट्ठा च करीसमग्गे विनिबन्धत्ता गलवाटककरीसमग्गपरियन्ते सरीरब्भन्तरे ठितं। **परिच्छेदतो** अन्तभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१६)

३५. **अन्तगुणं** ति। अन्तभोगट्ठानेसु बन्धनं। तं **वण्णतो** सेतं दकसीतलिकमूलवण्णं। **सण्ठानतो** दकसीतलिकमूलसण्ठानमेव। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** कुद्दालफरसुकम्मादीनि करोन्तानं यन्ताकड्ढनकाले यन्तसुत्तकमिव यन्तफलकानि अन्तभोगे एकतो अगळन्ते आबन्धित्वा पादपुञ्छनरज्जुमण्डलकस्स अन्तरा तं संसिब्बित्वा ठितरज्जुका विय एकवीसतिया अन्तभोगानं अन्तरा ठितं। **परिच्छेदतो** अन्तगुणभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१७)

३६. **उदरियं** ति। उदरे भवं असितपीतखायितसायितं। तं **वण्णतो** अज्झोहटाहारवण्णं। **सण्ठानतो** परिस्सावने सिथिलबद्धतण्डुलसण्ठानं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** उदरे ठितं।

---

३४. **आँत**[१]—पुरुष की बत्तीस हाथ (लम्बी), स्त्री की अट्ठाईस हाथ, इक्कासी स्थानों पर छल्लेदार आँत की नली है। वह **वर्ण से**—सफेद बालू (मिले) चूने के रंग की है। **संस्थान से**—रक्त की द्रोणी (पात्र) में मोड़ कर रखे गये, सिरकटे साँप के आकार की है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—ऊपर गले एवं नीचे मलमार्ग से बँधी होने से यह शरीर के भीतर गले एवं मलमार्ग (गुदा) के बीच में स्थित है। **परिच्छेद से**—आँत भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१६)

३५. **आँतों का बन्धन** (अन्तगुणं)—जहाँ जहाँ से आँत मुड़ी होतीं है, उन उन स्थानों का बन्धन। वह **वर्ण से**—सफेद दकसीतलिक (सफेद कुमुदनी) की जड़ के रंग का है। **संस्थान से**—दकसीतलिक की जड़ के ही आकार का है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—यह आँतों के इक्कीस मोड़ों के भीतर पाया जाता है, जैसे पाँवपोश के रस्सी के छल्लों के भीतर भीतर, उन्हें सिलाई द्वारा एक दूसरे से जोड़ने वाली डोरियाँ पायी जाती हैं। यह आँत के मोड़ों को एक दूसरे के साथ कसकर जोड़े रखता है, जिससे कि उन लोगों की (आँत) खिसकने नहीं पातीं जो लोग कुदाल, कुल्हाड़ी आदि चलाने का काम करते हैं; जैसे कि कठपुतली की (डोरी से) खींचते समय, कठपुतली की लकड़ी (से बने अवयवों) को कठपुतली की डोरियाँ बाँधे रहती हैं। **परिच्छेद से**—पतले आन्त्र-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभातपरिच्छेद केश के समान ही है।

---

१. आधुनिक शरीरविज्ञान के अनुसार बड़ी आँत की लम्बाई करीब १.५ मीटर है, एवं छोटी आँत की लम्बाई करीब ५ मीटर है। दोनों, को मिलाकर लगभग ६.५ मीटर लम्बाई होती है। ऐसी स्थिति में यही मानना संगत प्रतीत होता है कि उपर्युक्त 'आँत' का तात्पर्य यहाँ बड़ी एवं छोटी दोनों आँतों से है, न कि बड़ी आँत से, जैसा कि कतिपय पूर्ववर्ती अनुवादकों ने भ्रमवश समझ लिया है। वैसे ही, 'अन्तगुणं' का अर्थ 'आँतों का बन्धन' है, न कि छोटी आँत। ग्रन्थकार द्वारा की गयी 'अन्तगुणं' की व्याख्या से भी यही सूचित होता है कि 'अन्तगुणं' का अर्थ छोटी आँत नहीं है।

उदरं नाम उभतो निप्पीळियमानस्स अल्लसाटकस्स मज्झे सञ्जातफोटकसदिसं अन्तपटलं, बहि मट्ठं, अन्तो मंसकसम्बुपलिवेठनकिलिट्ठपावारकपुप्फकसदिसं, कुथितपनस-तचस्स अब्भन्तरसदिसं ति पि वत्तुं वट्टति। यत्थ तक्कोटका गण्डुप्पादका तालहीरका सूचिमुखका पटतन्तुसुत्तका इच्चेवमादिद्वत्तिंसकुलप्पभेदा किमयो आकुलव्याकुला सण्डसण्डचारिनो हुत्वा निवसन्ति, ये पानभोजनादिम्हि अविज्जमाने उल्लङ्घित्वा विरवन्ता हदयमंसं अभिहनन्ति, पानभोजनादिअज्झोहरणवेलायं च उद्धमुखा हुत्वा पठमज्झोहटे द्वे तयो आलोपे तुरिततुरिता विलुम्पन्ति, यं तेसं किमीनं सूतिघरं वच्चकुटि गिलानसाला सुसानं च होति। यत्थ, सेय्यथापि नाम चण्डालगामद्वारे चन्दनिकाय निदाघसमये थूलफुंसितके देवे वस्सन्ते उदकेन वुय्हमानं मुत्तकरीसचम्मअट्ठिन्हारुखण्डखेळसिङ्घाणिकलोहितप्पभुति नाना-कुणपजातं निपतित्वा कद्दमोदकालुळितं द्वीहतीहच्चयेन सञ्जातकिमिकुलं सूरियातपसन्तापवेग-कुथितं उपरि फेणुपुप्फुलके मुञ्चन्तं अभिनीलवण्णं परमदुग्गन्धजेगुच्छं नेव उपगन्तुं न दट्ठुं अरहरूपतं आपज्जित्वा तिट्ठति, पगेव घायितुं वा सायितुं वा; एवमेव नानप्पकारं पान-भोजनादिदन्तमुसलसञ्चुण्णितं जिव्हाहत्थपरिवत्तितखेळलालापलिबुद्धं तङ्खणविगतवण्णगन्ध-रसादिसम्पदं तन्तवायखलिसुवानवमथुसदिसं निपतित्वा पित्तसेम्हवातपलिवेठितं हुत्वा उदर-ग्गिसन्तपवेगकुथितं किमिकुलाकुलं उपरूपरि फेणुपुप्फुळकानि मुच्चन्तं परमकसम्बुदुग्गन्ध-

---

३६. **उदरस्थ पदार्थ**—उदर (पेट) में वर्तमान, खाया पिया चबाया चाटा गया पदार्थ। वह **वर्ण से**—निगले गये आहार के रंग का होता है। **संस्थान से**—कपड़े के छन्ने में ढीले बँधे हुए चावल के आकार का है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में है। **अवकाश से**—उदर में स्थित है।

उदर का अर्थ है आन्त्र पटल (का एक भाग) जो उस तरह फूला होता है, जैसे भीगे कपड़े को दोनों ओर से पकड़ कर निचोड़ते समय उसका बीच का भाग (इतना भर जाने से) फूल जाता है। (वह) बाहर से चिकना और भीतर से सड़े मांस के लिपटे कपड़े के गन्दे गुब्बारे के समान है। इसे सड़े कटहल के छिलके के भीतरी भाग के समान भी कहा जा सकता है। जहाँ तार्कोटक, केंचुए, ताड़हीरक, सूचीमुख, पटतन्तुक, सूत्रक आदि बीस प्रकार के क्रिमियों[1] का समूह बौखलाया हुआ सा, झुण्ड का झुण्ड निवास करता है जो कि पेय और भोजन आदि के अभाव में उछलते कूदते, बिलखते हुए हृदय के मांस पर ही चोट करता है। पेय और भोजन आदि को निगले जाने के समय, मुँह ऊपर करके, पहले गये में से दो तीन ग्रास जल्दी जल्दी गटक जाता है; जो (उदर) उन क्रिमियों का प्रसूतिगृह, शौचालय, चिकित्सालय और श्मशान होता है। जहाँ नाना प्रकार का पेय, भोजन आदि दाँतरूपी मूसलों से पीसा गया, जिह्वा रूपी हाथ से उलटा पलटा गया, लार थूक से लिपटा, उस समय रंग, रस, गंध आदि से रहित होकर, जुलाहे की खली और कुत्ते के वमन के समान, (पेट में) पड़कर पित्त, कफ, वायु से वैसे ही घिर जाता है, जैसे गर्मी के दिनों में अतिवृष्टि होने से, पानी के साथ बहता हुआ मूत्र, मल, चर्म, हड्डी, स्नायु

---

१. इन क्रिमियों में से अनेक के बारे में यह कहना कठिन है कि आजकल के जीव-विज्ञान में इनके क्या नाम हैं। —अनु०

जेगुच्छभावं आपज्जित्वा तिट्ठति, यं सुत्वा पि पानभोजनादीसु अमनुञ्ञता सण्ठाति, पगेव पञ्ञाचक्खुना अवलोकेत्वा। यत्थ च पतितं पानभोजनादि पञ्चधा विवेकं गच्छति—एकं भागं पाणका खादन्ति, एकं भागं उदरग्गि झापेति, एको भागो मुत्तं होति, एको भागो करीसं, एको भागो रसभावं आपज्जित्वा सोणितमंसादीनि उपब्रूहयति।

परिच्छेदतो उदरपटलेन चेव उदरियभागेन च परिच्छिन्नं, अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१८)

३७. **करीसं** ति वच्चं। तं **वण्णतो** येभुय्येन अज्झोहटाहारवण्णमेव होति। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानं। **दिसतो** हेट्ठिमायं दिसाय जातं। **ओकासतो** पक्कासये ठितं।

पक्कासयो नाम हेट्ठानाभिपिट्ठिकण्टकमूलानं अन्तरे अन्तावसाने उब्बेधेन अट्ठङ्गुलमत्तो वेळुनाळिकसदिसो। यत्थ, सेय्यथापि नाम उपरि भूमिभागे पतितं वस्सोदकं ओगळित्वा हेट्ठा भूमिभागं पूरेत्वा तिट्ठति; एवमेव यं किञ्चि आमासये पतितं पानभोजनादिकं उदरग्गिना फेणुद्देहकं पक्कं पक्कं निसदाय पिसितमिव सण्हभावं आपज्जित्वा अन्तबिलेन ओगळित्वा, ओमद्दित्वा वेळुपब्बे पक्खिपमानपण्डुमत्तिका विय सन्निचितं हुत्वा तिट्ठति।

का टुकड़ा, थूक, पोंटा, रक्त आदि नाना प्रकार की गन्दगी चाण्डाल-ग्राम के द्वार पर की गढही में गिरकर कीचड़-पानी से मिल जाती है। दो तीन दिन बीतने पर उसमें कीड़ों का समूह उत्पन्न हो जाता है, जो धूप की गर्मी के तेज से पीड़ित होकर ऊपर की ओर फेन के बुलबुले छोड़ता है। वह (गड़ही की गन्दगी) एकदम काले रंग की, अत्यधिक दुर्गन्धित, घृणित, न तो पास जाने योग्य और न देखने योग्य ही होती है, सूँघने या चाटने की तो बात ही क्या है! वैसे ही जठराग्नि की गर्मी के तेज से पीड़ित हुए क्रिमियों का छोटा बड़ा समूह ऊपर की ओर फेन के बुलबुले छोड़ता है। वह (उदरस्थ पदार्थ) अत्यन्त सड़ा, दुर्गन्धित और घृणित हो जाता है, जिसे सुनकर भी पेय, भोजन आदि के प्रति वितृष्णा हो जाती है; फिर ज्ञान-चक्षु से देखने की तो बात ही क्या है! एवं जहाँ पड़ा हुआ पेय, भोजन आदि पाँच भागों में बँट जाता है—एक भाग कीड़े खा जाते हैं, एक भाग जठराग्नि जला डालती है, एक भाग मूत्र बन जाता है, एक भाग मल बन जाता है, और एक भाग रस बनकर रक्त-मांस आदि की वृद्धि करता है।

परिच्छेद से—उदर पटल और उदरस्थ पदार्थों से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद हैं। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही हैं। (१८)

३७. **मल**—पाखाना। वह **वर्ण से** प्रायः खाये गये आहार के ही रंग का होता है, एवं **संस्थान से** अवकाश के आकार का होता है। (अर्थात् जिस खाली स्थान को भरकर वह स्थित होता है, उसी के आकार का होता है।) **दिशा से**—नीचे की दिशा में होता है। **अवकाश से**—पक्काशय में स्थित है।

पक्काशय (मलाशय)—रीढ़ के मूल प्रदेश एवं नाभि के बीच, आँत का सबसे निचला भाग है। यह आठ अङ्गुल ऊँचा, बाँस की नली जैसा है। जैसे कि जब किसी ऊँचे स्थान पर पानी बरसता है; तब वह नीचे की ओर आता है और वहीं रुक जाता है, वैसे ही यह पक्काशय होता है, कोई भी खाद्य पेय जो पक्काशय में गिरता है, वहाँ जठराग्नि द्वारा निरन्तर पकता रहता

परिच्छेदतो पक्कासयपटलेन चेव करीसभागेन च परिच्छिन्नं। अयमस्स सभाग-परिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (१९)

३८. **मत्थलुङ्गं** ति। सीसकटाहब्भन्तरे ठितमिञ्जरासि। तं **वण्णतो** सेतं अहिच्छत्त-कपिण्डवण्णं। दधिभावं असम्पत्तं दुट्ठखीरवण्णं ति पि वत्तुं वट्टति। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** सीसकटाहब्भन्तरे चत्तारो सिब्बिनिमग्गे निस्साय समोधानेत्वा ठपिता चत्तारो पिट्ठपिण्डा विय समोहितं तिट्ठति। **परिच्छेदतो** सीसकटाहस्स अब्भन्तरतलेहि चेव मत्थलुङ्गभागेन च परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२०)

३९. **पित्तं** ति। द्वे पित्तानि—बद्धपित्तं च, अबद्धपित्तं च। तत्थ बद्धपित्तं **वण्णतो** बहलमधुकतेलवण्णं। अबद्धपित्तं मिलातआकुलितपुप्फवण्णं। **सण्ठानतो** उभयं पि ओकास-सण्ठानं। **दिसतो** बद्धपित्तं उपरिमाय दिसाय जातं, इतरं द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** अबद्धपित्तं ठपेत्वा केसलोमदन्तनखानं मंसविनिमुत्तट्ठानं चेव थद्धसुक्खचम्मं च, उदकमिव तेलबिन्दु अवसेससरीरं ब्यापेत्वा ठितं, यम्हि कुपिते अक्खीनि पीतकानि होन्ति, भमन्ति, गत्तं कम्पति, कण्डूयति। बद्धपित्तं हदयपप्फासानं अन्तरे यकनमंसं निस्साय पतिट्ठिते महाकोसात-

---

है, और लोढ़े से पिसे हुए जैसा महीन हो जाता है। वह आँत की खाली जगहों को भरने के लिये दौड़ता है और वहाँ वह नीचे की ओर धकेला जाता है। अन्त में वह बाँस के पोर (जोड़) से दबा दबाकर डाली गयी भूरी मिट्टी के समान इकट्ठा होकर वहीं रुका रहता है।

परिच्छेद से—पक्वाशय-पटल एवं मल-भाग से भी परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (१९)

३८. **मस्तिष्क**—कपाल के भीतर स्थित मज्जा की राशि। यह **वर्ण से**—अहिच्छत्रक (मशरूम) के पिण्ड (ऊपर के छत्रसदृश भाग) के रंग का होता है। जो दूध दही न बन पाया हो, बिगड़ गया हो, ऐसे दूध के रंग का भी कह सकते हैं। **संस्थान से**—अवकाश के आकार का है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में है। **अवकाश से**—कपाल के भीतर वह इस तरह मिलकर स्थित है जैसे (पिसी हल्दी आदि की) पीठी के चार पिण्डों को एक साथ रख दिया गया हो और उनके बीच चार टाँके लगाने भर की जगह हो।

परिच्छेद से—कपाल की भीतरी सतह, और मस्तिष्क भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२०)

३९. **पित्त**—पित्त दो हैं—बद्धपित्त और अबद्धपित्त। इनमें बद्धपित्त **वर्ण से**—महुआ के गाढ़े तैल के रंग का है। अबद्धपित्त कुम्हलाये हुए आकुली (सारदी ?) के फूल के रंग का है। **संस्थान से**—दोनों ही अवकाश के आकार के हैं। **दिशा से**—बद्धपित्त ऊपरी दिशा में और दूसरा दोनों दिशाओं में उत्पन्न होता है। **अवकाश से**—अबद्धपित्त केश, रोम, दाँत, नाखून आदि मांसरहित स्थानों एवं सूखी (मृत) त्वचा को छोड़कर, शेष समस्त शरीर में पानी में तैल की बूँद जैसा फैला हुआ है। जिसके कुपित होने पर आँखें पीली हो जाती हैं, नाचने लगती हैं, शरीर काँपता है, खुजलाता है। बद्धपित्त हृदय और फुप्फुस के बीच यकृत के मांस पर आधारित होकर, बहुत बड़े नेनुआ

कीकोसकसदिसे पित्तकोसके ठितं, यम्हि कुपिते सत्ता उम्मत्तका होन्ति, विपल्लत्थचित्ता, हिरोतप्पं छड्डेत्वा अकातब्बं करोन्ति, अभासितब्बं भासन्ति, अचिन्तितब्बं चिन्तेन्ति। **परिच्छेदतो** पित्तभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२१)

४०. **सेम्हं** ति। सरीरब्भन्तरे एकपत्तपूरप्पमाणं सेम्हं। तं **वण्णतो** सेतं नागबलापण्णरसवण्णं। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** उदरपटले ठितं। यं पानभोजनादिअज्झोहरणकाले, सेय्यथापि नाम उदके सेवालपण्णकं कट्ठे वा कथले वा पतन्ते छिज्जित्वा द्विधा हुत्वा पुन अज्झोत्थरित्वा तिट्ठति, एवमेव पानभोजनादिम्हि निपतन्ते छिज्जित्वा द्विधा हुत्वा पुन अज्झोत्थरित्वा तिट्ठति। यम्हि च मन्दीभूते पक्कगण्डो विय पूतिकुक्कुटण्डमिव च उदरं परमजेगुच्छं कुणपगन्धं होति, ततो उग्गतेन च गन्धेन उद्देको पि मुखं पि दुग्गन्धं पूतिकुणपसदिसं होति। सो च पुरिसो 'अपेहि, दुग्गन्धं वायसी' ति वत्तब्बतं आपज्जति, यं च वड्ढित्वा बहलत्तमापन्नं, पिधानफलकमिव वच्चकुटियं, उदरपटलस्स अब्भन्तरे येव कुणपगन्धं सन्निरुम्भित्वा तिट्ठति। **परिच्छेदतो** सेम्हभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छदो पन केससदिसो येव। (२२)

४१. **पुब्बो** ति। पूतिलोहितवसेन पवत्तपुब्बं। तं **वण्णतो** पण्डुपलासवण्णो। मतसरीरे पन पूतिबहलाचामवण्णो[१] होति। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानो। **दिसतो** द्वीसु दिसासु होति।

के खुज्झे (कोष) के समान, पित्त-कोष में स्थित है। जिसके कुपित होने पर प्राणी पागल और संज्ञारहित (बेहोश) हो जाते हैं। लज्जा-संकोच छोड़कर न करने योग्य (कार्य) भी कर बैठते हैं, न कहने योग्य कहते हैं और न सोचने योग्य सोचते हैं। **परिच्छेद से**—पित्त-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२१)

४०. **कफ**—शरीर में एक पात्र भर कफ है। वह **वर्ण से**—सफेद नागबला (कन्दारिष्टा) के पत्ते के रस के रंग का है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार का है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में है। **आकाश से**—उदर-पटल में स्थित है, जो कि भोजन-पेय आदि के (पेट में) पड़ने पर टूटकर दो भागों में बँटकर फिर मिल जाता है, जैसे कि पानी की सेवार, पत्ते, लकड़ी, कंकड़ के गिरने पर टूटकर दो भागों में बँटकर फिर मिल जाती हैं। जिसके मन्द पड़ जाने पर उदर पके फोड़े के समान और मुर्गी के सड़े हुए अण्डे के समान अत्यन्त घृणित दुर्गन्धवाला हो जाता है। उस समय उग्र गन्ध से उद्रेक (ऊर्ध्ववायु, डकार) भी, मुख भी, सड़े हुए शव के समान दुर्गन्धित हो जाता है। वह व्यक्ति 'दूर हटो, दुर्गन्ध फैला रहे हो'—ऐसा कहे जाने योग्य हो जाता है। जो (कफ) जब बढ़कर (सीमा से) अधिक हो जाता है, तब शौचालय में (मल को) ढकने वाले पटरे के समान, पेट की दुर्गन्ध को रोके रहता है। **परिच्छेद से**—कफ के भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२२)

४१. **पीब**—सड़े हुए रक्त से उत्पन्न पीब। वह **वर्ण से**—पीले पड़ चुके पत्ते के रंग

---

१. **आचामो** ति। भत्तं पचित्वा अपनीतं उदकमण्डं।

ओकासतो पन पुब्बस्स ओकासो नाम निबद्धो नत्थि, यत्थ सो सन्निचित्तो तिट्ठेय्य। यत्र यत्र खाणुकण्टकपहरणग्गिजालादीहि अभिहते सरीरप्पदेसे लोहितं सण्ठहित्वा पच्चति, गण्डपीळकादयो वा उप्पज्जन्ति, तत्र तत्र तिट्ठति। **परिच्छेदतो** पुब्बभागेन परिच्छिन्नो। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२३)

४२. **लोहितं** ति। द्वे लोहितानि—सन्निचितलोहितं च, संसरणलोहितं च। तत्थ सन्निचितलोहितं **वण्णतो** निपक्कबहललाखारसवण्णं। संसरणलोहितं अच्छलाखारसवण्णं। **सण्ठानतो** उभयं पि ओकाससण्ठानं। **दिसतो** सन्निचितलोहितं उपरिमाय दिसाय जातं। इतरं द्वीसु दिसासु जातं। **ओकासतो** संसरणलोहितं, ठपेत्वा केसलोमदन्तनखानं मंसविनिमुत्तट्ठानं चेव थद्धसुक्खचम्मं च, धमनिजालानुसारेन सब्बं उपादिण्णसरीरं फरित्वा ठितं। सन्निचित-लोहितं यकनट्ठानस्स हेट्ठाभागं पूरेत्वा एकपत्तपूरमत्तं हदयवक्कपप्फासानं उपरि थोकं थोकं पग्घरन्तं वक्कहदययकनपप्फासे तेमयमानं ठितं। तस्मिं हि वक्कहदयादीनि अतेमेन्ते सत्ता पिपासिता होन्ति। **परिच्छेदतो** लोहितभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छदो पन केससदिसो येव। (२४)

४३. **सेदो** ति। लोमकूपादीहि पग्घरणकआपोधातु। सो **वण्णतो** विप्पसन्नतिलतेल-वण्णो। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानो। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातो। **ओकासतो** सेदस्स ओकासो

की है। किन्तु मृत शरीर में सड़े हुए गाढ़े माँड़ (पके चावल का पानी) के रंग की होती है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार की है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—पीब का कोई निश्चित स्थान नहीं है, जहाँ वह एकत्र होकर रहती हो। वह खूँटे, काँटे आदि की चोट से, आग की लपट आदि से जल जाने से शरीर के जिन जिन भागों में रक्त जमकर पक जाता है, या फोड़े-फुंसी आदि हो जाते हैं, वहीं वहीं रहती है। **परिच्छेद से**—पीब भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२३)

४२. **रक्त**—दो प्रकार का रक्त है—सञ्चित रक्त और प्रवहमान (बहता रहने वाला) रक्त। इनमें, सञ्चित रक्त **वर्ण से**—पके हुए गाढ़े लाक्षारस के रंग का है। प्रवहमान रक्त स्वच्छ लाक्षारस के रंग का है। **संस्थान से**—दोनों (प्रकार का) ही अवकाश के आकार का है। **दिशा से**—सञ्चित रक्त ऊपरी दिशा में है। दूसरा दोनों दिशाओं में पाया जाता है। **अवकाश से**—प्रवहमान रक्त केश, रोएँ, दाँत, नाखून आदि मांसरहित स्थानों तथा सूखे चमड़े को छोड़कर, धमनियों के जाल के अनुसार, कर्म द्वारा प्राप्त (उपादिन्न) समस्त शरीर को व्याप्त कर स्थित है। सञ्चित रक्त एक पूरे पात्रभर (परिमाण में है जो) यकृत के निचले भाग को भरते हुए, हृदय, वृक्क, फुप्फुस, के ऊपर थोड़ा थोड़ा गिरते हुए हृदय, वृक्क, यकृत, फुप्फुस को तर (आर्द्रतायुक्त) रखता है। जब वह वृक्क, हृदय आदि को तर नहीं रखता, तब प्राणी प्यास का अनुभव करते हैं। **परिच्छेद से**—रक्त भाग से परिच्छिन्न है। यह इस का सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२४)

४३. **स्वेद** (पसीना)—रोमकूप आदि से बहने वाला अब्धातु। वह **वर्ण से**—तिल के स्वच्छ तैल के रंग का होता है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार का है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं

नाम निबद्धो नत्थि, यत्थ सो लोहितं विय सदा तिट्ठेय्य। यदा पन अग्गिसन्ताप-सुरियसन्ताप-उतुविकारादीहि सरीरं सन्तपति, तदा उदकतो अब्बूळ्हमत्तविसमच्छिन्नभिसमुळालकुमुदनाळ-कलापो विय सब्बकेसलोमकूपविवरेहि पग्घरति। तस्मा तस्स सण्ठानं पि केसलोमकूपविवरानं वसेनेव वेदितब्बं। सेदं परिग्गण्हकेन च योगिना केसलोमकूपविवरे पूरेत्वा ठितवसेनेव सेदो मनसिकातब्बो। **परिच्छेदतो** सेदभागेन परिच्छिन्नो। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभाग-परिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२५)

४४. **मेदो** ति। थीनसिनेहो। सो **वण्णतो** फालितहलिद्दिवण्णो। **सण्ठानतो** थूलसरीरस्स ताव चम्ममंसन्तरे ठपितहलिद्दिवण्णदुकूलपिलोकितसण्ठानो होति। किससरीरस्स जंघमंसं ऊरुमसं पिट्ठिकण्टकनिस्सितं पिट्ठिमंसं उदरवट्टिमंसं ति एतानि निस्साय दिगुणतिगुणं कत्वा ठपितहलिद्दिवण्णदुकूलपिलोतिकसण्ठानो। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जातो। **ओकासतो** थूलस्स सकलसरीरं फरित्वा किसस्स जंघमंसादीनि निस्साय ठितो। यं सिनेहसङ्खं गतं पि परमजेगुच्छत्ता नेव मुद्धनि तेलत्थाय, न नासतेलादीनं अत्थाय गण्हन्ति। **परिच्छेदतो** हेट्ठा मंसेन, उपरिचम्मेन, तिरियं मेदभागेन परिच्छिन्नो। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२६)

४५. **अस्सू** ति। अक्खीहि पग्घरणकआपोधातु। तं **वण्णतो** विप्पसन्नतिलतेलवण्णं। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठानं। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** अक्खिकूपकेसु ठितं।

में है। **अवकाश से**—पसीने का स्थान निश्चित नहीं है, जहाँ वह रक्त के समान हमेशा रहे। किन्तु, जब अग्नि सूर्य की गर्मी, ऋतु (जन्य) विकारों (जैसे ज्वर) आदि से शरीर तपता है, तब पानी से निकाल दिये गये और विषम रूप से कटे हुए कुमुदिनी के नाल और कमल-नाल (से रिसते हुए जल) के समान, सभी केश-रोम-कूपों के छिद्रों से बहता है। इसलिये उसका संस्थान भी केश-रोम-कूपों के छिद्रों के अनुसार ही जानना चाहिये। स्वेद का परिग्रह करने वाले योगी को केश-रोम-कूपों के छिद्रों को भरकर स्थित के रूप में ही स्वेद का चिन्तन करना चाहिये। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२५)

४४. **मेद**—गाढ़ी वसा। वह **वर्ण से**—कटी हुई हल्दी के रंग का होता है। **संस्थान से**—स्थूल शरीर वालों का (मेद) चर्म (भीतरी त्वचा) एवं मास के बीच में रखे हुए हल्दी के रंग के दुशाले के आकार का होता है। कृश शरीर वालों का (मेद) नरहर के मांस, जाँघ के मांस, रीढ़ पर आधृत पीठ के मांस, उदर को ढकने वाला मांस—इन पर दोहरा तिहरा करके रखे हुए हल्दी के रंग के दुशाले के आकार का होता है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में होता है। **अवकाश से**—स्थूल शरीर में सब कहीं, और दुबले पतले शरीर में नरहर के मांस आदि पर टिक कर रहता है। यद्यपि उसे 'स्नेह' (तैल, चिकना) कहा जाता है, किन्तु अत्यधिक जुगुप्साजनक होने से उसे न तो सिर पर तैल के रूप में, न नाक के मल के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। **परिच्छेद से**—नीचे मांस से, ऊपर चर्म के चारों ओर से मेद-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२६)

४५. **अश्रु (आँसू)**—आँखों से बहनेवाला अब्धातु। वह **वर्ण से**—तिल के स्वच्छ तैल

न चेतं पित्तकोसके पित्तमिव अक्खिकूपकेसु सदा सन्निचितं तिट्ठति। यदा पन सत्ता सोमनस्सजाता महाहसितं हसन्ति, दोमनस्सजाता रोदन्ति परिदेवन्ति, यथारूपं वा विसमाहारं आहारेन्ति, यदा च नेसं अक्खीनि धूमरजपंसुकादीहि अभिहञ्ञन्ति; तदा एतेहि सोमनस्स-दोमनस्सविसभागाहारउतूहि समुट्ठहित्वा अक्खिकूपके पूरेत्वा तिट्ठति वा, पग्घरति वा। अस्सु-परिग्गण्हकेन च योगिना अक्खिकूपके पूरेत्वा ठितवसेनेव परिग्गण्हितब्बं। **परिच्छेदतो** अस्सुभागेन परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२७)

४६. **वसा** ति। विलीनसिनेहो। सा **वण्णतो** नाळिकेरतेलवण्णा। आचामे आसित्त-तेलवण्णा ति पि वत्तुं वट्टति। **सण्ठानतो** न्हानकाले पसन्नउदकस्स उपरिपरिब्भमन्तसिनेह-बिन्दुविसटसण्ठाना। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जाता। **ओकासतो** येभुय्येन हत्थतलहत्थपिट्ठि-पादतलपादपिट्ठिनासापुटनलाटअंसकूटेसु ठिता। न चेसा एतेसु ओकासेसु सदा विलीना व हुत्वा तिट्ठति। यदा पन अग्गिसन्ताप-सुरियसन्ताप-उतुविसभाग-धातुविसभागेहि ते पदेसा उस्माजाता होन्ति, तदा तत्थ न्हानकाले पसन्नउदकूपरिसिनेहबिन्दुविसटो विय इतो चितो च सञ्चरति। **परिच्छेदतो** वसाभागेन परिच्छिन्ना। अयमस्सा सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२८)

४७. **खेळो** ति। अन्तोमुखे फेणमिस्सो आपोधातु। सो **वण्णतो** सेतो फेणवण्णो।

के रंग का है। संस्थान से अवकाश के संस्थान का। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में है। **अवकाश से**—आँखों के गड्ढों में स्थित रहता है। वह पित्त कोष में (सञ्चित रहने वाले) पित्त के समान आँखों के गड्ढों में सदा सञ्चित नहीं रहता, किन्तु जब प्राणी प्रसन्न होकर अट्टहास करते हैं, या दु:खी होकर रोते-बिलखते हैं, या वैसा (मिर्च आदि) विषम आहार करते हैं या जब उनकी आँखों को धुएँ, धूल, बालू आदि से पीड़ा होती है, तब इन्हीं सुख दु:ख, विषम आहार और ऋतुओं से उत्पन्न होकर, नेत्र-कूपों में भरकर रहता है या बहता है। अश्रु का परिग्रह करने वाले योगी को नेत्र-कूपों को भरकर स्थित के रूप में ही परिग्रह करना चाहिये। **परिच्छेद से**—अश्रु भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२७)

४६. **वसा**—तरल वसा। वह **वर्ण से**—नारियल के तैल के रंग की है। माँड़ पर छिड़के गये तैल के रङ्ग की भी कह सकते हैं। **संस्थान से**—नहाते समय (भरकर रखे गये) स्वच्छ जल के ऊपर तैरी हुई तैल की बूँदों के (चक्राकार) फैलाव के आकार की है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में है। **अवकाश से**—अधिकांशत: हथेली, हाथ के पृष्ठभाग, तलवे, पैर के पृष्ठभाग, नासिका-पुट, ललाट और कन्धों के उभरे स्थानों पर रहती है। और वह इन स्थानों पर सर्वदा तरल रूप में नहीं रहती, अपितु जब अग्नि या सूर्य की गर्मी, विषम ऋतु एवं धातु के कारण वे प्रदेश गर्म होते हैं, तब स्नान के समय स्वच्छ जल के ऊपर फैली हुई तैल की बूँदों के समान, उन पर इधर उधर फैल जाती है। **परिच्छेद से**—वसा भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२८)

४७. **थूक**—मुख के भीतर का फेन मिश्रित अब्धातु। वह **वर्ण से**—सफेद फेन के रंग

सण्ठानतो ओकाससण्ठानो, फेणसण्ठानो ति पि वत्तुं वट्टति। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जातो। **ओकासतो** उभोहि कपोलपस्सेहि ओरुय्ह जिव्हाय ठितो। न चेस एत्थ सदा सन्निचितो हुत्वा तिट्ठति। यदा पन सत्ता तथारूपं आहारं पस्सन्ति वा सरन्ति वा, उण्हतित्तकटुकलोणम्बिलानं वा किञ्चि मुखे ठपेन्ति, यदा वा नेसं हदयं आगिलायति, किस्मिञ्चिदेव वा जिगुच्छा उप्पज्जति, तदा खेळो उप्पज्जित्वा उभोहि कपोलपस्सेहि ओरुय्ह जिव्हाय सण्ठाति। अग्गजिव्हाय चेस तनुको होति, मूलजिव्हाय बहलो। मुखे पक्खित्तं च पुथुकं वा तण्डुलं वा अञ्ञं वा किञ्चि खादनीयं नदीपुलिने खतकूपकसलिलं विय परिक्खयं अगच्छन्तो व तेमेतुं समत्थो होति। **परिच्छेदतो** खेळभागेन परिच्छिन्नो। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (२९)

४८. **सिङ्घाणिका** ति। मत्थलुङ्गतो पग्घरणकअसुचि। सा **वण्णतो** तरुणतालट्ठि-मिञ्जावण्णा। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठाना। **दिसतो** उपरिमाय दिसाय जाता। **ओकासतो** नासापुटे पूरेत्वा ठिता। न चेसा एत्थ सदा सन्निचिता हुत्वा तिट्ठति। अथ खो यथा नाम पुरिसो पदुमिनिपत्ते दधिं बन्धित्वा हेट्ठा कण्टकेन विज्झय्य, अथानेन छिद्देन दधिमुत्तं[१] गळित्वा बहि पतेय्य; एवमेव यदा सत्ता रोदन्ति, विसभागाहारउतुवसेन वा सञ्जातधातुखोभा होन्ति, तदा अन्तो सीसतो पूतिसेम्हभावं आपन्नं मत्थलुङ्गं गळित्वा तालुमत्थकविवरेन ओतरित्वा नासापुटे

का होता है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार का है। फेन के आकार का भी कहा जा सकता है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में होता है। **अवकाश से**—दोनों ओर के कपोलों से (स्पर्श करती हुई) नीचे आनेवाली जिह्वा पर रहता है। वह वहाँ निरन्तर एकत्र होकर नहीं रहता। जब प्राणी वैसे (मिर्च आदि) आहार को देखते या स्मरण करते हैं, या गर्म, तीते, कड़ुए, नमकीन, खट्टे में से किसी को मुख में रखते हैं, या जब उनका जी मिचलाता है, या किसी के भी प्रति जुगुप्सा उत्पन्न होती है, तब थूक उत्पन्न होकर दोनों ओर के कपोलों से नीचे उतर कर जीभ पर ठहरता है। जीभ के अगले भाग पर यह पतला होता है, जीभ के मूल भाग पर गाढ़ा। मुख में डाले गये धान या चावल या और किसी वस्तु को, नदी के तट पर खोदे गये कुएँ के पानी के समान, निरन्तर भिगोने में समर्थ होता है। **परिच्छेद से**—थूक के भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (२९)

४८. **सिंहाणक** (पोंटा)—नाक से बहने वाली गन्दगी। वह **वर्ण से**—अधपके (तरुण) ताड़फल की गुठली की गरी के रंग का होता है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार का होता है। **दिशा से**—ऊपरी दिशा में होता है। **अवकाश से**—नासिकापुटों को भरकर स्थित है। और वह वहाँ हमेशा एकत्र होकर नहीं रहता। अपितु जैसे कि कोई व्यक्ति कमलिनी के पत्ते में दही बाँधकर नीचे की ओर से काँटे से छेद कर दे, और उस छेद से दही का पानी छनकर बाहर गिरे; वैसे ही जब प्राणी रोते हैं, या विषम आहार अथवा ऋतु के कारण उनकी धातु कुपित होती है, तब सिर के भीतर गन्दे कफ के रूप में मस्तिष्क (की गन्दगी) रिसकर तालु और मस्तक

---

१. दधिमुत्तं ति। दधिनो विस्सन्दनअच्छरसो।

पूरेत्वा तिट्ठति वा पग्घरति वा। सिङ्घाणिकापरिग्गण्हकेन च योगिना नासापुटे पूरेत्वा ठितवसेनेव परिग्गण्हितब्बा। **परिच्छेदतो** सिङ्घाणिकाभागेन परिच्छिन्ना, अयमस्सा सभागपरिच्छेदो। *विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव।* (३०)

४९. **लसिका** ति। सरीरसन्धीनं अब्भन्तरे पिच्छिलकुणपं। सा **वण्णतो** कणिकार-निय्यासवण्णा। **सण्ठानतो** ओकाससण्ठाना। **दिसतो** द्वीसु दिसासु जाता। **ओकासतो** अट्ठिसन्धीनं अब्भञ्जनकिच्चं साधयमाना असीतिसतसन्धीनं अब्भन्तरे ठिता। यस्स चेसा मन्दा होति, तस्स उट्ठहन्तस्स निसीदन्तस्स अभिक्कमन्तस्स पटिक्कमन्तस्स समिञ्जन्तस्स पसारेन्तस्स अट्ठिकानि कटकटायन्ति, अच्छरासद्दं करोन्तो विय सञ्चरति। एकयोजनद्वियोजनमत्तं अद्धानं गतस्स वायोधातु कुप्पति, गत्तानि दुक्खन्ति। यस्स पन बहुका होति, तस्स उट्ठाननिसज्जादीसु न अट्ठानि कटकटायन्ति, दीघं पि अद्धानं गतस्स न वायोधातु कुप्पति, न गत्तानि दुक्खन्ति। **परिच्छेदतो** लसिकाभागेन परिच्छिन्ना। अयमस्सा सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (३१)

५०. **मुत्तं** ति। मुत्तरसं। तं **वण्णतो** मासखारोदकवण्णं। **सण्ठानतो** अधोमुखट्ठपित-उदककुम्भअब्भन्तरगतउदकसण्ठानं। **दिसतो** हेट्ठिमाय दिसाय जातं। **ओकासतो** वत्थिस्स अब्भन्तरे ठितं। वत्थि नाम वत्थिपुटो वुच्चति। यत्थ सेय्यथापि चन्दनिकाय[1] पक्खित्ते अमुखे रवणघटे[2] चन्दनिकारसो पविसति, न चस्स पञ्ञायति, निक्खमनमग्गो पन पाकटो होति।

के छिद्रों से नीचे उतरकर नासिका-पुट में भर जाती है, या बहने लगती है। सिंहाणक का परिग्रह करने वाले योगी को नासिका-पुटों को भरकर स्थित के रूप में परिग्रह करना चाहिये। **परिच्छेद से**—सिंहाणक भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (३०)

४९. **लसीका**—शरीर के जोड़ों में रहने वाला चिकना मैल। वह **वर्ण से**—कर्णिकार (वृक्ष) के गोंद के रंग की होती है। **संस्थान से**—अवकाश के आकार की होती है। **दिशा से**—दोनों दिशाओं में उत्पन्न है। **अवकाश से**—अस्थियों की सन्धियों को स्निग्ध करने का कार्य करते हुए, एक सौ अस्सी अस्थियों में रहती है। जिसमें यह कम होती है, उसकी अस्थियाँ उठते बैठते, चलते फिरते, समेटते पसारते समय कटकटाती हैं। यह जब चलता है तब ऐसा लगता है मानो चुटकी बजाते हुए चल रहा हो। एक दो योजन मात्र चलने पर भी (उसकी) वायु-धातु कुपित हो जाती है, उसके उठने बैठने आदि के समय अस्थियाँ कुपित नहीं होती, न ही अङ्ग दुखते हैं। **परिच्छेद से**—लसीका भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (३१)

५०. **मूत्र**—पेशाब। वह **वर्ण से**—उर्द (दाल) के धोवन के रंग का होता है। **संस्थान से**—औंधे मुँह रखे गये पानी के घड़े के भीतर के पानी के आकार का होता है। **दिशा से**—

---

१. उच्छिट्ठोदकगब्भमलादीनं छड्डनट्ठानं **चन्दनिका**।

२. **रवणघटं** नाम पकतिया समुखमेव होति। यस्स पन आरग्गमत्तं पि उदकस्स पविसनमुखं नत्थि, तं दस्सेतुं—"अमुखे रवणघटे" ति वुत्तं।

यम्हि च मुत्तस्स भरिते 'पस्सावं करोमा' ति सत्तानं आयूहनं होति। **परिच्छेदतो** वत्थि-अब्भन्तरेन चेव मुत्तभागेन च परिच्छिन्नं। अयमस्स सभागपरिच्छेदो। विसभागपरिच्छेदो पन केससदिसो येव। (३२)

५१. एवं हि केसादिके कोट्ठासे वण्णसण्ठानदिसोकासपरिच्छेदवसेन ववत्थपेत्वा 'अनुपुब्बतो नातिसीघतो' ति आदिना नयेन वण्णसण्ठानगन्धासयोकासवसेन पञ्चधा पटिक्कूला पटिक्कूला ति मनसिकरोतो पण्णत्तिसमतिक्कमावसाने; सेय्यथापि चक्खुमतो पुरिसस्स द्वत्तिंस-वण्णानं कुसुमानं एकसुत्तकगन्थितं मालं ओलोकेन्तस्स सब्बपुप्फानि अपुब्बापरियमिव पाकटानि होन्ति; एवमेव 'अत्थि इमस्सिं काये केसा' ति इमं कायं ओलोकेन्तस्स सब्बे ते धम्मा अपुब्बापरिया व पाकटा होन्ति। तेनं वुत्तं मनसिकारकोसल्लकथायं—"आदिकम्मिकस्स हि 'केसा' ति मनसिकरोतो मनसिकारो गन्त्वा 'मुत्तं' ति इमं परियोसानकोट्ठासमेव आहच्च तिट्ठती" ति।

५२. सचे पन बहिद्धा पि मनसिकारं उपसंहरति, अथस्स एवं सब्बकोट्ठासेसु पाकटीभूतेसु आहिण्डन्ता मनुस्सतिरच्छानादयो सत्ताकारं विजहित्वा कोट्ठासरासिवसेनेव

निचली दिशा में उत्पन्न होता है। **अवकाश से**—वस्ति के भीतर रहता है। 'वस्ति' वस्तिपुट (मूत्रकोष) को कहते हैं। जैसे 'चन्दनिका' (गन्दे पानी से भरी गड़ही) में रखे गये विना मुँह वाले रवनघट[1] में चन्दनिका का पानी (रस) प्रवेश तो करता है, किन्तु उसके प्रवेश-मार्ग का पता नहीं चलता; वैसे ही जिस (मूत्रकोष) में शरीर से मूत्र प्रवेश तो करता है, किन्तु उसका प्रवेश-मार्ग जान नहीं पड़ता, निकलने का भाग प्रकट होता है; और जिसमें भर जाने पर 'पेशाब करेंगे' ऐसा प्राणियों को अनुभव होता है। **परिच्छेद से**—वस्ति के भीतरी भाग से एवं मूत्र-भाग से परिच्छिन्न है। यह इसका सभाग परिच्छेद है। विसभाग परिच्छेद केश के समान ही है। (३२)

५१. इस प्रकार केश आदि भागों का वर्ण, संस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार निश्चय करते हुए 'क्रम से, बहुत शीघ्रता से नहीं' आदि प्रकार से वर्ण, संस्थान, गन्ध, आशय, अवकाश के अनुसार पाँच प्रकार से 'प्रतिकूल, प्रतिकूल' यों चिन्तन करने वाले (योगी) के लिये; प्रज्ञप्ति-समतिक्रमण पूरा हो जाने पर, 'इस शरीर में केश हैं'—यों इस शरीर को देखनेवाले के लिये सभी धर्म वैसे ही क्रमिक रूप में प्रकट होते हैं, जैसे कि जब कोई चक्षुष्मान् व्यक्ति बत्तीस रंगों के फूलों को एक धागे में गूँथकर बनायी गयी माला को देखता है तब उसे सभी फूल एक क्रम में जान पड़ते हैं।

इसीलिये मनस्कार-कौशल की कथा (वर्णन) में कहा गया है—आदिकर्मिक जब चिन्तन (मनस्कार) करता है, तब यह केशों से 'मूत्र' इस अन्तिम भाग पर ही जाकर रुकता है।

५२. यदि (वह योगी) बाहर (दूसरों के शरीर पर) भी चिन्तन का प्रयोग करता है तब

---

१. कहीं कहीं 'यवनघट' पाठ भी मिलता है। यह एक विशेष प्रकार का घट था जिसमें रोमछिद्रों के समान छोटे छोटे छिद्र होते थे, जिनसे रिस रिस कर पानी भीतर प्रवेश करता था। जिन प्रदेशों में पानी की कमी रही होगी, उनमें ऐसे घट गन्दे जल को छान कर काम में लाने के लिये उपयोग में लाये जाते रहे होंगे। —अनु०

उपट्ठहन्ति, तेहि च अज्झोहरियमानं पानभोजनादि कोट्ठासरासिम्हि पक्खिपमानमिव उपट्ठाति।

५३. अथस्स अनुपुब्बमुञ्चनादिवसेन 'पटिक्कूला पटिक्कूला' ति पुनप्पुनं मनसिकरोतो अनुक्कमेन अप्पना उप्पज्जति। तत्थ केसादीनं वण्णसण्ठानदिसोकासपरिच्छेदवसेन उपट्ठानं उग्गहनिमित्तं, सब्बाकारतो पटिक्कूलवसेन उपट्ठानं पटिभागनिमित्तं। तं आसेवतो भावयतो वुत्तनयेन असुभकम्मट्ठानेसु विय पठमज्झानवसेनेव अप्पना उप्पज्जति। सा यस्स एको व कोट्ठासो पाकटो होति, एकस्मिं वा कोट्ठासे अप्पनं पत्वा पुन अञ्ञस्मिं योगं न करोति, तस्स एका व उप्पज्जति।

५४. यस्स पन अनेके कोट्ठासा पाकटा होन्ति, एकस्मिं वा झानं पत्वा पन अञ्ञस्मिं पि योगं करोति, तस्स **मल्लकत्थेरस्स** विय, कोट्ठासगमनाय पठमज्झानानि निब्बत्तन्ति। सो किरायस्मा दीघभाणकअभयत्थेरं हत्थे गहेत्वा "आवुसो अभय, इमं ताव पञ्हं उग्गण्हाही" ति वत्वा आह—"मल्लकत्थेरो द्वत्तिंसकोट्ठासेसु द्वत्तिंसाय पठमज्झानानं लाभी, सचे रत्तिं एकं दिवा एकं समापज्जति, अतिरेकद्धमासेन पुन सम्पज्जति। सचे पन देवसिकं एकं समापज्जति, अतिरेकमासेन पुन सम्पज्जती" ति।

एवं पठमज्झानवसेन इज्झमानं पि चेतं कम्मट्ठानं वण्णसण्ठानादीसु सतिबलेन इज्झनतो **कायगतासती** ति वुच्चति।

५५. इमं च कायगतासतिं अनुयुत्तो भिक्खु अरतिरतिसहो होति, न च नं अरति सहति,

---

उसके लिये वैसे ही सभी भाग प्रकट होते हैं, जिसके फलस्वरूप घूमते हुए मनुष्य, पशु आदि प्राणी आकार (आकृतिविशेष) को छोड़कर, (शरीर के) भागों की राशि के रूप में ही जान पड़ते हैं। एवं उनके द्वारा निगला जाता हुआ पेय, भोजन आदि भागों की राशि में डाला हुआ-सा जान पड़ता है।

५३. तब उसे "क्रमशः छोड़ने" आदि के अनुसार (द्र० पृ० ७३) 'प्रतिकूल प्रतिकूल' यों बारबार चिन्तन करते हुए, क्रम से अर्पणा उत्पन्न होती है। वहाँ केश आदि का वर्ण, संस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार जान पड़ता उद्ग्रहनिमित्त है। सब प्रकार से प्रतिकूल के रूप में जान पड़ता प्रतिभागनिमित्त है। उसका अभ्यास एवं भावना करते हुए, उक्त प्रकार से अशुभ कर्मस्थान के समान प्रथम ध्यान के रूप में ही अर्पणा उत्पन्न होती है। जिसके लिये एक ही भाग प्रकट होता है, या जो एक भाग में अर्पणा प्राप्त कर, फिर दूसरे के लिए योग नहीं करता, उसे वह (अर्पणा) एक ही उत्पन्न होती है।

५४. किन्तु जिसके लिये अनेक भाग प्रकट होते हैं, या जो एक में ध्यान प्राप्त कर दूसरे के लिये भी उद्योग करता है, उसे **मल्लक** स्थविर के समान भागों की संख्या के अनुसार कई प्रथम ध्यान उत्पन्न होते हैं। उन आयुष्मान् ने **दीघभाणक अभय स्थविर** का हाथ पकड़कर—"आयुष्मन् अभय! पहले इसे सीखो"—ऐसा कहकर (पुनः) कहा—"मल्लक स्थविर बत्तीस भागोंमें बत्तीस ध्यानों के लाभी हैं। यदि रात में एक, दिन में दूसरे को प्राप्त करते हैं, तो आधे महीने से भी अधिक समय तक पुनः (उन्हें) प्राप्त करते रहते हैं। किन्तु यदि वे प्रत्येक दिन (किसी) एक को प्राप्त करते हैं तो महीने भर से अधिक के बाद फिर प्राप्त करते हैं।"

उप्पन्नं अरतिं अभिभुय्य अभिभुय्य विहरति, भयभेरवसहो होति, न च नं भयभेरवं सहति, उप्पन्नं भयभेरवं अभिभुय्य अभिभुय्य विहरति, खमो होति सीतस्स उण्हस्स...पे०...पाणहरानं अधिवासकजातिको होति, केसादीनं वण्णभेदं निस्साय चतुन्नं झानानं लाभी होति, छ अभिञ्ञा पटिविज्झति। (म० नि० ३/११८४)

तस्मा हवे अप्पमत्तो अनुयुञ्जेथ पण्डितो।
एवं अनेकानिसंसं इमं कायगतासतिं ति॥

इदं कायगतासतियं वित्थारकथामुखं॥

९. आनापानस्सतिकथा

५६. इदानि यं तं भगवता "**अयं पि खो, भिक्खवे, आनापानस्सतिसमाधि भावितो बहुलीकतो सन्तो चेव पणीतो च असेचनको च सुखो च विहारो, उप्पन्नुप्पन्ने च पापके अकुसले धम्मे ठानसो अन्तरधापेति वूपसमेती**" ति एवं पसंसित्वा "**कथं भावितो च, भिक्खवे, आनापानस्सतिसमाधि, कथं बहुलीकतो सन्तो चेव पणीतो च असेचनको च सुखो च विहारो, उप्पन्नुप्पन्ने च पापके अकुसले धम्मे ठानसो अन्तरधापेति वूपसमेति? इध, भिक्खवे, भिक्खु अरञ्ञगतो वा रुक्खमूलगतो वा सुञ्ञागारगतो वा निसीदति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा। सो सतो व अस्ससति, सतो व**

यों प्रथम ध्यान के रूप में सिद्ध होने पर भी, क्योंकि यह कर्मस्थान वर्ण, संस्थान आदि की स्मृति के बल से सिद्ध होता है, अतः **कायगता स्मृति** कहा जाता है।

५५. इस कायगता स्मृति में लगे हुए भिक्षु पर अरति (उदासी) एवं रति (राग) का प्रभाव नहीं पड़ता। अरति उसे प्रभावित नहीं कर पाती। उत्पन्न हो चुकी अरति को अभिभूत करते हुए विहरता है; भय की भयानकता से अप्रभावित रहता है, भय-भयानकता उसे प्रभावित नहीं कर पाती, वह उत्पन्न भय-भयानकता को अभिभूत करते हुए साधना करता है; सर्दी गर्मी के प्रति सहनशील होता है...पूर्ववत्...मर्मान्तक पीड़ाओं को स्वीकार करने वाला होता है, केश आदि के वर्ण-भेद के सहारे चारों ध्यानों का लाभी होता है, छह अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है। इसलिये ऐसी अनेक गुणों वाली इस कायगता स्मृति की प्राप्ति हेतु बुद्धिमान् प्रमादरहित होकर उद्योग करे॥

यह कायगता स्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

९. आनापानस्मृति

५६. अब, जिसकी भगवान् ने "भिक्षुओ! यह आनापान स्मृति-समाधि भावना करने पर, बढ़ाने पर, शान्त, प्रणीत (उत्तम), अमिश्रित (असेचनक) एवं सुखविहार है; वह उत्पन्न होने वाले बुरे एवं हानिकारक धर्मों की पूरी तरह अन्तर्ध्यान कर देती है, शान्त कर देती है"—इस प्रकार प्रशंसा करके यों (अधोलिखित) सोलह वस्तुओं वाली (चार) अनुपश्यनाओं में चार चतुष्कों के अनुसार सोलह स्थान (=आधार) वाले आनापानस्मृति-कर्मस्थान का निर्देश किया है, उसकी भावना (विधि के) निर्देश (कर्मस्थान के अशेष विस्तार) का प्रसङ्ग आ गया है।

"भिक्षुओ! कैसे भावना की गयी, बढ़ाई गयी आनापानस्मृति समाधि, किस प्रकार बढ़ाने

पस्ससति दीघं वा अस्ससन्तो 'दीघं अस्ससामी' ति पजानाति, दीघं वा पस्ससन्तो...पे०...रस्सं वा अस्ससन्तो... पे०...रस्सं वा पस्ससन्तो 'रस्सं पस्ससामी' ति पजानाति। सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी ति सिक्खति, सब्बकायपटिसंवेदी पस्ससिस्सामी ति सिक्खति। पस्सम्भयं कायसङ्खारे अस्ससिस्सामी ति सिक्खति, पस्सम्भयं कायसङ्खारं पस्ससिस्सामी ति सिक्खति। पीतिपटि-संवेदी...सुखपटिसंवेदी...चित्तसङ्खारपटिसंवेदी...पस्सम्भयं चित्तसङ्खारं...चित्तपटि-संवेदी... अभिप्पमोदयं चित्तं...समादहं चित्तं...विमोचयं चित्तं....अनिच्चानुपस्सी...विरागानु-पस्सी... निरोधानुपस्सी...पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्ससिस्सामी ति सिक्खति, पटिनिस्सग्गा-नुपस्सी पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" (सं० नि० ४/२०२३) ति एवं सोळसवत्थुकं[१] आनापानस्सति-कम्मट्ठानं निद्दिट्ठं। तस्स **भावनानिद्देसो**[२] अनुप्पत्तो।

सो पन यस्मा पाळिवण्णनानुसारेनेव वुच्चमानो सब्बाकारपरिपूरो होति, तस्मा अयमेत्थ पाळिवण्णनापुब्बङ्गमो निद्देसो—

५७. **कथं भावितो च भिक्खवे आनापानस्सतिसमाधी** ति। एत्थ ताव **कथं** ति आनापानस्सतिसमाधिभावनं नानप्पकारतो वित्थारेतुकम्यता पुच्छा। **भावितो च, भिक्खवे,**

पर (यह) शान्त, प्रणीत, अमिश्रित और सुखविहार, उत्पन्न होने वाले बुरे एवं हानिप्रद धर्मों को अन्तर्हित कर देती है, शान्त कर देती है? भिक्षुओ! यहाँ भिक्षु अरण्य में या वृक्ष के नीचे जाकर या शून्य (निर्जन) घर में जाकर, पद्मासन लगाकर, शरीर को सीधा रखते हुए, सामने स्मृति को उपस्थित करते हुए बैठता है। वह स्मृति के साथ ही श्वास लेता है, स्मृति के साथ ही श्वास छोड़ता है, लम्बी श्वास लेते हुए 'लम्बा श्वास लेता हूँ' यह जानता है, लम्बा श्वास छोड़ते हुए ...पूर्ववत्... छोटा श्वास लेते हुए ...पूर्ववत्... छोटा श्वास छोड़ते हुए 'छोटा श्वास छोड़ता हूँ', यह जानता है, 'समस्त काय का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करते हुए श्वास लूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है। 'समस्त काय का प्रतिसंवेदन करते हुए श्वास छोड़ूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है। 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए श्वास लूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है। प्रीति का प्रतिसंवेदन करते हुए...सुख का प्रतिसंवेदन करते हुए...चित्तसंस्कार का प्रतिसंवेदन करते हुए...चित्तसंस्कार को शान्त करते हुए...चित्त को प्रमुदित करते हुए...चित्त को एकाग्र करते हुए...चित्त का विमोचन करते हुए अनित्य की अनुपश्यना करते हुए...विराग की अनुपश्यना करते हुए...निरोध की अनुपश्यना करते हुए...'प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए श्वास लूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है, 'प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करते हुए श्वास छोड़ूँगा' ऐसा अभ्यास करता है।" (सं० नि० ४/२०२३)।

यह (निर्देश) क्योंकि पालिवर्णन के अनुसार कहे जाने पर ही सब प्रकार से पूर्ण होगा, अतः पालिवर्णन को पहले रखते हुए, निर्देश इस प्रकार है—

प्रथम चतुष्क

५७. **कथं भावितो च, भिक्खवे आनापानस्सतिसमाधि**—(वि० म०, पृ० १०४) यहाँ, **कथं**—यह प्रश्न आनापान स्मृति समाधि भावना का नाना प्रकार से विस्तार करने की इच्छा से

---

१. **सोळसवत्थुकं** ति। चतूसु अनुपस्सनासु चतुन्नं चतुक्कानं वसेन सोळसट्ठानं।

२. **निद्देसो** ति। कम्मट्ठानस्स निस्सेसतो वित्थारो।

आनापानस्सतिसमाधी ति नानप्पकारतो वित्थारेतुकम्यताय पुट्ठधम्मनिदस्सनं। **कथं बहुलीकतो ...पे०...वूपसमेती** ति एत्था पि एसेव नयो।

तत्थ **भावितो** ति उप्पादितो, वड्ढितो वा। **आनापानस्सतिसमाधी** ति। आनापान-परिग्गाहिकाय सतिया सद्धिं सम्पयुत्तो समाधि, आनापानस्सतियं वा समाधि आनापानस्सति-समाधि। **बहुलीकतो** ति। पुनप्पुनं कतो।

सन्तो चेव पणीतो चा ति। सन्तो चेव पणीतो चेव। उभयत्थ एवसद्देन नियमो वेदितब्बो। किं वुत्तं होति? अयं हि यथा असुभकम्मट्ठानं केवलं पटिवेधवसेन सन्तं च पणीतं च, ओळारिकारम्मणत्ता पन पटिक्कूलारम्मणत्ता च आरम्मणवसेन नेव सन्तं न पणीतं न एवं केनचि परियायेन असन्तो वा अप्पणीतो वा, अथ खो आरम्मणसन्तताय पि सन्तो वूपसन्तो निब्बुतो, पटिवेधसङ्खातअङ्गसन्तताय पि। आरम्मणपणीतताय पि पणीतो अतित्तिकरो, अङ्गपणीतताय पी ति। तेन वुत्तं—"सन्तो चेव पणीतो चा" ति।

असेचनको च सुखो च विहारो ति। एत्थ पन नास्स सेचनं ति असेचनको, अनासित्तको अब्बोकिण्णो पाटियेक्को[१] आवेणिको[२]। नत्थि एत्थ परिकम्मेन वा उपचारेन वा सन्तता, आदिसमन्नाहारतो पभुति अत्तनो सभावेनेव सन्तो च पणीतो चा ति अत्थो। **केचि** पन असेचनको ति अनासित्तको ओजवन्तो सभावेनेव मधुरो ति **वदन्ति**। एवमयं **असेचनको**

किया गया है। तथा **भावितो च, भिक्खवे, आनापानस्सतिसमाधि**—यह नाना प्रकार से विस्तार करने की इच्छा से पूछे गये धर्मों का निदर्शन है। **कथं बहुलीकतो...पे०...वूपसमितो** यहाँ भी यही विधि है। **भावितो**—उत्पन्न की गयी या बढ़ाई गयी। **आनापानस्सतिसमाधि**—आनापान को ग्रहण करने वाली स्मृति के साथ सम्प्रयुक्त समाधि, या आनापान की स्मृतिविषयक समाधि। **बहुलीकतो**—बार बार की गयी। **सन्तो चेव पणीतो च**—शान्त भी, प्रणीत भी। दोनों (शब्दों) से 'एव' (ही) का सम्बन्ध जानना चाहिये।

तात्पर्य क्या है? जैसे कि अशुभ कर्मस्थान केवल प्रतिषेध के अनुसार शान्त और प्रणीत होता है, किन्तु आलम्बन के स्थूल एवं प्रतिकूल होने के कारण आलम्बन के अनुसार न तो शान्त और न ही प्रणीत होता है; उसके विपरीत यह (आनापानस्मृति समाधि) किसी भी रूप में न तो अशान्त है, न अप्रणीत है, अपितु आलम्बन के शान्त होने से भी शान्त, उपशान्त, निर्वृत है। इसीलिये कहा गया है—"सन्तो चेव पणीतो च।"

असेचनको च सुखो न विहारो—क्योंकि इसका सेचन नहीं होता अत: असेचनक, असिक्त, अमिश्रित, प्रत्येक, असाधारण। यह परिकर्म (जैसे कसिण में) या उपचार (जैसे अशुभ में) के रूप में शान्त नहीं है, अर्थात् प्रथम मनस्कार से ही स्वभावत: शान्त और प्रणीत है। कोई कोई (टीका के अनुसार उत्तरविहारवासी, सिंहलनय के अनुसार अभयगिरिवासी) विद्वान् कहते हैं कि असेचनक का अर्थ असिक्त, ओजस्वी, स्वभाव से ही मधुर है। और यह असेचनक अर्पणा

---

१. **पाटियेक्को** ति। विसुं येवेको।

२. **आवेणिको** ति। असाधारणो।

च अप्पितप्पितक्खणे कायिकचेतसिकसुखपटिलाभाय संवत्तनतो **सुखो च विहारो** ति वेदितब्बो।

उप्पन्नुपन्ने ति। अविक्खम्भिते अविक्खम्भिते। **पापके** ति लामके। **अकुसले धम्मे** ति। अकोसल्लसम्भूते धम्मे। **ठानसो अन्तरधापेती** ति। खणेनेव अन्तरधापेति, विक्खम्भेति। **वूपसमेती** ति। सुट्ठु उपसमेति, निब्बेधभागियत्ता वा अनुपुब्बेन अरियमग्गबुद्धिप्पत्तो समुच्छिन्दति। पटिप्पस्सम्भेती ति वुत्तं होति।

अयं पनेत्थ सङ्खेपत्थो—भिक्खवे, केन पकारेन केनाकारेन केन विधिना भावितो अनापानस्सतिसमाधि, केन पकारेन बहुलीकतो सन्तो चेव...पे०...वूपसमेती ति।

५८. इदानि तमत्थं[१] वित्थारेन्तो "इध भिक्खवे" ति आदिमाह। तत्थ **इध भिक्खवे भिक्खू** ति। भिक्खवे इमस्मिं सासने भिक्खु। अयं हि एत्थ **इध**सद्दो सब्बप्पकारआनापानस्सतिसमाधिनिब्बत्तकस्स पुग्गलस्स सन्निस्सयभूतसासनपरिदीपनो, अञ्ञसासनस्स तथाभावपटिसेधनो च। वुत्तं हेतं—"**इधेव, भिक्खवे, समणो...पे०...सुञ्ञा परप्पवादा समणेहि अञ्ञे**" (म० नि० १/९९) ति। तेन वुत्तं—"इमस्मिं सासने भिक्खू" ति।

अरञ्ञगतो वा...पे०...सुञ्ञागारगतो वा ति। इदमस्स आनापानस्सतिसमाधिभावनानुरूपसेनासनपरिग्गहपरिदीपनं। इमस्स हि भिक्खुनो दीघरत्तं रूपादीसु आरम्मणेसु अनुविसटं

के क्षण से कायिक एवं चैतसिक सुख की प्राप्ति कराती है, अत: सुख और विहार (सुख-विहार) है।

उप्पन्नुप्पन्ने—जब जब उनका दमन नहीं किया गया। **पापके**—हीन। **अकुसले धम्मे**—अकुशलता (अकौशल) से उत्पन्न धर्मों को। **ठानसो अन्तर्धापेति**—तत्क्षण अन्तर्हित कर देती है, दबा देती है। **वूपसमेति**—अच्छी तरह शान्त कर देती है। या निर्वेधभागीय होने से क्रमश: आर्यमार्ग द्वारा वृद्धि को प्राप्त होकर, समुच्छिन्न कर देती है, पूरी तरह शान्त कर देती है।

यहाँ इस का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—'भिक्षुओ! किस प्रकार, किस ढंग से, किस विधि से भावना की गयी आनापानस्मृतिसमाधि, किस प्रकार से बढ़ायी गयी शान्त और...पूर्व...अशान्त कर देती है।

५८. अब उसकी व्याख्या करते हुए "इध भिक्खवे" आदि कहा गया है। उनमें, **इध, भिक्खवे, भिक्खु**—भिक्षुओ! इस शासन में भिक्षु। प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह जो 'यहाँ' (इध) शब्द है, वह सब प्रकार से आनापानस्मृति समाधि को उत्पन्न करने वाले पुद्गल के निश्रय (=आश्रय, शरण) भूत (बुद्ध-) शासन को एवं अन्य शासन में वैसा होने के निषेध को भी सूचित करता है। क्योंकि कहा गया है—"भिक्षुओ! यहीं श्रमण...पूर्ववत्...अन्यमतवाद श्रमणों से शून्य हैं" (म० नि० १/९९)। इसलिये कहा गया है—"इस शासन में भिक्षु" (म० नि० १/९९)। **अरञ्ञगतो वा ...पे०... सुञ्ञागारगतो वा**—यह (वाक्यांश) इस (भिक्षु) द्वारा आनापानस्मृतिसमाधि की भावना के अनुरूप शयनासन के ग्रहण को सूचित करता है। इस (अल्पशिक्षित) भिक्षु का चित्त,

---

१. **तमत्थं** ति। "तं कथं भावितो" ति आदिना पुच्छावसेन सङ्खेपतो वुत्तमत्थं।

चित्तं अनापानस्सतिसमाधिआरम्मणं अभिरुहितुं न इच्छति, कूटगोणयुत्तरथो[1] विय उप्पथमेव धावति। तस्मा सेय्यथापि नाम गोपो कूटधेनुया सब्बं खीरं पिवित्वा वड्ढितं कूटवच्छं दमेतुकामो धेनुतो अपनेत्वा एकमन्ते महन्तं थम्भं निखणित्वा तत्थ योत्तेन बन्धेय्य, अथस्स सो वच्छो इतो च विप्फन्दित्वा पलायितुं असक्कोन्तो तमेव थम्भं उपनिसीदेय्य वा उपनिपज्जेय्य वा; एवमेव इमिना पि भिक्खुना दीघरत्तं रूपारम्मणादिरसपानवड्ढितं दुट्ठचित्तं दमेतुकामेन रूपादिआरम्मणतो अपनेत्वा अरञ्ञं...पे०...सुञ्ञागारं वा पविसित्वा तत्थ अस्सासपस्सास-थम्भे सतियोत्तेन बन्धितब्बं। एवमस्स तं चित्तं इतो चितो च विप्फन्दित्वा पि पुब्बे आचिण्णारम्मणं अलभमानं सतियोत्तं छिन्दित्वा पलायितुं असक्कोन्तं, तमेवारम्मणं उपचार-प्पनावसेन उपनिसीदति चेव उपनिपज्जति च।

तेनाहु पोराणा—

"यथा थम्भे निबन्धेय्य, वच्छं दम्मं नरो इध।
बन्धेय्येवं सकं चित्तं सतियारम्मणे दळ्हं" ति॥

(वि० टु० २-१२)

एवमस्सेतं सेनासनं भावनानुरूपं होति। तेन वुत्तं—"इदमस्स आनापानस्सतिसमाधि-भावनारूपसेनासनपरिग्गहपरिदीपनं" ति।

अथ वा—यस्मा इदं कम्मट्ठानप्पभेदे मुद्धभूतं सब्बञ्ञुबुद्धपच्चेकबुद्धबुद्धसावकानं

जो कि दीर्घकाल तक रूप आदि आलम्बनों में लिप्त रहा है, आनापानस्मृतिसमाधिरूप आलम्बन में सरलता से लगना नहीं चाहता। वह अशिक्षित बैल से जुते रथ के समान गलत रास्ते पर ही दौड़ता है। इसलिये जैसे कि कोई ग्वाला दूध देने में उद्विग्न करने वाली गाय का सब दूध पीकर बड़े हुए दुष्ट बछड़े को रास्ते पर लाने के लिये गाय से दूर कर एक ओर बड़ा-सा खूँटा गाड़कर वहाँ उसे रस्सी से बाँध दें, जिससे कि वह बछड़ा इधर उधर कूद फाँद करने पर भी भाग न सकने से उसी खूँटे में (बँधा रहकर) बैठे या सोये; वैसे ही इस भिक्षु को चाहिये कि बहुत दिनों तक रूपालम्बन आदि का रसपान कर बढ़े हुए दुष्ट चित्त को दमन करने की इच्छा से रूप आदि आलम्बनों से दूर कर अरण्य ...पूर्ववत्... शून्यागार में प्रवेश कर, वहाँ श्वास-प्रश्वास रूपी खूँटे में स्मृतिरूप रस्सी से बाँध दे। यों, इसका वह चित्त इधर उधर कूद फाँद कर भी, पूर्व अभ्यस्त आलम्बन को न पाकर, स्मृतिरूप रस्सी को तोड़कर भागने में असमर्थ हो, उसी आलम्बन में (बँधा हुआ) उपचार और अर्पणा के रूप में बैठता और सोता है।

इसीलिये प्राचीन **विद्वानों** ने कहा है—"जैसे कोई मनुष्य दमन किये जाने योग्य बछड़े को खूँटे में बाँध दे, वैसे ही अपने चित्त को दृढ़ता के साथ स्मृति द्वारा आलम्बन में बाँधना चाहिये।"

यों, इसके लिये यह शयनासन भावना करने योग्य होता है। इसीलिये कहा गया है—"यह इसके द्वारा आनापानस्मृति समाधि की भावना के योग्य शयनासन के ग्रहण का सूचक है।

अथवा—क्योंकि कर्मस्थान के प्रभेदों में श्रेष्ठ यह आनापानस्मृतिकर्मस्थान—जो कि सर्वज्ञ बुद्धों,

---

१. दुद्दमो दमथं अनुपगतो गोणो **कूटगोणो**।

विसेसाधिगमदिट्ठधम्मसुखविहारपदट्ठानं आनापानस्सतिकम्मट्ठानं इत्थिपुरिसहत्थिअस्सादिसद्द-समाकुलं गामन्तं अपरिच्चजित्वा न सुकरं भावेतुं, सद्दकण्टकत्ता झानस्स अगामके पन अरञ्ञे सुकरं योगावचरेन इदं कम्मट्ठानं परिग्गहेत्वा आनापानचतुत्थज्झानं निब्बत्तेत्वा तदेव पादकं कत्वा सङ्खारे सम्मसित्वा अग्गफलं अरहत्तं सम्पापुणितुं, तस्मास्स अनुरूपसेनासनं दस्सन्तो भगवा "अरञ्ञगतो वा" आदिमाह।

वत्थुविज्जाचरियो विय हि भगवा। सो यथा वत्थुविज्जाचरियो नगरभूमिं पस्सित्वा सुट्ठु उपपरिक्खित्वा "एत्थ नगरं मापेथा" ति उपदिसति, सोत्थिना च नगरे निट्ठिते राजकुलतो महासक्कारं लभति, एवमेव योगावचरस्स अनुरूपसेनासनं उपपरिक्खित्वा "एत्थ कम्मट्ठानं अनुयुञ्जितब्बं" ति उपदिसति। ततो तत्थ कम्मट्ठानं अनुयुत्तेन योगिना कमेन अरहत्ते पत्ते "सम्मासम्बुद्धो वत सो भगवा" ति महन्तं सक्कारं लभति।

अयं पन भिक्खु दीपिसदिसो ति वुच्चति। यथा हि महादीपिराजा अरञ्ञे तिणगहनं वा वनगहनं वा पब्बतगहनं वा निस्साय निलीयित्वा वनमहिंसगोकण्णसूकरादयो मिगे गण्हाति; एवमेव अयं अरञ्ञादीसु कम्मट्ठानं अनुयुञ्जन्तो भिक्खु यथाक्कमेन सोतापत्ति-सकदागामि-अनागामि-अरहत्तमग्गे चेव अरियफलं च गण्हाती ति वेदितब्बो।

तेनाहु **पोराणा**—

"यथा पि दीपिको नाम निलीयित्वा गण्हति मिगे।
तथेवायं बुद्धपुत्तो युत्तयोगो विपस्सको।

प्रत्येकबुद्धों और बुद्ध के श्रावकों के विशेषाधिगम एवं दृष्टधर्मसुखविहार का आधार है—की भावना करना स्त्री-पुरुष, हाथी-घोड़े आदि के कोलाहल से भरे ग्राम को त्यागे विना सहज नहीं है—कारण यह है कि ध्यान के लिये कोलाहल विघ्न है, किन्तु ग्राम से दूर अरण्य में योगाचार के लिये इस कर्मस्थान को ग्रहण कर आनापान में चतुर्थध्यान को उत्पन्न कर उसे ही आधार बनाकर संस्कारों पर विचार करते हुए अग्रफल अर्हत्त्व को प्राप्त करना सुकर है, इसलिये उसके अनुरूप शयनासन को प्रदर्शित करने के लिये भगवान् ने **'अरण्य में गया हुआ'** आदि कहा है।

भगवान् वास्तुकला (भवननिर्माण) के आचार्य के समान है। जैसे वास्तुकला का आचार्य नगर की भूमि को देख भलीभाँति परीक्षण कर "यहाँ नगर बसाओ"—ऐसा निर्देश देता है तथा नगर के सकुशल बस जाने पर राजकुल से अत्यधिक सत्कार प्राप्त करता है; वैसे ही (भगवान्) योगी के अनुरूप शयनासन का परीक्षण कर "यहाँ कर्मस्थान में लगना चाहिये"—यों कहते हैं। तब वहाँ कर्मस्थान में लगे हुए भिक्षु द्वारा, क्रम से अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर, "वह भगवान् सम्यक्सम्बुद्ध हैं"—यों माने जाकर, अत्यधिक सत्कार प्राप्त करते हैं।

यह भिक्षु चीता के समान कहा जाता है। जैसे चीतों का राजा जङ्गल में गहन झुरमुट या वन या पर्वत की ओट में छिपकर हिरण या सूअर आदि पशुओं को पकड़ लेता है, वैसे ही वह अरण्य आदि कर्मस्थान में लगा हुआ भिक्षु क्रमशः स्रोतआपत्ति, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत् मार्ग एवं आर्यफल को ग्रहण करता है—ऐसा जानना चाहिये।

इसीलिये **प्राचीन** (पौराण) **विद्वानों** ने कहा है—

अरञ्ञे पविसित्वान गण्हाति फलमुत्तमं'' ति॥

(मि० प० ४१५)

तेनस्स परक्कमजवयोगभूमिं अरञ्ञसेनासनं दस्सेन्तो भगवा ''अरञ्ञगतो वा'' आदिमाह।

५९. तत्थ **अरञ्ञगतो** ति। ''**अरञ्ञं ति निक्खमित्वा बहि इन्दखीला सब्बमेतं अरञ्ञं**'' (अभि० २/३०२) ति च ''**आरञ्ञकं नाम सेनासनं पञ्चधनुसतिकं पच्छिमं**'' (वि० १/३७१) ति एवं वुत्तलक्खणेसु अरञ्ञेसु यं किञ्चि पविवेकसुखं अरञ्ञं गतो। **रुक्खमूलगतो** ति। रुक्खसमीपं गतो। **सुञ्ञागारगतो** ति। सुञ्ञं विवित्तोकासं गतो। एत्थ च ठपेत्वा अरञ्ञं च रुक्खमूलं च अवसेससत्तविधसेनासनगतो पि सुञ्ञागारगतो ति वत्तुं वट्टति।

एवमस्स उतुत्तयानुकूलं[1] धातुचरियानुकूलं च आनापानस्सतिभावनानुरूपं सेनासनं उपदिसित्वा अलीनानुद्धच्चपक्खिकं सन्तं इरियापथं उपदिसन्तो **निसीदती** ति आह। अथस्स निसज्जाय दळ्हभावं अस्सासपस्सासानं पवत्तनसुखतं आरम्मणपरिग्गहूपायं च दस्सेन्तो— **पल्लङ्कं आभुजित्वा** ति आदिमाह। तत्थ **पल्लङ्कं** ति। समन्ततो ऊरुबद्धासनं। **आभुजित्वा** ति। बन्धित्वा। **उजुं कायं पणिधाया** ति। उपरिमसरीरं उजुकं ठपेत्वा। अट्ठारस पिट्ठिकण्टके कोटिया

''जैसे चीता छिपकर पशुओं को पकड़ता है, वैसे ही योग में लगा, विपश्यना करने वाला यह बुद्धपुत्र अरण्य में प्रवेश कर उत्तम फल को ग्रहण करता है''॥ (मि० प० ४१५)

अत: इस (भिक्षु) के पराक्रम (वीर्य उत्साह) में तीव्रता लाने योग्य भूमि—अरण्यशयनासन को प्रदर्शित करते हुए भगवान् ने 'अरण्यगतो वा' आदि कहा है।

५९. **अरञ्ञगतो**—''अरण्य—इन्द्रकील के बाहर यह सब (भूमि) अरण्य है'' (अभि० २/३०२) एवं ''आरण्यक शयनासन कम से कम पाँच सौ धनुष वाला होता है'' (वि० १/३७१)— इस प्रकार बतलाये गये किसी भी एकान्त, सुखद अरण्य में गया हुआ। **रुक्खमूलगतो**—वृक्ष के समीप गया हुआ कहा जा सकता है।

यों इसके लिये तीनों ऋतुओं के अनुकूल[2] धातु[3] या चर्या के अनुकूल[4] एवं आनापानस्मृति की भावना के अनुरूप शयनासन का उपदेश देकर, शिथिलता एवं औद्धत्य से रहित, शान्त ईर्य्यापथ का उपदेश देते हुए '**निसीदति**'—ऐसा कहा गया है। पुन: इसके बैठने के दृढ़ भाव, श्वास-प्रश्वास के प्रवर्तन में सरलता होने तथा आलम्बनपरिग्रह के उपाय को प्रदर्शित करते हुए **पल्लङ्कं आभुजित्वा** (पालथी मारकर) आदि कहा गया है। **पल्लङ्क**—जाङ्घों को पूरी तरह से बाँध कर बैठना।

---

१. गिम्हकाले च अरञ्ञं अनुकूलं, हेमन्ते रुक्खमूलं, वस्सकाले सुञ्ञागारं। सेम्हधातुकस्स सेम्हपकतिकस्स अरञ्ञं, पित्तधातुकस्स रुक्खमूलं, वातधातुकस्स सुञ्ञागारं अनुकूलं। मोहचरितस्स अरञ्ञं, दोसचरितस्स रुक्खमूलं, रागचरितस्स सुञ्ञागारं अनुकूलं।

२. ग्रीष्म ऋतु में अरण्य, हेमन्त में वृक्षमूल, वर्षाकाल में शून्यागार अनुकूल है।

३. कफप्रकृति (धातु) के लिये अरण्य, पित्तप्रकृति के लिये वृक्षमूल, वायुप्रकृति के लिये शून्यागार अनुकूल है।

४. मोहचरित के लिये अरण्य, द्वेषचरित के लिये वृक्षमूल, रागचरित के लिये शून्यागार अनुकूल है।

कोटिं पटिपादेत्वा। एवं हि निसीदन्तस्स चम्ममंसन्हारूनि न पणमन्ति। अथस्स या तेसं पणमनपच्चया खणे खणे वेदना उप्पज्जेयुं, ता न उप्पज्जन्ति। तासु अनुप्पज्जमानासु चित्तं एकग्गं होति, कम्मट्ठानं न परिपतति, वुद्धिं फातिं उपगच्छति। **परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा** ति। कम्मट्ठानाभिमुखं सतिं ठपयित्वा। अथ वा **परी** ति परिग्गहट्ठो, **मुखं** ति निय्यानट्ठो, **सती** ति उपट्ठानट्ठो। तेन वुच्चति "परिमुखं सतिं" ति एवं **पटिसम्भिदायं** (खु० नि० ५/२०४) वुत्तनयेन पेत्थ अत्थो दट्ठब्बो। तत्रायं सङ्खेपो—परिग्गहितनिय्यानसतिं कत्वा ति।

६०. सो **सतो व अस्ससति, सतो व पस्ससती** ति। सो भिक्खु एवं निसीदित्वा एवं च सतिं उपट्ठपेत्वा तं सतिं अविजहन्तो, सतो एव अस्ससति, सतो एव पस्ससति। सतोकारी होती ति वुत्तं होति। इदानि येहाकारेहि सतोकारी होति, ते दस्सेतुं **दीघं वा अस्ससन्तो** ति आदिमाह। वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—"**सो सतो व अस्ससति, सतोव पस्ससती**" ति। एतस्सेव **विभङ्गे**—

"**बत्तिंसाय आकारेहि सतोकारी होति। दीघं अस्सासवसेन चित्तस्स एकग्गतं अविक्खेपं पजानतो सति उपट्ठिता होति। ताय सतिया तेन ञाणेन सतोकारी होति दीघं पस्सासवसेन...पे०...पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्सासवसेन**[1]**। पटिनिस्सग्गानुपस्सी पस्सासवसेन**[1]

आभुजित्वा—बाँधकर। **उजुं कायं पणिधाय**—शरीर को सीधा रखते हुए, अट्ठारह रीढ़ की हड्डियों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक (सीधा रखते हुए)। ऐसे बैठने पर इसके चर्म मांस स्नायु झुकते नहीं हैं। अतः, उनके झुके रहने पर हर समय जो वेदनाएँ (शारीरिक कष्ट या असुविधा के अनुभव) उत्पन्न होते हैं, वे (वैसी स्थिति में) उत्पन्न नहीं होती। उनके न उत्पन्न होने पर चित्त एकाग्र होता है, कर्मस्थान छूटता नहीं, वृद्धि एवं स्फीत भाव को प्राप्त होता है। **परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा**—कर्मस्थान की ओर स्मृति को स्थिर रखकर। अथवा—'परि' का अर्थ है परिग्रह। 'मुख' का अर्थ निर्याण (बाहर जाना) और 'सति' का अर्थ है उपस्थान (सजग, उपस्थित रहना)। इसलिये कहा गया है—"परिमुखं सतिं"। यों तो **पटिसम्भिदा** (खु० नि० ५/२०४) में बताये गये प्रकार से भी यहाँ अर्थ लगाया जा सकता है। संक्षेप यह है—निर्याण स्मृति को परिगृहीत करके।

६०. **सो सतो व अस्ससति सतो व पस्ससति**—वह भिक्षु यों बैठकर, और इस प्रकार स्मृति को उपस्थित करके, उस स्मृति को न छोड़ते हुए, स्मृति के साथ ही श्वास लेता है, स्मृति के साथ ही श्वास छोड़ता है। अभिप्राय यह है कि वह स्मृति के साथ (साँस लेने छोड़ने का कार्य) करने वाला होता है। अब जिन आकारों में (=जिस प्रकार) वह स्मृति के साथ करने वाला होता है, उन्हें प्रदर्शित करते हुए '**दीघं वा अस्ससन्तो**' आदि कहा गया है। क्योंकि **पटिसम्भिदा** में कहा गया है—"वह स्मृति के साथ ही साँस लेता है, स्मृति के साथ ही साँस छोड़ता है।" इसी के **विभङ्ग** (व्याख्या) में—

"बत्तीस आकार में स्मृति के साथ करने वाला होता है। लम्बा साँस लेने से, चित्त की एकाग्रता, अविक्षेप को जानते हुए, स्मृति उपस्थित रहती है। उस स्मृति और उस ज्ञान के द्वारा,

---

१, १. विनयनयेन अन्तो उट्ठितससनं **अस्सासो**, बहि उट्ठितससनं **पस्सासो**। सुत्तन्तनयेन पन बहि उट्ठहित्वापि अन्तोससनतो **अस्सासो**, अन्तो उट्ठहित्वा पि बहि ससनतो **पस्सासो**।

चित्तस्स एकग्गतं अविक्खेपं पजानतो सति उपट्ठिता होति, ताय सतिया तेन ञाणेन सतोकारी होती" (खु० नि० ५/२०४) ति।

तत्थ **दीघं वा अस्ससन्तो** ति। दीघं वा अस्सासं पवत्तयन्तो। "अस्सासो ति बहि निक्खमनवातो, पस्सासो ति अन्तो पविसनवातो" ति **विनयट्ठकथायं** वुत्तं। **सुत्तन्तट्ठकथासु** पन उप्पटिपाटिया आगतं। तत्थ सब्बेसं पि गब्भसेय्यकानं मातुकुच्छितो निक्खमनकाले पठमं अब्भन्तरवातो बहि निक्खमति, पच्छा बाहिरवातो सुखुमरजं गहेत्वा अब्भन्तरं पविसन्तो तालु आहच्च निब्बायति। एवं ताव अस्सासपस्सासा वेदितब्बा।

या पन तेसं दीघरस्सता, सा अद्धानवसेन वेदितब्बा। यथा हि ओकासद्धानं फरित्वा ठितं उदकं वा वालिका वा "दीघं उदकं दीघा वालिका, रस्सं उदकं रस्सा वालिका" ति वुच्चति, एवं चुण्णविचुण्णा पि अस्सासपस्सासा हत्थिसरीरे च अहिसरीरे च तेसं अत्तभावसङ्खातं दीघं अद्धानं सणिकं पूरेत्वा सणिकमेव निक्खमन्ति, तस्मा 'दीघा' ति वुच्चन्ति। सुनखससादीनं अत्तभावसङ्खातं रस्सं अद्धानं सीघं पूरेत्वा सीघमेव निक्खमन्ति, तस्मा 'रस्सा' ति वुच्चन्ति।

मनुस्सेसु पन केचि हत्थि-अहिआदयो विय कालद्धानवसेन दीघं अस्ससन्ति च

स्मृति के साथ करने वाला होता है। लम्बा साँस छोड़ने से...पूर्ववत्...साँस लेने से प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करने वाला होता है। साँस छोड़ने से प्रतिनिःसर्ग की अनुपश्यना करने वाला होता है। चित्त की एकाग्रता, अविक्षेप को जानते हुए, स्मृति उपस्थित होती है। उस स्मृति, उस ज्ञान के कारण, स्मृति के साथ करने वाला होता है।" (खु० नि० ५/२०४)।

दीघं वा अस्ससन्तो—अथवा लम्बी सांस लेते हुए। **विनय (पिटक) की अट्ठकथा** में कहा गया है—बाहर निकलने वाली वायु आश्वास है, भीतर प्रवेश करने वाली वायु प्रश्वास है। किन्तु **सुत्तन्त की अट्ठकथाओं** में इसके विपरीत आया हुआ है। वहाँ—'सभी गर्भस्थ शिशु जब माता के गर्भ से निकलते हैं, उस समय पहले तो भीतर की वायु बाहर निकलती है, फिर बाहर से वायु सूक्ष्म रज (धूल) को लेकर भीतर प्रवेश करते हुए, तालु से लगकर शान्त हो जाती है—यों आश्वास-प्रश्वास को जानना चाहिये।

जो उनकी दीर्घता एवं ह्रस्वता है, उसे कालिक दूरी (अद्धान) के आधार पर समझना चाहिये। जैसे कि रिक्त स्थान में फैला हुआ जल या बालू (स्थान के अनुसार) दीर्घ जल या दीर्घ बालू, ह्रस्व जल या ह्रस्व बालू—यों कहा जाता है, वैसे ही सूक्ष्म से सूक्ष्म भी आश्वास-प्रश्वास हाथी के शरीर में और साँप के शरीर में आत्मभावसंज्ञक लम्बी दूरी (अर्थात् लम्बे शरीर) में धीरे धीरे भरते हुए धीरे धीरे ही निकलते हैं, इसलिये दीर्घ (बड़े, लम्बे) कहे जाते हैं। कुत्ते-खरगोश आदि की आत्मभावसंज्ञक ह्रस्व दूरी को शीघ्रता से भरकर शीघ्रता से ही निकलते हैं, इसलिये ह्रस्व (छोटे) कहे जाते हैं।

(तात्पर्य यह है कि शरीर जितना ही दीर्घायत होगा, श्वास-प्रश्वास को भरने और निकलने में उतना ही समय लगेगा।)

किन्तु मनुष्यों में कोई कोई तो हाथी साँप आदि के समान सामयिक दृष्टि से लम्बा साँस

पस्ससन्ति च। केचि सुनख-ससादयो विय रस्सं। तस्मा तेसं कालवसेन दीघमद्धानं निक्खमन्ता च पविसन्ता च ते 'दीघा', इत्तरमद्धानं निक्खमन्ता च पविसन्ता च 'रस्सा' ति वेदितब्बा।

तत्रायं भिक्खु नवहाकारेहि दीघं अस्ससन्तो पस्ससन्तो च 'दीघं अस्ससामि पस्ससामी' ति पजानाति। एवं पजानतो चस्स एकेनाकारेन कायानुपस्सनासतिपट्ठानभावना सम्पज्जती ति वेदितब्बा। यथाह **पटिसम्भिदायं**—

'कथं दीघं अस्ससन्तो 'दीघं अस्ससामी' ति पजानाति? दीघं पस्ससन्तो 'दीघं पस्ससामी' ति पजानाति? दीघं अस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति, दीघं पस्सासं अद्धानसङ्खाते पस्सति। दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति पि पस्ससति पि। दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससतो पि पस्ससतो पि छन्दो उप्पज्जति। छन्दवसेन ततो सुखुमतरं दीघं अस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति, छन्दवसेन ततो सुखुमतरं दीघं पस्सासं...पे०...दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति पि पस्ससति पि। छन्दवसेन ततो सुखुमतरं दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससतो पि पस्ससतो पि पामोज्जं उप्पज्जति। पामोज्जवसेन ततो सुखुमतरं दीघं अस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति। पामोज्जवसेन ततो सुखुमतरं दीघं पस्सासं...पे०...दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससति पि पस्ससति पि। पामोज्जवजेन ततो सुखुमतरं दीघं अस्सासपस्सासं अद्धानसङ्खाते अस्ससतो पि पस्ससतो पि दीघं अस्सासपस्सासा चित्तं विवट्टति, उपेक्खा सण्ठाति। इमेहि नवहि आकारेहि दीघं अस्ससपस्सासा कायो। उपट्ठानं सति। अनुपस्सना ञाणं। कायो उपट्ठानं, नो सति। सति उपट्ठानं

लेते और छोड़ते हैं, तो कोई कुत्ते या खरगोश के समान छोटा। इसलिये जब वे (आश्वास-प्रश्वास) समय के अनुसार लम्बी दूरी तक निकलें और प्रवेश करें, तब उन्हें दीर्घ, एवं जब अल्प दूरी तक निकले और प्रवेश करें तब ह्रस्व जानना चाहिये।

वहाँ यह भिक्षु नौ प्रकार से लम्बा सांस लेते और छोड़ते हुए 'लम्बा सांस ले रहा और छोड़ रहा हूँ'—ऐसा जानता है। यों जानते हुए उसे एक प्रकार से कायानुपश्यना—स्मृतिप्रस्थान भावना उत्पन्न होती है—ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि **पटिसम्भिदा** में कहा गया है—

"किस प्रकार लम्बा सांस लेते हुए 'लम्बा सांस ले रहा हूँ'—ऐसा जानता है? कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेता है, कालिक दृष्टि से लम्बा सांस छोड़ता है। कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेता भी है, छोड़ता भी है, कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेते हुए भी, छोड़ते हुए भी, छन्द (उत्साह) उत्पन्न होता है। छन्द के कारण पूर्वापेक्षया सूक्ष्म (मन्द) और कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेता है, छन्द के कारण पूर्वापेक्षया सूक्ष्म, लम्बा सांस छोड़ता ...पूर्ववत्... कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेता भी है, छोड़ता भी है। छन्द के कारण, कालिक दृष्टि से पूर्वापेक्षया मन्द, लम्बा सांस लेते भी, छोड़ते भी प्रमोद उत्पन्न होता है, प्रमोद के कारण पहले से भी अधिक सूक्ष्म कालिक दृष्टि से लम्बा सांस लेता भी है, छोड़ता भी है। प्रमोद के कारण पूर्वापेक्षया सूक्ष्म, कालिक दृष्टि से लम्बी सांस लेते हुए भी और छोड़ते हुए भी, लम्बी सांस लेने और छोड़ने की ओर से चित्त विरत हो जाता है एवं उपेक्षा स्थित हो जाती है। ये नौ आकार के दीर्घ आश्वास-प्रश्वास काय हैं। (तात्पर्य यह है कि ये नौ प्रकार ही समग्रत: दीर्घ आश्वास-प्रश्वास कहे जाते हैं)। उपस्थान (आधार) स्मृति है। अनुपश्यना ज्ञान है। काय उपस्थान (तो) है (किन्तु) स्मृति नहीं है। स्मृति

चेव सति च। ताय सतिया तेन आणेन तं कायं अनुपस्सति। तेन वुच्चति—काये कायानुपस्सना सतिपट्ठानभावना" (खु० नि० ५/२०५) ति।

एस नयो रस्सपदे पि। अयं पन विसेसो—यथा एत्थ "दीघं अस्सासं अद्धानसङ्खाते" ति वुत्तं, एवमिध "रस्सं अस्सासं इत्तरसङ्खाते अस्ससती" ति आगतं। तस्मा रस्सवसेन याव "तेन वुच्चति काये कायानुपस्सना सतिपट्ठानभावना" ति ताव योजेतब्बं।

एवमयं[१] अद्धानवसेन[२] इत्तरवसेन[३] च इमेहि आकारेहि[४] अस्सासपस्सासे पजानन्तो दीघं वा अस्ससन्तो दीघं अस्ससामी ति पजानाति ...पे०...रस्सं वा पस्ससन्तो रस्सं पस्ससामी ति पजानाती ति वेदितब्बो। एवं पजानतो चस्स—

दीघो रस्सो च अस्सासो पस्सासो पि च तादिसो।
चत्तारो वण्णा[५] वत्तन्ति नासिकग्गे व[६] भिक्खुनो ति॥

(वि० टु० २/१६)

६१. **सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामि...पे०...पस्ससिस्सामीति सिक्खतीति।**

उपस्थान भी है, स्मृति भी है। उस स्मृति, उस ज्ञान से उस काया की अनुपश्यना करता है। इसीलिये कहा गया है—"काया में कायानुपश्यना-स्मृतिप्रस्थानभावना" (खु० नि० ५/२०५)।

यही विधि ह्रस्व शब्द में भी है। अन्तर यह है—जैसे यहाँ 'दीघं अस्सासं अद्धानसङ्खाते' कहा गया है, वैसे ही यहाँ—'रस्सं अस्सासं इत्तरसङ्खाते अस्ससति'—ऐसा आया है। इसलिये (दीर्घ के स्थान पर) 'ह्रस्व' रखते हुए 'तेन वुच्चति काये कायानुपस्सना सतिपट्ठानभावना' तक योजना कर लेनी चाहिये।

यों यह (योगी) दीर्घकाल के अनुसार एवं परिमित काल के अनुसार इन (नौ) आकारों में आश्वास-प्रश्वास को जानते हुए यदि लम्बा सांस लेता है तो 'लम्बा सांस ले रहा हूँ' ऐसा जानता है ...पूर्ववत्... यदि छोटा सांस छोड़ रहा होता है, तो 'छोटा सांस छोड़ रहा हूँ' ऐसा जानता है—यों समझना चाहिये। यों जानते हुए इस—

"भिक्षु की नासिका के अग्रभाग पर[७] दीर्घ और ह्रस्व आश्वास एवं वैसे प्रश्वास भी—(ये) चारों आकार (वर्ण[८]) प्रवर्तित होते हैं॥"

६१. **सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामि...पे०...पस्ससिस्सामीति सिक्खति**—समस्त

---

१. **अयं** ति योगावचरो।
२. **अद्धानवसेना** ति। दीघकालवसेन।
३. **इत्तरवसेना** ति। परित्तकालवसेन।
४. **इमेहि आकारेही** ति। इमेहि नवहि आकारेहि।
५. **चत्तारो वण्णा** ति। चत्तारो आकारा। ते च दीघादयो व।
६. **नासिकग्गे व भिक्खुनो** ति। गाथाबन्धसुखत्थं रस्सं कत्वा वुत्तं—"**नासिकग्गे व**" इति। वा-सद्दो अनियमत्थो, तेन उत्तरोट्ठं सङ्गण्हाति।
७. गाथासंरचना की सुकरता के लिये "नासिकग्गे वा" इस पाठ को ह्रस्व करके 'नासिकग्गेव' कहा गया है। वा (या) यहाँ अ-नियमार्थ है। अत: यहाँ ऊपर का ओष्ठ भी संगृहीत होता है।
८. आकार को ही यहाँ 'वर्ण' कहा गया है। दीर्घ आश्वास, ह्रस्व आश्वास, दीर्घ प्रश्वास, ह्रस्व प्रश्वास—ये चार आकार हैं।

सकलस्स अस्सासकायस्स आदिमज्झपरियोसानं विदितं करोन्तो पाकटं करोन्तो अस्ससिस्सामी ति सिक्खति। सकलस्स पस्सासकायस्स आदिमज्झपरियोसानं विदितं करोन्तो पाकटं करोन्तो पस्ससिस्सामी ति सिक्खति। एवं विदितं करोन्तो पाकटं करोन्तो ञाणसम्पयुत्तचित्तेन अस्ससति चेव पस्ससति च। तस्मा "अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" ति वुच्चति।

एकस्स हि भिक्खुनो चुण्णविचुण्णविसटे[1] अस्सासकाये पस्सासकाये वा आदि पाकटो होति, न मज्झपरियोसानं। सो आदिमेव परिग्गहेतुं सक्कोति, मज्झपरियोसाने किलमति। एकस्स मज्झं पाकटं होति, न आदिपरियोसानं। एकस्स परियोसानं पाकटं होति, न आदिमज्झं। सो परियोसानं येव परिग्गहेतुं सक्कोति, आदिमज्झे किलमति। एकस्स सब्बं पि पाकटं होति, सो सब्बं पि परिग्गहेतुं सक्कोति, न कत्थचि किलमति। तादिसेन भवितब्बं ति दस्सेन्तो आह— "सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी ति...पे०...पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" ति।

तत्थ **सिक्खती** ति। एवं घटति वायमति। यो वा तथाभूतस्स संवरो, अयमेत्थ अधिसीलसिक्खा; यो तथाभूतस्स समाधि, अयं अधिचित्तसिक्खा; या तथाभूतस्स पञ्ञा, अयं अधिपञ्ञासिक्खा ति इमा तिस्सो सिक्खायो, तस्मिं आरम्मणे, ताय सतिया, तेन मनसिकारेन सिक्खति, आसेवति, भावेति, बहुलीकरोती ति एवमेत्थ अत्थो दट्ठब्बो।

आश्वासकाय के आदि, मध्य और अन्त को जानते हुए, प्रकट (अनुभव) करते हुए साँस लूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। समस्त प्रश्वासकाय के आदि, मध्य और अन्त को जानते हुए, प्रकट करते हुए साँस छोड़ूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। यों जानते हुए, प्रकट करते हुए, ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त से साँस लेता और छोड़ता है। अतएव कहा गया है कि "साँस लेता हूँ, साँस छोड़ता हूँ—यों अभ्यास करता है।"

किसी किसी भिक्षु को अङ्गों (अनेक कलापों) में विभक्त आश्वासकाय या प्रश्वासकाय आदि का तो स्पष्ट अनुभव होता है, किन्तु मध्य और अन्त का नहीं। वह आदि को ही ग्रहण कर सकता है, मध्य और अन्त में उसे कठिनाई का अनुभव होता है। किसी किसी को मध्य का ही स्पष्ट अनुभव होता है, आदि और अन्त का नहीं। किसी किसी को अन्त का ही स्पष्ट अनुभव होता है, आदि और मध्य का नहीं। वह अन्त को ही ग्रहण कर सकता है, आदि और मध्य में उसे कठिनाई होती है। किसी किसी को सभी का स्पष्ट अनुभव होता है। वह सबको ग्रहण कर सकता है, किसी में भी कठिनाई नहीं होती। ऐसा ही होना चाहिये—इसे दरसाते हुए कहा गया है—"सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी ति...पे०...पस्ससिस्सामी ति सिक्खति।"

सिक्खति—यों उद्योग करता है, प्रयत्न करता है। अथवा ('सिक्खति' को 'सीखता है' के अर्थ में ग्रहण करने पर), जो वैसे (योगी) का संवर है, वही यहाँ अधिशीलशिक्षा है; जो समाधि है, वही अधिचित्तशिक्षा है; जो प्रज्ञा है, वही अधिप्रज्ञशिक्षा है। इन तीन शिक्षाओं को उस आलम्बन में, उस स्मृति से, उस मनसिकार से अभ्यास करता है, दुहराता है, भावना करता है, बार बार अभ्यास करता है—यहाँ यह अर्थ समझना चाहिये।

---

१. **चुण्णविचुण्णविसटे** ति। अनेककलापताय चुण्णविचुण्णभावेन वितते।

तत्थ यस्मा पुरिमनये[१] केवलं अस्ससितब्बं पस्ससितब्बमेव, न च अञ्ञं किञ्चि कातब्बं। इतो पट्ठाय पन ञाणुप्पादनादीसु योगो करणीयो। तस्मा तत्थ अस्ससामी ति पजानाति, पस्ससामी ति पजानातिच्चेव वत्तमानकालवसेन पाळिं वत्वा, इतो पट्ठाय कत्तब्बस्स ञाणुप्पादनादिनो आकारस्स दस्सनत्थं **सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामी** ति आदिना नयेन अनागतवचनवसेन पाळि आरोपिता ति वेदितब्बा।

६२. **पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी ति ...पे०... पस्ससिस्सामी ति सिक्खती** ति। ओळारिकं कायसङ्खारं[२] पस्सम्भेन्तो पटिप्पस्सम्भेन्तो निरोधेन्तो वूपसमन्तो अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति।

तत्र एवं ओळारिकसुखुमता च पस्सद्धि च वेदितब्बा। इमस्स हि भिक्खुनो पुब्बे अपरिग्गहितकाले कायो च चित्तं च सदरथा होन्ति ओळारिका। कायचित्तानं ओळारिकत्ते अवूपसन्ते अस्सासपस्सासा पि ओळारिका होन्ति, बलवतरा हुत्वा पवत्तन्ति, नासिका नप्पहोति, मुखेन अस्ससन्तो पि पस्ससन्तो पि तिट्ठति। यदा पनस्स कायो पि चित्तं पि परिग्गहिता होन्ति, तदा ते सन्ता होन्ति वूपसन्ता। तेसु वूपसन्तेसु अस्सासपस्सासा सुखुमा हुत्वा पवत्तन्ति, "अत्थि नु खो नत्थी" ति विचेतब्बताकारप्पत्ता होन्ति।

क्योंकि पूर्व (भावना) नय में तो केवल साँस लेना और छोड़ना होता है, और कुछ नहीं करना रहता; किन्तु इसके बाद ज्ञान के उत्पादन आदि में योग करना होता है। इसलिये उस प्रसङ्ग में "श्वास लेता हूँ—यह जानता है" और 'श्वास छोड़ता हूँ यह जानता है'—यों वर्तमान काल में पालि को कहकर, इसके बाद से किये जाने योग्य ज्ञान के उत्पादन के आकार को दरसाने के लिये '**सब्बकायपटिसंवेदी अस्ससिस्सामि**'—यों भविष्य काल में पालि का प्रयोग किया गया है—यह जानना चाहिये।

६२. **पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी ति...पे०...पस्ससिस्सामीति सिक्खति**— स्थूल (औदारिक) कायसंस्कार को शान्त (प्रश्रब्ध) करते हुए, पूरी तरह से शान्त करते हुए, निरुद्ध करते हुए, उपशमित करते हुए सांस लूँगा सांस छोड़ूँगा—यों अभ्यास करता है। इस प्रसङ्ग में स्थूलता सूक्ष्मता एवं प्रश्रब्धि को समझ लेना चाहिये। क्योंकि पहले जब तक कि भिक्षु (कर्मस्थान को) परिगृहीत नहीं किये रहता, काय एवं चित्त अशान्त, अत एव स्थूल होते हैं। काय एवं चित्त के अशान्त, स्थूल होने से आश्वास-प्रश्वास भी स्थूल होते हैं, अधिक बलशाली होकर प्रवृत्त होते हैं। (ऐसा होने से उसके लिये उसकी) नासिका पर्याप्त नहीं रह जाती, तब वह मुख से (भी) सांस लेता और छोड़ता रहता है।

किन्तु जब इसकी काया भी, चित्त भी परिगृहीत होते हैं, तब वे शान्त, बहुत अच्छी तरह शान्त होते हैं। उनके अच्छी तरह से शान्त होने पर आश्वास-प्रश्वास भी इतने सूक्ष्म होकर प्रवृत्त होते हैं कि यह विवेचन करना पड़ जाता है कि वे हैं भी या नहीं!

---

१. **पुरिमनये** ति। पुरिमस्मिं भावनानये, पठमवत्थुद्वये ति अधिप्पायो।

२. ***कायसङ्खारं*** *ति। अस्सासपस्सासं।*

सेय्यथापि पुरिसस्स धावित्वा, पब्बता वा आरोहित्वा, महाभारं वा सीसतो ओरोपेत्वा ठितस्स ओळारिका अस्सासपस्सासा होन्ति, नासिका नप्पहोति, मुखेन अस्ससन्तो पि पस्ससन्तो पि तिट्ठति, यदा पनेस तं परिस्समं विनोदेत्वा न्हत्वा च पिबित्वा च अल्लसाटकं हदये कत्वा सीताय छायाय निपन्नो होति, अथस्स ते अस्सासपस्सासा सुखुमा होन्ति "अत्थि नु खो नत्थी" ति विचेतब्बताकारप्पत्ता; एवमेव इमस्स भिक्खुनो पुब्बे अपरिग्गहितकाले कायो च...पे०...विचेतब्बताकारप्पत्ता होन्ति।

तं किस्स हेतु? यथा हिस्स पुब्बे अपरिग्गहितकाले "ओळारिकोळारिके कायसङ्खारे पस्सम्भेमी" ति आभोगसमन्नाहारमनसिकारपच्चवेक्खणा नत्थि, परिग्गहितकाले पन अत्थि। तेनस्स अपरिग्गहितकालतो परिग्गहितकाले कायसङ्खारो सुखुमो होति। तेनाहु **पोराणा**—

"सारद्धे काये चित्ते च अधिमत्तं पवत्तति।
असारद्धम्हि कायम्हि सुखुमं सम्पवत्तती" ति॥

(वि० ट्ठ० २/१७)

परिग्गहे पि ओळारिको, पठमज्झानूपचारे सुखुमो। तस्मिं पि ओळारिको, पठमज्झाने सुखुमो। पठमज्झाने च दुतियज्झानूपचारे च ओळारिको, दुतियज्झाने सुखुमो। दुतियज्झाने च ततियज्झानूपचारे च ओळारिको, ततियज्झाने सुखुमो। ततियज्झाने च चतुत्थज्झानूपचारे च ओळारिको, ततियज्झाने अतिसुखुमो अप्पवत्तिमेव पापुणाती ति इदं ताव **दीघभाणकसंयुत्त-भाणकानं** मतं।

जैसे कोई पुरुष जब दौड़ने के बाद, या पर्वत पर चढ़ने के बाद, या बहुत बड़े बोझ को सिर पर से उतारने के बाद खड़ा होता है, तब उसके आश्वास-प्रश्वास स्थूल होते हैं, नासिका पर्याप्त नहीं रह जाती, तब वह मुख से भी साँस लेता है और छोड़ता रहता है। किन्तु जब वह उस थकान को मिटाकर स्नान कर एवं (पानी) पीकर तथा हृदयप्रदेश पर भीगा वस्त्र रखकर, शीतल छाया में सोता रहता है, तब वे आश्वास-प्रश्वास इतने सूक्ष्म होते हैं कि विवेचन करना पड़ जाता है कि वे हैं भी या नहीं! इसी प्रकार, यह भिक्षु पहले जब तक कि काय...परिगृहीत नहीं किये रहता है ...पूर्ववत्... विवेचन करना पड़ जाता है।

ऐसा क्यों? जिस प्रकार पहले इसके द्वारा परिगृहीत न होने के समय 'स्थूल कायसंस्कारों को शान्त करूँगा'—यों आभोग (सम्बन्ध), समन्नाहार (प्रतिक्रिया), मनस्कार, प्रत्यवेक्षण नहीं होते, किन्तु परिगृहीत होने के समय होते हैं। इसलिये परिगृहीत न होने के समय की अपेक्षा परिगृहीत होने के समय कायसंस्कार सूक्ष्म होता है। इसीलिये **प्राचीन विद्वानों** ने कहा है—

"काय और चित्त के अशान्त होने पर अधिक प्रवृत्त होता है, काय (एवं चित्त के भी) शान्त होने पर सूक्ष्म प्रवृत्त होता है॥

(वैसे तुलनात्मक दृष्टि से) परिग्रह (-काल) में भी स्थूल होता है, (परिग्रह की अपेक्षा) प्रथम ध्यान के उपचार में सूक्ष्म होता है। (वैसे ही) उस (उपचार) में भी स्थूल होता है, प्रथम ध्यान में सूक्ष्म होता है। प्रथम ध्यान और द्वितीय ध्यान के उपचार में स्थूल होता है, द्वितीय ध्यान में सूक्ष्म होता है। द्वितीय ध्यान एवं तृतीय ध्यान के उपचार में स्थूल होता है, तृतीय ध्यान में

६३. **मज्झिमभाणका** पन पठमज्झाने ओळारिको, दुतियज्झानूपचारे सुखुमो ति एवं हेट्ठिमहेट्ठिमज्झानतो उपरूपरिज्झानूपचारे पि सुखुमतरं इच्छन्ति। सब्बेसं येव पन मतेन अपरिग्गहितकाले पवत्तकायसङ्खारो परिग्गहितकाले पटिप्पस्सम्भति। परिग्गहितकाले पवत्तकायसङ्खारो पठमज्झानूपचारे...पे०...चतुत्थज्झानूपचारे पवत्तकायसङ्खारो चतुत्थज्झाने पटिप्पस्सम्भति। अयं ताव **समथे** नयो।

६४. **विपस्सनायं** पन अपरिग्गहे पवत्तो कायसङ्खारो ओळारिको, महाभूतपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, उपादानरूपपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, सकलरूप-परिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, अरूपपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, रूपारूपपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, पच्चयपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, सपच्चयनामरूपरिग्गहे सुखुमो। सो पि ओळारिको, लक्खणारम्मणिकविपस्सनाय सुखुमो। सो पि दुब्बलविपस्सनाय ओळारिको, बलवविपस्सनाय सुखुमो। तत्थ पुब्बे वुत्तनयेनेव[१] पुरिमस्स पुरिमस्स पच्छिमेन पच्छिमेन पटिप्पस्सद्धि वेदितब्बा। एवमेत्थ ओळारिकसुखुमता च पस्सद्धि च वेदितब्बा।

६५. **पटिसम्भिदायं** पनस्स सद्धिं चोदनासोधनाहि एवमत्थो वुत्तो—

सूक्ष्म होता है। तृतीय ध्यान और चतुर्थ ध्यान के उपचार में स्थूल होता है, चतुर्थ ध्यान में इतना सूक्ष्म होता है कि उसका प्रवर्तित होना ही रुक जाता है। यह **दीघनिकायभाणकों** और **संयुतनिकायभाणकों** का मत है।

६३. किन्तु **मज्झिमभाणक** प्रथम ध्यान में स्थूल, द्वितीय ध्यान के उपचार में सूक्ष्म—इस प्रकार नीचे नीचे के ध्यानों की अपेक्षा ऊपर ऊपर के ध्यानों के उपचारों में भी सूक्ष्मतर मानते हैं। किन्तु सभी के मतानुसार परिग्रह न किये गये समय में प्रवृत्त कायसंस्कार परिग्रह किये गये समय में शान्त हो जाता है। परिग्रहकाल में प्रवृत्त कायसंस्कार प्रथम ध्यान के उपचार में ...पूर्ववत्... चतुर्थ ध्यान के उपचार में प्रवृत्त कायसंस्कार चतुर्थ ध्यान में शान्त हो जाता है। यह **शमथ** (शान्त होने) की विधि है।

६४. किन्तु **विपश्यना** में तो अपरिग्रह में प्रवृत्त कायसंस्कार स्थूल, और महाभूतों के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी (अपेक्षाकृत) स्थूल होता है, उपादायरूप (चार महाभूतों के आश्रय से प्रवर्तित हुए रूप) के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, समस्त रूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, अरूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, रूप और अरूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, प्रत्यय के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी स्थूल है, प्रत्यय के साथ साथ नाम-रूप के परिग्रह में सूक्ष्म होता है।

वह भी स्थूल है, लक्षण को आलम्बन बनाने वाली विपश्यना के परिग्रह में सूक्ष्म होता है। वह भी दुर्बल विपश्यना में स्थूल है, सबल विपश्यना में सूक्ष्म होता है । इस प्रसङ्ग में, पूर्वकथित विधि के अनुसार ही, पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर (अवस्था) को शान्त जानना चाहिये। यहाँ इस प्रकार से स्थूलता, सूक्ष्मता और प्रश्रब्धि को समझना चाहिये।

---

१. **पुब्बे वुत्तनयेना** ति। 'अपरिग्गहितकाले' ति आदिना समथनये वुत्तेन नयेन।

"कथं पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामि...पे०...पस्ससिस्सामी ति सिक्खति? कतमे कायसङ्खारा? दीघं अस्सासपस्सासा कायिका एते धम्मा कायपटिबद्धा कायसङ्खारा। ते कायसङ्खारे पस्सम्भेन्तो निरोधेन्तो वूपसमेन्तो सिक्खति...पे०...यथारूपेहि कायसङ्खारेहि कायस्स आनमना[१], विनमना[२], सन्नमना[३], पणमना[४], इञ्जना[५], फन्दना, चलना, कम्पना— पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति, पस्सम्भयं कायसङ्खारं पस्ससिस्सामी ति सिक्खति। यथारूपेहि कायसङ्खारेहि कायस्स न आनमना, न विनमना, न सन्नमना, न पणमना, अनिञ्जना, अफन्दना, अचलना, अकम्पना—सन्तं सुखुमं पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामि... पस्ससिस्सामी ति सिक्खति।

"इति किर 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामी' ति सिक्खति, 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं पस्ससिस्सामी' ति सिक्खति। एवं सन्ते वातूपलद्धिया च पभावना न होति, अस्सासपस्सानं च पभावना न होति, आनापानस्सतिया च पभावना न होति, आनापानस्सतिसमाधिस्स च पभावना न होति, न च नं तं समापत्तिं पण्डिता समापज्जन्ति पि वुट्ठहन्ति पि?

"इति किर 'पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी' ति सिक्खति। एवं

---

६५. किन्तु **पटिसम्भिदामग्ग** में आक्षेप एवं परिहार के साथ यह अर्थ बतलाया गया है— "कैसे कायसंस्कार को शान्त करते हुए 'साँस लूँगा एवं साँस छोड़ूँगा' ऐसा अभ्यास करता है? कौन से कायसंस्कार हैं? दीर्घ आश्वास-प्रश्वास (सम्पूर्ण शरीर में अनुभव होने से) कायिक हैं। ये धर्मकाय से सम्बद्ध होने से कायसंस्कार हैं। उन कायसंस्कारों को शान्त करने, निरुद्ध करने, उपशमित करने का अभ्यास करता है...पूर्ववत्...जिस कायसंस्कार से काया का आगे की ओर झुकना, इधर उधर झुकना; पीछे की ओर झुकना, गति करना, स्पन्दन करना, हिलना, काँपना (आदि सम्भव होते हों वैसे) कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस लूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस लूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस छोड़ूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है। जब ऐसे कायसंस्कार होते हैं कि काया का न तो आगे झुकना, न इधर उधर झुकना, न सब ओर झुकना, न पीछे झुकना, न गति करना, न स्पन्दन करना, न हिलना, न काँपना होता है (तब)—'शान्त, सूक्ष्म, प्रश्रब्ध कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस लूँगा...साँस छोड़ूँगा'—ऐसा अभ्यास करता है।

आक्षेप : "तब वह 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस लूँगा'—यों अभ्यास करता है, 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस छोड़ूँगा'—यों अभ्यास करता है। ऐसा होने पर तो वायु की उपलब्धि की उत्पत्ति (प्रभावना) नहीं होती, आश्वास-प्रश्वास की भी उत्पत्ति नहीं होती, आनापानस्मृति की भी उत्पत्ति नहीं होती, आनापानस्मृतिसमाधि की उत्पत्ति नहीं होती, और न ही पण्डित उस समापत्ति को प्राप्त करते या उससे उत्थान ही करते हैं?

---

१. **आनमना** ति। अभिमुखभावेन कायस्स नमना। २. **विनमना** ति। विसुं विसुं पस्सतो नमना।
३. **सन्नमना** ति। सब्बतो, सुट्ठु वा नमना। ४. **पणमना** ति। पच्छतो नमना।
५. **इञ्जनादीनि** आनमनादीनं वेवचनानि, अधिमत्तानि वा अभिमुखं चलनादीनि आनमनादयो, मन्दानि इञ्जनादयो।

सन्ते वातूपलद्धिया च पभावना होति, अस्सासपस्सानं च पभावना होति, आनापानस्सतिया च पभावना होति, आनापानस्सतिसमाधिस्स च पभावना होति, तं च नं समापत्तिं पण्डिता समापज्जन्ति पि वुट्ठहन्ति पि। यथा कथं विय?

"सेय्यथापि कंसे आकोटिते पठमं ओळारिका सद्दा पवत्तन्ति, ओळारिकानं सद्दानं निमित्तं सुगहितत्ता सुमनसिकतत्ता सूपधारितत्ता निरुद्धे पि ओळारिके सद्दे अथ पच्छा सुखुमका सद्दा पवत्तन्ति, सुखमकानं सद्दानं निमित्तं सुग्गहितत्ता सुमनसिकतत्ता सूपधारितत्ता निरुद्धे पि सुखुमके सद्दे अथ पच्छा सुखुमसद्दनिमित्तारम्मणता पि चित्तं पवत्तति; एवमेव पठमं ओळारिका अस्सासपस्सासा पवत्तन्ति, ओळारिकानं अस्सासपस्सासानं निमित्तं सुग्गहितत्ता सुमनसिकतत्ता सूपधारितत्ता निरुद्धे पि ओळारिके अस्सासपस्सासे अथ पच्छा सुखुमका अस्सासपस्सासा पवत्तन्ति, सुखुमकानं अस्सासपस्सासानं निमित्तं सुग्गहितत्ता सुमनसिकतत्ता सूपधारितत्ता निरुद्धे पि सुखुमके अस्सासपस्सासे अथ पच्छा सुखुम-अस्सासपस्सासनिमित्तारम्मणता पि चित्तं न विक्खेपं गच्छति। एवं सन्ते वातूपलद्धिया च पभावना होति, अस्सासपस्सासानं च पभावना होति, आनापानस्सतिया च पभावना होति, आनापानस्सतिसमाधिस्स च पभावना होति, तं च नं समापत्तिं पण्डिता समापज्जन्ति पि, वुट्ठहन्ति पि।

"पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्सासपस्सासा कायो, उपट्ठानं सति, अनुपस्सना ञाणं, कायो उपट्ठानं, नो सति। सति उपट्ठानं चेव सति च, ताय सतिया तेन ञाणेन तं कायं अनुपस्सति। तेन वुच्चति—काये कायानुपस्सना सतिपट्ठानभावना" (खु०नि० ५/२१४) ति।

अयं तावेत्थ कायानुपस्सनावसेन वुत्तस्स पठमचतुक्कस्स अनुपुब्बपदवण्णना॥

समाधान—तब वह 'कायसंस्कार को शान्त करते हुए साँस लूँगा और साँस छोड़ूँगा'—यों अभ्यास करता है। ऐसा होने पर वायु की उपलब्धि की उत्पत्ति होती है, आश्वास-प्रश्वास एवं आनापान-स्मृति तथा आनापान-स्मृतिसमाधि की भी उत्पत्ति होती है, एवं उस समापत्ति को पण्डित प्राप्त भी करते हैं और उससे उत्थित भी होते हैं। किसके समान?

"जैसे कि जब कोई काँसे पर चोट करता है, तब पहले तो स्थूल शब्द ('टन्' की ध्वनि) उत्पन्न होते हैं। स्थूल शब्दों के निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करने पर, मन में लाने पर, धारण करने पर, स्थूल शब्दों के निरुद्ध हो जाने के बाद भी सूक्ष्म शब्द (प्रतिध्वनि) उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म शब्दों के निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करने पर, मन में लाने पर, धारण करने पर, सूक्ष्म शब्द के निरुद्ध हो जानेपर भी, बाद में सूक्ष्म शब्दनिमित्त को आलम्बन बनाने वाला चित्त उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पहले स्थूल आश्वास प्रश्वास उत्पन्न होते हैं। स्थूल आश्वास प्रश्वासों के निमित्त को भलीभाँति ग्रहण करने पर, मन में लाने पर, भलीभाँति धारण करने पर सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वासों का निरोध हो जाने पर भी, सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास निमित्त को आलम्बन बनाने वाला चित्त भी विक्षेप को प्राप्त नहीं होता। ऐसा होने से वायु-उपलब्धि की उत्पत्ति होती है, आश्वास-प्रश्वास की उत्पत्ति होती है, आनापान-स्मृति की उत्पत्ति होती है, आनापानस्मृति-समाधि की उत्पत्ति होती है, और उस समापत्ति को पण्डित प्राप्त करते हैं और उससे उत्थित भी होते हैं।

"काय-संस्कार को शान्त करने वाले आश्वास-प्रश्वास काय है, उपस्थान (स्थापना) स्मृति

६६. यस्मा पनेत्थ इदमेव चतुक्कं आदिकम्मिकस्स कम्मट्ठानवसेन वुत्तं। इतरानि पन तीणि चतुक्कानि एत्थ पत्तज्झानस्स वेदनाचित्तधम्मानुपस्सनावसेन वुत्तानि। तस्मा इदं कम्मट्ठानं भावेत्वा आनापानचतुत्थज्झानपदट्ठानाय विपस्सनाय सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणितु-कामेन आदिकम्मिकेन कुलपुत्तेन पुब्बे वुत्तनयेनेव सीलपरिसोधनादीनि सब्बकिच्चानि कत्वा वुत्तप्पकारस्स आचरियस्स सन्तिके पञ्चसन्धिकं[1] कम्मट्ठानं उग्गहेतब्बं।

तत्रिमे पञ्च सन्धयो—उग्गहो, परिपुच्छा, उपट्ठानं, अप्पना, लक्खणं ति। तत्थ **उग्गहो** नाम कम्मट्ठानस्स उग्गण्हनं। **परिपुच्छा** नाम कम्मट्ठानस्स परिपुच्छना। **उपट्ठानं** नाम कम्मट्ठानस्स उपट्ठानं। **अप्पना** नाम कम्मट्ठानस्स अप्पना। **लक्खणं** नाम कम्मट्ठानस्स लक्खणं। "एवंलक्खणमिदं कम्मट्ठानं" ति कम्मट्ठानसभावूपधारणं ति वुत्तं होति।

६७. एवं पञ्चसन्धिकं कम्मट्ठानं उग्गण्हन्तो अत्तना पि न किलमति, आचरियं पि न विहेसेति। तस्मा थोकं उद्दिसापेत्वा बहुकालं सज्झायित्वा एवं पञ्चसन्धिकं कम्मट्ठानं उग्गहेत्वा आचरियस्स सन्तिके वा अञ्ञत्र वा पुब्बे वुत्तप्पकारे सेनासने वसन्तेन उपच्छिन्न-खुद्दकपलिबोधेन कतभत्तकिच्चेन भत्तसम्मदं पटिविनोदेत्वा सुखनिसिन्नेन रतनत्तयगुणानुस्सरणेन

है, अनुपश्यना ज्ञान है। काया उपस्थान (तो) है, (किन्तु वह) स्मृति नहीं है। स्मृति उपस्थान भी है, स्मृति भी है। उस स्मृति और उस ज्ञान से उस काया की अनुपश्यना करता है। अतः कहा गया है—"काये कायानुपस्सना सतिपट्ठानभावना" (खु० नि० ५/२१४)।

यह कायानुपश्यनासम्बन्धी प्रथम चतुष्क की यथाक्रम शब्दशः व्याख्या है॥

अन्य चतुष्कों की भावनाविधि : ६६. प्रारम्भ करने वाले (भिक्षु) के लिये कर्मस्थान के रूप में प्रथम चतुष्क कहा गया है; किन्तु अन्य तीन चतुष्क (इसी प्रथम चतुष्क में) ध्यान प्राप्त कर चुकने वाले के लिये वेदना, चित्त और धर्मों की अनुपश्यना के रूप में बतलाये गये हैं। अतएव इस कर्मस्थान की भावना कर, आनापान में प्राप्त हुए चतुर्थ ध्यान के कारण उत्पन्न विपश्यना के साथ पटिसम्भिदा द्वारा अर्हत्त्व प्राप्त करने की कामना करने वाले आदिकर्मिक (प्रारम्भ करने वाले) कुलपुत्र को पूर्वोक्त प्रकार से ही शील के परिशोधन आदि सभी कार्य कर, उक्त प्रकार के आचार्य के पास पञ्चसन्धिक (पाँच भागों वाले) कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिये।

पाँच सन्धियाँ ये हैं—उद्ग्रह, परिपृच्छा, उपस्थान, अर्पणा एवं लक्षण। इनमें **उद्ग्रह**—कर्मस्थान का ग्रहण है। **परिपृच्छा**—कर्मस्थान के विषय में प्रश्न पूछना है। **उपस्थान**—कर्मस्थान की स्थापना (उपस्थान) है। **अर्पणा**—कर्मस्थान की अर्पणा है। **लक्षण**—कर्मस्थान का लक्षण है। अर्थात् "यह कर्मस्थान इस लक्षण वाला है"—यों कर्मस्थान के स्वभाव का निश्चय है।

६७. यों पाँच सन्धियों वाले कर्मस्थान का ग्रहण करने वाला स्वयं को भी नहीं थकाता और आचार्य को भी उद्विग्न नहीं करता। इसलिये (आचार्य से) थोड़ा सा कहलवा कर (एवं) उसका लम्बे समय तक पाठ करते हुए, यों पाँच भागों वाले कर्मस्थान का ग्रहण कर आचार्य के समीप या कहीं अन्यत्र (जाकर) पूर्वोक्त प्रकार के शयनासन में रहने वाले, छोटे छोटे परिबोधों

---

१. **पञ्चसन्धिकं** ति। पञ्चपब्बं, पञ्चभागं ति अत्थो।

चित्तं सम्पहंसेत्वा आचरियुग्गहतो एकपदं पि असम्मुय्हन्तेन इदं आनापानस्सतिकम्मट्ठानं मनसिकातब्बं।

६८. तत्रायं मनसिकारविधि—

गणना अनुबन्धना फुसना ठपना सल्लक्खणा।
विवट्टना पारिसुद्धि तेसं च पटिपस्सना॥

तत्थ **गणना** ति। गणना येव। **अनुबन्धना** ति। अनुवहना[1]। **फुसना** ति। फुट्ठट्ठानं। **ठपना** ति। अप्पना। **सल्लक्खणा** ति। विपस्सना। **विवट्टना** ति। मग्गो। **पारिसुद्धा** ति। फलं। **तेसं च पटिपस्सना** ति। पच्चवेक्खणा।

(१) तत्थ इमिना आदिकम्मिकेन कुलपुत्तेन पठमं **गणनाय** इदं कम्मट्ठानं मनसि कातब्बं। गणन्तेन च पञ्चन्नं हेट्ठा न ठपेतब्बं। दसन्नं उपरि न नेतब्बं। अन्तरा खण्डं न दस्सेतब्बं। पञ्चन्नं हेट्ठा ठपेन्तस्स हि सम्बाधे ओकासे चित्तुप्पादो विफन्दति, सम्बाधे वजे सन्निरुद्धगोगणो विय। दसन्नं पि उपरि नेन्तस्स गणननिस्सितको चित्तुप्पादो होति। अन्तरा खण्डं दस्सेन्तस्स "सिखापत्तं नु खो मे कम्मट्ठानं, नो" ति चित्तं विकम्पति। तस्मा एते दोसे वज्जेत्वा गणेतब्बं।

गणेन्तेन च पठमं दन्धगणनाय **धञ्ञमापकगणनाय** गणेतब्बं। धञ्ञमापको हि नाळिं

को नष्ट कर चुके, भोजन कर एवं भोजन से उत्पन्न आलस्य को दूर कर चुके, सुखपूर्वक बैठे हुए (भिक्षु) को चाहिये कि रत्नत्रय के गुणों के बार बार स्मरण से चित्त को प्रमुदित करते हुए तथा आचार्य से सीखे गये एक पद को भी न भुलाते हुए इस आनापान-स्मृति कर्मस्थान का मनस्कार करें।

६८. **मनस्कार की विधि** इस प्रकार है—

१. गणना, २. अनुबन्धना, ३. स्पर्श करना, ४. स्थापना, ५. संलक्षण, ६. विवर्तन, ७. पारिशुद्धि और ८. उनका प्रत्यवेक्षण।

गणना—गिनती करना। **अनुबन्धना**—(आश्वास-प्रश्वास के विषय में स्मृति का) निरंतर अनुप्रवर्तन (जारी रहना)। **फुसना**—स्पर्श किया हुआ स्थान। **ठपना**—अर्पणा (आलम्बन में चित्त को स्थिर रखना)। **सल्लक्खणा**—विपश्यना। **विवट्टना**—मार्ग। **पारिसुद्धि**—फल। **तेसं च पटिपस्सना** और उनका प्रत्यवेक्षण।

१. गणना—इनमें, आदिकर्मिक कुलपुत्र को पहले गणना द्वारा इस कर्मस्थान को मन में लाना चाहिये, एवं गिनती करते समय पाँच से पहले नहीं रुकना चाहिये। दस से ऊपर नहीं ले जाना चाहिये। पाँच से नीचे रुकने वाले के विचार (चित्तोत्पाद) सीमित परिधि में चञ्चल होते हैं, गोशाला में घिरी हुई गायों के झुण्ड के समान। दस से ऊपर जाने वाले के विचार गणना (न कि आश्वास-प्रश्वास) पर आश्रित हो जाते हैं। बीच में अन्तर डालने वाले का चित्त यों अस्थिर रहता है कि "मेरा कर्मस्थान पूर्ण हुआ या नहीं।" अतएव उसे इन दोषों को छोड़ते हुए गिनना चाहिये।

---

१. **अनुवहना** ति। अस्सासपस्सासानं **अनुगमनवसेन** सतिया निरन्तरं अनुपवत्तना।

पूरेत्वा "एकं" ति वत्वा ओकिरति। पुन पूरेन्तो किञ्चि कचवरं दिस्वा तं छड्डेन्तो "एकं एकं" ति वदति। एस नयो द्वे द्वे ति आदीसु। एवमेव इमिना पि अस्सासपस्सासेसु यो उपट्ठाति, तं गहेत्वा "एकं एकं" ति आदिं कत्वा याव "दस दसा" ति पवत्तमानं पवत्तमानं उपलक्खेत्वा व गणेतब्बं। तस्सेवं गणयतो निक्खमन्ता च पविसन्ता च अस्सासपस्सासा पाकटा होन्ति।

अथानेन तं दन्धगणनं धञ्ञमापकगणनं पहाय सीघगणनाय **गोपालकगणनाय** गणेतब्बं। छेको हि गोपालको सक्खरायो उच्छङ्गेन गहेत्वा रज्जुदण्डहत्थो पातो व वजं गन्त्वा गावो पिट्ठियं पहरित्वा पलिघत्थम्भमत्थके निसिन्नो द्वारप्पत्तं द्वारप्पत्तं येव गाविं एका द्वे ति सक्खरं खिपित्वा गणेति। तियामरत्तिं सम्बाधे ओकासे दुक्खंवुत्थगोगणो निक्खमन्तो निक्खमन्तो अञ्ञमञ्ञं उपनिघसन्तो वेगेन वेगेन पुञ्जपुञ्जो हुत्वा निक्खमति। सो वेगेन, वेगेन "तीणि चत्तारि पञ्च दसा" ति गणेति येव।

एवं इमस्सा पि पुरिमनयेन गणयतो अस्सासपस्सासा पाकटा हुत्वा सीघं सीघं पुनप्पुनं सञ्चरन्ति। ततोनेन 'पुनप्पुनं सञ्चरन्ती' ति ञत्वा अन्तो च बहि च अगहेत्वा द्वारप्पत्तं द्वारप्पत्तं येव गहेत्वा "एको द्वे तीणि चत्तारि पञ्च छ, एको द्वे तीणि चत्तारि पञ्च छ सत्त...पे०...अट्ठ... नव...दसा" ति सीघं सीघं गणेतब्बमेव। गणनपटिबद्धे हि कम्मट्ठाने गणनबलेनेव चित्तं एकग्गं होति, अरित्तुपत्थम्भनवसेन चण्डसोते नावाट्ठपनमिव।

गिनते समय उसे पहले तो रुक रुक कर, **धान्य मापने वाले की गणना** के समान गिनना चाहिये। धान्य मापने वाला मापक पात्र को भरकर 'एक' यों कहकर उसे खाली कर देता है। फिर से भरते समय यदि कुछ कूड़ा-करकट देखता है तो उसे फेंकते हुए 'एक, एक' यों कहता रहता है (ताकि गिनती में भूल न हो)। ऐसा ही 'दो, दो' के बारे में भी (जानना चाहिये)। वैसे ही इस (भिक्षु) को भी आश्वास प्रश्वास में जो (अधिक स्पष्ट) जान पड़े उसे (ही गणना के विषय रूप में) ग्रहण करते हुए 'एक, एक'—यों प्रारम्भ कर, जैसे जैसे वे प्रवर्तित हों, उनका उपलक्षण करते हुए ही 'दस, दस' तक गिनना चाहिये। इस प्रकार गिनते रहने पर निकलते एवं प्रवेश करते समय आश्वास-प्रश्वास स्पष्ट जान पड़ते हैं।

तब उसे धान्यमापक की गणना के समान रुक रुक कर गिनना छोड़कर, **ग्वाले की गणना** के समान जल्दी जल्दी गिनना चाहिये। क्योंकि एक चतुर ग्वाला (दुपट्टे आदि के) अञ्चल में कङ्कड़ लेकर सबेरे ही गोशाला जाता है। हाथ में रस्सी-डण्डा लिये हुए बाड़े के स्तम्भ-शीर्ष पर बैठकर एक एक कर द्वार पर आती हुई गायों के पीठ पर (कङ्कड़) मारते हुए 'एक, दो' यों कङ्कड़ फेंक फेंक कर गिनता है। रात के तीन प्रहर तक संकीर्ण स्थान में कष्ट से रह चुकी गायों का समूह एक दूसरे को रगड़ते हुए तेजी से निकालता है। (इसलिये) वह 'तीन, चार, पाँच...दस यों जल्दी जल्दी ही गिनता है।

यों यह (भिक्षु) भी जब पूर्वोक्त विधि से गिनता है तब आश्वास-प्रश्वास प्रकट होकर जल्दी जल्दी बार बार आने जाने लगते हैं। तब उसे 'बार बार आ जा रहे हैं'—यों जानकर भीतर एवं बाहर (वालों को) ग्रहण न करते हुए (नासिका के) द्वार पर आये हुओं को ही ग्रहण करते

तस्सेव सीघं सीघं गणयतो कम्मट्ठानं निरन्तरं पवत्तं विय हुत्वा उपट्ठाति। अथ 'निरन्तरं पवत्तती' ति ञत्वा अन्तो च बहि च वातं अपरिग्गहेत्वा पुरिमनयेनेव वेगेन वेगेन गणेतब्बं। अन्तो पविसनवातेन हि सद्धिं चित्तं पवेसयतो अब्भन्तरं वातब्भाहतं मेदपूरितं विय होति। बहि निक्खमनवातेन सद्धिं चित्तं नीहरतो बहिद्धा पुथुत्तारम्मणे चित्तं विक्खिपति। फुट्ठफुट्ठोकासे पन सतिं ठपेत्वा भावेन्तस्सेव भावना सम्पज्जति। तेन वुत्तं—"अन्तो च बहि च वातं अपरिग्गहेत्वा पुरिमनयेनेव वेगेन वेगेन गणेतब्बं" ति।

कीवचिरं पनेतं गणेतब्बं ति? याव विना गणनाय अस्सासपस्सासारम्मणे सति सन्तिट्ठति। बहि विसटवितक्कविच्छेदं कत्वा अस्सासपस्सासारम्मणे सतिसण्ठापनत्थं येव हि गणना ति।

(२) एवं गणनाय मनसिकत्वा **अनुबन्धनाय** मनसिकातब्बं। अनुबन्धना नाम गणनं पटिसंहरित्वा सतिया निरन्तरं अस्सासपस्सासानं अनुगमनं। तं च खो न आदिमज्झपरियो-सानानुगमनवसेन।

बहि निक्खमनवातस्स हि नाभि आदि, हदयं मज्झं, नासिकग्गं परियोसानं। अब्भन्तरं पविसनवातस्स नासिकग्गं आदि, हदयं मज्झं, नाभि परियोसानं। तं चस्स अनुगच्छतो

हुए एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात ...पूर्ववत्... आठ...नौ... दस'—यों जल्दी जल्दी ही गिनना चाहिये। क्योंकि जब कर्मस्थान गणना से जुड़ा हुआ होता है, तब गणना के बल से ही चित्त एकाग्र रहता है, तेज धार में पतवार के बल से नाव को स्थिर किये जाने के समान।

जब वह जल्दी जल्दी गिनता है, तब वह कर्मस्थान बराबर बना हुआ जान पड़ता है। तब 'निरन्तर प्रवृत्त होता है' ऐसा जानकर भीतर और बाहर की वायु को ग्रहण न कर, पूर्वविधि के अनुसार जल्दी जल्दी गिनना चाहिये। भीतर प्रवेश करने वाली वायु (=आश्वास) के साथ चित्त को प्रविष्ट कराते (ध्यान लगाते) हुए ऐसा लगता है जैसे भीतर वायु प्रहार कर रही है, मेद (वसा) भर गयी है। बाहर निकलने वाली वायु (=प्रश्वास) के साथ चित्त को बाहर निकालते हुए बाहरी आलम्बनों की अनेकता में चित्त विक्षिप्त हो जाता है। (यही कारण है कि आश्वास-प्रश्वास द्वारा) स्पृष्ट स्थानों में स्मृति को स्थिर रखकर भावना करने वाले में ही भावना उत्पन्न होती है। इसलिये कहा गया है—"भीतर और बाहर वायु का ग्रहण न कर, पूर्वविधि से ही जल्दी जल्दी गिनना चाहिये।"

कितनी देर तक इसे गिनना चाहिये? जब तक कि बिना गिनती किये ही, आश्वास-प्रश्वास रूपी आलम्बन में स्मृति स्थिर न हो जाय। (वस्तुतः) बाहर फैले वितर्कों को दूर कर, आश्वास-प्रश्वास आलम्बन में स्मृति की स्थापना करने के उद्देश्य से ही गणना की जाती है।

२. अनुबन्धना—यों गणना द्वारा मन में लाकर अनुबन्धना द्वारा मन में लाना चाहिये। गणना को छोड़कर, स्मृति द्वारा निरन्तर आश्वास-प्रश्वास का अनुगमन करने को अनुबन्धना कहते हैं, वह भी (उनके) आदि, मध्य और अन्त के अनुगमन को नहीं।

बाहर निकलने वाली वायु का आदि नाभि, मध्य हृदय और अन्त नासिका का अग्र (भाग)

विक्खेपगतं चित्तं सारद्धाय चेव होति इञ्जनाय च। यथाह—"**अस्सासादिमज्झपरियासानं सतिया अनुगच्छतो अज्झत्तं विक्खेपगतेन चित्तेन कायो पि चित्तं पि सारद्धा च होन्ति इञ्जिता च फन्दिता च। पस्सासादिमज्झपरियोसानं सतिया अनुगच्छतो बहिद्धा विक्खेपगतेन चित्तेन कायो पि चित्तं पि सारद्धा च होन्ति इञ्जिता च फन्दिता चा**" (खु० ५/१९३) ति। तस्मा अनुबन्धनाय मनसिकरोन्तेन आदिमज्झपरियोसानवसेन न मनसिकातब्बं। अपि च खो फुसनावसेन च ठपनासेन च मनसिकातब्बं।

(३) गणनानुबन्धनावसेन विय हि **फुसना-ठपनावसेन** विसुं मनसिकरो नत्थि। फुट्ठफुट्ठट्ठाने येव पन गणेन्तो गणनाय च फुसनाय च मनसिकरोति। तत्थेव गणनं पटिसंहरित्वा ते सतिया अनुबन्धन्तो, अप्पनावसेन च चित्तं ठपेन्तो, अनुबन्धनाय च फुसनाय च ठपनाय च मनसिकरोती ति वुच्चति। स्वायमत्थो **अट्ठकथासु** वुत्तपङ्गुळदोवारिकूपमाहि, **पटिसम्भिदायं** वुत्तककचूपमाय च वेदितब्बो।

तत्रायं **पङ्गुळोपमा**—सेय्यथापि पङ्गुळो[१] दोलाय कीळतं मातापुत्तानं दोलं खिपित्वा तत्थेव दोलाथम्भमूले निसिन्नो कमेन आगच्छन्तस्स च गच्छन्तस्स च दोलाफलकस्स उभो कोटियो मज्झं च पस्सति, न च उभोकोटिमज्झानं दस्सनत्थं ब्यावटो होति; एवमेवायं भिक्खु

है। भीतर प्रवेश करने वाली वायु का आदि नासिकाग्र, मध्य हृदय और अन्त नाभि है। (इसलिये) वैसे (आदि, मध्य, अन्त का) अनुगमन करने वाले का विक्षिप्त चित्त परेशानी और (कर्मस्थान की) अस्थिरता का कारण होता है। जैसा कि कहा गया है—"आश्वास के आदि, मध्य और अन्त का स्मृति से अनुगमन करने वाले के, भीतरी विक्षेप में पड़े हुए चित्त के कारण, काया एवं चित्त भी व्याकुल, अस्थिर और चञ्चल होते हैं। प्रश्वास के आदि, मध्य और अन्त का स्मृति से अनुगमन करने वाले के, बाहरी विक्षेप में पड़े हुए चित्त के कारण, काया एवं चित्त भी व्याकुल, अस्थिर एवं चञ्चल होते हैं।" (खु० ५/१९३)। अत: अनुबन्धना द्वारा मनस्कार करने वाले को आदि, मध्य और अन्त के अनुसार मनस्कार नहीं करना चाहिये, अपितु स्पर्श एवं स्थापना (अर्पणा) के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

३. स्पर्श—जैसे अनुबन्धना से पृथक् रूप में, गणना द्वारा मनस्कार होता है, वैसे स्थापना से पृथक् रूप में स्पर्श द्वारा मनस्कार नहीं होता। स्पृष्ट स्पृष्ट स्थानों को गिनते समय ही, गणना एवं स्पर्श द्वारा मन में लाता है। उसी स्थान पर जब वह गिनना छोड़कर, स्मृति द्वारा उन्हें अनुबद्ध (सम्बद्ध) करते हुए, अर्पणा द्वारा चित्त को स्थापित करता है, तब कहा जाता है कि (वह) अनुबन्धना, स्पर्श एवं स्थापना द्वारा मन में लाता है। इस अर्थ को **अट्ठकथाओं में उल्लिखित पङ्गु** और द्वारपाल (पङ्गुल-दोवारिक) की उपमा से, एवं **पटिसम्भिदा में उल्लिखित आरा (=कवच)** की उपमा से समझना चाहिये।

उसमें, **पङ्गु की उपमा यह है**—जैसे कोई पङ्गु (पैरों से चलने में असमर्थ व्यक्ति) झूले में क्रीड़ा करते हुए माँ बेटे के झूले को धक्का देते हुए वहीं झूले के खम्भे के नीचे बैठा बैठा

---

१. **पङ्गुळो** ति। पीठसप्पी।

सतिवसेन उपनिबन्धनथम्भमूले ठत्वा अस्सासपस्सासदोलं खिपित्वा तत्थेव निमित्ते सतिया निसीदन्तो कमेन आगच्छन्तानं च गच्छन्तानं च फुट्ठफुट्ठानं अस्सासपस्सासानं आदिमज्झ-परियोसानं सतिया अनुगच्छन्तो तत्थ च चित्तं ठपेन्तो पस्सति, न च तेसं दस्सनत्थं ब्यावटो होति। अयं पङ्गुळोपमा।

अयं पन **दोवारिकूपमा**—सेय्यथापि दोवारिको नगरस्स अन्तो च बहि च "को त्वं? कुतो वा आगतो? कुहिं वा गच्छसि? किं वा ते हत्थे" ति न वीमंसति। न हि तस्स ते भारा, द्वारप्पत्तं द्वारप्पत्तं येव पन वीमंसति; एवमेव इमस्स भिक्खुनो अन्तोपविट्ठवाता च बहिनिक्खन्तवाता च न भारा होन्ति, द्वारप्पत्ता द्वारप्पत्ता येव भारा ति। अयं दोवारिकूपमा।

ककचूपमा पन आदितो पट्ठाय एवं वेदितब्बा। वुत्तं हेतं—

"निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
अजानतो च तयो धम्मे भावना नुपलब्भति॥
निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
जानतो च तयो धम्मे भावना उपलब्भती" ति॥

(खु०नि० ५/१९९)

"कथं इमे तयो धम्मा एकचित्तस्स आरम्मणा न होन्ति, न चिमे तयो धम्मा अविदिता होन्ति, न च विक्खेपं गच्छति, पधानं च पञ्ञायति, पयोगं च साधेति, विसेसमधिगच्छति?

क्रम से आते हुए एवं जाते हुए झूले के पटरे के दोनों सिरों और मध्य को देखता है, किन्तु दोनों सिरों और मध्य को देखने के लिए अपने स्थान को नहीं छोड़ता; वैसे ही यह भिक्षु स्मृति द्वारा उपनिबन्धरूपी स्तम्भ के नीचे रहते हुए, आश्वास-प्रश्वासरूपी झूले को धक्का देकर, उसी निमित्त में स्मृति द्वारा बैठा हुआ, क्रमशः आते जाते स्पृष्ट स्पृष्ट स्थानों में आश्वास-प्रश्वासों के आदि, मध्य और अन्त का स्मृति द्वारा अनुगमन करता है, एवं वहीं चित्त को स्थिर रखते हुए देखता है, उन्हें देखने के लिये अपना स्थान नहीं छोड़ता। यह पङ्गु की उपमा हुई। (क)

द्वारपाल की उपमा यह है—जैसे कि द्वारपाल नगर के भीतर और बाहर (रहने वालों के बारे में) यों जाँच-पड़ताल नहीं करता—'तुम कौन हो? कहाँ से आये हो? कहाँ जा रहे हो? या, तुम्हारे हाथ में क्या है?'—क्योंकि यह उसका उत्तरदायित्व नहीं है, वह तो द्वार पर आये हुए को ही जाँच-पड़ताल करता है; वैसे ही इस भिक्षु को भीतर गयी एवं बाहर निकली हुई वायु से कुछ लेना देना नहीं है, द्वार पर उपस्थित से ही काम है। (ख)

आरे की उपमा को प्रारम्भ से लेकर यों जानना चाहिये। क्योंकि कहा गया है—"निमित्त, आश्वास और प्रश्वास—ये एक चित्त के आलम्बन नहीं होते। इन तीन धर्मों को न जानने वाले को (आनापानस्मृति की) भावना प्राप्त नहीं होती। निमित्त, आश्वास और प्रश्वास एक चित्त के आलम्बन नहीं होते। इन तीन धर्मों को जानने वाले को ही (आनापानस्मृति की) भावना प्राप्त होती है।" (खु० नि० ५/१९९)

ऐसा किस प्रकार है कि ये तीनों धर्म एक चित्त के आलम्बन नहीं हैं, कि वे फिर भी अज्ञात नहीं हैं? कि चित्त विक्षेप को प्राप्त नहीं होता? कि (उसे) वीर्य (प्रधान) जान पड़ता

सेय्यथापि रुक्खो समे भूमिभागे निक्खित्तो, तमेनं पुरिसो ककचेन छिन्देय्य। रुक्खे फुट्ठ-ककचदन्तानं वसेन पुरिसस्स सति उपट्ठिता होति, न आगते वा गते वा ककचदन्ते मनसिकरोति, न आगता वा गता वा ककचदन्ता अविदिता होन्ति, पधानं च पञ्ञायति, पयोगं च साधेति, विसेसमधिगच्छति। यथा रुक्खो समे भूमिभागे निक्खित्तो, एवं उपनिबन्धना-निमित्तं। यथा ककचदन्ता, एवं अस्सासपस्सासा। यथा रुक्खे फुट्ठककचदन्तानं वसेन पुरिसस्स सति उपट्ठिता होति, न आगते वा गते वा ककचदन्ते मनसि करोति, न आगता वा गता वा ककचदन्ता अविदिता होन्ति, पधानं च पञ्ञायति, पयोगं च साधेति, विसेसमधिगच्छति; एवमेव भिक्खु नासिकग्गे वा मुखनिमित्ते वा सतिं उपट्ठपेत्वा निसिन्नो होति, न आगते वा गते वा अस्सासपस्सासे मनसि करोति, न आगता वा गता वा अस्सासपस्सासा अविदिता होन्ति, पधानं च पञ्ञायति, पयोगं च साधेति, विसेसमधिगच्छति।

पधानं ति कतमं पधानं? आरद्धविरियस्स कायो पि चित्तं पि कम्मनियं होति, इदं पधानं। कतमो पयोगो? आरद्धविरियस्स उपक्किलेसा पहीयन्ति, वितक्का वूपसमन्ति, अयं पयोगो। कतमो विसेसो? आरद्धविरियस्स संयोजना पहीयन्ति, अनुसया ब्यन्तीहोन्ति, अयं विसेसो। एवं इमे तयो धम्मा एकचित्तस्स आरम्मणा न होन्ति, न चिमे तयो धम्मा अविदिता होन्ति, न च चित्तं विक्खेपं गच्छति, पधानं च पञ्ञायति, पयोगं च साधेति, विसेसमधि-गच्छति।

"आनापानसति यस्स परिपुण्णा सुभाविता।

है? कि (वह) कार्य सिद्ध करता है? कि विशिष्टता प्राप्त करता है? जैसे कि कोई वृक्ष समतल भूमि पर पड़ा हो और उसे कोई व्यक्ति आरे से काट दे। (इस उदाहरण में) वृक्ष को स्पर्श करने वाले आरे के दाँतों के बारे में पुरुष की स्मृति उपस्थित होती है, आ चुके या जा चुके आरे के दाँतों पर वह ध्यान नहीं देता, न ही आ चुके या जा चुके आरे के दाँत उसे अविदित होते हैं। (यों उसे) वीर्य जान पड़ता है, कार्य सिद्ध करता है, विशिष्टता प्राप्त करता है। जैसे वृक्ष समतल भूमि पर रखा हो, वैसा ही उपनिबन्धन निमित्त है। जैसे आरे के दाँत हों, वैसे ही आश्वास-प्रश्वास हैं। जैसे वृक्ष को स्पर्श करने वाले...विशिष्टता प्राप्त करता है, वैसे ही भिक्षु नासिकाग्र में या मुख निमित्त में स्मृति को उपस्थित कर बैठा होता है, आ चुके या जा चुके आश्वास-प्रश्वास पर ध्यान नहीं देता, न ही उसे आ चुके या जा चुके आश्वास-प्रश्वास अविदित होते हैं, (यों उसे) वीर्य जान पड़ता है, कार्य सिद्ध करता है, विशिष्टता प्राप्त करता है।

प्रधान—कौन-सा प्रधान? वीर्यारम्भ किये हुए का कार्य तथा चित्त भी कर्म करने योग्य होता है—यह प्रधान है। कौन सा **प्रयोग**? वीर्यारम्भ किये हुए के उपक्लेश (नीवरण) दूर होते हैं, वितर्क शान्त होते हैं—यह प्रयोग है। कौन सा **विशेष**? वीर्यारम्भ किये हुए के संयोजन दूर हो जाते हैं, अनुशय नष्ट हो जाते हैं—यह विशेष है। यों ये तीन धर्म एक चित्त के आलम्बन नहीं होते, न ही ये तीनों धर्म अविदित होते हैं, न चित्त विक्षेप को प्राप्त होता है; (किन्तु) वीर्य जान पड़ता है, कार्य सिद्ध करता है, विशेषता प्राप्त करता है।

जिसने आनापानस्मृति की पूर्ण रूप से, सम्यक्तया भावना एवं भगवत्-देशनानुरूप क्रमशः

अनुपुब्बं परिचिता यथा बुद्धेन देसिता।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा'' ति॥

(खु० नि० ५/२००)

अयं ककचूपमा। इध पनस्स आगतागतवसेन मनसिकारमत्तमेव पयोजनं ति वेदितब्बं।

(४) इदं कम्मट्ठानं मनसिकरोतो कस्सचि च चिरेनेव निमित्तं च उप्पज्जति, अवसेसझानङ्गपटिमण्डिता अप्पनासङ्खाता **ठपना** च सम्पज्जति।

कस्सचि पन गणनावसेनेव मनसिकारकालतो पभुति, अनुक्कमतो ओळारिकअस्सास-पस्सासनिरोधवसेन कायदरथे वूपसन्ते कायो पि चित्तं पि लहुकं होति, सरीरं आकासे लङ्घनाकारप्पत्तं विय होति। यथा सारद्धकायस्स मञ्चे वा पीठे वा निसीदतो मञ्चपीठं ओनमति, विकूजति, पच्चत्थरणं वलिं गण्हाति। असारद्धकायस्स पन निसीदतो नेव मञ्चपीठं ओनमति, न विकूजति, न पच्चत्थरणं वलिं गण्हाति, तूलपिचुपूरितं विय मञ्चपीठं होति। कस्मा? यस्मा असारद्धो कायो लहुको होति। एवमेव गणनावसेन मनसिकारकालतो पभुति अनुक्कमतो ओळारिकअस्सासपस्सासनिरोधवसेन कायदरथे वूपसन्ते कायो पि चित्तं पि लहुकं होति, सरीरं आकासे लङ्घनाकारप्पत्तं विय होति।

तस्स ओळारिके अस्सासपस्सासे निरुद्धे सुखुमस्सासपस्सासनिमित्तारम्मणं चित्तं पवत्तति। तस्मिं पि निरुद्धे अपरापरं ततो सुखुमतरं निमित्तारम्मणं पवत्तति येव।

अभ्यास किया है, वह इस लोक को मेघ-मुक्त चन्द्रमा के समान प्रकाशित करता है॥ (खु० नि० ५/२००) (ग)

यह आरे की उपमा है। यहाँ अभिप्राय यह समझना चाहिये कि वह आ चुके या जा चुके (आश्वास-प्रश्वासों) पर ध्यान नहीं देता।

४. स्थापना—इस कर्मस्थान को मन में लाते हुए, किसी को शीघ्र ही (प्रतिभाग) निमित्त उत्पन्न हो जाता है, एवं अवशेष ध्यानाङ्गों से प्रतिमण्डित (समन्वित) 'अर्पणा' कही जाने वाली स्थापना (ठपना) उत्पन्न होती है।

किसी किसी को गणना द्वारा मन में लाते समय से ही, क्रमशः स्थूल आश्वास-प्रश्वास का निरोध हो जाने से कायिक पीड़ा शान्त हो जाती है, अतः काया भी, चित्त भी लघु (हल्का) हो जाता है, ऐसा लगता है मानो शरीर आकाश में छलांग लगाने योग्य हो। जैसे कि पीड़ित शरीर वाला जब चारपाई या चौकी पर बैठता है, तब चारपाई या चौकी लचक जाती है, आवाज करती हैं, चादर में सिकुड़न पड़ जाती है। किन्तु पीड़ारहित शरीर वाला जब चारपाई या चौकी पर बैठता है, तब चारपाई या चौकी न लचकती है, न आवाज करती है, न चादर में सिकुड़न पड़ती है, मानो चारपाई-चौकी सेमर की रूई से भरी हो। क्यों? क्योंकि पीड़ारहित काया हल्की होती है। वैसे ही गणना द्वारा मनस्कार के समय से लेकर क्रमशः स्थूल आश्वास-प्रश्वास का निरोध होने से काया की पीड़ा शान्त हो जाती है, अतः काया भी, चित्त भी हल्का होता है। ऐसा लगता है *मानो शरीर आकाश में छलांग लगाने योग्य हो।*

जब उसके स्थूल आश्वास-प्रश्वास निरुद्ध हो जाते हैं, तब सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास निमित्त

कथं? यथा पुरिसो महतिया लोहसलाकाय कंसथालं आकोटेय्य, एकप्पहारेन महासद्दो उप्पज्जेय्य, तस्स ओळारिकसद्दारम्मणं चित्तं पवत्तेय्य। निरुद्धे ओळारिके सद्दे अथ पच्छा सुखुमसद्दनिमित्तारम्मणं, तस्मिं पि निरुद्धे अपरापरं ततो सुखुमतरं सुखुमतरं सद्दनिमित्तारम्मणं पवत्ततेव, एवं ति वेदितब्बं। वुत्तं पि चेतं—"**सेय्यथा पि कंसे आकोटिते**" (खु० नि० ५/२१५) ति वित्थारो।

यथा हि अञ्ञानि कम्मट्ठानानि उपरूपरि विभूतानि होन्ति, न तथा इदं। इदं पन उपरूपरि भावेन्तस्स सुखुमत्तं गच्छति, उपट्ठानं पि न उपगच्छति। एवं अनुपट्ठहन्ते पन तस्मिं तेन भिक्खुना उट्ठायासना चम्मखण्डं पप्फोटेत्वा न गन्तब्बं। किं कातब्बं? "आचरियं पुच्छिस्सामी" ति वा, "नट्ठं दानि मे कम्मट्ठानं" ति वा न वुट्ठातब्बं। इरियापथं विकोपेत्वा गच्छतो हि कम्मट्ठानं नवनवमेव होति। तस्मा यथा निसिन्नेनेव देसतो आहरितब्बं।

तत्रायं आहरणूपायो—तेन हि भिक्खुना कम्मट्ठानस्स अनुपट्ठानभावं ञत्वा, इति पटिसञ्चिक्खितब्बं—इमे अस्सासपस्सासा नाम कत्थ अत्थि, कत्थ नत्थि, कस्स वा अत्थि, कस्स वा नत्थी ति? अथेवं पटिसञ्चिक्खता इमे अन्तोमातुकुच्छियं नत्थि, उदके निमुग्गानं नत्थि, तथा असञ्ञीभूतानं, मतानं, चतुत्थज्झानसमापन्नानं, रूपारूपभवसमङ्गीनं, निरोध-

---

को आलम्बन बनाने वाला चित्त उत्पन्न होता है। उसके भी निरुद्ध हो जाने पर, एक के बाद एक, पूर्व पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्मतर निमित्तालम्बन भी प्रवर्तित होता ही है।

कैसे? जैसे कि कोई पुरुष बहुत बड़ी लौहे की छड़ से काँसे की थाली पर चोट करे और एक बार चोट करने पर महाशब्द (तीव्र ध्वनि) उत्पन्न हो; तब स्थूल शब्द को आलम्बन बनाने वाला उसका चित्त उत्पन्न हो। स्थूल शब्द के निरुद्ध हो जाने पर, बाद में सूक्ष्म शब्द को आलम्बन बनाने वाला (चित्त उत्पन्न हो), उसके भी निरुद्ध हो जाने पर एक के बाद एक, पूर्व पूर्व की अपेक्षा सूक्ष्मतर निमित्तालम्बन प्रवर्तित हों; ऐसे ही इसे जानना चाहिये। एवं यह कहा भी है—"जैसे काँसे की थाली पर चोट करने पर" (खु० नि० ५/२१५)। (इस कथन की) यह व्याख्या है।

जैसे दूसरे कर्मस्थान ऊपर ऊपर के स्तरों में क्रमशः अधिक स्पष्ट होते जाते हैं, वैसे यह (कर्मस्थान) नहीं है। यह तो भावना करने वाले के लिये उत्तरोत्तर और अधिक सूक्ष्म होता जाता है, (यहाँ तक कि) जान भी नहीं पड़ता। जब वह इस प्रकार अनुपस्थित प्रतीत हो, तो भिक्षु को यह नहीं चाहिये कि आसन से उठकर, धर्मासन को झाड़कर चल दे। तब क्या करना चाहिये? उसे यह सोचकर उठ नहीं जाना चाहिये कि "आचार्य से पूछूँगा" या "अब मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया।" क्योंकि ईर्यापथ में विघ्न डालकर चले जाने वाले को नये सिरे से कर्मस्थान का आरम्भ करना पड़ता है। इसीलिये उसी प्रकार बैठे बैठे, स्थान के अनुसार (अनुभव में) लाना चाहिये।

लाने का उपाय यों है—उस भिक्षु को 'कर्मस्थान अनुपस्थित हो गया' यों जानकर इस प्रकार विचार करना चाहिये—"ये आश्वास-प्रश्वास कहाँ होते हैं, कहाँ नहीं होते, किसे होते हैं, किसे नहीं होते?" तब यों विचार करते हुए यह जानकर कि ये माता के गर्भ में नहीं होते, पानी में डूबे हुओं को नहीं होते एवं संज्ञारहित (बेहोश) प्राणियों को, मृतकों को, चतुर्थ ध्यान प्राप्त

समापन्नानं ति ञत्वा एवं अत्तना व अत्ता पटिचोदेतब्बो—"ननु त्वं, पण्डित, नेव मातुकुच्छिगतो, न उदके निमुग्गो, न असञ्ञीभूतो, न मतो, न चतुत्थज्झानसमापन्नो, न रूपारूपभवसमङ्गी, न निरोधसमापन्नो। अत्थि येव ते अस्सासपस्सासा, मन्दपञ्ञताय पन परिग्गहेतुं न सक्कोसी" ति। अथानेन पकतिफुट्ठवसेन चित्तं ठपेत्वा मनसिकारो पवत्तेतब्बो।

इमे हि दीघनासिकस्स नासापुटं घट्टेन्ता पवत्तन्ति। रस्सनासिकस्स उत्तरोट्ठं। तस्मानेन 'इमं नाम ठानं घट्टेन्ती' ति निमित्तं ठपेतब्बं। इममेव हि अत्थवसं पटिच्च वुत्तं भगवता—"**नाहं, भिक्खवे, मुट्ठस्सतिस्स असम्पजानस्स आनापानस्सतिभावनं वदामी**" (म० नि० ३/ ११७०) ति।

किञ्चापि हि यं किञ्चि कम्मट्ठानं सतस्स सम्पजानस्सेव सम्पज्जति। इतो अञ्ञं पन मनसिकरोन्तस्स पाकटं होति। इदं पन आनापानस्सतिकम्मट्ठानं गरुकं गरुकभावेन बुद्धपच्चेक-बुद्धबुद्धपुत्तानं महापुरिसानं येव मनसिकारभूमिभूतं, न चेव इत्तरं, न इत्तरसत्तसमासेवितं। यथा यथा मनसिकरीयति, तथा तथा सन्तं चेव होति सुखुमं च। तस्मा एत्थ बलवती सति च पञ्ञा च इच्छितब्बा।

यथा हि मट्ठसाटकस्स तुन्नकरणकाले सूचि पि सुखुमा इच्छितब्बा। सूचिपासवेधनं पि ततो सुखुमतरं, एवमेव मट्ठसाटकसदिसस्स इमस्स कम्मट्ठानस्स भावनाकाले सूचिपटिभागा

करने वालों को, रूप और अरूप भव में उत्पन्न हुओं को, निरोधसमापत्ति प्राप्त करने वालों को भी नहीं होते; उसे स्वयं ही स्वयं को यों समझाना चाहिये—"पण्डित! तुम न तो माता के गर्भ में हो, न पानी में डूबे हो, न बेहोश हो, न मृत हो, न चतुर्थ ध्यान प्राप्त हो, न रूप या अरूप भव में उत्पन्न हो, न निरोधसमापन्न हो। (इसलिये) तुम्हारे आश्वास-प्रश्वास वस्तुतः हैं, किन्तु प्रज्ञा के मन्द होने से तुम उनका ग्रहण नहीं कर पा रहे हो।" तत्पश्चात् इस (भिक्षु) को सामान्यतः स्पृष्ट (स्थान) में चित्त को स्थिर कर मनस्कार करना चाहिये।

ये आश्वास-प्रश्वास लम्बी नाक वाले के नासिकापुट का घर्षण करते हुए उत्पन्न होते हैं, छोटी नाक वाले के ऊपरी ओंठ का। इसलिये उसे "इस स्थान का घर्षण करते हैं'—यों निमित्त को स्थिर करना चाहिये। इसी कारण से भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ! जो विस्मरणशील है, जागरूक नहीं है, उसके लिये मैं आनापानस्मृति की भावना नहीं कहता।" (म० नि० ३/११७०)

वैसे तो किसी भी कर्मस्थान में उसी को सफलता मिलती है जो स्मृतिमान और जागरूक होता है, किन्तु इस (आनापान स्मृति) के अतिरिक्त अन्य (कर्मस्थान) मनस्कार करने वाले को स्पष्ट हुआ करता है। यह आनापानस्मृति कर्मस्थान तो कठिन है, भावना करने में कठिन है, एवं बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, बुद्धपुत्रों, महापुरुषों के ही मनस्कार का क्षेत्र है, (यह) न तो साधारण है एवं न ही साधारण सत्त्वों द्वारा सेवित (अभ्यस्त) है; क्यों कि जैसे जैसे मनस्कार करते हैं, वैसे वैसे (यह कर्मस्थान) शान्त और सूक्ष्म होता जाता है। इसलिये इसमें बलवती स्मृति एवं प्रज्ञा की अपेक्षा होती है।

जैसे कि महीन कपड़े की सिलाई करते समय सूई भी पतली होनी चाहिये, सूई का तागा उससे भी पतला (होना चाहिये), वैसे ही महीन कपड़े के समान इस कर्मस्थान की भावना के

सति पि सूचिपासवेधनपटिभागा तसम्पयुत्ता पञ्ञा पि बलवती इच्छितब्बा। ताहि च पन सति-पञ्ञाहि समन्नागतेन भिक्खुना न ते अस्सासपस्सासा अञ्ञत्र पकतिफुट्ठोकासा परियेसितब्बा।

यथा पन कस्सको कसिं कसित्वा बलीवद्दे मुञ्चित्वा गोचरमुखे कत्वा छायाय निसिन्नो विस्समेय्य। अथस्स ते बलीवद्दा वेगेन अटविं पविसेय्युं। यो होति छेको कस्सको, सो पुन ते गहेत्वा योजेतुकामो न तेसं अनुपदं गन्त्वा अटविं आहिण्डति, अथ खो रस्मिं च पतोदं च गहेत्वा उजुकमेव तेसं निपानतित्थं गन्त्वा निसीदति वा निपज्जति वा। अथ ते गोणे दिवसभागं चरित्वा निपानतित्थं ओतरित्वा न्हत्वा च पिवित्वा च पच्चुत्तरित्वा ठिते दिस्वा रस्मिया बन्धित्वा पतोदेन विज्झन्तो आनेत्वा योजेत्वा पुन कम्मं करोति; एवमेव तेन भिक्खुना न ते अस्सासपस्सासा अञ्ञत्र पकतिफुट्ठोकासा परियेसितब्बा। सतिरस्मिं पन पञ्ञापतोदं च गहेत्वा पकतिफुट्ठोकासे चित्तं ठपेत्वा मनसिकारो पवत्तेतब्बो। एवं हिस्स मनसिकरोतो न चिरस्सेव ते उपट्ठहन्ति, निपानतित्थे विय गोणा। ततोनेन सतिरस्मिया बन्धित्वा तस्मिं येव ठाने योजेत्वा पञ्ञापतोदेन विज्झन्तेन पुनप्पुनं कम्मट्ठानं अनुयुञ्जितब्बं।

तस्सेवमनुयुञ्जतो न चिरस्सेव निमित्तं उपट्ठाति। तं पनेतं न सब्बेसं एकसदिसं होति। अपि च खो कस्सचि सुखसम्फस्सं उप्पादयमानो तूलपिचु[१] विय कप्पासपिचु विय वातधारा विय च उपट्ठाती ति एकच्चे आहु।

समय सूई के समान स्मृति भी, एवं सूई के समान उससे सम्प्रयुक्त प्रज्ञा भी बलवती होनी चाहिये। उन स्मृति एव प्रज्ञा से सम्पन्न भिक्षु को उन आश्वास-प्रश्वास को अन्यत्र नहीं, अपितु स्वभावत: स्पृष्ट स्थान में ही खोजना चाहिये।

जैसे कोई कृषक खेतों को जोतकर, बैलों को चरने के लिए छोड़ दे और छाया में बैठकर विश्राम करे। तब उसके वे बैल तेजी से जङ्गल में घुस जाँय (ऐसी स्थिति में) जो चतुर कृषक होता है, वह उन्हें फिर से पकड़ कर जोतने के लिये उनके पीछे पीछे जाकर जङ्गल में भटकता नहीं रहता, वह तो रस्सी और हाँकने का डण्डा लेकर सीधे घाट पर, जहाँ वे आते हैं, जाकर बैठता या लेटता है। जब वे बैल दिनभर चरने के बाद घाट पर आकर नहाकर और (जल) पीकर, निकलकर खड़े होते हैं, तब वह उन्हें देखकर, रस्सी से बाँध, लाठी से हाँकता हुआ लाकर जोत देता है और फ़िर से खेती का काम करता है; वैसे ही उस भिक्षु को स्पृष्ट स्थान के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र आश्वास प्रश्वास का अन्वेषण नहीं करना चाहिये, अपितु स्मृतिरूपी रस्सी और प्रज्ञारूपी लाठी लेकर स्वभावत: स्पृष्ट स्थान पर चित्त को स्थिर कर मनस्कार करता है, तब शीघ्र ही वे उपस्थित होते हैं, जैसे घाट पर बैल। तब उसे स्मृतिरूपी रस्सी से बाँधकर, उसी स्थान पर ले जाकर जोतकर, प्रज्ञारूपी लाठी से हाँकते हुए, पुन: पुन: कर्मस्थान में लगना चाहिये।

उसके इस प्रकार लगने पर जल्दी ही निमित्त जान पड़ने लगता है। किन्तु वह सभी के लिये एक जैसा नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं कि किसी किसी को स्पर्श में सुखद, सेमर की रूई या हवा के बहाव (वातधारा) के तुल्य जान पड़ता है।

---

१. तूलपिचू ति। मुदु कप्पासजाति एव।

अयं पन **अट्ठकथासु विनिच्छयो**—इदं हि कस्सचि तारकरूपं विय मणिगुळिका विय मुत्तागुळिका विय च, कस्सचि खरसम्फस्सं हुत्वा कप्पसट्ठि विय दारुसारसूचि विय च, कस्सचि दीघपामङ्गसुत्तं विय कुसुमदामं विय धूमसिखा विय च, कस्सचि वित्थतं मक्कटसुत्तं विय वलाहकपटलं विय पदुमपुप्फं विय रथचक्कं विय चन्दमण्डलं विय सुरियमण्डलं विय च उपट्ठाति।

तं च पनेतं—यथा सम्बहुलेसु भिक्खूसु सुत्तन्तं सज्झायित्वा निसिन्नेसु एकेन भिक्खुना "तुम्हाकं कीदिसं हुत्वा इदं सुत्तं उपट्ठाती?" ति वुत्ते एको "मय्हं महती पब्बतेय्या नदी विय हुत्वा उपट्ठाती" ति आह। अपरो "मय्हं एका वनराजि विय"। अञ्ञो "मय्हं एको सातच्छायो साखासम्पन्नो फलभारभरितरुक्खो विया" ति। तेसं हि तं एकमेव सुत्तं सञ्ञानानताय नानतो उपट्ठाति। एवं एकमेव कम्मट्ठानं सञ्ञानानताय नानतो उपट्ठाति। सञ्ञजं हि एतं, सञ्ञानिदानं, सञ्ञापभवं। तस्मा सञ्ञानानताय नानतो उपट्ठाती ति वेदितब्बं।

एत्थ च अञ्ञमेव अस्सासारम्मणं चित्तं, अञ्ञं पस्सासारम्मणं, अञ्ञं निमित्तारम्मणं। यस्स हि इमे तयो धम्मा नत्थि, तस्स कम्मट्ठानं नेव अप्पनं, न उपचारं पापुणाति। यस्स पनिमे तयो धम्मा अत्थि, तस्सेव कम्मट्ठानं उपचारं च अप्पनं च पापुणाति। वुत्तं हेतं—

"निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।

किन्तु **अट्ठकथाओं** में स्पष्टीकरण इस प्रकार है—किसी किसी को यह तारे के समान, मणियों या मोतियों की लड़ी के समान, किसी को कठोर स्पर्श के रूप में कपास के बीज या लकड़ी को छीलकर बनायी गयी खूँटी के समान, किसी को सिकड़ी (शृंखला) या फूल की माला या धूमशिखा के समान, किसी को फैले हुए मकड़ी के जाले या बादलों की पर्त या कमल के फूल या रथ के पहिये या चन्द्रमण्डल या सूर्य के समान जान पड़ता है।

यह एक ही कर्मस्थान संज्ञा के नानात्व के आधार पर नानारूपों में जान पड़ता है। जैसे कि एक साथ एकत्र हुए और सूत्रान्त का पाठ करने के बाद बैठे हुए भिक्षुओं में से एक भिक्षु ने जब पूछा—"तुम्हें यह सूत्र कैसा जान पड़ता है?", एक ने कहा—"मुझे विशाल पहाड़ी नदी सा जान पड़ता है"। दूसरे ने (कहा)—"मुझे वन में वृक्ष पंक्ति के समान।" अन्य ने कहा—"मुझे शीतल छाया वाले, शाखाओं वाले, फलों से भरे पूरे वृक्ष के समान।" एक ही सूत्र, संज्ञा के नानात्व के आधार पर, उन्हें नानारूपों में जान पड़ता है। क्योंकि यह (कर्मस्थान) संज्ञा से उत्पन्न है, इसका निदान (स्रोत) संज्ञा से प्रादुर्भूत है इसलिये संज्ञा के नाना होने से नानारूपों में जान पड़ता है—ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में, आश्वास को आलम्बन बनाने वाला चित्त अन्य ही है, तथा प्रश्वास का आलम्बन बनाने वाला कोई अन्य; तथा निमित्त को आलम्बन बनाने वाला और ही है। जिसे ये तीनों धर्म स्पष्ट नहीं हैं, उसका कर्मस्थान न तो अर्पणा और न उपचार को ही प्राप्त करता है। जिसे ये तीनों धर्म स्पष्ट हैं उसी का कर्मस्थान उपचार और अर्पणा को प्राप्त करता है। क्योंकि कहा भी है—

"निमित्तं...उपलब्भती" ति॥ (खु० नि० ५/१९९)

अजानतो च तयो धम्मे भावना नुपलब्भति॥
निमित्तं अस्सासपस्सासा अनारम्मणमेकचित्तस्स।
जानतो व तयो धम्मे भावना उपलब्भती" ति॥

(खु० नि० ५/१९९)

एवं उपट्ठिते पन निमित्ते तेन भिक्खुना आचरियस्स सन्तिकं गन्त्वा आरोचेतब्बं— "मय्हं, भन्ते, एवरूपं नाम उपट्ठाती" ति। आचरियेन पन "एतं निमित्तं ति वा न वा निमित्तं" ति न वत्तब्बं। "एवं होति, आवुसो" ति वत्वा "पुनप्पुनं मनसिकरोही" ति वत्तब्बो। निमित्तं ति हि वुत्ते वोसानं आपज्जेय्य। न निमित्तं ति वुत्ते निरासो विसीदेय्य। तस्मा तदुभयं पि अवत्वा मनसिकारे येव नियोजेतब्बो ति। एवं ताव **दीघभाणका।**

मज्झिमभाणका पनाहु—"निमित्तमिदं, आवुसो, कम्मट्ठानं पुनप्पुनं मनसिकरोहि सप्पुरिसा ति वत्तब्बो" ति।

अथानेन निमित्ते येव चित्तं ठपेतब्बं। एवमस्सायं इतो पभुति ठपनावसेन भावना होति। वुत्तं हेतं **पोराणेहि**—

"निमित्ते ठपयं चित्तं नानाकारं विभावयं।
धीरो अस्सासपस्सासे सकं चित्तं निबन्धती" ति॥

(वि० अट्ठ० २/३०)

तस्सेवं निमित्तुपट्ठानतो पभुति नीवरणानि विक्खम्भितानेव होन्ति, किलेसा सन्निसिन्ना व, सति उपट्ठिता येव, चित्तं उपचारसमाधिना समाहितमेव।

जब निमित्त यों उपस्थित हो, तब भिक्षु को आचार्य के पास जाकर निवेदन करना चाहिये— "भन्ते, मुझे ऐसा लग रहा है।" आचार्य को "यह निमित्त है" या "यह निमित्त नहीं है"— ऐसा नहीं कहना चाहिये। "आयुष्मन्! ऐसा ही होता है" कहकर, "पुनः पुनः मन में लाते रहो" ऐसा कहना चाहिये; क्योंकि "निमित्त है" यों कह दिये जाने पर सम्भव है कि वह ('लक्ष्य प्राप्त हो गया'—ऐसा सोचकर) प्रयास करना ही छोड़ दे, और "निमित्त नहीं है"—ऐसा कहे जाने पर निराशा में डूब जाय। अतः वह दोनों ही न कहकर, मनस्कार में ही लगाना चाहिये। यह **दीघभाणकों** का मत है।

किन्तु **मज्झिमभाणकों** का कहना है कि "आयुष्मन्! यह निमित्त है। बहुत अच्छा! पुनः पुनः मनस्कार करते रहो"—यों कहा जाना चाहिये।

तत्पश्चात् इसे निमित्त में ही चित्त को स्थिर रखना चाहिये। यों इसे उसी समय से स्थापना के अनुसार भावना होती है; क्योंकि **प्राचीन विद्वानों** ने कहा है—

"निमित्त में चित्त को स्थिर रखते हुए धैर्यवान् पुरुष आश्वास-प्रश्वास में अपने चित्त को बाँधता है।" (वि० अट्ठ० २/३०)॥

जब से उसे निमित्त यों जान पड़ने लगता है, तब से उसके नीवरण तो दब ही जाते हैं, क्लेश भी बैठ जाते हैं, स्मृति भी उपस्थित होती है, चित्त भी उपचारसमाधि से समाहित होता है।

अथानेन तं निमित्तं नेव वण्णतो मनसिकातब्बं, न लक्खणतो पच्चवेक्खितब्बं। अपि च खो खत्तियमहेसिया चक्कवत्तिगब्भो विय कस्सकेन सालियवगब्भो विय च आवासादीनि सत्त असप्पायानि वज्जेत्वा तानेव सत्त सप्पायानि सेवन्तेन साधुकं रक्खितब्बं। अथ नं एवं रक्खित्वा पुनप्पुनं मनसिकारवसेन वुद्धिं विरूळ्हिं गमयित्वा दसविधं अप्पनाकोसल्लं सम्पादेतब्बं, विरियसमता योजेतब्बा। तस्सेवं घटेन्तस्स पथवीकसिणे वुत्तानुक्कमेनेव तस्मिं निमित्ते चतुक्कपञ्चकज्झानानि निब्बत्तन्ति।

(५-७) एवं निब्बत्तचतुक्कपञ्चकज्झानो पनेत्थ भिक्खु **सल्लक्खणाविवट्टना**वसेन कम्मट्ठानं वड्ढेत्वा **पारिसुद्धिं** पत्तुकामो तदेव झानं पञ्चहाकारेहि वसिप्पत्तं पगुणं कत्वा नामरूपं ववत्थपेत्वा विपस्सनं पट्ठपेति।

कथं? सो हि समापत्तितो वुट्ठाय अस्सासपस्सासानं समुदयो करजकायो च चित्तं चाति पस्सति। यथा हि कम्मारगग्गरिया धममानाय भस्तं च पुरिसस्स च तज्जं वायामं पटिच्च वातो सञ्चरति; एवमेव कायं च चित्तं च पटिच्च अस्सासपस्सासा ति। ततो अस्सासपस्सासे च कायं च रूपं ति, चित्तं च तंसम्पयुत्तधम्मे च अरूपं ति ववत्थपेति। अयमेत्थ सङ्खेपो। वित्थारतो पन नामरूपववत्थानं परतो आविभविस्साति।

तब उसे उस निमित्त का न तो वर्ण के अनुसार मनस्कार करना चाहिये, न लक्षण के अनुसार प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। अपितु जैसे राजा की महिषी (पटरानी) चक्रवर्ती के गर्भ की, या जैसे कृषक धान (जौ) की बाली की रक्षा करता है, वैसे ही आवास आदि में सात अननुकूलों को छोड़कर, उन हीं में सात अनुकूलों का सेवन करते हुए, उनकी भलीभाँति रक्षा करनी चाहिये। उसकी यों रक्षा करते हुए और बारंबार मन में लाने से उसको बढ़ाते, समृद्ध करते हुए; दस प्रकार के अर्पणाकौशल[१] का अभ्यास करना चाहिये तथा वीर्य में समता ले आनी चाहिये। जब वह यों प्रयत्न करता है, तब पृथ्वीकसिण में कथित क्रम के अनुसार ही, उस निमित्त में (चार ध्यान मानने वाले नय के अनुसार) चतुष्क, और (पाँच ध्यान मानने वाले नय के अनुसार) पञ्चक ध्यान उत्पन्न होता है।

५-७. जिसमें यों चतुष्क-पञ्चक ध्यान का उत्पाद हो गया हो, ऐसा भिक्षु **सल्लक्षणा** एवं **विवर्तना** द्वारा कर्मस्थान को बढ़ाकर, **पारिशुद्धि** प्राप्ति की कामना से उसी ध्यान में पाँच प्रकार से वश प्राप्त कर, अभ्यस्त कर, नाम-रूप का निश्चय करते हुए विपश्यना प्रारम्भ करता है।

कैसे? वह समापत्ति से उठने पर यह देखता (अनुभव करता) है कि आश्वास-प्रश्वासों के कारणभूत कर्मज शरीर (भौतिक शरीर) और चित्त हैं। जैसे लोहार की धौंकनी को फूँकते समय भाथी (चमड़े की थैली), (फूँकने वाले) पुरुष, और उसके प्रयास से वायु का सञ्चार होता है, वैसे ही काया तथा चित्त के कारण आश्वास-प्रश्वास होते हैं। तब वह निश्चय करता है कि आश्वास-प्रश्वास और काया 'रूप' हैं, तथा चित्त और उससे सम्प्रयुक्त धर्म 'अरूप' हैं। यह यहाँ संक्षेप में कहा गया। विस्तार से इसका व्याख्यान १८वें परिच्छेद 'नामरूपपरिग्रहकथा' में किया जायगा।

---

१. द्र० पृथ्वीकसिणनिर्देश, चतुर्थपरिच्छेद।

एवं नामरूपं ववत्थपेत्वा तस्स पच्चयं परियेसति। परियेसन्तो च नं दिस्वा तीसु पि अद्धासु नामरूपस्स पवत्तिं आरब्भ कङ्खं वितरति। वितिण्णकङ्खो कलापसम्मसनवसेन तिलक्खणं आरोपेत्वा उदयब्बयानुपस्सनाय पुब्बभागे उप्पन्ने ओभासादयो[1] दस विपस्सनुपक्किलेसे पहाय उपक्किलेसविमुत्तं पटिपदाञाणं मग्गो ति ववत्थपेत्वा उदयं पहाय भङ्गानुपस्सनं पत्वा निरन्तरं भङ्गानुपस्सनेन वयतो उपट्ठितेसु सब्बसङ्खारेसु निब्बिन्दन्तो विरज्जन्तो विमुच्चन्तो यथाक्कमेन चत्तारो अरियमग्गे पापुणित्वा अरहत्तफले पतिट्ठाय एकूनवीसतिभेदस्स पच्चवेक्खणाञाणस्स परियन्तं पत्तो सदेवकस्स लोकस्स अग्गदक्खिणेय्यो होति।

(८) एत्तावता चस्स गणनं आदिं कत्वा **पटिपस्सना**परियोसाना आनापानस्सतिसमाधिभावना समत्ता होती ति।

अयं सब्बाकारतो पठमचतुक्कवण्णना॥

६९. इतरेसु पन तीसु चतुक्केसु यस्मा विसुं कम्मट्ठानभावनानयो नाम नत्थि। तस्मा अनुपदवण्णनानयनेव तेसं एवं अत्थो वेदितब्बो—

पीतिपटिसंवेदी ति। पीतिं पटिसंविदितं करोन्तो पाकटं करोन्तो **अस्ससिस्सामि**

यों नाम-रूप का निश्चय कर, उसके प्रत्यय को खोजता है। खोजने पर उसे देखकर तीनों कालों में नाम-रूप की प्रवृत्ति के बारे में शंकाओं का निराकरण करता है। शंकारहित होकर कलाप[2] के रूप में विचार करते हुए तीन लक्षणों (अनित्य, दुःख, अनात्म) का (विचार के विषय रूप में) ग्रहण करते हुए, उत्पत्ति-लय की अनुपश्यना के पूर्वभाग में उत्पन्न अवभास आदि[3] विपश्यना के दस उपक्लेशों को त्याग कर इस निश्चय पर पहुँचता है कि उपक्लेशों से विमुक्त प्रतिपदा-ज्ञान ही मार्ग है। तब 'उदय' को छोड़कर भङ्गानुपश्यना को प्राप्त कर, निरन्तर भङ्गानुपश्यना द्वारा व्यय (क्षय) के रूप में उपस्थित होने वाले सभी संस्कारों से निवृत्त होते हुए, विरक्त होते हुए, विमुक्त होते हुए क्रमशः चार आर्य मार्गों को प्राप्त कर, अर्हत् फल में प्रतिष्ठित होकर, उन्नीस प्रकार के प्रत्यवेक्षण ज्ञान (द्र० इसी ग्रन्थ का बाईसवाँ परिच्छेद) की चरम सीमा को प्राप्त कर, देवलोक सहित सभी लोकों के लिये अग्रदक्षिणेय (प्रथम सम्मानयोग्य) होता है।

८. यहाँ तक, गणना से लेकर प्रतिपश्यना तक इस (भिक्षु) की आनापान-स्मृति-भावना का समापन होता है। यह प्रथम चतुष्क की सभी पक्षों से व्याख्या है॥

द्वितीय चतुष्क

६९. अन्य तीन चतुष्कों में क्योंकि पृथक् रूप से कर्मस्थान की भावनाविधि नहीं है, अतः (पालि के) पदों के अनुसार व्याख्या की विधि से ही, उनका अर्थ ऐसे समझना चाहिये—

---

१. ओभासो, ञाणं, पीति, पस्सद्धि, सुखं, अधिमोक्खो, पग्गहो, उपेक्खा, उपट्ठानं, निकन्ती ति इमे **दस ओभासादयो।**

२. रूप-धर्मों का अन्तिम अवयव कलाप है। विस्तार के लिये द्र० अभि० संगहो, **षष्ठ परिच्छेद।**

३. **अवभास आदि**—अवभास, ज्ञान, प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, अधिमोक्ष, प्रग्रह, उपेक्षा, उपस्थान एवं निकान्ति (लालसा)।

पस्ससिस्सामी ति सिक्खति। तत्थ द्वीहाकारेहि पीति पटिसंविदिता होति—आरम्मणतो च, असम्मोहतो च।

कथं आरम्मणतो पीति पटिसंविदिता होति? सप्पीतिके द्वे झाने समापज्जति। तस्स समापत्तिक्खणे झानपटिलाभेन आरम्मणतो पीति पटिसंविदिता होति, आरम्मणस्स पटिसंविदितत्ता। कथं असम्मोहतो? सप्पीतिके द्वे झाने समापज्जित्वा वुट्ठाय झानसम्पयुत्तं पीतिं खयतो वयतो सम्मसति तस्स विपस्सनाक्खणे लक्खणपटिवेधेन असम्मोहतो पीति पटिसंविदिता होति।

वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—

"दीघं अस्सासवसेन चित्तस्स एकग्गतं अविक्खेपं पजानतो सति उपट्ठिता होति। ताय सतिया तेन ञाणेन सा पीति पटिसंविदिता होति। दीघं अस्सासवसेन दीघं पस्सासवसेन। रस्सं अस्सासवसेन। रस्सं पस्सासवसेन। सब्बकायपटिसंवेदी अस्सासपस्सासवसेन... पस्सम्भयं कायसङ्खारं अस्सासपस्सासवसेन चित्तस्स एकग्गतं अविक्खेपं पजानतो सति उपट्ठिता होति। ताय सतिया तेन ञाणेन सा पीति पटिसंविदिता होति। आवज्जतो सा पीति पटिसंविदिता होति।

पीतिपटिसंवेदी—प्रीति का प्रतिसंवेदन (स्पष्ट अनुभव) करते हुए **अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति**। प्रीति का प्रतिसंवेदन दो प्रकार से होता है—१.आलम्बन से, २. असम्मोह से। १. कैसे आलम्बन से प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है? (वह भिक्षु) प्रीतियुक्त दो ध्यानों (प्रथम और द्वितीय) को प्राप्त करता है। उसकी प्राप्ति के क्षण में, आलम्बन के प्रतिसंवेदित होने के कारण, ध्यान के लाभ से आलम्बन द्वारा प्रीति का (भी) प्रतिसंवेदन होता है।[१] २. असंमोह से कैसे? प्रीतियुक्त दो ध्यानों को प्राप्त कर, उनसे उठने के बाद वह अनुभव करता है कि ध्यान से सम्प्रयुक्त प्रीति क्षय होने वाली, व्यय होने वाली है। तब विपश्यना के क्षण में (अनित्य आदि) लक्षणों के प्रतिवेध (=अन्तःप्रवेश, गहरी समझ) द्वारा असम्मोह के बल से प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है।

क्योंकि **पटिसम्भिदा** में कहा गया है—'दीर्घ आश्वास से होने वाली चित्त की एकाग्रता, अविक्षेप को जानने वाले की स्मृति उपस्थित रहती है। दीर्घ प्रश्वास से...ह्रस्व आश्वास से...ह्रस्व प्रश्वास से..समस्त काय का प्रतिसंवेदन करने वाले आश्वास-प्रश्वास से...कायसंस्कारों को शान्त करने वाले आश्वास-प्रश्वास से होने वाली चित्त की एकाग्रता, अविक्षेप को जानने वाले की स्मृति उपस्थित रहती है। उस स्मृति और उस ज्ञान से, उस प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है। आवर्जन (अभ्यास) करते हुए उस प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है। जानते हुए, देखते हुए, प्रत्यवेक्षण करते हुए चित्त को अधिष्ठित (स्थिर) करते हुए, श्रद्धा से दृढ़ निश्चय (अधिमुक्ति) करते हुए, वीर्य से प्रग्रह करते हुए, स्मृति को उपस्थित करते हुए, चित्त को एकाग्र करते हुए, प्रज्ञा द्वारा भलीभाँति जानते हुए,

---

१. भिक्षु ञाणमोलि ने अपने 'पाथ ऑफ प्युरिफिकेशन' (पृ०-३१०) में इस प्रसङ्ग में एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जैसे कोई सँपेरा जब साँप के निवासस्थान को खोज लेता है, तब मानों वह साँप को ही खोज लेता है; क्योंकि मन्त्रबल से उसे पकड़ लेना निश्चित ही है; वैसे ही जब वह आलम्बन को, जिसमें प्रीति रहती है, खोज लेता है तब मानों स्वयं प्रीति ही खोज ली जाती है।

जानतो, पस्सतो, **पच्चवेक्खतो, चित्तं अधिट्ठहतो, सद्धाय अधिमुच्चतो, विरियं पग्गण्हतो, सतिं उपट्ठापयतो, चित्तं समादहतो, पञ्ञाय पजानतो, अभिञ्ञेय्यं परिञ्ञेय्यं पहातब्बं भावेतब्बं सच्छिकातब्बं सच्छिकरोतो सा पीति पटिसंविदिता होति। एवं सा पीति पटिसंविदिता होती"** (खु० नि० ५/२१६) ति।

एतेनेव नयेन अवसेसपदानि पि अत्थतो वेदितब्बानि। इदं पनेत्थ विसेसमत्तं—तिण्णं झानानं वसेन सुखपटिसंविदिता, चतुन्नं पि वसेन चित्तसङ्खारपटिसंविदिता वेदितब्बा। **चित्तसङ्खारो** ति। वेदनादयो द्वे खन्धा।

सुखपटिसंवेदीपदे चेत्थ विपस्सनाभूमिदस्सनत्थं **"सुखं ति द्वे सुखानि, कायिकं च सुखं चेतसिकं चा"** (खु० नि० ५/२१८) ति **पटिसम्भिदाय** वुत्तं।

पस्सम्भयं चित्तसङ्खारं ति। ओळारिकं ओळारिकं चित्तसङ्खारं पस्सम्भेन्तो। निरोधेन्तो ति अत्थो। सो वित्थारतो कायसङ्खारे वुत्तनयेनेव वेदितब्बो।

अपि चेत्थ पीतिपदे पीतिसीसेन वेदना वुत्ता, सुखपदे सरूपेनेव वेदना। द्वीसु चित्तसङ्खारपदेसु **"सञ्ञा च वेदना च चेतसिका एते धम्मा चित्तपटिबद्धा चित्तसङ्खारा"** (खु० नि० ५/२२०) ति वचनतो 'सञ्ञासम्पयुत्ता' वेदना ति एवं वेदनानुपस्सनानयेन इदं चतुक्कं भासितं ति वेदितब्बं॥

साक्षात् रूप से जानने योग्य को साक्षात् रूप से जानते हुए, पूर्ण रूप से जानने योग्य को पूर्णरूप से जानते हुए, त्याग देने योग्य को त्यागते हुए, भावना करने योग्य की भावना करते हुए, साक्षात्कार करने योग्य का साक्षात्कार करते हुए उस प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है। इस प्रकार उस प्रीति का प्रतिसंवेदन होता है।" (खु० नि० ५/२१६)

इसी प्रकार से शेष तीन पदों (वाक्यांशों) का भी अर्थ समझ लेना चाहिये। अन्तर केवल यह है—तीन ध्यानों द्वारा सुख का प्रतिसंवेदन और चार द्वारा चित्तसंस्कार का प्रतिसंवेदन होता है, यों जानना चाहिये। चित्तसंस्कार=वेदना आदि[1] दो स्कन्ध। 'सुखप्रतिसंवेदी' पद में विपश्यना की भूमि को दिखलाने के लिये **पटिसम्भिदा** में कहा गया है—"सुख दो हैं—कायिक और चैतसिक।"

पस्सम्भयं चित्तसङ्खारं—स्थूल चित्तसंस्कारों के शान्त करते हुए, अर्थात् निरुद्ध करते हुए। उसे विस्तार से कायसंस्कारों में कही गयी विधि से ही जाना चाहिये।

एवं यहाँ 'प्रीति' पद में वेदना (जिसका इस चतुष्क में वस्तुतः विचार किया गया है) 'सुख' (जो कि एक रूपान्तर है) के शीर्षक के अन्तर्गत उल्लिखित है, किन्तु 'सुख' पद में वेदना को उसी रूप में बतलाया गया है। 'दो चित्तसंस्कार'—इन पदों में "संज्ञा और वेदना चैतसिक हैं, ये धर्म चित्त से संयुक्त चित्तसंस्कार हैं" (खु० नि० ५/२२०)—इस वचन से वेदना, 'संज्ञा से सम्प्रयुक्त' है। इस प्रकार यह चतुष्क वेदना की अनुपश्यना से सम्बन्ध रखता है, ऐसा जानना चाहिये॥

---

१. 'आदि' शब्द से संज्ञा का ग्रहण करना चाहिये। —टीका।

७०. **ततियचतुक्के** पि चतुन्नं झानानं वसेन चित्तपटिसंवेदिता वेदितब्बा। **अभिप्पमोदयं चित्तं** ति। चित्तं मोदेन्तो पमोदेन्तो हासेन्तो पहासेन्तो **अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति।** तत्थ द्वीहाकारेहि अभिप्पमोदो होति—समाधिवसेन च विपस्सनावसेन च।

कथं समाधिवसेन? सप्पीतिके द्वे झाने समापज्जति। सो समापत्तिक्खणे सम्पयुत्त-पीतिया चित्तं आमोदेति पमोदेति। कथं विपस्सनावसेन? सप्पीतिके द्वे झाने समापज्जित्वा वुट्ठाय झानसम्पयुत्तं पीतिं खयतो वयतो सम्मसति; एवं विपस्सनाक्खणे झानसम्पयुतं पीतिं आरम्मणं कत्वा चित्तं आमोदेति पमोदेति। एवं पटिपन्नो **अभिप्पमोदयं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती** ति वुच्चति।

समादहं चित्तं ति। पठमज्झानादिवसेन आरम्मणे चित्तं समं आदहन्तो समं ठपेन्तो। तानि वा पन झानानि समापज्जित्वा वुट्ठाय झानसम्पयुत्तं चित्तं खयतो वयतो सम्मसतो विपस्सनाक्खणे लक्खणपटिवेधेन उप्पज्जति खणिकचित्तेकग्गता। एवं उप्पन्नाय खणिकचित्ते-कग्गताय वसेन पि आरम्मणे चित्तं समं आदहन्तो समं ठपेन्तो **समादहं चित्तं अस्ससिस्सामी पस्ससिस्सामी ति सिक्खती** ति वुच्चति।

विमोचयं चित्तं ति। पठमज्झानेन नीवरणेहि चित्तं मोचेन्तो विमोचेन्तो, दुतियेन वितक्कविचारेहि, ततियेन पीतिया, चतुत्थेन सुखदुक्खेहि चित्तं मोचेन्तो विमोचेन्तो। तानि वा पन झानानि समापज्जित्वा वुट्ठाय झानसम्पयुत्तं चित्तं खयतो वयतो सम्मसति। सो विपस्स-

---

तृतीय चतुष्क

७०. तृतीय चतुष्क में भी चार ध्यानों द्वारा चित्त का प्रतिसंवेदन जानना चाहिये। **अभिप्पमोदयं चित्तं**—चित्त को मुदित (प्रसन्न), प्रमुदित, हर्षित, प्रहर्षित करते हुए **अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति**। दो प्रकार से मुदित होता है—समाधि एवं विपश्यना द्वारा।

समाधि द्वारा कैसे? प्रीति-सम्प्रयुक्त दो ध्यानों को प्राप्त करता है। वह प्राप्ति के क्षण में सम्प्रयुक्त प्रीति द्वारा चित्त को मुदित, प्रमुदित करता है। विपश्यना द्वारा कैसे? प्रीतिसम्प्रयुक्त दो ध्यानों को प्राप्त कर उनसे उठने के बाद, ध्यानसम्प्रयुक्त प्रीति को क्षय होने वाली, व्यय होने वाली जान लेता है। इस प्रकार विपश्यना के क्षण में ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति को आलम्बन बनाकर चित्त को मुदित, प्रमुदित करता है। यों प्रतिपन्न हुए योगी के विषय में कहा जाता है कि **"चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास लूँगा और छोड़ूँगा—ऐसा अभ्यास करता है।"**

समादहं चित्तं—प्रथम ध्यान आदि द्वारा आलम्बन में चित्त को समान रूप से (समं) लगाते हुए, समान रूप से टिकाते हुए। अथवा, उन ध्यानों को प्राप्त कर, उनसे उठने पर ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त को क्षय होने वाला, व्यय होने वाला जानते हुए, विपश्यना के क्षण में लक्षण-प्रतिवेध से चित्त की क्षणिक एकाग्रता उत्पन्न होती है। यों उत्पन्न हुई चित्त की क्षणिक एकाग्रता द्वारा भी आलम्बन में चित्त को समान रूप से लगाते हुए, समान रूप से टिकाते हुए, **'समादहं चित्तं अस्ससिस्सामी ति सिक्खति'** कहा जाता है।

विमोचयं चित्तं—प्रथम ध्यान द्वारा चित्त को नीवरणों से मुक्त, विमुक्त करते हुए। द्वितीय द्वारा वितर्क-विचारों से, तृतीय द्वारा प्रीति से, चतुर्थ द्वारा सुख दुःखों से चित्त को मुक्त, विमुक्त

नाक्खणे अनिच्चानुपस्सनाय निच्चसञ्ञातो चित्तं मोचेन्तो विमोचेन्तो, दुक्खानुपस्सनाय सुखसञ्ञातो, अनत्तानुपस्सनाय अत्तसञ्ञातो, निब्बिदानुपस्सनाय नन्दितो, विरागानुपस्सनाय रागतो, निराधानुस्सनाय समुदयतो, पटिनिस्सग्गानुपस्सनाय आदानतो चित्तं मोचेन्तो विमोचेन्तो अस्ससति चेव पस्ससति च। तेन वुच्चति—"विमोचयं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" ति। एवं चित्तानुपस्सनावसेन इदं चतुक्कं भासितं ति वेदितब्बं। (३)

७१. **चतुत्थचतुक्के** पन **अनिच्चानुपस्सी** ति एत्थ ताव अनिच्चं वेदितब्बं, अनिच्चता वेदितब्बा, अनिच्चानुपस्सना वेदितब्बा, अनिच्चानुपस्सी वेदितब्बो। तत्थ **अनिच्चं** ति पञ्चक्खन्धा। कस्मा? उप्पादवयञ्ञथत्तभावा। **अनिच्चता** ति। तेसं येव उप्पादवयञ्ञथत्तं, हुत्वा अभावो वा। निब्बत्तानं तेनेवाकारेन अठत्वा खणभङ्गेन[1] भेदो ति अत्थो। **अनिच्चानुपस्सना** ति। तस्सा अनिच्चताय वसेन रूपादीसु अनिच्चं ति अनुपस्सना। **अनिच्चानुपस्सी** ति। ताय अनुपस्सनाय समन्नागतो। तस्मा एवम्भूतो अस्ससन्तो च पस्ससन्तो च इध "अनिच्चानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" ति वेदितब्बो।

विरागानुपस्सी ति। एत्थ पन द्वे विरागा—खयविरागो[2] च अच्चन्तविरोगो[3] च। तत्थ

करते हुए। अथवा, उन ध्यानों को प्राप्त कर, उठने के बाद ध्यानसम्प्रयुक्त चित्त को क्षय होने वाला, व्यय होने वाला जानता है। वह विपश्यना के क्षण में अनित्य की अनुपश्यना द्वारा नित्य संज्ञा से चित्त को विमुक्त करते हुए, दुःख की अनुपश्यना द्वारा सुख संज्ञा से, अनात्म की अनुपश्यना द्वारा आत्मसंज्ञा से, निर्वेद की अनुपश्यना द्वारा नन्दी (विषय-सुख) से, विराग की अनुपश्यना द्वारा राग से, निरोध की अनुपश्यना द्वारा समुदय से, प्रतिनिःसर्ग (परित्याग) की अनुपश्यना द्वारा ग्रहण (आदान) से चित्त को विमुक्त करते हुए साँस लेता और छोड़ता है। अतएव कहा जाता है—"**विमोचयं चित्तं अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति**"। यों इस चतुष्क को चित्त की अनुपश्यना से सम्बन्धित समझना चाहिये। (३)

चतुर्थ चतुष्क

७१. चतुर्थ चतुष्क में **अनिच्चानुपस्सी** को इस प्रसङ्ग में अनित्य, अनित्यता, अनित्यानुपश्यना, अनित्यानुपश्यना करने वाला जानना चाहिये। उनमें **अनिच्च**—पञ्च स्कन्ध हैं। क्यों? क्योंकि उनका स्वभाव उत्पन्न होना, क्षय होना और परिवर्तित होना है। **अनिच्चता**—उन्हीं का उत्पाद, व्यय एवं परिवर्तित होना। अथवा, होने के बाद न होना। अर्थात् उत्पन्न हुओं का उसी रूप में न रहकर क्षणभङ्ग (क्षणिक निरोध) द्वारा भेद (नाश) हो जाना। **अनिच्चानुपस्सना**—उस अनित्यता के कारण से रूप आदि अनित्य हैं—यह अनुपश्यना। **अनिच्चानुपस्सी**—उस अनुपश्यना से युक्त। अतः यों साँस लेते और छोड़ने वाले के लिये ही यहाँ "अनिच्चानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति'—(ऐसा कहा गया) जानना चाहिये।

---

१. **खणभङ्गेना** ति। खणिकनिरोधेन।

२. **खयो** सङ्खारानं विनासो, विरज्जनं तेसं येव विलुज्जनं **विरागो**। खयो एव विरागो **खयविरागो**। खणिकनिरोधो।

३. अच्चन्तमेत्थ एतस्मिं अधिगते सङ्खारा विरज्झन्ति निरुज्झन्ती ति **अच्चन्तविरागो,** निब्बानं।

खयविरागो ति सङ्खारानं खणभङ्गो। **अच्चन्तविरागो** ति निब्बानं। विरागानुपस्सना ति तदुभयदस्सनवसेन पवत्ता विपस्सना च मग्गो च। ताय दुविधाय पि अनुपस्सनाय समन्नागतो हुत्वा अस्ससन्तो पस्ससन्तो च "विरागानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती" ति वेदितब्बो।

निरोधानुपस्सी—पदे पि एसेव नयो।

पटिनिस्सग्गानुपस्सी ति। एत्था पि द्वे पटिनिस्सग्गा—परिच्चागपटिनिस्सग्गो[1] च पक्खन्दनपटिनिस्सग्गो[2] च। पटिनिस्सग्गो येव अनुपस्सना पटिनिस्सग्गानुप्पसना। विपस्सनामग्गानं एतमधिवचनं।

विपस्सना हि तदङ्गवसेन सद्धिं खन्धाभिसङ्खारेहि किलेसे परिच्चजति, सङ्खतदोसदस्सनेन च तब्बिपरीते निब्बाने तन्निन्नताय पक्खन्दती ति **परिच्चागपटिनिसग्गो चेव पक्खन्दनपटिनिस्सग्गो** ति च वुच्चति। **मग्गो** समुच्छेदवसेन सद्धिं खन्धाभिसङ्खारेहि किलेसे परिच्चजति, आरम्मणकरणेन च निब्बाने पक्खन्दती ति **परिच्चागपटिनिस्सग्गो चेव पक्खन्दन-**

विरागानुपस्सी—इस प्रसङ्ग में विराग दो हैं—क्षयविराग[3] और अत्यन्त विराग।[4] इनमें, क्षयविराग—संस्कारों का क्षणभङ्ग। अत्यन्तविराग—निर्वाण। विरागानुपश्यना—उन दोनों के दर्शन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले—विपश्यना और मार्ग। इस द्विविध अनुपश्यना से युक्त होकर साँस लेने और छोड़ने वाले के लिये "**विरागानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति**" (कहा गया) जानना चाहिये।

निरोधानुपस्सी—(इस) पद में भी यही विधि है।

पटिनिस्सग्गानुपस्सी—यहाँ भी दो प्रतिनिःसर्ग हैं—परित्यागप्रतिनिःसर्ग[5] और प्रस्कन्दनप्रतिनिःसर्ग।[6] प्रतिनिःसर्ग ही अनुपश्यना=प्रतिनिःसर्गानुपश्यना। विपश्यना और मार्ग का यह अधिवचन है।

कारण यह है कि विपश्यना को ही परित्याग के रूप में प्रतिनिःसर्ग और प्रस्कन्दन के रूप में प्रतिनिःसर्ग कहा जाता है; क्योंकि (प्रथमतः) वह विपरीत गुणों को ले आने के कारण क्लेशों का, उनके स्कन्धोत्पादक संस्कारों के साथ, परित्याग कर देती है, एवं (द्वितीयतः) संस्कृत

---

१. पटिनिस्सज्जनं पहातब्बस्स तदङ्गवसेन वा समुच्छेदवसेन वा परिच्चजनं **परिच्चागपटिनिस्सग्गो**।

२. तथा सब्बूपधीनं पटिनिस्सग्गभूते विसङ्खारे अत्तनो निस्सज्जनं, तन्निन्नताय वा तदारम्मणताय वा तत्थ पक्खन्दनं **पक्खन्दनपटिनिस्सग्गो**।

३. क्षय अर्थात् संस्कारों का विनाश, उनसे विरजन (विरक्त होना), उनका नष्ट होना विराग है। क्षय ही विराग है, अतः 'क्षयविराग' कहा गया है। अर्थात् क्षणिक निरोध।

४. इसमें संस्कारों का आत्यन्तिक रूप से विनाश होता है, अतएव अत्यन्तविराग है। अर्थात् निर्वाण।

५. परित्याग प्रतिनिःसर्ग का तात्पर्य है प्रतिनिःसर्जन या प्रहातव्य का उसके अङ्गों या समुच्छेद के अनुसार परित्यजन।

६. प्रस्कन्दन (पक्खन्दन) का शाब्दिक अर्थ है—नीचे ऊपर या इधर उधर कूदना, बहना, फूटकर बहना आदि। प्रस्कन्दनप्रतिनिःसर्ग का तात्पर्य है समस्त उपाधियों के परित्यागभूत विसंस्कार में अपना निःसर्जन या उसे आलम्बन बनाने से उसमें प्रस्कन्दन।

पटिनिस्सग्गो ति वुच्चति। उभयं पि पन पुरिमपुरिमञाणं अनुअनुपस्सनतो **'अनुपस्सना'** ति वुच्चति। ताय दुविधाय पि पटिनिस्सग्गानुपस्सनाय समन्नागतो हुत्वा **अस्ससन्तो च पस्ससन्तो च पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खती** ति वेदितब्बो।

इदं चतुत्थचतुक्कं सुद्धविपस्सनावसेनेव वुत्तं। पुरिमानि पन तीणि समथविपस्सनावसेन। एवं चतुन्नं चतुक्कानं वसेन सोळसवत्थुकाय आनापानसतिया भावना वेदितब्बा।

एवं सोळसवत्थुवसेन च पन अयं आनापानस्सति महप्फला होति महानिसंसा।

७२. तत्रस्स "**अयं पि खो, भिक्खवे, आनापानस्सतिसमाधि भावितो बहुलीकतो सन्तो चेव पणीतो चा**" ति आदिवचनतो सन्तभावादिवसेना पि महानिसंसता वेदितब्बा, वितक्कुपच्छेदसमत्थताय पि। अयं हि सन्तपणीतअसेचनकसुखविहारत्ता समाधिअन्तरायकरानं वितक्कानं वसेन इतो चितो च चित्तस्स विधावनं विच्छिन्दित्वा आनापानारम्मणाभिमुखमेव चित्तं करोति। तेनेव वुत्तं—"**आनापानस्सति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदाया**" (अं० नि० ४/५) ति।

विज्जाविमुत्तिपारिपूरिया मूलभावेना पि चस्सा महानिसंसता वेदितब्बा। वुत्तं हेतं भगवता—"**आनापानस्सति, भिक्खवे, भाविता बहुलीकता चत्तारो सतिपट्ठाने परिपूरेति, चत्तारो सतिपट्ठाना भाविता बहुलीकता सत्त बोज्झङ्गे परिपूरेन्ति, सत्त बोज्झङ्गा भाविता बहुलीकता विज्जाविमुत्तिं परिपूरेन्ती**" (म० नि० ३/११६७) ति।

७३. अपि च चरिमकानं अस्सासपस्सासानं विदितभावकरणतो पिस्सा महानिसंसता

में दोषदर्शन के परिणामस्वरूप उसके विपरीत-निर्वाण के प्रति झुकाव होने से उसमें प्रवेश भी करती है। मार्ग को भी परित्यागप्रतिनि:सर्ग और प्रस्कन्दनप्रतिनि:सर्ग कहा जाता है; क्योंकि वह समुच्छेद द्वारा क्लेशों का, उनके स्कन्धोत्पादक संस्कारों के साथ परित्याग कर देता है एवं (निर्वाण को) आलम्बन बनाकर निर्वाण में कूद पड़ता (प्रवेश करता) है। वे दोनों ही; क्योंकि पूर्व पूर्व ज्ञानों के पश्चात् पश्चात् दर्शनरूप हैं, अत: उन्हें 'अनुपश्यना' कहा जाता है। उन द्विविध प्रतिनि:सर्गानुपश्यना से युक्त होने पर (उसके बारे में) जानना चाहिये कि "**अस्ससन्तो च पस्ससन्तो च पटिनिस्सग्गानुपस्सी अस्ससिस्सामि पस्ससिस्सामी ति सिक्खति।**"

इस चतुर्थ चतुष्क का सम्बन्ध शुद्ध विपश्यना से है, पूर्व के तीन का शमथविपश्यना से। यों, चार चतुष्कों के अनुसार सोलह वस्तुओं वाली आनापानस्मृति की भावना जानना चाहिये।

इस प्रकार सोलह वस्तुओं के अनुसार यह आनापानस्मृति महान् फल देने वाली, माहात्म्यसम्पन्न होती है।

७२. वहाँ इसका "**भिक्षुओ! यह आनापान स्मृति-समाधि भी भावना की गयी, बढ़ायी गयी, शान्त और प्रणीत होती है**"—आदि वचन के अनुसार शान्त भाव आदि के कारण भी माहात्म्य जानना चाहिये, एवं वितर्कों के उपच्छेद में समर्थ होने के कारण भी। यह शान्त, उत्तम, अदूषित (असेचनक) सुखविहार, अत: समाधि में बाधा डालने वाले वितर्कों के रूप में चित्त का इधर उधर भटकना रोककर, चित्त को आनापान-आलम्बन की ओर ही करता है। इसलिये कहा गया है—"वितर्क के उपच्छेदहेतु आनापानस्मृति की भावना करनी चाहिये।" (अं० नि० ४/५)

विद्या और विमुक्ति का मूल होने से भी इसका माहात्म्य जानना चाहिये। क्योंकि भगवान्

वेदितब्बा। वुत्तं हेतं भगवता—"**एवं भावितता खो, राहुल, आनापानस्सतिया एवं बहुलीकताय ये पि च ते चरिमका अस्सासपस्सासा, ते पि विदिता व निरुज्झन्ति, नो अविदिता**" (म० नि०२/५८७) ति।

७४. तत्थ निरोधवसेन तयो चरिमका—भवचरिमका, झानचरिमका, चुतिचरिमका ति। भवेसु हि कामभवे अस्सासपस्सासा पवत्तन्ति, रूपारूपभवेसु नप्पवत्तन्ति, तस्मा ते **भवचरिमका**। झानेसु पुरिमे झानत्तये पवत्तन्ति, चतुत्थे नप्पवत्तन्ति, तस्मा ते **झानचरिमका**। ये पन चुतिचित्तस्स पुरतो सोळसमेन चित्तेन सद्धिं उप्पज्जित्वा चुतिचित्तेन सह निरुज्झन्ति, इमे **चुतिचरिमका** नाम। इमे इध "चरिमका" ति अधिप्पेता।

७५. इमं किर कम्मट्ठानं अनुयुत्तस्स भिक्खुनो आनापानारम्मणस्स सुट्ठु परिग्गहितत्ता चुतिचित्तस्स पुरतो सोळसमस्स चित्तस्स उप्पादक्खणे उप्पादं आवज्जयतो उप्पादो पि नेसं पाकटो होति। ठितिं आवज्जयतो ठिति पि नेसं पाकटा होति। भङ्गं आवज्जयतो च भङ्गो नेसं पाकटो होति।

इतो अञ्ञं कम्मट्ठानं भावेत्वा अरहत्तं पत्तस्स भिक्खुनो हि आयुअन्तरं परिच्छिन्नं वा होति अपरिच्छिन्नं वा। इमं पन सोळसवत्थुकं आनापानस्सतिं भावेत्वा अरहत्तं पत्तस्स

ने कहा है—"भिक्षुओ! आनापानस्मृति बढ़ाने पर, भावना करने पर चार स्मृतिप्रस्थानों[1] को परिपूर्ण करती है, चार स्मृतिप्रस्थान भावना करने, बढ़ाने पर सात सम्बोध्यङ्गों[2] को परिपूर्ण करते हैं, सात सम्बोध्यङ्ग भावना करने बढ़ाने पर विद्या विमुक्ति को परिपूर्ण करते हैं। (म० नि० ३/११६७)

७३. इसके अतिरिक्त, क्योंकि इसके कारण अन्तिम आश्वास-प्रश्वास भी विदित (चेतनावस्था में) होते हैं, इसलिये भी इसका माहात्म्य जानना चाहिये। क्योंकि भगवान् ने कहा है—"राहुल! आनापानस्मृति की यों भावना करने, बढ़ाने पर अन्तिम आश्वास प्रश्वास भी विदित रूप में ही निरुद्ध होते हैं, अविदित रूप में नहीं।" (म० नि० २/५८७)

७४. निरोध के अनुसार तीन अन्तिम (चरम) हैं—भव-अन्तिम, ध्यान-अन्तिम, च्युति-अन्तिम। भवों में, कामभव में आश्वास-प्रश्वास होते हैं, रूप और अरूप भवों में नहीं होते, इसलिये ये **भव (में) अन्तिम** हैं। ध्यानों में, पूर्व के तीन ध्यानों में होते हैं, चतुर्थ में नहीं होते, इसलिये **वे ध्यान-अन्तिम** हैं। जो च्युत होने वाले चित्त के पूर्व सोलह चित्तों के साथ उत्पन्न होकर, च्युत होने वाले चित्त के साथ निरुद्ध होते हैं, **वे च्युति-अन्तिम** हैं। ये ही यहाँ "अन्तिम के रूप में" अभिप्रेत हैं।

७५. इस कर्मस्थान में लगे हुए भिक्षु का आनापान-आलम्बन क्योंकि भलीभाँति गृहीत होता है, अतः च्युति-चित्त के पूर्व सोलह चित्तों के उत्पत्ति क्षण में उत्पत्ति का आवर्जन करते समय उनकी उत्पत्ति का भी स्पष्ट भान होता है, स्थिति का आवर्जन करते समय स्थिति का भी एवं भङ्ग का आवर्जन करते समय उनके भङ्ग का भी स्पष्ट अनुभव होता है।

इससे भिन्न किसी कर्मस्थान की भावना कर अर्हत्त्व प्राप्त करने वाले भिक्षु को अपनी

---

१. **स्मृतिप्रस्थान**—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना।

२. ***सम्बोध्यङ्ग***—*स्मृतिसम्बोध्यङ्ग, धर्मविचय..., वीर्य..., प्रीति...*, प्रश्रब्धि..., समाधि..., उपेक्षासम्बोध्यङ्ग।

आयुअन्तरं परिच्छिन्नमेव होति। सो "एत्तकं दानि मे आयुसङ्खारा पवत्तिस्सन्ति, न इतो परं" ति ञत्वा अत्तनो धम्मताय येव सरीरपटिजग्गननिवासनपारुपनादीनि सब्बकिच्चानि कत्वा अक्खीनि निमीलेति कोटपब्बतविहारवासी **तिस्सत्थेरो** विय, महाकरञ्जियविहारवासी **महातिस्सत्थेरो** विय, देवपुत्तमहारट्ठे **पिण्डपातिकतिस्सत्थेरो** विय, चित्तलपब्बतविहारवासिनो द्वे भातियत्थेरा विय च।

७६. तत्रिदं एकवत्थुपरिदीपनं—द्वेभातियत्थेरानं किरेको पुण्णमुपोसथदिवसे पातिमोक्खं ओसारेत्वा भिक्खुसङ्घपरिवुतो अत्तनो वसनट्ठानं गन्त्वा चङ्कमे ठितो चन्दालोकं ओलोकेत्वा अत्तनो आयुसङ्खारे उपधारेत्वा भिक्खुसङ्घं आह—"तुम्हेहि कथं परिनिब्बायन्ता भिक्खू दिट्ठपुब्बा" ति? तत्र केचि आहंसु—"अम्हेहि आसने निसिन्नका व परिनिब्बायन्ता दिट्ठपुब्बा" ति। केचि "अम्हेहि आकासे पल्लङ्कं आभुजित्वा निसिन्नका" ति। थेरो आह— "अहं दानि वो चङ्कमन्तमेव परिनिब्बायमानं दस्सेस्सामी" ति। ततो चङ्कमे लेखं कत्वा "अहं इतो चङ्कमकोटितो परकोटिं गन्त्वा निवत्तमानो इमं लेखं पत्वा व परिनिब्बायिस्सामी" ति वत्वा चङ्कमं ओरुय्ह परभागं गन्त्वा निवत्तमानो एकेन पादेन लेखं अक्कन्तक्खणे येव परिनिब्बायि।

तस्मा हवे अप्पमत्तो अनुयुञ्जेथ पण्डितो।
एवं अनेकानिसंसं आनापानस्सतिं सदा ति॥

इदं आनापानस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

जीवन-अवधि का निश्चित ज्ञान हो सकता है या नहीं भी हो सकता; किन्तु सोलह वस्तुओं वाली इस आनापानस्मृति की भावना कर अर्हत्व प्राप्त करने वाले को अपनी जीवन-अवधि का निश्चित ज्ञान (परिच्छेद) अवश्य होता है। वह "इसी समय तक मेरे आयुःसंस्कार प्रवर्तित होंगे, इसके बाद नहीं'—यों जानते हुए, स्वभावतः ही शरीर के सभी कृत्य—पहनना, ओढ़ना आदि करते हुए आँखें बन्द करता है (मृत्यु प्राप्त करता है), कोटपर्वतविहारवासी **तिष्य** स्थविर के समान, महा-करञ्जियविहारवासी **महातिष्य** स्थविर के समान, देवपुत्र साम्राज्य में पिण्डपातिक तिष्य स्थविर के समान एवं चित्तलपर्वत विहारवासी दो स्थविर बन्धुओं के समान।

७६. यहाँ एक कथा बतलायी जा रही है—दो स्थविर भाईयों में से एक पूर्णिमा के उपोसथ के दिन प्रातिमोक्ष को समाप्त कर भिक्षुसङ्घ से घिरे हुए अपने निवासस्थान पर गये।

चंक्रमण स्थल पर खड़े होकर चाँदनी को निहारते हुए, अपने आयुः-संस्कारों पर विचार कर, भिक्षुसङ्घ से कहा—"अभी तक तुम लोगों ने भिक्षुओं को किस प्रकार (किस ईर्यापथ में) परिनिर्वृत होते हुए देखा है?" किसी ने कहा—"अभी तक हमने आसन पर बैठे बैठे परिनिर्वृत हुए लोगों को देखा है।" किसी ने (कहा)—"हमने आकाश में पद्मासन लगाकर बैठे हुओं को।" स्थविर ने कहा—"अब मैं आप सबको चंक्रमण करते हुए ही परिनिर्वृत होना दिखलाऊँगा।" तब चंक्रमणस्थल पर रेखा खींचकर कहा—"मैं यहाँ से चंक्रमणस्थल के अन्तिम छोर पर जाकर लौटते समय इसी लकीर के पास आकर ही परिनिर्वृत हो जाऊँगा।" तत्पश्चात् चंक्रमण करते हुए दूसरी ओर जाकर वहाँ से लौटते समय एक पैर से रेखा को जब लाँघ रहे थे, उसी समय परिनिर्वृत हो गये।

१०. उपसमानुस्सतिकथा

७७. आनापानस्सतिया अनन्तरं उद्दिट्ठं पन उपसमानुस्सतिं भावेतुकामेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन—"**यावता, भिक्खवे, धम्मा सङ्खता वा असङ्खता वा विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति, यदिदं मदनिम्मदनो पिपासविनयो आलयसमुग्घातो वट्टुपच्छेदो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं**" (अं० नि० २/५०) ति एव सब्बदुक्खूपसमसङ्खातस्स निब्बानस्स गुणा अनुस्सरितब्बा।

तत्थ **यावता** ति यत्तका। **धम्मा** ति सभावा। **सङ्खता वा असङ्खता वा** ति सङ्गम्म समागम्म पच्चयेहि कता वा अकता वा **विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायती** ति। तेसं सङ्खतासङ्खतधम्मानं विरागो अग्गमक्खायति, सेट्ठो उत्तमो ति वुच्चति।

तत्थ **विरागो** ति न रागाभावमत्तमेव, अथ खो यदिदं मदनिम्मदनो...पे०...निब्बानं ति यो सो मदनिम्मदनो ति आदीनि नामानि असङ्खतधम्मो लभति, सो विरागो ति पच्चेतब्बो। सो हि यस्मा तं आगम्म सब्बे पि मानमदपुरिसमदादयो मदा निम्मदा अमदा होन्ति, विनस्सन्ति, तस्मा **मदनिम्मदनो** ति वुच्चति। यस्मा च तं आगम्म सब्बा पि कामपिपासा विनयं अब्भत्थं याति तस्मा **पिपासविनयो** ति वुच्चति। यस्मा पन तं आगम्म पञ्चकामगुणालया समुग्घातं गच्छन्ति, तस्मा **आलयसमुग्घातो** ति वुच्चति। यस्मा च तं आगम्म तेभूमकवट्टं उपच्छिज्जति,

---

इसलिये ऐसे अनेक गुणों वाली आनापानस्मृति में बुद्धिमान् सदा अप्रमत्त होकर लगा रहे॥

यह आनापानस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

१०. उपशमानुस्मृति

७७. आनापानस्मृति के बाद उपदिष्ट उपशमानुस्मृति की भावना करने के अभिलाषी को एकान्त में जाकर "**यावता, भिक्खवे, धम्मा सङ्खता वा असङ्खता वा...तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं**" (अ० नि० २/५०) (अर्थात् भिक्षुओ! जितने भी संस्कृत या असंस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों में विराग को श्रेष्ठ कहा जाता है, जो कि मद को नष्ट करने वाला, तृष्णा को बुझाने वाला, आलय (राग) का समुच्छेद करने वाला, संसार-चक्र का उपच्छेद करने वाला है, जो कि तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध निर्वाण है।)—इस प्रकार सभी दु:खों का उपशम कहे जाने वाले निर्वाण के गुणों का बारंबार स्मरण करना चाहिये।

इनमें—**यावता**—जितने भी। **धम्मा**=स्वभाव। **सङ्खता वा असङ्खता वा**—सङ्गम करके, समागम करके, प्रत्ययों द्वारा कृत या अकृत। **विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति**—उन संस्कृत और अंस्कृत धर्मों में विराग को अग्र कहा जाता है, श्रेष्ठ, सर्वोत्तम कहा जाता है।

विराग राग का अभावमात्र नहीं है, अपितु 'जो मद को नष्ट करने वाला ...पूर्ववत्... निर्वाण है' इस प्रकार जो 'मद को नष्ट करने वाला' आदि नामों से असंस्कृत धर्म की श्रेणी में आता है, उसी को विराग समझना चाहिये। क्योंकि उसकी प्राप्ति से सभी मानमद, पुरुषमद आदि मद नष्ट हो जाते हैं, अत: (उसे) **मदनिम्मदनो** कहते हैं। क्योंकि उसकी प्राप्ति से सभी कामपिपासाएँ शान्त हो जाती हैं, बुझ जाती है, इसलिये **पिपासविनयो** कहा जाता है। क्योंकि उसकी प्राप्ति से

तस्मा **वट्टुपच्छेदो** ति वुच्चति। यस्मा पन तं आगम्म सब्बसो तण्हा खयं गच्छति विरज्जति निरुज्झति च, तस्मा **तण्हक्खयो विरागो निरोधो** ति वुच्चति। यस्मा पनेस चतस्सो योनियो[1] पञ्च गतियो[2] सत्त विञ्ञाणट्ठितियो[3] नव च सत्तावासे[4] अपरापरभावाय विननतो आबन्धनतो संसिब्बनतो **वानं** ति लद्धवोहाराय तण्हाय निक्खन्तो निस्सटो विसंयुत्तो, तस्मा **निब्बानं** ति वुच्चती ति।

७८. एवमेतेसं मदनिम्मदनतादीनं गुणानं वसेन निब्बानसङ्खातो उपसमो अनुस्सरितब्बो। ये वा पनञ्ञे पि भगवता—"**असङ्खतं च वो भिक्खवे, देसिस्सामि सच्चं च... पारं च... सुदुद्दसं च... अजरं च... धुवं च... निप्पपञ्चं च... अमतं च... सिवं च... खेमं च... अब्भुतं च... अनीतिकं च... अब्यापज्झं च... विसुद्धिं च... दीपं च... ताणं च... लेणं च वो, भिक्खवे, देसिस्सामी**" (सं० नि० ३/३१२-३२०) ति आदीसु सुत्तेसु उपसमगुणा वुत्ता, तेसं पि वसेन अनुस्सरितब्बो येव।

तस्सेवं मदनिम्मदनतादिगुणवसेन उपसमं अनुस्सरतो "नेव तस्मिं समये रागपरियुट्ठितं चित्तं होति, न दोस...न मोहपरियुट्ठितं चित्तं होति। उजुगतमेवस्स तस्मिं समये चित्तं होति **उपसमं आरब्भा**" ति बुद्धानुस्सतिआदीसु वुत्तनयेनेव विक्खम्भितनीवरणस्स एकक्खणे

पञ्चकाम गुणों के आलय (आश्रय, अर्थात् राग) नष्ट हो जाते हैं, अतः **आलयसमुग्घातो** कहा जाता है। क्योंकि उसकी प्राप्ति से तीनों भवों का चक्र छिन्न भिन्न हो जाता है, अतः **वट्टुपच्छेदो** कहा जाता है। क्योंकि उसकी प्राप्ति से सब प्रकार से (आत्यन्तिक रूप से) तृष्णा का क्षय हो जाता है, वह विराग को प्राप्त होती है, निरुद्ध होती है, अतः **तण्हक्खयो विरागो निरोधो** कहा जाता है। एवं क्योंकि यह चार (अण्डज, जरायुज, स्वेदज, औपपातिक) योनियों, पाँच (नरक, तिर्यक्, प्रेत, मनुष्य, देवता) गतियों, सात विज्ञान की स्थितियों[5], नौ सत्त्वावासों[6] को एक दूसरे से बाँधते हुए, सीते हुए, 'वान' कही जाने वाली तृष्णा से निकला हुआ, उसे त्यागा हुआ, विसंयुक्त हुआ है; अतः **निब्बानं** कहा जाता है।

७८. यों इन 'मद को नष्ट करने वाले' आदि गुणों के अनुसार, 'निर्वाण' कहे जाने वाले उपशम का अनुस्मरण करना चाहिये। भगवान् ने जो अन्य भी—"भिक्षुओ! तुम्हें असंस्कृत का उपदेश देता हूँ। भिक्षुओ! तुम्हें सत्य...पार...सुदुर्दर्श...अजर...ध्रुव...निष्प्रपञ्च...अमृत...शिव... क्षेम... अद्भुत... निरुपद्रव (अनीतिक)...अव्यापद्य (दुःखरहित)...विशुद्धि...द्वीप...त्राण...लयन (लेण= शरण) का उपदेश देता हूँ" (सं० नि० ३/३१२-३२०)—आदि सूत्रों में उपशम के गुण बतलाये हैं, उनके अनुसार भी अनुस्मरण करना ही चाहिये।

जब वह 'मद को नष्ट करने वाला' आदि गुणों के अनुसार अनुस्मरण करता है, तब "उस समय चित्त न तो राग से लिप्त होता है, न द्वेष से...न मोह से लिप्त होता है। उपशम की ओर चित्त की गति सीधी ही होती है"—यों बुद्धानुस्मृति में कहे गये प्रकार से ही, नष्ट हो चुके नीवरणों

---

१. अण्डज-जलाबुज-संसेदज-ओपपातिकयोनियो। २. निरय-तिरच्छान-पेत्तिविसय-मनुस्स-देवगतयो।
३. अ० नि० सत्तकनिपाते दट्ठब्बा। ४. अ० नि० नवकनिपाते दट्ठब्बा।
५. द्र०—अ० नि०, सत्तकनिपातो। ६. तत्थेव नवकनिपाते।

झानङ्गानि उप्पज्जन्ति। उपसमगुणानं पन गम्भीरताय नानप्पकारगुणानुस्सरणाधिमुत्तताय वा अप्पनं अप्पत्वा उपचारप्पत्तमेव झानं होति। तदेतं उपसमगुणानुस्सरणवसेन उपमानुस्सतिं चेव सङ्खं गच्छति।

७९. छ अनुस्सतियो विय च अयं पि अरियसावकस्सेव इज्झति। एवं सन्ते पि उपसमगरुकेन पुथुज्जनेना पि मनसिकातब्बा। सुतवसेना पि हि उपसमे चित्तं पसीदति।

इमं च पन उपसमानुस्सतिं अनुयुत्तो भिक्खु सुखं सुपति, सुखं पटिबुज्झति, सन्तिन्द्रियो होति सन्तमानसो, हिरोत्तप्पसमन्नागतो पासादिको पणीताधिममुत्तिको सब्रह्मचारीनं गरु च भावनीयो च। उत्तरि अप्पटिविज्झन्तो पन सुगतिपरायनो होति।

तस्मा हवे अप्पमत्तो भावयेथ विचक्खणो।
एवं अनेकानिसंसं अरिये उपसमे सतिं ति॥

इदं उपसमानुस्सतियं वित्थारकथामुखं॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे समाधिभावनाधिकारे
अनुस्सतिकम्मट्ठाननिद्देसो नाम अट्ठमो परिच्छेदो॥

●●

वाले (भिक्षु) को एक क्षण में ध्यानाङ्ग उत्पन्न होते हैं। किन्तु उपशम के गुणों की गम्भीरता के कारण, या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण के प्रति अधिमुक्ति होने के कारण, अर्पणा प्राप्त नहीं होती, ध्यान में उपचार ही प्राप्त होता है। उपशम के गुणों के अनुस्मरण के कारण (प्राप्त होने से) इसे भी 'उपशमानुस्मृति' ही कहा जाता है।

७९. छह अनुस्मृतियों की ही भाँति, इसमें भी आर्यश्रावक को ही सिद्धि प्राप्त होती है। यद्यपि ऐसा है, फिर भी जिसे उपशम के प्रति आदरभाव हो, ऐसा पृथग्जन (साधारण व्यक्ति) भी मनस्कार कर सकता है; क्योंकि (उपशम के गुणों के विषय में) केवल सुनने से भी चित्त प्रसन्न ही होता है।

इस उपशमानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु सुख से सोता है, सुख से जागता है। शान्त इन्द्रिय, शान्त मन वाला होता है। लज्जा संकोच से युक्त, प्रसन्नवदन, उत्तम के प्रति अधिमुक्ति रखने वाला एवं सब्रह्मचारियों के लिये आदर सत्कार का पात्र होता है। और अन्त में चाहे उसे उच्चतर (स्थिति) में अन्तःप्रवेश न भी मिले, वह सुगति को तो प्राप्त करता ही है।

अतः बुद्धिमान् योगाभ्यासी इस अनेक गुणों वाली आर्य उपशमानुस्मृति की अप्रमत्त होकर भावना करे॥

यह उपशमानुस्मृति की विस्तृत व्याख्या है॥

साधुजनों के प्रमोदहेतु रचित इस विशुद्धिमार्ग (ग्रन्थ) के समाधिभावना नामक अधिकार में
अनुस्मृतिकर्मस्थाननिर्देश नामक अष्टम परिच्छेद समाप्त॥

●●

९. ब्रह्मविहारनिद्देसो

नवमो परिच्छेदो

१. मेत्ताभावनाकथा

१. अनुस्सतिकम्मट्ठानानन्तरं उद्दिट्ठेसु[1] पन मेत्ता करुणा मुदिता उपेक्खा ति इमेसु चतूसु ब्रह्मविहारेसु मेत्तं भावेतुकामेन ताव आदिकम्मिकेन योगावचरेन उपच्छिन्नपलिबोधेन गहित-कम्मट्ठानेन भत्तकिच्चं कत्वा भत्तसम्मदं पटिविनोदेत्वा विवित्ते पदेसे सुपञ्ञत्ते आसने सुखनिसिन्नेन आदितो ताव दोसे आदीनवो खन्तियं च आनिसंसो पच्चवेक्खितब्बो।

२. कस्मा? इमाय हि भावनाय दोसो पहातब्बो, खन्ति अधिगन्तब्बा। न च सक्का किञ्चि अदिट्ठादीनवं पहातुं अविदितानिसंसा वा अधिगन्तुं। तस्मा "**दुट्ठो खो, आवुसो, दोसेन अभिभूतो परियादिण्णचित्तो पाणं पि हनती**" (अं० नि० १/२८४) ति आदीनं वसेन दोसे आदीनवो दट्ठब्बो।

३. "**खन्ती परमं तपो तितिक्खा[2] निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा**" (ध० प० १८४ गा०)

"**खन्तीबलं बलानीकं[3] तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं**" (ध० प० ३९९ गा०)

"**खन्त्या भिय्यो न विज्जती**" (सं० नि० १/३५६) ति आदीनं वसेन खन्तियं आनिसंसो वेदितब्बो।

---

९. ब्रह्मविहारनिर्देश

नवम परिच्छेद

१. मैत्री भावना

१. अनुस्मृतिकर्मस्थान के बाद उपदिष्ट १. मैत्री, २. करुणा, ३. मुदिता एवं ४. उपेक्षा—इन चार ब्रह्मविहारों में, मैत्री की भावना करने के अभिलाषी, पलिबोधों को नष्ट कर चुके एवं कर्मस्थान को ग्रहण कर चुके आदिकर्मिक योगी को भोजन समाप्त कर तथा भोजनजनित आलस्य को दूरकर, एकान्त स्थान में अच्छी तरह से बिछाये आसन पर सुखपूर्वक बैठकर, सर्वप्रथम द्वेष (वैर) के दोष एवं क्षान्ति (=क्षमा, सहनशीलता) के गुण पर विचार करना चाहिये।

२. क्यों? क्योंकि इस भावना के लिये द्वेष का नाश एवं क्षान्ति की प्राप्ति आवश्यक है अन्यथा किसी अदृष्ट दोष का प्रहाण तथा अविदित गुण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः "आयुष्मन्, द्वेष के वशीभूत, उपहत चित्तवाला द्वेषी जीवहिंसा भी करता है" (अं० नि० १/२८४)—आदि पालि के अनुसार द्वेष में दोष देखना चाहिये।

३. "बुद्धगण क्षान्ति=तितिक्षा को परम तप, एवं निर्वाण को परमपद बतलाते हैं"।

"क्षान्ति-बल ही जिसका सैन्यबल है, उसे मैं 'ब्राह्मण' कहता हूँ।"(ध० प० ३९९ गा०)

---

१. **उद्दिट्ठेसू** ति। ततियपरिच्छेदे चत्तालीसकम्मट्ठानकथायं।

२. 'तितिक्खलक्खणा खन्ति उत्तमं तपो' त्यत्थो।

३. **बलानीकं** ति। सेनाबलं।

४. अथेवं दिट्ठादीनवतो दोसतो चित्तं विवेचनत्थाय, विदितानिसंसाय च खन्तिया संयोजनत्थाय मेत्ताभावना आरभितब्बा। आरभन्तेन च आदितो व पुग्गलदोसा जानितब्बा—"इमेसु पुग्गलेसु मेत्ता पठमं च भावेतब्बा, इमेसु नेव भावेतब्बा" ति।

अयं हि मेत्ता अप्पियपुग्गले, अतिप्पियसहायके, मज्झत्ते, वेरिपुग्गले ति इमेसु चतूसु पठमं न भावेतब्बा। लिङ्गविसभागे[1] ओधिसो[2] न भावेतब्बा। कालकते न भावेतब्बा व। किङ्कारणा अप्पियादीसु पठमं न भावेतब्बा? अप्पियं हि पियट्ठाने ठपेन्तो किलमति। अतिप्पियसहायकं मज्झत्तट्ठाने ठपेन्तो किलमति, अप्पमत्तके पि'स्स दुक्खे उप्पन्ने आरोदनाकारप्पत्तो विय होति। मज्झत्तं गरुट्ठाने च पियट्ठाने च ठपेन्तो किलमति। वेरिमनुस्सरतो कोधो उप्पज्जति, तस्मा अप्पियादीसु पठमं न भावेतब्बा।

५. लिङ्गविसभागे पन तमेव आरब्भ ओधिसो भावेन्तस्स रागो उप्पज्जति। अञ्ञतरो किर अमच्चपुत्तो कुलूपकत्थेरं पुच्छि—"भन्ते, कस्स मेत्ता भावेतब्बा ति"? थेरो "पियपुग्गले" ति आह। तस्स अत्तनो भरिया पिया होति, सो तस्सा मेत्तं भावेन्तो सब्बरत्तिं भित्तियुद्धमकासि[3]। तस्मा लिङ्गविसभागे ओधिसो न भावेतब्बा।

"क्षान्ति से बढ़कर और कुछ नहीं है।" (सं० नि० १/३५६)

आदि के अनुसार क्षान्ति का गुण जानना चाहिये।

४. यों जिसका दोष देख लिया गया उस द्वेष से चित्त को पृथक् करने के लिये एवं जिसका गुण ज्ञात हो चुका ऐसी क्षान्ति से चित्त को जोड़ने के लिये मैत्री भावना का आरम्भ करना चाहिये। आरम्भ करने वाले को पहले व्यक्तियों के दोष को (यों) समझ लेना चाहिये—"प्रारम्भ में मैत्री की भावना इन व्यक्तियों के प्रति करनी चाहिये तथा इन के प्रति नहीं करनी चाहिये।"

प्रारम्भ में इस मैत्री की भावना १. अप्रिय पुरुष, २. घनिष्ठ मित्र (या सहयोगी), ३. मध्यस्थ (न प्रिय, न अप्रिय), और ४. वैरी पुरुष—इन चार के प्रति नहीं करनी चाहिये। असमान लिङ्ग के किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति भी यह भावना नहीं करनी चाहिये।

प्रारम्भ में अप्रिय आदि के प्रति भावना क्यों नहीं करनी चाहिये? क्यों कि (विचार के स्तर पर) अप्रिय को प्रिय (=मैत्री के आलम्बन) के स्थान पर रखने से साधक (मानसिक तनाव के कारण) क्लान्त हो जाता है। घनिष्ठ मित्र को मध्यस्थ के स्थान पर रखने से (भी) वह क्लान्त हो जाता है (मानसिक थकान का अनुभव करता है)। उसे अल्पमात्र भी दुःख होने पर वह (योगी) क्लान्त-सा हो उठता है। वैसे ही मध्यस्थ को सम्मानित एवं प्रिय स्थान पर रखने से क्लान्त हो जाता है। वैरी का अनुस्मरण करने से क्रोध उत्पन्न होता है। इसलिये प्रारम्भ में अप्रिय आदि के प्रति यह भावना नहीं करनी चाहिये।

५. असमान लिङ्ग के व्यक्तिविशेष के प्रति भावना करने वाले में राग उत्पन्न हो जाता

---

१. **लिङ्गविसभागे** ति। इत्थिलिङ्गादिना लिङ्गेन विसदिसे। २. **ओधिसो** ति। भागसो।

३. **भित्तियुद्धमकासी** ति। सीलं अधिट्ठाय पिहितद्वारे गब्भे सयनपीठे निसीदित्वा मेत्तं भावेन्तो मेत्तामुखेन उप्पन्नरागेन अन्धीकतो भरियाय सन्तिकं गन्तुकामो द्वारं असल्लक्खेत्वा भित्तिं भिन्दित्वा पि निक्खमितु-कामताय भित्तिं पहरि।

६. कालङ्कते पन भावेन्तो नेव अप्पनं, न उपचारं पापुणाति। अञ्ञतरो किर दहरभिक्खु आचरियं आरब्भ मेत्तं आरभि। तस्स मेत्ता नप्पवत्तति। सो महाथेरस्स सन्तिकं गन्त्वा "भन्ते, पगुणा व मे मेत्ताझानसमापत्ति, न च नं समापज्जितुं सक्कोमि, किं नु खो कारणं?" ति आह। थेरो "निमित्तं, आवुसो, गवेसाही" ति आह। सो गवेसन्तो आचरियस्स मतभावं ञत्वा अञ्ञं आरब्भ मेत्तायन्तो समापत्तिं अप्पेसि। तस्मा कालङ्कते न भावेतब्बा व।

७. सब्बपठमं पन "अहं सुखितो होमि निद्दुक्खो" ति वा, "अवेरो अब्यापज्झो अनीघो सुखो अत्तानं परिहरामी" ति वा एवं पुनप्पुनं अत्तनि येव भावेतब्बा।

८. एवं सन्ते यं **विभङ्गे** वुत्तं—"**कथं च भिक्खु मेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति? सेय्यथापि नाम एकं पुग्गलं पियं मनापं दिस्वा मेत्तायेय्य, एवमेव सब्बे सत्ते मेत्ताय फरतो**" (अभि० २/३२७) ति।

यं च **पटिसम्भिदायं**—"**कतमेहि पञ्चहाकारेहि अनोधिसोफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति भावेतब्बा? सब्बे सत्ता अवेरा होन्तु, अब्यापज्झा अनोघा सुखी अत्तानं परिहरन्तु। सब्बे**

है। किसी अमात्यपुत्र ने कुलूपग स्थविर से पूछा—"भन्ते! किसमें मैत्री की भावना करनी चाहिये?" स्थविर ने कहा—"प्रिय व्यक्ति में"। उसे अपनी भार्या प्रिय थी, अतः उसमें मैत्री की भावना करते हुए वह सारी रात भित्तियुद्ध[१] करता रहा। इसलिये असमान लिङ्ग के व्यक्ति-विशेष के प्रति भावना नहीं करनी चाहिये।

६. मृतक के प्रति भावना करने वाला न तो अर्पणा एवं न उपचार ही प्राप्त कराता है। किसी तरुण भिक्षु ने (मृत) आचार्य के प्रति मैत्री भावना का आरम्भ किया, परन्तु उसे मैत्री प्राप्त नहीं हुई। उसने महास्थविर के पास जाकर कहा—"भन्ते! मैं मैत्री द्वारा ध्यान-समापत्ति से सुपरिचित हूँ, किन्तु (इस बार) उसे प्राप्त नहीं कर सका। क्या कारण है?" स्थविर ने कहा—"आयुष्मन्, निमित्त के बारे में पता लगाओ।" पता लगाने पर उसने यह जानकर कि आचार्य मृत हो चुके हैं, किसी अन्य के प्रति मैत्री भावना करते हुए समापत्ति प्राप्त की। इसलिए मृतक के प्रति मैत्रीभावना नहीं करनी चाहिये।

७. सर्वप्रथम, "मैं सुखी होऊँ, दुःखरहित होऊँ" या "मैं वैररहित, हानिरहित, अशान्तिरहित, सुखी होकर जीऊँ"—यों पुनः पुनः स्वयं के प्रति ही भावना करनी चाहिये।

८. **आपत्ति :** यदि ऐसा है, तो जो **विभङ्ग** में कहा गया है—"कैसे भिक्षु मैत्रीसहगतचित्त का एक दिशा में विस्तार कर विहार करता है? जैसे कोई व्यक्ति प्रिय, मनोहारी विषय को देखकर मैत्री करे, वैसे ही सभी व्यक्तियों के प्रति मैत्री का विस्तार होता है" (अभि० २/३२७) एवं जो **पटिसम्भिदामग्ग में**—

"किन पाँच प्रकार के सर्वव्यापी मैत्री-चेतोविमुक्ति की भावना करनी चाहिये? सभी सत्त्व वैररहित हों, हानिरहित हों, अशान्तिरहित हों, सुखपूर्वक जियें। सभी प्राणी...सभी भूत...सभी

---

१. इस मैत्री भावना से उत्पन्न राग के कारण उसे पत्नी से मिलने की प्रबल इच्छा हुई। किन्तु उस प्रेमान्ध को यह भान ही नहीं रहा कि द्वार किधर है! अतः दीवार में छेद कर जाने की इच्छा से दीवार पर प्रहार करता रहा—टीका।

पाणा...सब्बे भूता...सब्बे पुग्गला...सब्बे अत्तभावपरियापन्ना अवेरा अब्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तू" (खु० नि० ५/३७९) ति आदि वुत्तं।

यं च **मेत्तसुत्ते**—

"सुखिनो व खेमिनो होन्तु। सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता" (सु० नि० १४५-१४७) ति आदि वुत्तं, त विरुज्झति। न हि तत्थ अत्तनि भावना वुत्ता ति चे? तं च न विरुज्झति।

कस्मा? तं हि अप्पनावसेन वुत्तं, इदं सक्खिभाववसेन।

सचे पि हि वस्ससतं वस्ससहस्सं वा "अहं सुखितो होमी" ति आदिना नयेन अत्तनि मेत्तं भावेति, नेवस्स अप्पना उप्पज्जति। "अहं सुखितो होमी" ति भावयतो पन यथा अहं सुखकामो दुक्खपटिक्कूलो जीवितुकामो अमरितुकामो च, एवं अञ्ञे पि सत्ता ति अत्तानं सक्खिं कत्वा अञ्ञसत्तेसु हितसुखकामता उप्पज्जति।

९. भगवता पि—

"सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।

एवं पियो पुथु अत्ता परेसं, तस्मा न हिंसे परमत्तकामो" (सं० नि० १/१२६)

ति वदता अयं नयो दस्सितो।

१०. तस्मा सक्खिभावत्थं पठमं अत्तानं मेत्ताय फरित्वा तदनन्तरं सुखप्पवत्तनत्थं य्वायं पियो मनापो गरु भावनीयो आचरियो वा आचरियमत्तो वा उपज्झायो वा उपज्झायमत्तो वा, तस्स दानपियवचनादीनि पियमनापत्तकारणानि सीलसुतादीनि गरुभावनीयत्तकारणानि च अनुस्सरित्वा "एस सप्पुरिसो सुखी होतु निद्दुक्खो" ति आदिना नयेन मेत्ता भावतब्बा।

पुद्गल...सभी व्यक्ति वैररहित, हानिरहित...अशान्तिरहित हों, सुखपूर्वक जियें" (खु० ५/३७९) आदि कहा गया है, एवं जो **मेत्तसुत्त** में—"सुखी हों, उनका कल्याण हो, सभी सत्त्व मन से सुखी हों" (सु० नि० १४५ गा०) आदि कहा गया है, उसका विरोध होगा; क्योंकि इन (उद्धरणों) में तो स्वयं के प्रति यह भावना करने का उल्लेख नहीं है?

समाधान—उसका विरोध नहीं होगा। क्यों? क्योंकि वह अर्पणा के विषय में कहा गया है, एवं यह (स्वयं को) साक्षी (उदाहरण) बनाने के विषय में। क्योंकि सौ वर्ष या हजार वर्ष तक भी "मैं सुखी होऊँ" आदि प्रकार से स्वयं के प्रति मैत्री-भावना करते रहने पर भी उसे अर्पणा उत्पन्न नहीं होती। किन्तु "मैं सुखी होऊँ" यों भावना करते रहने पर "जैसे मैं सुख चाहता हूँ, मरना नहीं चाहता, वैसे ही अन्य सत्त्व भी"—यों स्वयं को उदाहरण बनाकर अन्य सत्त्वों के प्रति भी हितसुख की कामना उत्पन्न होती है।

९. भगवान् ने भी—"सभी दिशाओं में चित्त से जाकर (विचारकर), स्वयं से बढ़कर प्रिय किसी को भी नहीं पाया। इसी प्रकार, पृथक् पृथक् दूसरों को भी अपनी अपनी आत्मा प्रिय है। अतः स्वार्थ के लिये दूसरे की हिंसा न करें"। (सं० नि० १/१२६)

—इस प्रकार कहते हुए इस नय को दिखलाया है।

१०. अतः पहले स्वयं को उदाहरण बनाकर मैत्री का विस्तार करे, तत्पश्चात् (भावना में) सुविधा की दृष्टि से, जो उसके प्रिय, अभीष्ट, गौरव के पात्र, भावना करने योग्य आचार्य या आचार्य

११. एवरूपे च पुग्गले कामं अप्पना सम्पज्जति। इमिना पन भिक्खुना तावतकेनेव तुट्ठिं अनापज्जित्वा सीमासम्भेदं[1] कत्तुकामेन तदनन्तरं अतिप्पियसहायके, अतिप्पियसहायकतो मज्झत्ते, मज्झत्ततो वेरिपुग्गले मेत्ता भावेतब्बा। भावेन्तेन च एकेकस्मिं कोट्ठासे मुदुं कम्मनियं चित्तं कत्वा तदनन्तरे तदनन्तरे उपसंहरितब्बं।

१२. यस्स पन वेरिपुग्गलो वा नत्थि, महापुरिसजातिकत्ता वा अनत्थं करोन्ते पि परे वेरिसञ्ञा व नुप्पजति, तेन "मज्झत्ते मे मेत्ताचित्तं कम्मनियं जातं, इदानि नं वेरिम्हि उपसंहरामी' ति ब्यापारो व न कातब्बो। यस्स पन अत्थि, तं सन्धाय वुत्तं—"मज्झत्ततो वेरिपुग्गले मेत्ता भावेतब्बा" ति।

१३. सचे पनस्स वेरिम्हि चित्तं उपसंहरतो तेन कतापराधानुस्सरणेन पटिघं उप्पज्जति, अथानेन पुरिमपुग्गलेसु यत्थ कत्थचि पुनप्पुनं मेत्तं समापज्जित्वा वुट्ठहित्वा पुनप्पुनं तं पुग्गलं मेत्तायन्तेन पटिघं विनोदेतब्बं।

सचे एवं पि वायमतो न निब्बाति, अथ—

ककचूपमओवादआदीनं अनुसारतो[2]।
पटिघस्स पहानाय घटितब्बं[3] पुनप्पुनं॥

के समान, उपाध्याय या उपाध्याय के समान हों, उनके (द्वारा किये गये) दान, प्रियवचन आदि का जो कि प्रिय, एवं अभीष्ट हैं; तथा शील, श्रुत आदि का, जो कि गौरव के पात्र बनाने वाले हैं, अनुस्मरण करते हुए—"ये सत्पुरुष सुखी हों, दुःखरहित हों"—आदि प्रकार से मैत्री-भावना करनी चाहिये।

११. ऐसे व्यक्ति में भावना करने से यद्यपि अर्पणा प्राप्त होती है, तथापि इस भिक्षु को केवल इतने से ही सन्तुष्ट न होते हुए, इस सीमा से आगे जाने की इच्छा से, इसके बाद घनिष्ठ मित्र में, (पुनः) घनिष्ठ मित्र के रूप में (स्वीकार करते हुए) मध्यस्थ में, एवं (तत्पश्चात्) मध्यस्थ के रूप में वैरी व्यक्ति में भावना करनी चाहिये। एवं भावना करने वाले को प्रत्येक भाग (आलम्बन) में चित्त को मृदु एवं कर्मण्य बनाकर ही एक से दूसरे की तरफ प्रगति करनी चाहिये।

१२. किन्तु जिसका कोई वैरी है ही नहीं या जो महापुरुषों के समान होने से हानि पहुँचाने वाले को भी वैरी नहीं मानता, उसे यह प्रयास ही नहीं करना चाहिये कि—"मध्यस्थ में मेरा मैत्रीचित्त कर्मण्य हो चुका, अब इसे वैरी में ले जाऊँगा।" किन्तु जिसका (वैरी) है, उसके लिये कहा गया है कि "मध्यस्थ के रूप में वैरी पुरुष में मैत्री-भावना करनी चाहिये।"

१३. यदि वैरी में चित्त को ले जाते समय उसके द्वारा किये गये अपराध का अनुस्मरण करने से इस (योगी) में प्रतिघ (हानि पहुँचाने की इच्छा) उत्पन्न हो जाय, तो इसे चाहिये कि पूर्व (उक्त) (प्रिय आदि) व्यक्तियों में से किसी में बार बार मैत्री की समापत्ति करे। फिर (समापत्ति से) उठकर बार बार उस (वैरी) व्यक्ति पर मैत्री करते हुए प्रतिघ (द्वेष) का नाश करे।

---

१. **सीमासम्भेदं** ति। मरियादापनयनं। अत्ता पियो मज्झत्तो वेरी ति विभागाकरणं ति अत्थो।
२. **अनुसारतो** ति। अनुगमनतो। पच्चवेक्खणतो ति अत्थो। ३. **घटितब्बं** ति। वायमितब्बं।

तं च खो इमिना आकारेन अत्तानं ओवदन्तेनेव—"अरे कुज्झनपुरिस, ननु वुत्तं भगवता—'उभतो दण्डकेन चे पि, भिक्खवे, ककचेन चोरा ओचरका अङ्गमङ्गानि ओकन्तेय्युं, तत्रा पि यो मनो पदोसेय्य, न मे सो तेन सासनकरो' (म० १/१८७) ति च?

"तस्सेव तेन पापियो यो कुद्धं पटिकुज्झति।
कुद्धं अप्पटिकुज्झन्तो सङ्गामं जेति दुज्जयं॥
उभिन्नमत्थं चरति अत्तनो च परस्स च।
परं सङ्कुपितं ञत्वा यो सतो उपसम्मती" (सं० १/२६३) ति च?

"सत्तिमे, भिक्खवे, धम्मा सपत्तकन्ता[1] सपत्तकरणा कोधनं आगच्छन्ति इत्थिं, वा पुरिसं वा। कतमे सत्त? इध, भिक्खवे, सपत्तो सपत्तस्स एवं इच्छति—'अहो वतायं दुब्बण्णो अस्सा' ति। तं किस्स हेतु? न, भिक्खवे, सपत्तो सपत्तस्स वण्णवताय नन्दति। कोधनायं, भिक्खवे, पुरिसपुग्गलो कोधाभिभूतो कोधपरेतो, किञ्चापि सो होति सुन्हातो सुविलित्तो कप्पितकेसमस्सु ओदातवत्थवसनो, अथ खो सो दुब्बण्णो व होति कोधाभिभूतो। अयं, भिक्खवे, पठमो धम्मो सपत्तकन्तो सपत्तकरणो कोधनं आगच्छति इत्थिं वा पुरिसं वा। पुन च परं, भिक्खवे, सपत्तो सपत्तस्स एवं इच्छति—अहो वतायं दुक्खं सयेय्या ति...पे०...न पचुरत्थो अस्सा ति...पे०...न भोगवा अस्सा ति...पे०...न यसवा अस्सा ति....पे०...न मित्तवा

यदि यों प्रयास करने पर भी नाश न हो, तो—"आरा की उपमा के उपदेशानुसार प्रतिघ के नाश का बार बार प्रयास करना चाहिये।"

तथा वह भी स्वयं को इस प्रकार समझाते हुए—"अरे क्रोधी पुरुष! क्या भगवान् ने यह नहीं कहा है कि 'यदि चोर-लुटेरे दोनों और मूठ लगे आरे से अङ्ग प्रत्यङ्ग काट डालें, तब भी जो मन में द्वेष आने दे, वह मेरे धर्म का पालन करने वाला नहीं है।" (म० नि० १/१८७) एवं—(क्या यह नहीं कहा है—) "क्रोध करने वाले से भी बड़ा पापी वह है, जो क्रुद्ध के प्रति बदले में क्रोध करता है। क्रुद्ध के प्रति क्रोध न करने वाला दुर्जय संग्राम को जीत लेता है॥"

"दूसरे को कुपित जानकर जो शान्त हो जाता है, वह अपनी और दूसरे की भी भलाई करता है!?" (सं० नि० १/२६३)।

एवं (क्या यह नहीं कहा है कि) "भिक्षुओ, शत्रुओं द्वारा अभीष्ट, शत्रुओं द्वारा किये जाने वाले सात धर्म क्रुद्ध स्त्री या पुरुष के पास आते हैं। कौन-से सात? भिक्षुओ! यहाँ शत्रु शत्रु के लिये यों चाहता है—'अच्छा हो यदि वह कुरूप हो जाय।' ऐसा क्यों? भिक्षुओ? शत्रु शत्रु की सुन्दरता से प्रसन्न नहीं होता। भिक्षुओ! ऐसा क्रोधी पुरुष क्रोध से अभिभूत, क्रोध द्वारा शासित है। भले ही उसने अच्छी तरह स्नान किया हो, उत्तम लेप लगाया हो, मूँछ और दाढ़ी बनवायी हो, श्वेत वस्त्र पहने हो, फिर भी वह क्रोधाभिभूत (है अतः) कुरूप होता है। भिक्षुओ! शत्रुओं द्वारा अभीष्ट, शत्रुओं द्वारा क्रियमाण यह प्रथम धर्म है, जो क्रुद्ध स्त्री या पुरुष के पास आता है। भिक्षुओ, इसके अतिरिक्त, शत्रु शत्रु के लिये ऐसा चाहता है—"अच्छा हो यदि दुःख पहुँचे...इसके पास प्रचुर सम्पत्ति न हो...भोगवान् न हो...यशस्वी न हो...मृत्यु के बाद सुगति=स्वर्गलोक में जन्म

---

१. **सपत्तकन्ता** ति। पटिसत्तूहि इच्छिता।

अस्सा ति...पे०....न कायस्स भेदा परं मरणा सुगतिं सग्गं लोकं उप्पजेय्या ति। तं किस्स हेतु? न, भिक्खवे, सपत्तो सपत्तस्स सुगतिगमनेन नन्दति। कोधनायं, भिक्खवे, पुरिसपुग्गलो कोधाभिभूतो कोधपरेतो कायेन दुच्चरितं चरति, वाचाय....मनसा दुच्चरितं चरति, सो कायेन वाचाय मनसा दुच्चरितं चरित्वा कायस्स भेदा परं मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उपपज्जति कोधाभिभूतो" (अं० नि० ३/२८५) ति च?

"सेय्यथापि, भिक्खवे, छवालातं उभतोपदित्तं मज्झे गूथगतं नेव गामे कट्ठत्थं[1] फरति[1], न अरञ्ञे कट्ठत्थं फरति; तथूपमाहं, भिक्खवे, इमं पुरिसपुग्गलं वदामी" (अं० नि० २/१३२) ति च?

सो दानि त्वं एवं कुज्झन्तो न चेव भगवतो सासनकरो भविस्ससि, पटिकुज्झन्तो च कुद्धपुरिसतो पि पापियो हुत्वा न दुज्जयं सङ्गामं जेस्ससि, सपत्तकरणे च धम्मे अत्ता व अत्तना करिस्ससि छवालातूपमो च भविस्ससी" ति!

१४. तस्सेवं घटयतो वायमतो सचे तं पटिघं वूपसम्मति, इच्चेतं कुसलं। नो चे वूपसम्मति, अथ यो यो धम्मो तस्स पुग्गलस्स वूपसन्तो होति परिसुद्धो, अनुस्सरियमानो पसादं आवहति, तं तं अनुस्सरित्वा आघातो पटिविनोदेतब्बो।

१५. एकच्चस्स हि कायसमाचारो व उपसन्तो होति, उपसन्तभावो चस्स बहुं वत्तपटिपत्तिं करोन्तस्स सब्बजनेन ञायति। वचीसमाचारमनोसमाचारा पन अवूपसन्ता होन्ति। तस्स ते अचिन्तेत्वा कायसमाचारवूपसमो येव अनुस्सरितब्बो। (१)

न पाये। वह क्यों? क्योंकि भिक्षुओ, शत्रु शत्रु की सुगति से प्रसन्न नहीं होता। भिक्षुओ! यह क्रोधाभिभूत, क्रोध द्वारा शासित, क्रोधी पुरुष काया से दुराचार करता है, वचन से दुराचार करता है, मन से दुराचार करता है। वह काया, वचन, मन से दुराचार करते हुए मृत्यु के पश्चात् दुर्गति=नरक में उत्पन्न होता है।" (अं० नि० ३/२८५)?

एवं—(क्या यह नहीं कहा है कि) "भिक्षुओ, जैसे शव जलाने के बाद बची हुई लकड़ी, जो दोनों ओर से जली हुई हो और जिसके बीच में मल लगा हो, न तो ग्राम में और न ही जङ्गल में किसी उपयोग में आती है, भिक्षुओ! मैं इस पुरुष को वैसा ही कहता हूँ।" (अं० नि० २/१३२)?

(क्योंकि भगवान् ने ऐसा कहा है, इसलिये) यदि तुम अब क्रोध करोगे तो भगवदुपदिष्ट धर्म का पालन करने वाले नहीं रहोगे। क्रोध के बदले क्रोध करते हुए तुम क्रुद्ध पुरुष से भी बड़े पापी होकर, दुर्जय संग्राम को नहीं जीत सकोगे। शत्रु द्वारा किया जाने वाला धर्म (अपकार) स्वयं के प्रति करोगे तो शव जलाने के बाद बची हुई लकड़ी के समान होगे।

१४. उसके यों प्रयास करने पर यदि प्रतिघ शान्त हो जाय तो अच्छा है। यदि शान्त न हो तो उस पुरुष (वैरी) में जो जो शान्त, परिशुद्ध धर्म हों, उन उन का अनुस्मरण करते हुए वैर का शमन करना चाहिये।

१५. किसी का कायिक कर्म ही शान्त (मर्यादित) होता है, एवं बहुत से व्रतों का पालन करने वाले का शान्त भाव सभी के द्वारा जाना जाता है। किन्तु वाचिक और मानसिक कर्म अशान्त

१-१. कट्ठत्थं ति। दारुकिच्चं। नेव फरतीति। न साधेति।

एकच्चस्स वचीसमाचारो व उपसन्तो होति, उपसन्तभावो चस्स सब्बजनेन ञायति। सो हि पकतिया व पटिसन्थारकुसलो होति सखिलो सुखसम्भासो सम्मोदको उत्तानमुखो पुब्बभासी, मधुरेन सरेन धम्मं ओसारेति, परिमण्डलेहि पदब्यञ्जनेहि धम्मकथं कथेति। कायसमाचार-मनोसमाचारा पन अवूपसन्ता होन्ति। तस्स ते अचिन्तेत्वा वचीसमाचारवूपसमो येव अनुस्सरितब्बो। (२)

एकच्चस्स मनोसमाचारो व उपसन्तो होति, उपसन्तभावो चस्स चेतियवन्दनादीसु सब्बजनस्स पाकटो होति। यो हि अवूपसन्तचित्तो होति, सो चेतियं वा बोधिं वा थेरे वा वन्दमानो न सक्कच्चं वन्दति, धम्मसवनमण्डपे विक्खित्तचित्तो वा पचलायन्तो वा निसीदति। उपसन्तचित्तो पन ओकप्पेत्वा वन्दति, ओहितसोतो अट्ठिं कत्वा कायेन वा वाचाय वा चित्तप्पसादं करोन्तो धम्मं सुणाति। इति एकच्चस्स मनोसमाचारो व उपसन्तो होति, कायवचीसमाचारा अवूपसन्ता होन्ति, तस्स ते अचिन्तेत्वा मनोसमाचारवूपसमो येव अनुस्सरितब्बो। (३)

एकच्चस्स पन इमेसु तीसु धम्मेसु एको पि अवूपसन्तो होति, तस्मिं पुग्गले "किञ्चापि एस इदानि मनुस्सलोके चरति, अथ खो कतिपाहस्स अच्चयेन अट्ठमहानिरयसोळसउस्सद-

---

होते हैं। उसके उन कर्मों का चिन्तन न करते हुए, केवल कायिक कर्म का ही अनुस्मरण करना चाहिये। (१)

किसी का वाचिक कर्म ही शान्त होता है, एवं उसका शान्तभाव सभी के द्वारा जाना जाता है; क्योंकि वह स्वभाव से ही कुशलक्षेम पूछने वाला, मृदुभाषी, जिससे बात करना अच्छा लगे ऐसा, स्वागत करने वाला, जिसकी मुखाकृति से समर्थन का भाव झलकता हो ऐसा, तथा अपनी ओर से बात चीत आरम्भ करने वाला होता है। मधुर स्वर से धर्म का पाठ करता है। सुप्रसिद्ध उद्धरणों तथा विस्तार के साथ धर्म की व्याख्या करता है। किन्तु (उसके) कायिक और मानसिक कर्म अशान्त होते हैं। उसके उन (कर्मों) का चिन्तन न करते हुए, शान्त वाचिक कर्म का ही अनुस्मरण करना चाहिये। (२)

किसी किसी का मानसिक कर्म ही शान्त होता है, एवं उसका शान्तभाव सभी के द्वारा, चैत्य की वन्दना आदि (के समय) में जाना जाता है। क्योंकि जिसका चित्त अशान्त होता है, वह चैत्य, बोधि (-वृक्ष) या स्थविरों की वन्दना करते समय सत्कारपूर्वक वन्दना नहीं करता। धर्मश्रवण (हेतुनिर्मित) मण्डप में विक्षिप्त चित्त या चञ्चल होकर बैठता है। किन्तु शान्तचित्त पुरुष दत्तचित्त होकर वन्दना करता है। कान लगाकर, अर्थ को समझते हुए तथा काय या वचन से चित्त की प्रसन्नता (प्रकट) करते हुए धर्मश्रवण करता है। इस प्रकार किसी का मानसिक कर्म ही शान्त होता है, कायिक एवं वाचिक कर्म अशान्त होते हैं। उसके उन कर्मों का चिन्तन न करते हुए, शान्त मानसिक कर्म का ही अनुस्मरण करना चाहिये। (३)

इन तीनों धर्मों (कर्मों) में से किसी का एक भी शान्त नहीं होता। उस व्यक्ति के विषय में, यह सोचकर कि "यद्यपि यह इस समय मनुष्य लोक में विचरण कर रहा है, तथापि कुछ

निरयपरिपूरको[1] भविस्सती" ति कारुञ्ञं उपट्ठपेतब्बं। कारुञ्ञं पि हि पटिच्च आघातो वूपसम्मति। (४)

एकच्चस्स तयो पिमे धम्मा वूपसन्ता होन्ति, तस्स यं यं इच्छति, तं तं अनुस्सरितब्बं। तादिसे हि पुग्गले न दुक्करा होति मेत्ताभावना ति। (५)

इमस्स च अत्थस्स आविभावत्थं—"**पञ्चिमे, आवुसो, आघातपटिविनया। यत्थ भिक्खुनो उप्पन्नो आघातो सब्बसो पटिविनोदेतब्बो**" (अं० नि० २/५५४) ति इदं **पञ्चक-निपाते आघातपटिविनयसुत्तं** वित्थारेतब्बं।

१६. सचे पनस्स एवं पि वायमतो आघातो उप्पज्जति येव, अथानेन एवं अत्ता ओवदितब्बो—

"अत्तनो विसये दुक्खं कतं ते यदि वेरिना।
किं तस्साविसये दुक्खं सचित्ते कत्तुमिच्छसि॥
बहूपकारं हित्वान ञातिवग्गं रुदम्मुखं।
महानत्थकरं कोधं सपत्तं न जहासि किं॥
यानि रक्खसि सीलानि तेसं मूलनिकन्तनं।
कोधं नामुपलाळेसि को तया सदिसो जळो॥

दिनों बाद यह आठ महानरकों[2], सोलह 'उत्सद'[3] (ऊपर उठे हुए) नरकों को प्राप्त करेगा"—करुणा करनी चाहिये, क्योंकि करुणा के कारण भी वैर-भाव शान्त हो जाता है। (४)

किसी के ये तीनों ही धर्म शान्त होते हैं। उसके विषय में, जिस जिस को चाहे उस उस का अनुस्मरण करना चाहिये। वैसे व्यक्ति पर मैत्री भावना करना कठिन नहीं है। (५)

इसका अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये **अंगुत्तरनिकाय के पञ्चक निपात** में आये इस **आघातप्रतिविनयसूत्र** का विस्तार (पूर्वक व्याख्यान) करना चाहिये—

"आयुष्मन्, वैर-भाव को दूर करने वाले ये पाँच हैं, जिनसे भिक्षु का उत्पन्न वैर-भाव सर्वथा दूर किया जा सकता है।" (अं० नि० २/५५४)।

१६. यदि इस प्रकार प्रयास करने पर भी वैर-भाव उत्पन्न हो, तो उसे स्वयं को यों समझना चाहिये—

यदि वैरी ने अपने विषय (अधिकार-क्षेत्र) में तुम्हें दुःख दिया, तो तुम क्यों अपने चित्त को (क्रोध करते हुए) दुःखी करना चाहते हो, जो कि उस (वैरी) का विषय नहीं है?

(श्रमण धर्म के पालन हेतु) तुमने अपने प्रति उपकारी, रोते-कलपते सगे-सम्बन्धियों को त्याग दिया। तब महाअनर्थकारी इस अपने शत्रु क्रोध को क्यों नहीं छोड़ देते?

---

१. तत्थ सञ्जीवादयो अट्ठ महानिरया। अवीचिमहानिरयस्स द्वारे द्वारे चत्तारो चत्तारो कत्वा कुक्कुळादयो सोळस उस्सदनिरया।

२. **आठ महानरक** ये हैं—१. सञ्जीव, २. कालसूत्र, ३. संघात, ४. रौरव, ५. महारौरव, ६. तापन, ७. महातापन एवं ८. अविचि।

३. **सोलह उत्सद** नरक ये हैं—अवीचि महानरक के प्रत्येक द्वार पर चार चार करके **कुक्कुल आदि सोलह।**

कतं अनरियं कम्मं परेन इति कुज्झसि।
किं नु त्वं तादिसं येव यो सयं कत्तुमिच्छसि॥
दोसेतुकामो[१] यदि तं अमनापं परो करि।
दोसुप्पादेन तस्सेव किं पूरेसि मनोरथं॥
दुक्खं तस्स च नाम त्वं कुद्धो काहसि वा न वा।
अत्तानं पनिदानेव कोधदुक्खेन बाधसि॥
कोधन्धा अहितं मग्गं आरूळ्हा यदि वेरिनो।
कस्मा तुवं पि कुज्झन्तो तेस येवानुसिक्खसि॥
यं दोसं तव निस्साय सत्तुना अप्पियं कतं।
तमेव दोसं छिन्दस्सु, किमट्ठाने विहञ्ञसि॥
खणिकत्ता च धम्मानं येहि खन्धेहि ते कतं।
अमनापं निरुद्धा ते कस्स दानीध कुज्झसि॥
दुक्खं करोति यो यस्स तं विना कस्स सो करे।
सयं पि दुक्खहेतु त्वमिति किं तस्स कुज्झसी" ति॥

१७. सचे पनस्स एवं अत्तानं ओवदतो पि पटिघं नेव वूपसम्मति, अथानेन अत्तनो

जिन शीलों की रक्षा करते हो, उन्हीं की जड़ काटने वाले क्रोध को दुलराते हो! तुम्हारे जैसा जड़ (मूर्ख) कौन है?

'दूसरे के द्वारा अनुचित किया गया'—ऐसा सोचकर क्रोध कर रहे हो। किन्तु क्या तुम भी वैसे ही नहीं हो, जो कि स्वयं (अनुचित) करना चाहते हो?

यदि दूसरे ने तुम्हें रुष्ट करने के लिये, अप्रिय (कर्म) किया, तो रुष्ट होकर उसी का मनोरथ क्यों पूर्ण कर रहे हो?

क्रुद्ध होकर तुम उसे दुःख दोगे या नहीं (—यह तो अनिश्चित है); किन्तु स्वयं को तो क्रोधरूपी दुःख से पीड़ित कर रहे हो!

यदि वैरी क्रोध से अन्धे होकर अहितकर मार्ग पर चल रहे हैं, तो तुम भी किस लिये क्रोध करते हुए उन्हीं का अनुसरण कर रहे हो?

तुम्हारे प्रति जिस क्रोध के कारण शत्रु ने तुम्हारा अप्रिय किया, उस क्रोध को ही नष्ट कर दो। व्यर्थ परेशान क्यों होते हो?

धर्म क्षणिक हैं। अतः जिन स्कन्धों द्वारा तुम्हारे प्रति अप्रिय किया गया, वे तो निरुद्ध हो चुके! अब किस पर क्रोध कर रहे हो?

यदि कोई किसी को दुःखी करता है, तो उस (दुःख पाने वाले) के अभाव में किसे वैसा करेगा?

(इस तरह तो) तुम स्वयं भी दुःख (की उत्पत्ति) के लिये हेतु (आवश्यक शर्त) हो। तब उस पर क्रोध क्यों करते हो?

---

१. **दोसेतुकामो ति। कोधं उप्पादेतुकामो।**

च परस्स च कम्मस्सकता[1] पच्चवेक्खितब्बा। तत्थ अत्तनो ताव एवं पच्चवेक्खितब्बा—"अम्भो, त्वं तस्स कुद्धो किं करिस्ससि? ननु तवेव चेतं दोसनिदानं कम्मं अनत्थाय संवत्तिस्सति! कम्मस्सको हि त्वं कम्मदायादो कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपटिसरणो, यं कम्मं करिस्ससि तस्स दायादो भविस्ससि। इदं च ते कम्मं नेव सम्मासम्बोधिं, न पच्चेकबोधिं, न सावकभूमिं, न ब्रह्मत्त-सक्कत्त-चक्कवत्ति-पदेसराजादिसम्पत्तीनं अञ्ञतरं सम्पत्तिं साधेतुं समत्थं, अथ खो सासनतो चावेत्वा विघासादादिभावस्स चेव नेरयिकादिदुक्खविसेसानं च ते संवत्तनिकमिदं कम्मं। सो त्वं इदं करोन्तो उभोहि हत्थेहि वीतच्चिके वा अङ्गारे, गूथं वा गहेत्वा परं पहरितुकामो पुरिसो विय अत्तानमेव पठमं दहसि चेव दुग्गन्धं च करोसी" ति।

एवं अत्तनो कम्मस्सकतं पच्चवेक्खित्वा परस्स पि एवं पच्चवेक्खितब्बा—"एसो पि तव कुज्झित्वा किं करिस्सति? ननु एतस्सेवेतं अनत्थाय संवत्तिस्सति! कम्मस्सको हि अयमायस्मा कम्मदायादो...पे०...यं कम्मं करिस्सति तस्स दायादो भविस्सति। इदं चस्स कम्मं नेव सम्मासम्बोधिं, न पच्चेकबोधिं, न सावकभूमिं, न ब्रह्मत्त-सक्कत्त-चक्कवत्ति-पदेसराजादि-सम्पत्तीनं अञ्ञतरं सम्पत्तिं साधेतुं समत्थं, अथ खो सासनतो चावेत्वा विघासादादिभावस्स चेव नेरयिकादिदुक्खविसेसानं चस्स संवत्तनिकमिदं कम्मं। स्वायं इदं करोन्तो पटिवाते ठत्वा परं रजेन ओकिरितुकामो पुरिसो विय अत्तानं येव ओकिरति। वुत्तं हेतं भगवता—

---

१७. किन्तु यदि स्वयं को यों समझाने पर भी प्रतिघ शान्त न हो, तो उसे यह विचार करना चाहिये कि कर्म चाहे अपने हों या दूसरे के, कर्त्ता की सम्पत्ति हैं। स्वयं के विषय में यों विचार करना चाहिये—"अरे! तुम उसके प्रति क्रोध करके क्या करोगे? क्योंकि द्वेष के कारण हुआ यह कर्म तुम्हारे ही अनर्थ का हेतु होगा। तुम तो अपने कर्म के स्वामी, कर्मदायाद (फल के अधिकारी), कर्मयोनि, कर्मबन्धु, कर्मप्रतिशरण हो। जो कर्म करोगे, उसका फल पाओगे। तुम्हारा यह कर्म न सम्यक्सम्बोधि, न प्रत्येकबोधि, न श्रावकभूमि, न ब्रह्मत्व, न शक्रत्व, न चक्रवर्ती, न प्रादेशिक राजा आदि (पद-) सम्पत्तियों में से किसी भी सम्पत्ति की प्राप्ति करा सकता है। प्रत्युत धर्म से च्युत कराकर, उच्छिष्टभक्षी आदि बनाने वाला तथा विशेष नारकीय दुःखों की प्राप्ति कराने वाला है। तुम ऐसा करते हुए, दोनों हाथों में धधकते हुए अङ्गारे या मल को लेकर दूसरों पर फेंकने की इच्छा करने वाले पुरुष के समान, स्वयं को ही जलाओगे या दुर्गन्धित बनाओगे।"

इस प्रकार यह विचार कर कि धर्म अपनी सम्पत्ति है, अन्य के विषय में भी यों सोचना चाहिये—

"यह भी तुम पर क्रोध करके क्या करेगा? क्या इससे उसी की हानि नहीं होगी? इसका यह कर्म न सम्यक्सम्बोधि, न प्रत्येकबोधि, न श्रावकभूमि, न ब्रह्मत्व, न शक्रत्व, न चक्रवर्ती, न प्रादेशिक राजा आदि (पद-) सम्पत्तियों में से किसी सम्पत्ति को प्राप्त कराने में समर्थ है, अपितु धर्म से च्युत कराकर, उसे उच्छिष्टभक्षी आदि बनाने वाला तथा विशेष नारकीय दुःखों की प्राप्ति कराने वाला है। इस प्रकार करते हुए वह प्रतिकूल हवा में खड़े होकर दूसरे पर धूल उड़ाने की इच्छा करने वाले पुरुष के समान अपने पर ही (धूल) उड़ाता है, क्योंकि भगवान् ने कहा है—

---

१. कम्ममेव सकं सन्तकं धनं यस्सा ति कम्मस्सको, तस्स भावो कम्मस्सकता।

"यो अप्पदुट्ठस्स नरस्स दुस्सति, सुद्धस्स पोसस्स अनङ्गणस्स।
तमेव बालं पच्चेति पापं, सुखुमो रजो पटिवातं व खित्तो" ति॥

(ध० प० १२५ गा०)

१८. सचे पनस्स एवं कम्मस्सकतं पि पच्चवेक्खन्तो नेव वूपसम्मति, अथानेन **सत्थु पुब्बचरियगुणा** अनुस्सरितब्बा।

१९. तत्रायं **पच्चवेक्खणानयो**—"अम्भो-पब्बजित, ननु ते सत्था पुब्बे व सम्बोधा अनभिसम्बुद्धो बोधिसत्तो पि समानो चत्तारि असंख्येय्यानि कप्पसतसहस्सं च पारमियो पूरयमानो तत्थ तत्थ वधकेसु पि पच्चत्थिकेसु चित्तं नप्पदूसेसि!

सेय्यथीदं—**सीलवजातके** ताव अत्तनो देविया पदुट्ठेन पापअमच्चेन आनीतस्स पटिरञ्ञो तियोजनसतं रज्जं गण्हन्तस्स निसेधनत्थाय उट्ठितानं अमच्चानं आवुधं पि छुपितुं न अदासि। पुन सद्धिं अमच्चसहस्सेन आमकसुसाने गलप्पमाणं भूमिं खणित्वा निखञ्ञमानो चित्तप्पदोसमत्तं पि अकत्वा कुणपखादनत्थं आगतानं सिङ्गालानं पंसुवियूहनं निस्साय पुरिसकारं कत्वा पटिलद्धजीवितो यक्खानुभावेन अत्तनो सिरिगब्भं[1] ओरुय्ह सिरिसयने सयितं पच्चत्थिकं दिस्वा कोपं अकत्वा व अञ्ञमञ्ञं सपथं कत्वा तं मित्तट्ठाने ठपयित्वा आह—

"आसीसेथेव पुरिसो न निब्बिन्देय्य पण्डितो।
पस्सामि वोहमत्तानं यथा इच्छिं तथा अहू"॥ (खु० ३: १/१४) ति।

"जो किसी निर्दोष, शुद्ध, निष्कलङ्क पुरुष से द्वेष करता है, उस मूर्ख के पास (उसका वह) पाप वैसे ही लौटकर आता है, जैसे विपरीत हवा में फेंकी गयी धूल॥" (ध० प०, १२५ गाथा)

१८. यदि यों कर्म-स्वामित्व पर भी प्रत्यवेक्षण करने वाले का वैरभाव शान्त नहीं होता, तो उसे शास्ता द्वारा पूर्व में आचरण किये गये गुणों का अनुस्मरण करना चाहिये।

१९. **प्रत्यवेक्षण की विधि** यह है—"हे प्रव्रजित! क्या ऐसा नहीं है कि तुम्हारे शास्ता ने पूर्वकाल में जब सम्बोधि प्राप्त नहीं की थी, वे बोधिसत्त्व ही थे, तभी चार असङ्ख्य एक लाख कल्प तक पारमिताओं को पूर्ण करते हुए, विभिन्न परिस्थितियों में, वध करने वाले वैरियों के प्रति भी चित्त को द्वेषयुक्त नहीं किया था!

यथा—**सीलवजातक** में (लिखा मिलता है कि) उनकी पत्नी द्वारा प्रदूषित (अनुचित कर्म के लिये प्रेरित) पापी अमात्य द्वारा प्रतिपक्षी राजा को बुलाया गया, जिसने तीन सौ योजन तक फैले राज्य को ले लिया। उसे रोकने के उठ खड़े हुए अमात्यों को (बोधिसत्त्व ने) हथियार छूने भी नहीं दिया। पुनः जब एक हजार अमात्यों के साथ उन्हें श्मशान में, भूमि को खोदकर गले तक गाड़ दिया गया, तब भी उन्होंने स्वचित्त में रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं आने दिया। शवों का भक्षण करने के लिये आये शृगालों ने बहुत परिश्रम से मिट्टी खोदकर उन्हें जीवित बाहर निकाला। एक यक्ष की कृपा से अपने शयनकक्ष में आकर शैय्या पर सोये अपने शत्रु को देखकर, उस पर क्रोध न करते हुए परस्पर शपथ ली एवं उसे मित्र मानते हुए कहा—

---

१. **सिरिगब्भं** ति। वासागारं।

२०. **खन्तिवादिजातके** दुम्मेधेन कासिरञ्ञा "किंवादी त्वं, समणा?" ति पुट्ठो "खन्तिवादी नामाहं" ति वुत्ते सकण्टकाहि कसाहि ताळेत्वा हत्थपादेसु छिज्जमानेसु कोपमत्तं पि नाकासि।

२१. अनच्छरियं चेतं, यं महल्लको पब्बाजूपगतो एवं करेय्य। **चूळधम्मपालजातके** पन उत्तानसेय्यको पि समानो—

"चन्दनरसानुलित्ता बाहा छिज्जन्ति धम्मपालस्स।
दायादस्स पथब्या पाणा मे, देव, रुज्झन्ती" ति॥

(खु० नि० ३ : १/११७)

एवं विप्पलपमानाय मातुया पितरा महापतापेन नाम रञ्ञा वंसकळीरेसु विय चतूसु हत्थपादेसु छेदापितेसु, तावता पि सन्तुट्ठिं अनापज्जित्वा 'सीसमस्स छिन्दथा' ति आणत्ते, "अयं दानि ते चित्तपरिग्गण्हनकालो। इदानि, अम्भो धम्मपाल, सीसच्छेदाणापके पितरि, सीसच्छेदके पुरिसे, परिदेवमानाय मातरि, अत्तनि चा ति इमेसु चतूसु समचित्तो होही" ति दळ्हसमादानं अधिट्ठाय पदुट्ठाकारमत्तं पि नाकासि।

२२. इदं चापि अनच्छरियमेव, यं मनुस्सभूतो एवमकासि। तिरच्छानभूतो पि पन छद्दन्तो नाम वारणो हुत्वा विसपोतेन सल्लेन नाभियं विद्धो पि ताव अनत्थकारिम्हि लुद्दके चित्तं नप्पदूसेसि।

"बुद्धिमान् पुरुष आशा रखे, निराश न हो। मैं स्वयं को ही देखता हूँ कि जैसा चाहा, वैसा हुआ॥"

२०. **खन्तिवादिजातक** में—काशी के दुर्बुद्धि राजा ने पूछा—"श्रमण, तुम्हारा वाद कौन सा है?" "मैं क्षान्तिवादी हूँ"—यों कहने पर कँटीले कोड़े से उसे पीट-पीट कर उसके हाथ पैर काट डाले गये, किन्तु उसने थोड़ा भी क्रोध नहीं किया।

२१. यदि एक वयस्क प्रव्रजित ऐसा करे तो आश्चर्य की बात नहीं है; किन्तु **चूळधम्मपालजातक** में शिशु के रूप में भी उन ने वैसा ही किया—

"समस्त पृथ्वी के उत्तराधिकारी धर्मपाल की बाहें, जिन पर चन्दन का लेप किया गया है, कट रही हैं। हे देव! मेरे प्राण निरुद्ध हो रहे हैं।" (खु० ३:१/११७)

—यों माता विलाप करती रही। पिता ने, जो महाप्रताप नामक राजा थे, बाँस की कोपलों के समान चारों हाथ-पैरों को कटवा दिया। इस पर भी अन्त नहीं किया। 'इसका सिर काट डालो' यों आज्ञा दी। (बोधिसत्त्व ने) "अब तुम्हारे चित्त के नियन्त्रण का (वास्तविक) समय है। हे धर्मपाल, इस समय सिर काटने की आज्ञा देने वाले पिता, सिर काटने वाले पुरुष, विलाप करती माता और स्वयं—इन चारों के प्रति एक समान चित्त वाले बनो"—यों दृढ़ निश्चय कर, रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं किया।

२२. यह भी आश्चर्य की बात नहीं है कि उन ने मनुष्य के रूप में ही ऐसा किया। पशु के रूप में भी उन ने, जब वह छद्दन्त नामक हाथी थे, नाभि में विष बुझा बाण मारे जाने पर भी, अपकारी व्याध के प्रति चित्त को द्वेषयुक्त नहीं किया। जैसा कि कहा है—

यथाह—

"समप्पितो पुथुसल्लेन नागो; अदुट्ठचित्तो लुद्दकं अज्झभासि।
किमत्थयं किस्स वा सम्म हेतु ममं वधी कस्स वायं पयोगो"॥

(खु० ३:१/३७५)

एवं वत्वा च "कासिरञ्ञो महेसिया तव दन्तानमत्थाय पेसितोम्हि, भदन्ते" ति वुत्ते तस्सा मनोरथं पूरेन्तो छब्बण्णरस्मिनिच्छरणसमुज्जलितचारुसोभे अत्तनो दन्ते छेत्वा अदासि।

२३. महाकपि हुत्वा अत्तना येव पब्बतपपाततो उद्धरितेन पुरिसेन—

"भक्खो अयं मनुस्सानं यथेवञ्ञे वने मगा।
यं नूनिमं वधित्वान छातो खादेय्य वानरं॥
असितो व गमिस्सामि मंसमादाय सम्बलं[1]।
कन्तारं नित्थरिस्सामि पाथेय्यं मे भविस्सती" ति॥ (खु० ३:१/३८३)

एवं चिन्तेत्वा सिलं उक्खिपित्वा मत्थके सम्पदालिते अस्सुपुण्णेहि नेत्तेहि तं पुरिसं उदिक्खमानो—

"मा[2] अय्योसि मे भदन्ते[2] त्वं[3] नामेतादिसं करि[3]।
त्वं खोसि नाम दीघावु अञ्ञं वारेतुमरहसी" ति॥

(खु० ३:१/३८४)

"मोटे बाण से मारे गये हाथी ने द्वेषरहित चित्त से व्याध से कहा—"सौम्य! किसलिये, किस कारण मुझे मारा? या यह किसका काम है?" (खु० ३:१/३७५)—ऐसा कहा।

"भदन्त, मैं काशीराज की रानी द्वारा तुम्हारे दाँत लाने के लिये भेजा गया हूँ"—यों कहे जाने पर उसका मनोरथ पूर्ण करते हुए, जिनसे छह रंगों की रश्मियाँ निकलती थीं, ऐसे सुन्दर सुशोभित अपने दाँतों को तोड़कर दे दिया।

२३. महाकपि के रूप में, जिसे उन ने पहाड़ी झरने (में डूबने) से बचाया था, उसी पुरुष द्वारा "जैसे दूसरे वन्य पशु हैं, वैसे ही यह भी मनुष्यों के लिए भक्ष्य है। भूखा (व्यक्ति) इस बन्दर को मारकर क्यों नहीं खा सकता!

"भोजन से तृप्त होकर ही, और रास्ते में खाने के लिए मांस लेकर जाऊँगा। (यह) मेरा पाथेय होगा॥" (खु० ३:१/३८३)

ऐसा सोचकर (उस व्यक्ति ने) शिला उठाकर (बन्दर के) मस्तक पर पटक दी। तब अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुरुष को देखता हुआ—

"भदन्त! आप मेरे लिये (अतिथि होने से) आर्य हैं। आपने भी ऐसा किया! हे दीर्घायु, आप को तो दूसरों को रोकना चाहिये था।" (खु० ३:१/३८४)

---

१. **सम्बलं** ति। मग्गाहारं।

२-२. **मा अय्योसि मे भदन्ते** ति। एत्थ मा ति निपातमत्तं, **मा** ति वा पटिक्खेपो, तेन उपरि तेन कातब्बं विप्पकारं पटिसेधेति। **अय्यो मे** ति अय्यिरको त्वं मम अतिथिभावतो। **भदन्ते** ति। पियसमुदाचारो।

३-३. **त्वं नामेतादिसं करी** ति। त्वं पि एवरूपं अकासि नाम।

वत्वा तस्मिं पुरिसे चित्तं अप्पदूसेत्वा अत्तनो च दुक्खं अचिन्तेत्वा तमेव पुरिसं खेमन्तभूमिं सम्पापेसि।

२४. **भूरिदत्तो** नाम नागराजा हुत्वा उपोसथङ्गानि अधिट्ठाय वम्मिकमुद्धनि सयमानो कप्पुट्ठानग्गिसदिसेन ओसधेन सकलसरीरे सिञ्चियमानो पि पेळाय पक्खिपित्वा सकलजम्बुदीपे कीळापियमानो पि तस्मिं ब्राह्मणे मनोपदोसमत्तं पि न अकासि। यथाह—

"पेळाय पक्खिपन्ते पि मद्दन्ते पि च पाणिना।
अलम्पाने[४] न कुप्पामि सीलखण्डभया ममा" ति॥

(खु० ७-४०१)

२५. **चम्पेय्यो** पि नागराजा हुत्वा अहितुण्डिकेन विहेठियमानो मनोपदोसमत्तं पि न उप्पादेसि।

"तदापि मं धम्मचारिं उपवुत्थउपोसथं।
अहितुण्डिको गहेत्वान राजद्वारम्हि कीळति॥
यं सो वण्णं चिन्तयति नीलं पीतं व लोहितं।
तस्स चित्तानुवत्तन्तो होमि चिन्तितसन्निभो॥
थलं करेय्यं उदकं उदकं पि थलं करे।
यदिहं तस्स कुप्पेय्यं खणेन छारिकं करे॥
यदि चित्तवसी हेस्सं परिहायिस्सामि सीलतो।
सीलेन परिहीनस्स उत्तमत्थो न सिज्झती' ति॥ (खु० ७-४०२)॥

—ऐसा कहा और अपने चित्त को दूषित न करता हुआ, वैसे उस (अपकारी, कृतघ्न) पुरुष को भी उसके लक्ष्य तक सकुशल पहुँचा दिया।

२४. **भूरिदत्त** नामक सर्पराज के रूप में, जब वह उपोसथ के अङ्गों का अधिष्ठान कर दीमक की बाँबी पर सोये हुए थे, उस समय (पकड़े जाने के बाद) यद्यपि कल्पान्त (के समय प्रज्वलित होने वाली) अग्नि के समान (दाहक) औषधि से उनका समस्त शरीर भिगोया गया, पिटारी में डालकर समस्त जम्बूद्वीप में क्रीड़ा का विषय बनाया गया, फिर भी उस ब्राह्मण (सँपेरे) के प्रति मन में द्वेष तक नहीं आने दिया। जैसा कि कहा है—

"जब पिटारी में डाला तब भी, या हाथ से मर्दन किया तब भी, अपना शील खण्डित हो जाने के भय से, मैं **अलम्पान** (नाम के सँपेरे) पर क्रोध नहीं करता था॥" (खु० ७.४०१)

२५. **चम्पेय्य** नामक सर्पराज के रूप में भी, सँपेरे द्वारा तंग किये जाने पर मन में द्वेष नहीं आने दिया। जैसा कि कहा है—

"उस समय भी, जब मैं उपोसथ नियम का पालन कर रहा था, एक सँपेरा मुझे पकड़ कर राजद्वार पर तमाशा दिखाने ले गया। वह जिस जिस रंग के बारे में चिन्तन करता था—नीला, पीला, लाल—उसके विचारों के अनुरूप में वैसा वैसा ही होता जाता था। (उस समय मुझमें इतनी शक्ति थी कि यदि मैं चाहता तो स्थल को जल और जल को स्थल कर देता। यदि मैं उस पर

---

४. **अलम्पाने** ति। एवंनामके अहितुण्डिके।

२६. **सङ्खपालनागराजा** हुत्वा तिखिणाहि सत्तीहि अट्ठसु ठानेसु ओविज्झित्वा पहारमुखेहि सकण्टका लतायो पवेसेत्वा नासाय दळ्हं रज्जुं पक्खिपित्वा सोळसहि भोजपुत्तेहि काजेनादाय वय्हमानो धरणीतले घंसियमानसरीरो महन्तं दुक्खं पच्चनुभोन्तो कुज्झित्वा ओलोकितमत्तेनेव सब्बे भोजपुत्ते भस्मं कातुं समत्थो पि समानो चक्खुं उम्मीलेत्वा पदुट्ठाकारमत्तं पि न अकासि। यथाह—

"चातुद्दसिं पञ्चदसिं चळार[1], उपोसथं निच्चमुपावसामि।
अथागमुं सोळसभोजपुत्ता, रज्जुं गहेत्वान दळ्हं च पासं॥
भेत्वान नासं अतिकस्स रज्जुं, नयिंसु मं सम्परिगय्ह लुद्दा।
एतादिसं दुक्खमहं तितिक्खं उपोसथं अप्पटिकोपयन्तो" ति॥

(खु० ३:२/२४)

२७. न केवलं च एतानेव, अञ्ञानि पि **मातुपोसकजातका**दीसु अनेकानि अच्छरियानि अकासि। तस्स ते इदानि सब्बञ्ञुतं पत्तं सदेवके लोके केनचि अप्पटिसम-खन्तिगुणं तं भगवन्तं सत्थारं अपदिसतो पटिघचित्तं नाम उप्पादेतुं अतिविय अयुत्तं अप्पटिरूपं ति।

२८. सचे पनस्स एवं सत्थु पुब्बचरितगुणं पच्चवेक्खतो पि दीघरत्तं किलेसानं दासब्यं

कोप करता तो उसे क्षण भर में जलाकर राख कर देता। (किन्तु मैंने सोचा कि) यदि चित्त के वश में होता हूँ तो मेरा शील जाता रहेगा, एवं शीलविहीन को उत्तम अर्थ में सिद्धि नहीं मिलती॥" (खु० ७-४०२)

२६. जब **सङ्खपाल** नामक नागराज थे, तब उन को सोलह ग्रामीण बालक आठ स्थानों पर तीक्ष्ण बर्छियों में बेधकर, घावों में कँटीली लताएँ घुसाकर, नाक को मजबूत रस्सी से नाथकर, बँहगी पर रखकर ले जाने लगे। धरती पर शरीर के घसीटे जाने से बहुत दुःख का अनुभव किया। कुपित होकर दृष्टिपात करने मात्र से सभी ग्रामीण बालकों को भस्म कर देने में समर्थ होने पर भी, स्वाभाविक रूप से आँखें खुली रखकर रञ्चमात्र भी द्वेष नहीं किया। जैसा कि कहा है—

"हे अळार[2]! मैं चतुर्दशी, पूर्णिमा को सदैव उपोसथ का पालन करता था। उसी समय सोलह ग्रामीण बालकों ने आकर मुझे रस्सी से कसकर बाँध दिया। इन व्याधों ने मेरी नासिका छेद दी, उसमें रस्सी डालकर मुझे ले गये। उपोसथ को कुपित (खण्डित) न करते हुए, मैंने इस प्रकार का दुःख (भी) सह लिया॥" (खु० ३:२/२४)

२७. केवल ये ही नहीं, **मातुपोसक जातक** आदि में वर्णित अन्य भी अनेक आश्चर्यजनक कार्य किये थे। तो अब सर्वज्ञताप्राप्त, देवों सहित सभी लोकों में क्षान्ति में अतुलनीय उन भगवान् को शास्ता मानने वाले उस तुम्हारे लिये प्रतिघ चित्त उत्पन्न करना अत्यधिक अयुक्त, अनुचित है।

२८. किन्तु यदि शास्ता द्वारा पूर्व-आचरित गुणों का यों प्रत्यवेक्षण करने पर भी, दीर्घकाल

---

१. **चळारा** ति। च अळार इति परिच्छेदो। अळारो नाम कोचि कुटुम्बिको यो तं सङ्खपालनागराजानं भोजपुत्तानं हत्थतो मोचेसि।

२. इस नाम का एक गृहस्थ, जिसने सङ्खपाल नामक नागराज को उन बालकों से मुक्त कराया था।

उपगतस्स नेव तं पटिघं वूपसम्मति, अथानेन **अनमतग्गियानि** पच्चवेक्खितब्बानि। तत्र हि वुत्तं—"**न सो, भिक्खवे, सत्तो सुलभरूपो, यो न माता भूतपुब्बो, यो न पिता भूतपुब्बो, यो न भाता, यो न भगिनी, यो न पुत्तो, यो न धीता भूतपुब्बो**" (सं० नि० २/६२०-६२१) ति। तस्मा तस्मिं पुग्गले एवं चित्तं उप्पादेतब्बं—"अयं किर मे अतीते माता हुत्वा दसमासे कुच्छिया परिहरित्वा मुत्तकरीसखेळसिङ्घाणिकादीनि हरिचन्दनं विय अजिगुच्छमानो अपनेत्वा उरे नच्चापेन्तो अङ्गेन परिहरमानो पोसेसि, पिता हुत्वा अजपथसङ्कुपथादीनि गन्त्वा वाणिज्जं पयोजयमानो मय्हं अत्थाय जीवितं पि परिच्चजित्वा उभतोब्यूळ्हे सङ्गामे पविसित्वा नावाय महासमुद्दं पक्खन्दित्वा अञ्ञानि च दुक्करानि करित्वा "पुत्तके पोसेस्सामी" ति तेहि तेहि उपायेहि धनं संहरित्वा मं पोसेसि। भाता, भगिनी, पुत्तो, धीता च हुत्वा पि इदं चिदं च उपकारं अकासी ति तत्र मे नप्पटिरूपं मनं पदूसेतुं" ति।

२९. सचे पन एवं पि चित्तं निब्बापेतुं न सक्कोति येव, अथानेन एवं **मेत्तानिसंसा** पच्चवेक्खितब्बा—"अम्भो पब्बजित, ननु वुत्तं भगवता—

'**मेत्ताय खो, भिक्खवे, चेतोविमुत्तिया आसेविताय भाविताय बहुलीकताय यानीकताय वत्थुकताय अनुट्ठिताय परिचिताय सुसमारद्धाय एकादसानिसंसा पाटिकङ्खा। कतमे एकादस? सुखं सुपति, सुखं पटिबुज्झति, न पापकं सुपिनं पस्सति, मनुस्सानं पियो होति,**

से क्लेशों का दास बने हुए उसका प्रतिघ शान्त न हो तो उसे उन सूत्रों का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये जिनमें (संसार चक्र के) अनादित्व का प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि वहाँ कहा गया है—"भिक्षुओ, ऐसा कोई भी सत्त्व सुलभ नहीं है जो कि पूर्वकाल में (किसी न किसी जन्म में) माता न रहा हो, पूर्वकाल में जो पिता न रहा हो, पूर्वकाल में जो भाई, बहन, पुत्र, पुत्री न रहा हो" (सं० नि० २/६२०-६२१)। अत: उस व्यक्ति के बारे में यों विचार करना चाहिये—"इसने अतीत काल में मेरी माता के रूप में दस महीने कुक्षि में वहन किया, मूत्र, मल, थूक, नाक का मल आदि को हरिचन्दन के समान, घृणा न करते हुए साफ किया, वक्ष:स्थल पर क्रीड़ा कराते हुए, गोद में ढोते हुए पालन किया। पिता के रूप में अजपथ (ऐसा संकीर्ण मार्ग जिस पर केवल बकरी जैसे पशु ही चल सकते हैं), शङ्कुपथ (लोहे के काँटे फँसाकर, उस पर रस्सी बाँधकर पार किया जाने वाला मार्ग) आदि से व्यापार के निमित्त जाते हुए अपने जीवन की भी चिन्ता नहीं की; ऐसे युद्ध में, जिसमें दोनों ओर की सेनाएँ व्यूह बनाकर खड़ी थीं, प्रवेश किया, नाव लेकर महासागर में कूद पड़े। अन्य भी दुष्कर कार्य करते हुए 'बच्चे का पालन करना' है ऐसा सोचकर इन इन उपायों से धन कमाकर मेरा पालन किया। एवं भाई, बहन, पुत्र, पुत्री के रूप में यह यह उपकार किया। अत: उसके विषय में मन को द्वेषयुक्त करना मेरे लिये उचित नहीं है।"

२९. यदि इस प्रकार भी चित्त को शान्त करने में समर्थ न हो, तो उसे मैत्री के गुणों का यों प्रत्यवेक्षण करना चाहिये—

"हे प्रव्रजित, क्या भगवान् ने यह नहीं कहा है—'भिक्षुओ! सेवित, भावित, वर्धित हुई, वाहन या आधार बनायी गयी, अनुष्ठान की गयी, परिचित एवं भलीभाँति ग्रहण की गयी मैत्री-चेतोविमुक्ति से ग्यारह लाभ सम्भव हैं। कौन से ग्यारह? (इसका सेवन...ग्रहण करने वाला) सुख

अमनुस्सानं पियो होति, देवता रक्खन्ति, नास्स अग्गि वा विसं वा सत्थं वा कमति, तुवटं चित्तं समाधियति, मुखवण्णो पसीदति, असम्मूळ्हो कालं करोति, उत्तरिं अप्पटिविज्झन्तो ब्रह्मलोकूपगो होती' (अं० नि० ४/४६०) ति। सचे त्वं इदं चित्तं न निब्बापेस्ससि, इमेहि आनिसंसेहि परिबाहिरो भविस्ससी" ति।

३०. एवं पि निब्बापेतुं असक्कोन्तेन पन **धातुविनिब्भोगो** कातब्बो। कथं? "अम्भो पब्बजित, त्वं एतस्स कुज्झमानो कस्स कुज्झसि? किं केसानं कुज्झसि, उदाहु लोमानं, नखानं...पे०...मुत्तस्स कुज्झसि। अथ वा पन केसादीसु पथवीधातुया कुज्झसि, आपोधातुया, तेजोधातुया, वायोधातुया कुज्झसि? ये वा पञ्चक्खन्धे, द्वादसायतनानि, अट्ठारस धातुयो उपादाय अयमायस्मा इत्थन्नामो ति वुच्चति, तेसु किं रूपक्खन्धस्स कुज्झसि, उदाहु वेदना... सञ्ञा... सङ्खार... विञ्ञाणक्खन्धस्स कुज्झसि? किं वा चक्खायतनस्स कुज्झसि, किं रूपायतनस्स कुज्झसि...पे०...किं मनायतनस्स कुज्झसि, किं धम्मायतनस्स कुज्झसि? किं वा चक्खुधातुया कुज्झसि, किं रूपधातुया, किं चक्खुविञ्ञाणधातुया...पे०...किं मनोधातुया, किं धम्मधातुया, किं मनोविञ्ञाणधातुया" ति? एवं हि धातुविनिब्भोगं करोतो आरग्गे सासपस्स विय आकासे चित्तकम्मस्स विय च कोधस्स पतिट्ठानट्ठानं न होति।

३१. धातुविनिब्भोगं पन कातुं असक्कोन्तेन **दानसंविभागो** कातब्बो। अत्तनो सन्तकं परस्स दातब्बं, परस्स सन्तकं अत्तना गहेतब्बं। सचे पन परो भिन्नाजीवो होति अपरिभोगा-

---

से सोता है, सुख से जागता है, दुःस्वप्न नहीं देखता, मनुष्यों का प्रिय होता है, अमनुष्यों का प्रिय होता है, देवता उसकी रक्षा करते हैं, उस पर अग्नि, विष या शस्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता, शीघ्र ही चित्त एकाग्र हो जाता है, मुख की कान्ति बढ़ती है, असम्मूढ़ होकर मरता है, उच्चतर (अवस्था) न पाकर भी, ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है' (अं नि० ४/४६०)? यदि तुम इस (प्रतिघ-) चित्त को शान्त नहीं करोगे तो इन लाभों से वञ्चित रहोगे।"

३०. जो इस प्रकार भी शान्त न कर सके तो उसे **धातुओं के बारे में पृथक्शः विवेचन** करना चाहिये। कैसे? "हे प्रव्रजित! यों क्रोध करते हुए तुम किस पर क्रोध करते हो? क्या केशों पर क्रोध करते हो, या रोमों पर, या नखों पर...पूर्ववत्...मूत्र पर क्रोध करते हो? अथवा, क्या केश आदि (की उत्पत्ति के घटक रूप) में पृथ्वी धातु पर क्रोध करते हो, या जल...तेज...वायु धातु पर क्रोध करते हो? अथवा, जिन पञ्चस्कन्ध, बारह आयतन, अट्ठारह धातुओं के सम्मिलित रूप से 'ये आयुष्मन्! इस नाम के हैं'—यों कहा जाता है; उनमें से क्या रूपस्कन्ध पर क्रोध करते हो, या वेदना...संज्ञा...संस्कार...विज्ञानस्कन्ध पर क्रोध करते हो? अथवा, क्या चक्षुरायतन पर...पूर्ववत्...क्या मनआयतन पर क्रोध करते हो, क्या धर्मायतन पर क्या रूपधातु पर...क्या धर्मधातु पर, क्या मनोविज्ञानधातु पर क्रोध करते हो...?" यों, धातुओं का पृथक् पृथक् विवेचन (धातुविनिर्भोग) करते समय, आरे की नोंक पर सरसों के दाने के समान या आकाश में चित्रकारी के समान क्रोध टिक नहीं पाता।

३१. किन्तु जो धातुविनिर्भोग न कर सके, उसे **दान और बँटवारा** करना चाहिये। अपनी वस्तु दूसरे को देनी चाहिये, दूसरे की वस्तु स्वयं लेनी चाहिये। किन्तु यदि दूसरा व्यक्ति

रहपरिक्खारो, अत्तनो सन्तकमेव दातब्बं। तस्सेवं करोतो एकन्तेनेव तस्मिं पुग्गले आघातो वूपसम्मति। इतरस्स च अतीतजातितो पट्ठाय अनुबन्धो पि कोधो तं खणं येव वूपसम्मति। चित्तलपब्बतविहारे तिक्खत्तुं वुट्ठापितसेनासनेन पिण्डपातिकत्थेरेन "अयं भन्ते, अट्ठकहापणग्घनको पत्तो मम मातरा उपासिकाय दिन्नो, धम्मियलाभो, महाउपासिकाय पुञ्ञलाभं करोथा" ति वत्वा दिन्नं पत्तं लद्धमहाथेरस्स विय। एवं महानुभावं एतं दानं नाम। वुत्तं पि चेतं—

"अदन्तदमनं दानं, दानं सब्बत्थसाधकं।
दानेन पियवाचाय उन्नमन्ति[1] नमन्ति[2] चा" ति॥

३२. तस्सेवं वेरिपुग्गले वूपसन्तपटिघस्स यथा पियातिप्पियसहायकमज्झत्तेसु, एवं तस्मिं पि मेत्तावसेन चित्तं पवत्तति। अथानेन पुनप्पुनं मेत्तायन्तेन—अत्तनि, पियपुग्गले, मज्झत्ते, वेरिपुग्गले ति चतूसु जनेसु समचित्ततं **सीमासम्भेदो**[3] कातब्बो।

तस्सिदं लक्खणं—सचे इमस्मिं पुग्गले पियमज्झत्तवेरीहि सद्धिं अत्तचतुत्थे एकस्मिं पदेसे निसिन्ने चोरा आगन्त्वा "भन्ते, एकं भिक्खुं अम्हाकं देथा" ति वत्वा "किं कारणा" ति वुत्ते "तं मारेत्वा गललोहितं गहेत्वा बलिकरणत्थाया" ति वदेय्युं, तत्र चेसो भिक्खु

आजीविकाविहीन हो, आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं से रहित हो तो उसे अपने पास से ही देना चाहिये। ऐसा करने से (किसी की तो) उस व्यक्ति को हानि पहुँचाने की इच्छा पूरी तरह से शान्त हो जाती है। और किसी का पूर्वजन्मों से पीछे लगा हुआ क्रोध भी तत्क्षण ही शान्त हो जाता है। जैसे कि **चित्तल पर्वत विहार** में तीन बार शयनासन से विस्थापित किये जा चुके **पिण्डपातिक** स्थविर द्वारा—"भन्ते! यह आठ कार्षापण मूल्य का पात्र मेरी माता उपासिका ने दिया है। यह धर्म के अनुकूल प्राप्त हुआ है। (इसे ग्रहण कर) महा उपासिका को पुण्य लाभ करायें"—यों कहकर दान किये गये पात्र को प्राप्त करने वाले महास्थविर का (क्रोध शान्त हो गया)। एवं यह कहा भी गया है—

"दान अदान्त (जिसका दमन नहीं हुआ है) का भी दमन करने वाला है, दान सर्वसाधक है। मधुर वचनों से एवं दान देने से (देने वाले) ऊँचे उठते हैं एवं (लेने वाले) नीचे झुकते हैं।"

सीमा-अतिक्रमण : ३२. जब वैरी व्यक्ति के प्रति उसका द्वेष शान्त हो जाय, तब जैसे प्रिय या अतिप्रिय मित्र या मध्यस्थ में, वैसे ही उस वैरी में भी मैत्री-चित्त प्रवृत्त हो सकता है। तब उसे स्वयं में, प्रिय व्यक्ति, मध्यस्थ और वैरी व्यक्ति में—यों चारों जनों के प्रति समानभाव रखते हुए, पुनः पुनः मैत्री का अभ्यास करते हुए सीमा का अतिक्रमण (=सम्भेद=समचित्तता) करना चाहिये।

उसका यह लक्षण है—मान लीजिये कि यह व्यक्ति—प्रिय, मध्यस्थ और वैरी के साथ स्वयं वह चौथा—एक स्थान पर बैठा हो और चोर आकर कहें—"भन्ते, एक भिक्षु को मुझे दे दीजिए।" "किस लिये?" ऐसा पूछे जाने पर कहे—"जिससे कि उसे मारकर उसके गले का

---

१. दायका **उन्नमन्ति**। २. पटिग्गाहका **नमन्ति**।
३. सीमासम्भेदो ति। सा एव समचित्तता।

"असुकं वा असुकं वा गण्हन्तू" ति चिन्तेय्य, अकतो व होति सीमासम्भेदो। सचे पि "मं गण्हन्तु, मा इमे तयो" ति पि चिन्तेय्य, अकतो व होति सीमासम्भेदो। कस्मा? यस्स यस्स हि गहणं इच्छति, तस्स तस्स अहितेसी होति, इतरेसं येव हितेसी होति। यदा पन चतुन्नं जनानमन्तरे एके पि चोरानं दातब्बं न पस्सति, अत्तनि च तेसु च तीसु जनेसु सममेव चित्तं पवत्तेति, कतो होति सीमासम्भेदो। तेनाहु **पोराणा**—

"अत्तनि हितमज्झत्ते अहिते च चतुब्बिधे।
यदा पस्सति नानत्तं हितचित्तो व पाणिनं॥
न निकामलाभी मेत्ताय कुसली ति पवुच्चति।
यदा चतस्सो सीमायो सम्भिन्ना होन्ति भिक्खुनो॥
समं फरति मेत्ताय सब्बलोकं सदेवकं।
महाविसेसो पुरिमेन यस्स सीमा न नायती" ति॥

३३. एवं सीमासम्भेदसमकालमेव च इमिना भिक्खुना निमित्तं च उपचारं च लद्धं होति। सीमासम्भेदे पन कते तमेव निमित्तं आसेवन्तो भावेन्तो बहुलीकरोन्तो अप्पकसिरेनेव पथवीकसिणे वुत्तनयेनेव अप्पनं पापुणाति। एत्तावतानेन अधिगतं होति पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं पठमं झानं मेत्तासहगतं। अधिगते च तस्मिं तदेव निमित्तं आसेवन्तो भावेन्तो बहुलीकरोन्तो अनुपुब्बेन चतुक्कनयेन दुतियततियज्झानानि, पञ्चकनये दुतियततियचतुत्थज्झानानि च पापुणाति।

रक्त लेकर बलि बढ़ायी जा सके।" ऐसी स्थिति में यदि वह भिक्षु—"अमुक को या अमुक को ले जाँय" ऐसा सोचता है, तो (समझना चाहिये कि) सीमा का अतिक्रमण नहीं हुआ। और यदि इस प्रकार भी सोचे कि "मुझे ले जाँय, इन तीनों को नहीं" तो भी सीमा का अतिक्रमण नहीं हुआ। क्यों? क्योंकि जिस जिस को ले जाया जाना चाहता है, उस उसके प्रति अहितैषी होता है, अन्यों के प्रति ही हितैषी होता है। किन्तु जब चारों जनों में से एक को भी चोरों को सौंप दिये जाने योग्य नहीं देखता, स्वयं और उन तीनों जनों के प्रति समानभाव रखता है, तभी सीमा का अतिक्रमण किया हुआ होता है। इसीलिये प्राचीन विद्वानों ने कहा है—

"जब तक (साधक) स्वयं, हित, मध्यस्थ और अहित—इन चारों में नानात्व देखता है, तब तक वह प्राणियों के प्रति (मात्र) हितैषी ही (कहा जाता है)॥

'इच्छानुसार मैत्री का लाभ करने वाला' या मैत्री-कुशल नहीं कहा जाता॥

जब भिक्षु की चारों सीमाएँ अतिक्रान्त होती हैं, तब मैत्री से देवलोक सहित समस्त लोकों को व्याप्त कर देता है। प्रथम (हितैषिमात्र) की अपेक्षा वह अतिविशिष्ट है, जिसे सीमा का भान नहीं है॥

३३. यों सीमा का अतिक्रमण करते ही, इस भिक्षु को निमित्त भी और उपचार भी प्राप्त हो जाता है। सीमा तोड़ चुकने पर उसी निमित्त का अभ्यास, भावना, बार बार अभ्यास करते हुए वह अल्प प्रयास से ही, पृथ्वीकसिण में उक्त प्रकार से ही अर्पणा प्राप्त करता है। यहाँ तक उसे मैत्रीसहगत प्रथम ध्यान की प्राप्ति हो चुकी रहती है, जो पाँच अङ्गों से रहित, पाँच अङ्गों

सो हि पठमज्झानादीनं अञ्ञतरवसेन "**मेत्तासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति। तथा दुतियं, तथा ततियं, तथा चतुत्थं। इति उद्धमधो तिरियं सब्बधि सब्बत्तताय सब्बावन्तं लोकं मेत्तासहगतेन चेतसा विपुलेन महग्गतेन अप्पमाणेन अवेरेन अब्यापज्जेन फरित्वा विहरति**" (अभि० २/३२७)। पठमज्झानादिवसेन अप्पनापत्तचित्तस्सेव हि अयं विकुब्बना सम्पज्जति।

३४. एत्थ च **मेत्तासहगतेना** ति। मेत्ताय समन्नागतेन। **चेतसा** ति। चित्तेन। **एकं दिसं** ति। एतं एकिस्सा दिसाय पठमपरिग्गहितं सत्तं उपादाय एकदिसा परियापन्नसत्तफरणवसेन वुत्तं। **फरित्वा** ति। फुसित्वा, आरम्मणं कत्वा। **विहरती** ति। ब्रह्मविहाराधिट्ठितं इरियापथविहारं पवत्तेति। **तथा दुतियं** ति। यथा पुरत्थिमादीसु दिसासु यं किञ्चि एकं दिसं फरित्वा विहरति, तथेव तदनन्तरं दुतियं ततियं चतुत्थं चा ति अत्थो। **इति उद्धं** ति। एतेनेव नयेन उपरिमं दिसं ति वुत्तं होति। **अधो तिरियं** ति। अधो दिसं पि तिरियं दिसं पि एवमेव। तत्थ च **अधो** ति हेट्ठा। **तिरियं** ति। **तिरियं** ति। अनुदिसासु। एवं सब्बदिसासु अस्समण्डले अस्समिव मेत्तासहगतं चित्तं सारेति पि, पच्चासारेति पी ति। एत्तावता एकमेकं दिसं परिग्गहेत्वा ओधिसो मेत्ताफरणं दस्सितं।

सब्बधी ति आदि पन अनोधिसो दस्सनत्थं वुत्तं। तत्थ **सब्बधी** ति। सब्बत्थ।

से युक्त, त्रिविध कल्याणकर एवं दस लक्षणों से युक्त होता है। उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसी निमित्त का अभ्यास, भावना, वृद्धि करते हुए क्रमशः चतुष्क नय के अनुसार द्वितीय तृतीय ध्यानों को और पञ्चक नय के अनुसार द्वितीय तृतीय चतुर्थ ध्यानों को प्राप्त करता है।

वह प्रथम ध्यान आदि में से किसी एक में "मैत्री-चित्त से एक दिशा को व्याप्त कर (मैत्री भावना के आलम्बन के रूप में किसी एक दिशा का ग्रहण कर) साधना करता है। वैसे ही द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ को। यों ऊपर नीचे, चतुर्दिक्, सर्वत्र समान रूप से समस्त लोक को विपुल, महद्गत, अप्रमाण, वैररहित, व्यापादरहित मैत्रीयुक्त चित्त से व्याप्त कर साधना करता है" (अभि० २/३२७)। प्रथम ध्यान आदि के द्वारा अर्पणा-प्राप्त चित्त को यह बहुआयामी परिवर्तनशील विकुब्बना प्राप्त होती है।

३४. यहाँ **मेत्तासहगतेन**—मैत्रीयुक्त के द्वारा। **चेतसा**—चित्तद्वारा। एकं **दिसं**—किसी एक दिशा को जिसे सत्त्व ने पहले ग्रहण किया हो एवं उसी एक दिशा के सत्त्वों के प्रति (मैत्री का) विस्तार करना हो। **फरित्वा**—स्पर्शकर, आलम्बन बनाकर। **विहरति**—ब्रह्मविहार के रूप में अधिष्ठान किये हुए ईर्यापथविहार में प्रवृत्त होता है। **तथा दुतियं**—अर्थात् जैसे पूर्व आदि दिशाओं में से जिस किसी दिशा को (मैत्री का) आलम्बन बनाकर साधना करता है, वैसे ही तदनन्तर द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ को भी। **इति उद्धं**—अर्थात् इसी प्रकार ऊपरी दिशा को। **अधो, तिरियं**—निचली दिशा एवं चारों दिशाओं को भी वैसे ही। एवं इनमें **अधो**—निचली। **तिरियं**—अनुदिशाओं में। यों सभी दिशाओं में, अश्वों के घेरे में अश्व के समान, मैत्रीयुक्तचित्त को अग्रसारित भी करता है, पीछे लौटता भी है। यहाँ तक एक एक दिशा का ग्रहण कर, पृथक् पृथक् मैत्री की व्यापकता प्रदर्शित की गयी है।

सब्बत्तताया ति। सब्बेसु हीनमज्झिमुक्कट्ठमित्तसपत्तमज्झत्तादिप्पभेदेसु अत्तताय। "अयं परसत्तो" ति विभागं अकत्वा अत्तसमताया ति वुत्तं होति।

अथ वा **सब्बत्तताया** ति। सब्बेन चित्तभागेन ईसकं पि बहि अविक्खिपमानो ति वुत्तं होति। **सब्बावन्तं** ति। सब्बसत्तवन्तं, सब्बसत्तयुतं ति अत्थो। **लोकं** ति। सत्तलोकं। **विपुलेना** ति। एवमादि परियायदस्सनतो पनेत्थ पुन मेत्तासहगतेना ति वुत्तं। यस्मा वा एत्थ ओधिसो फरणे विय पुन तथा-सद्दो इति-सद्दो वा न वुत्तो, तस्मा पुन मेत्तासहगतेन चेतसा ति वुत्तं। निगमनवसेन[१] वा एतं वुत्तं—**विपुलेना** ति। एत्थ च फरणवसेन विपुलता दट्ठब्बा। भूमिवसेन पन एतं **महग्गतं**। पगुणवसेन च अप्पमाणसत्तारम्मणवसेन च **अप्पमाणं**। ब्यापादपच्चत्थिकप्पहानेन **अवेरं**। दोमनस्सप्पहानतो **अब्यापज्झं**। निद्दुक्खं ति वुत्तं होति। अयं '**मेत्तासहगतेन चेतसा**' ति आदिना नयेन वुत्ताय विकुब्बनाय अत्थो।

३५. यथा चायं अप्पनाप्पत्तचित्तस्सेव विकुब्बना सम्पज्जति, तथा यं पि **पटिसम्भिदायं**—"**पञ्चहाकारेहि अनोधिसोफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति, सत्तहाकारेहि ओधिसोफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति, दसहाकारेहि दिसाफरणा मेत्ता चतोविमुत्ती**" (खु० नि० ५/३८०) ति वुत्तं, तं पि अप्पनाप्पत्तचित्तस्सेव सम्पज्जती ति वेदितब्बं।

तत्थ च "सब्बे सत्ता अवेरा अब्यापज्जा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तु, सब्बे पाणा,

---

सर्वत्र '**सब्बधि**' आदि अविभाग को प्रदर्शित करने के लिये कहा गया है। इनमें, **सब्बधि**—सर्वत्र। **सब्बत्तताय**—सभी हीन, मध्य, उत्कृष्ट, मित्र, शत्रु, मध्यस्थ आदि प्रभेदों में स्वयं के लिये। अर्थात्, 'यह दूसरा व्यक्ति है' यों भेद न कर, स्वयं के समान।

अथवा **सब्बत्तताय**—सब सत्त्व वाले, सब सत्त्वों से युक्त। **लोकं**—सत्त्वलोक। **विपुलेन**—(विपुल से) यों प्रारम्भ होने वाले पर्यायों को दिखलाने के लिये यहाँ पुनः "मैत्रीयुक्त से"—ऐसा कहा गया है। अथवा "मैत्रीयुक्त से" पुनः इसलिये कहा गया है; क्योंकि यहाँ विभागसहित विस्तार के समान, 'तथा' शब्द एवं 'इति' शब्द को दुहराया नहीं गया है। अथवा यह 'विपुलेन'—समापन के अर्थ में उक्त है। एवं विपुलता को यहाँ "विस्तार के अर्थ में विपुलता" समझना चाहिये। भूमि के अनुसार यह **महग्गत** है। अभ्यस्त होने से एवं अप्रमाण (असंख्य) सत्त्वों को आलम्बन बनाने से **अप्पमाणं** है। व्यापाद एवं वैर के प्रहाण के कारण **अवेरं** है। दौर्मनस्य के प्रहाण के कारण **अव्यापज्झं** हैं। अर्थात् दुःखरहित। यह **मैत्रीयुक्तचित्त** से आदि प्रकार से कही गयी बहुआयामी परिवर्तनशील 'विकुब्बना' का अर्थ है।

३५. और जैसे यह बहुआयामी परिवर्तनशीलता मैत्रीयुक्त चित्त को ही प्राप्त होती है, वैसे ही जो भी **पटिसम्भिदामग्ग** में यों कहा गया है—"पाँच प्रकार से विभागरहित रूप से विस्तृत मैत्री-चित्त-विमुक्ति है, सात प्रकार से विभाग सहित मैत्रीचित्त-विमुक्ति है, दस प्रकार से दिशा में विस्तृत मैत्री-चित्तविमुक्ति है" (खु० नि० ५/३८०), वह भी अर्पणा-प्राप्त चित्त को ही उपलब्ध होती है—ऐसा समझना चाहिये।

एवं वहाँ "सभी सत्त्व वैररहित, व्यापादरहित, व्याकुलतारहित, सुखपूर्वक जीवन-यापन

---

१. वुत्तस्सेवत्थस्स पुन वचनं **निगमनं**। समापनवसेनेत्यत्थो।

सब्बे भूता, सब्बे पुग्गला, सब्बे अत्तभावपरियापन्ना अवेरा...पे०...परिहरन्तू'' ति इमेहि पञ्चहाकारेहि **अनोधिसो फरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति** वेदितब्बा।

''सब्बा इत्थियो अवेरा...पे०...अत्तानं परिहरन्तु, सब्बे पुरिसा, सब्बे अरिया, सब्बे अनरिया, सब्बे देवा, सब्बे मनुस्सा, सब्बे विनिपातिका अवेरा...पे०...परिहरन्तू'' ति इमेहि सत्तहाकारेहि **ओधिसोफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति** वेदितब्बा।

''सब्बे पुरत्थिमाय दिसाय सत्ता अवेरा...पे०...अत्तानं परिहरन्तु। सब्बे पच्छिमाय दिसाय, सब्बे उत्तराय दिसाय, सब्बे दक्खिणाय दिसाय, सब्बे पुरत्थिमाय अनुदिसाय, सब्बे पच्छिमाय अनुदिसाय, सब्बे उत्तराय अनुदिसाय, सब्बे दक्खिणाय अनुदिसाय, सब्बे हेट्ठिमाय दिसाय, सब्बे उपरिमाय दिसाय सत्ता अवेरा...पे०...परिहरन्तु। सब्बे पुरित्थिमाय दिसाय पाणा, भूता, पुग्गला, अत्तभावपरियापन्ना अवेरा...पे०...परिहरन्तु। सब्बा पुरत्थिमाय दिसाय इत्थियो, सब्बे पुरिसा, अरिया, अनरिया, देवा, मनुस्सा, विनिपातिका अवेरा...पे०...परिहरन्तु, सब्बा पच्छिमाय दिसाय, उत्तराय, दक्खिणाय, पुरत्थिमाय अनुदिसाय, पच्छिमाय, उत्तराय, दक्खिणाय अनुदिसाय, हेट्ठिमाय दिसाय, उपरिमाय दिसाय इत्थियो...पे०...विनिपातिका अवेरा अब्यापज्झा अनीघा सुखी अत्तानं परिहरन्तू'' ति इमेहि दसहाकारेहि **दिसाफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ति** वेदितब्बा।

३६. तत्थ **सब्बे** ति। अनवसेसपरियादानमेतं। **सत्ता** ति। रूपादीसु खन्धेसु छन्दरागेन सत्ता विसत्ता ति सत्ता। वुत्तं हेतं भगवता—''**रूपे खो, राध, यो छन्दो यो रागो या नन्दी**

करें, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी पुद्गल, सभी आत्मभाव (व्यक्तित्व) सम्पन्न वैररहित ...पूर्ववत्... जीवन-यापन करें''—यों इन पाँच रूपों में विभागरहित व्यापक मैत्री-चित्त-विमुक्ति समझी जानी चाहिये।

''सभी स्त्रियाँ वैररहित...पूर्ववत्...जीवनयापन करें, सभी पुरुष, सभी आर्य, सभी अनार्य, सभी देव, सभी मनुष्य, सभी दुर्गतिप्राप्त (जीव) वैररहित ...पूर्ववत्... जीवन यापन करें''—यों इन सात रूपों में विभागसहित मैत्री-चित्त विमुक्ति को समझना चाहिये।

''सभी पूर्व दिशा के सत्त्व वैर रहित ...पूर्ववत्... जीवन-यापन करें। सभी पश्चिम दिशा... उत्तर दिशा...दक्षिण दिशा के, सभी पूर्व दिशा की अनुदिशा के...पश्चिम दिशा की ...उत्तर दिशा की...दक्षिण दिशा की, अनुदिशा के, सभी निचली दिशा के, सभी ऊपरी दिशा के सत्त्व वैररहित ...पूर्ववत्... जीवन-यापन करें। सभी पूर्व दिशा की स्त्रियाँ, सभी पुरुष, आर्य, अनार्य, देव, मनुष्य, दुर्गतिप्राप्त, वैररहित ...पूर्ववत्... जीवन यापन करें। सभी पश्चिम दिशा की, उत्तर की, दक्षिण की, पूर्व की अनुदिशा की, पश्चिम की, उत्तर की, दक्षिण की अनुदिशा की, निचली दिशा की, ऊपरी दिशा की स्त्रियाँ...पूर्ववत्...दुर्गतिप्राप्त वैररहित, व्यापादरहित, व्याकुलता रहित, सुखपूर्वक जीवन यापन करें।''—यों इन दस रूपों में दिशा को आलम्बन बनाने वाली (या दिशाओं में विस्तृत) मैत्री चित्त-विमुक्ति को जानना चाहिये।

३६. इनमें, **सब्बे**—यह निरवशेष (अपवादरहित) ग्रहण (का सूचक) है। **सत्ता**—रूप आदि स्कन्धों के प्रति छन्दराग से सक्त (आसक्त), विशेष रूप से सक्त हैं, अतः सत्त्व (सक्त)

या तण्हा, तत्र सत्तो, तत्र विसत्तो, तस्मा सत्तो ति वुच्चति। वेदनाय, सञ्ञाय, सङ्खारेसु, विञ्ञाणे यो छन्दो यो रागो या नन्दी या तण्हा, तत्र सत्तो, तत्र विसत्तो, तस्मा सत्तो ति वुच्चती" (सं० नि० २/१८७) ति।

रूळ्हिसद्देन पन वीतरागेसु पि अयं वोहारो वत्तति येव, विलीवमये पि बीजनिविसेसे तालवण्टवोहारो विय। अक्खरचिन्तका पन अत्थं अविचारेत्वा, नाममत्तमेतं ति इच्छन्ति। ये पि अत्थं विचारेन्ति, ते सत्वयोगेन[1] सत्ता ति इच्छन्ति।

३७. पाणनताय **पाणा**, अस्सासपस्सासायत्तवुत्तिताया ति अत्थो। भूतत्ता **भूता**, सम्भूतत्ता अभिनिब्बत्तत्ता ति अत्थो। 'पु' ति वुच्चति निरयो, तस्मिं गलन्ती[2] ति **पुग्गला**। गच्छन्ती ति अत्थो। **अत्तभावो** वुच्चति सरीरं, खन्धपञ्चकमेव वा, तं उपादाय पञ्ञत्तिमत्तसम्भवतो। तस्मिं अत्तभावे परियापन्ना ति **अत्तभावपरियापन्ना**। परियापन्ना ति परिच्छिन्ना, अन्तोगधा ति अत्थो।

३८. यथा च सत्ता ति वचनं, एवं सेसानि पि रूळ्हिवसेन आरोपेत्वा सब्बानेतानि सब्बसत्तवेवचनानी ति वेदितब्बानि। कामं च अञ्ञानि पि सब्बे जन्तू सब्बे जीवा ति आदीनि

हैं। क्योंकि भगवान् ने कहा है—"राध! रूप में जो छन्द है, जो राग है, जो नन्दी है, जो तृष्णा है, उसमें सक्त है, विशेष रूप से सक्त है, अतः सत्त्व 'सक्त' कहा जाता है। वेदना में, संज्ञा में, संस्कारों में, विज्ञान में जो छन्द है, जो राग है, जो नन्दी है, जो तृष्णा है; उनमें सक्त है, विशेष रूप से सक्त है, अतः 'सक्त' कहा जाता है।' (सं० नि० २/९८७)।

किन्तु रूढ़ि शब्द से (रूढ़ि के आधार पर) वीतरागों के लिये भी यह (सत्त्व शब्द) व्यवहृत होता है, जैसे कि बाँस को काट-छीलकर बनाये गये पंखे के लिये भी 'ताड़ के पंखे' का व्यवहार होता है। शब्दव्युत्पत्तिविज्ञानी (अक्षरचिन्तक) जो कि अर्थ का विचार नहीं करते, इसे ('सत्त्व' शब्द को) मात्र (एक) नाम मानते हैं। और जो अर्थ का भी विचार करते हैं (जैसे सांख्य) वे 'सत्त्व' (सांख्यवादी के मत में तीन गुणों में से एक) के योग से 'सत्त्व' (की व्युत्पत्ति) मानते हैं।

३७. प्राणन (आश्वास-प्रश्वास) करने से **पाणा** (प्राणी) हैं। अर्थात् क्योंकि उनका अस्तित्व आश्वास-प्रश्वास पर निर्भर है। होने (भूतत्व) से **भूता** है। अर्थात् क्योंकि वे पूरी तरह से हो चुके (सम्भूत) हैं, उत्पन्न हो चुके (अभिनिवृत्त) हैं। 'पुं' नरक को कहते हैं, उसमें गलते हैं (च्युत होते हैं) इसलिये **पुग्गला** (पुद्गल) हैं। अर्थात् (उसमें) जाते हैं। **अत्तभाव** शरीर को कहा जाता है। अथवा यह स्कन्धपञ्चक ही है; क्योंकि यह (आत्मभाव या आत्मा) स्कन्धपञ्चक के आधार पर निर्मित एक प्रत्ययमात्र है। उस आत्मभाव से समाविष्ट (पर्यापन्न) है, अतः **अत्तभावपरियापन्ना** हैं। पर्यापन्न अर्थात् परिच्छिन्न, अन्तःप्रविष्ट।

३८. एवं जैसा कि 'सत्त्व' पद के विषय में, वैसे ही शेष (पदों) को भी रूढ़ि के अनुसार प्रयुक्त "सभी सत्त्वों" का पर्याय समझना चाहिये। वैसे "सभी सत्त्वों" के अन्य पर्याय भी हैं,

---

१. **सत्वयोगतो** ति मरम्मपाठो। एत्थ **सत्वं** नाम बुद्धि विरियं तेजो वा, तेन योगतो सत्ता। यथा "नीलगुणयोगतो नीलो पटो" ति।

२. **गलन्ति**। चवन्ती ति अत्थो।

सब्बसत्तवेवचनानि अत्थि, पाकटवसेन पन इमानेव पञ्च गहेत्वा "पञ्चहाकारेहि अनोधिसोफरणा मेत्ता चेतोविमुत्ती" ति वुत्तं।

ये पन, सत्ता पाणा ति आदीनं न केवलं वचनमत्ततो व, अथ खो अत्थतो पि नानत्तमेव इच्छेय्युं, तेसं अनोधिसोफरणा विरुज्झति, तस्मा तथा अत्थं अगहेत्वा इमेसु पञ्चसु आकारेसु अञ्जतरवसेन अनोधिसो मेत्ता फरितब्बा।

३९. एत्थ च 'सब्बे सत्ता अवेरा होन्तू' ति अयमेका अप्पना। 'अब्यापज्झा होन्तू' ति अयमेका अप्पना। **अब्यापज्झा** ति। ब्यापादरहिता। 'अनीघा होन्तू' ति अयमेका अप्पना। **अनीघा** ति। निद्दुक्खा। 'सुखी अत्तानं परिहरन्तू' ति अयमेका अप्पना। तस्सा इमेसु पि पदेसु यं यं पाकटं होति, तस्स तस्स वसेन मेत्ता फरितब्बा। इति पञ्चसु आकारेसु चतुन्नं अप्पनानं वसेन अनोधिसोफरणे वीसति अप्पना होन्ति।

ओधिसोफरणे पन सत्तसु आकारेसु चतुन्नं वसेन अट्ठवीसति। एत्थ च, इत्थियो पुरिसा ति लिङ्गवसेन वुत्तं। अरिया अनरिया ति अरियपुथुज्जनवसेन। देवा मनुस्सा विनिपातिका ति उपपत्तिवसेन।

दिसाफरणे पन 'सब्बे पुरत्थिमाय दिसाय सत्ता' ति आदिना नयेन एकमेकिस्सा दिसाय वीसति वीसति कत्वा द्वेसतानि। 'सब्बा पुरत्थिमाय दिसाय इत्थियो' ति आदिना नयेन एकमेकिस्सा दिसाय अट्ठवीसति अट्ठवीसति कत्वा असीति द्वेसतानी ति चत्तारि सतानि असति च अप्पना। इति सब्बानि पि **पटिसम्भिदायं** वुत्तानि अट्ठवीसाधिकानि पञ्च अप्पनासतानी ति।

जैसे सभी जन्तु, सभी जीव आदि; किन्तु स्पष्टता के उद्देश्य से इन्हीं पाँच (सत्त्व, प्राणी, भूत, पुद्गल, आत्मभावपर्यापन्न) का ग्रहण करते हुए "पाँच प्रकार से विभागरहित व्यापक मैत्री-चित्त-विमुक्ति" कही गयी है।

किन्तु जो 'सत्त्व', 'प्राणी' आदि में न केवल शब्दतः अपितु अर्थतः भी अन्तर मानते हैं, उनकी विभागरहित व्यापक (मैत्री) विरुद्ध होती है, इसलिये अर्थ का वैसे ग्रहण न कर, इन पाँच रूपों में से ही किसी एक के अनुसार विभागरहित मैत्री का विस्तार करना चाहिये।

३९. एवं यहाँ "सभी सत्त्व वैररहित हों"—यह एक अर्पणा है। "व्यापादरहित हों" यह एक अर्पणा है। **अव्यापज्झा**—व्यापादरहित। 'व्याकुलतारहित हों'—यह एक अर्पणा है। **अनीघा**—दुःखरहित। 'सुखी होकर जीवन यापन करें—यह एक अर्पणा है। इसलिये इन पदों में से भी जो जो स्पष्ट प्रतीत हों, उन उन के अनुसार मैत्री का विस्तार करना चाहिये। यों पाँच प्रकारों (आकारों) में चार चार अर्पणा होती है जिनके अनुसार विभागरहित विस्तार वाली बीस अर्पणा होती है।

विभागसहित में सात प्रकारों से चार चार के अनुसार अट्ठाईस। एवं इस प्रसङ्ग में "स्त्रियाँ और पुरुष" यह लिङ्ग की दृष्टि से, "आर्य और अनार्य"—यह आर्य और पृथग्जन के और "देव मनुष्य और दुर्गतिप्राप्त"—यह उत्पत्ति के अनुसार कहा गया है।

दिशाव्यापक (अर्पणा) में—"सब पूर्व दिशा के सत्त्व" आदि प्रकार से एक-एक दिशा में बीस बीस करके दो सौ। "सब पूर्व दिशा की स्त्रियाँ" आदि प्रकार से एक-एक दिशा में

इति एतासु अप्पनासु यस्स कस्सचि वसेन मेत्तं चेतोविमुत्तिं भावेत्वा अयं योगावचरो "सुखं सुपती" ति आदिना नयेन वुत्ते एकादसानिसंसे पटिलभति।

४०. तत्थ **सुखं सुपती** ति। यथा सेसा जना सम्परिवत्तमाना काकच्छमाना दुक्खं सुपन्ति, एव असुपित्वा सुखं सुपति। निद्दं ओक्कन्तो पि समापत्तिं समापन्नो विय होति। (१)

सुखं पटिबुज्झती ति। यथा अञ्ञे नित्थुनन्ता विजम्भन्ता सम्परिवत्तन्ता दुक्खं पटिबुज्झन्ति, एवं अप्पटिबुज्झित्वा विकसमानमिव पदुमं सुखं निब्बिकारं पटिबुज्झति। (२)

न पापकं सुपिनं पस्सती ति। सुपिनं पस्सन्तो पि भद्दकमेव सुपिनं पस्सति, चेतियं वन्दन्तो विय पूजं करोन्तो विय धम्मं सुणन्तो विय च होति। यथा पन अञ्ञे अत्तानं चोरेहि सम्परिवारितं विय वाळेहि उपद्दुतं विय पपाते पतन्तं विय च पस्सन्ति, एवं पापकं सुपिनं न पस्सति। (३)

मनुस्सानं पियो होती ति। उरे आमुत्तमुत्ताहारो विय सीसे पिळन्धमाना विय च मनुस्सानं पियो होति मनापो। (४)

अमनुस्सानं पियो होती ति। तथेव मनुस्सानं, एवं अमनुस्सानं पियो होति, विसाखत्थेरो विय। सो किर पाटलिपुत्ते कुटुम्बियो अहोसि। सो तत्थेव वसमानो अस्सोसि—"तम्बपण्णिदीपो किर चेतियमालालङ्कतो कासावपज्जोतो इच्छितिच्छितट्ठाने येव एत्थ सक्का निसीदितुं वा निपज्जितुं वा, उतुसप्पायं सेनासनसप्पायं पुग्गलसप्पायं धम्मसवनसप्पायं ति सब्बमेत्थ सुलभं" ति।

अट्ठाईस अट्ठाईस करके दो सौ अस्सी। (इस प्रकार कुल) चार सौ अस्सी अर्पणा होती हैं। इस प्रकार, **पटिसम्भिदा में** कही गयी सब पाँच सौ अट्ठाईस अर्पणा होती हैं।

यों इन अर्पणाओं में से जिस किसी के अनुसार मैत्री-चित्त-विमुक्ति की भावना करके यह योगी "सुखपूर्वक सोता है"—आदि प्रकार से कहे गये ग्यारह गुणों का लाभ करता है।

४०. उनमें, **सुखं सुपति**—जैसे शेष लोग करवटें बदलते हुए, गले में घरघराहट के साथ, बेचैनी के साथ सोते हैं, वैसे न सोकर सुखपूर्वक सोता है। नीद में भी वह समापत्तिलाभी जैसा होता है। (१)

सुखं पटिबुज्झति—जैसे दूसरे कराहते हुए, जम्हाई लेते हुए, करवटें बदलते हुए सोकर उठते हैं, वैसे न उठकर, वह खिलते हुए कमल जैसा सुखपूर्वक निर्विकार जागता है। (२)

न पापकं सुपिनं पस्सति—स्वप्न देखते समय भी अच्छे स्वप्न ही देखता है, जैसे चैत्य की वन्दना करते हुए, पूजा करते हुए, धर्मश्रवण करते हुए; अन्य लोग अपने को हिंसक जन्तुओं से सन्त्रस्त या प्रपात में गिरते हुए देखा करते हैं, वैसा दुःस्वप्न नहीं देखता। (३)

मनुस्सानं पियो होति—वक्ष पर झूलते हुए मुक्ताहार के समान और शीश पर गुम्फित माला के समान मनुष्यों का प्रिय और दुलारा होता है। (४)

अमनुस्सानं पियो होति—जैसे मनुष्यों का, वैसे ही अमनुष्यों का भी प्रिय होता है विशाख स्थविर के समान। कहते हैं कि वे पाटलिपुत्र के एक गृहस्थ थे। उन्होंने वहीं रहते हुए सुना—"**ताम्रपर्णी द्वीप** चैत्यमाला (पंक्ति) से अलंकृत, काषाय वस्त्रों (की आभा) से प्रकाशमान है, यहाँ

सो अत्तनो भोगक्खन्धं पुत्तदारस्स निय्यादेत्वा दसन्ते[१] बद्धेन एककहापणेनेव घरा निक्खमित्वा समुद्दतीरे नावं उदिक्खमानो एकमासं वसि। सो वोहारकुसलताय इमस्मिं ठाने भण्डं किणित्वा असुकस्मिं विक्किणन्तो धम्मिकाय वणिजाय तेनेवन्तरमासेन सहस्सं अभिसंहरि। अनुपुब्बेन महाविहारं आगन्त्वा पब्बज्जं याचि।

सो पब्बाजनत्थाय सीमं नीतो तं सहस्सत्थविकं ओवट्टिकन्तरेन भूमियं पातेसि। 'किमेतं' ति च वुत्ते ''कहापणसहस्सं, भन्ते'' ति वत्वा ''उपासक, पब्बजितकालतो पट्ठाय न सक्का विचारेतुं, इदानेवेतं विचारेही'' ति वुत्ते ''विसाखस्स पब्बज्जट्ठानं आगता मा रित्तहत्था गमिंसू'' ति मुञ्चित्वा सीमामाळके विप्पकिरित्वा पब्बजित्वा उपसम्पन्नो।

सो पञ्चवस्सो हुत्वा द्वे मातिका पगुणा कत्वा पवारेत्वा अत्तनो सप्पायं कम्मट्ठानं गहेत्वा एकेकस्मिं विहारे चत्तारो मासे कत्वा समप्पवत्तवासं वसमानो चरि। एवं चरमानो—

वनन्तरे ठितो थेरो विसाखो गज्जमानको।
अत्तनो गुणमेसन्तो इममत्थं अभासथ॥
''यावता उपसम्पन्नो यावता इध आगतो।
एत्थन्तरे खलितं नत्थि अहो लाभा ते, मारिसा'' ति॥

सो चित्तलपब्बतविहारं गच्छन्तो द्वेधापथं पत्वा ''अयं नु खो मग्गो उदाहु अयं'' ति

जहाँ चाहे वहाँ बैठा-सोया जा सकता है। अनुकूल ऋतु, अनुकूल पुद्गल, अनुकूल धर्मश्रवण सब यहाँ सुलभ हैं।''

वे अपनी धन-सम्पत्ति पुत्र और स्त्री को सौंपकर, वस्त्र के कोने में बँधे हुए (मात्र) एक कार्षापण के साथ ही घर से निकल पड़े। समुद्र तट पर नाव की प्रतीक्षा में एक महीने निवास किया। व्यापार में कुशल होने से एक स्थान से सामान खरीदकर दूसरे स्थान पर बेचते हुए धर्मसम्मत वाणिज्य से उसी एक महीने के भीतर सहस्र (कार्षापण) सञ्चित कर लिये एवं क्रमशः महाविहार में आकार प्रव्रज्या की याचना की।

जब उन्हें प्रव्रज्याहेतु सीमा (चारदीवारी) के भीतर ले जाया जा रहा था, उस समय सहस्र मुद्राओं की वह थैली उनके कटिबन्ध से भूमि पर गिर पड़ी। ''यह क्या है?''—यों पूछे जाने पर कहा—''सहस्र कार्षापण, भन्ते!'' ''उपासक, प्रव्रज्या लेने के बाद तो (इनके बारे में) सोच लो (कि इनका क्या करना है)!''—यों कहे जाने पर—'विशाख की प्रव्रज्यास्थल पर आये हुए खाली हाथ न जाँय।''—यों सोचकर थैली खोलकर सीमा के मैदान में बिखेर कर और प्रव्रज्या ग्रहण कर उपसम्पन्न हुए।

जब प्रव्रज्या के बाद पाँच वर्ष बीत गये, तब उन्होंने दो मातृकाओं (भिक्षुप्रातिमोक्ष, भिक्षुणीप्रातिमोक्ष) का भलीभाँति अभ्यास कर, प्रवारणा समाप्त कर, अनुकूल कर्मस्थान का ग्रहण कर, एक एक विहार में चार चार महीने तक, वहाँ के निवासियों के प्रति समभाव रखते हुए, विचरण किया।

यों विचरण करते हुए—वन के बीच वर्तमान स्थविर विशाख ने गर्जना करते हुए अपने

---

१. दसा व अन्तो दसन्तो। वत्थस्स ओसानन्तो, तत्थ।

चिन्तयन्तो अट्ठासि। अथस्स पब्बते अधिवत्था देवता हत्थं पसारेत्वा "एस मग्गो" ति वत्वा दस्सेसि।

सो चित्तलपब्बतविहारं गन्त्वा तत्थ चत्तारो मासे वसित्वा "पच्चूसे गमिस्सामी" ति चिन्तेत्वा निपज्जि। चङ्कमसीसे मणिलरुक्खे अधिवत्था देवता सोपानफलके निसीदित्वा परोदि। थेरो "को एसो?" ति आह। "अहं, भन्ते, मणिलिया" ति। "किस्स रोदसी" ति? "तुम्हाकं गमनं पटिच्चा" ति। "मयि इध वसन्ते तुम्हाकं को गुणो" ति? "तुम्हेसु, भन्ते, इध वसन्तेसु अमनुस्सा अञ्ञमञ्ञं मेत्तं पटिलभन्ति, ते दानि तुम्हेसु गतेसु कलहं करिस्सन्ति, दुट्ठुल्लं पि कथयिस्सन्ती" ति। थेरो "सचे मयि इध वसन्ते तुम्हाकं फासुविहारो होति, सुन्दरं" ति वत्वा अञ्ञे पि चत्तारो मासे तत्थेव वसित्वा पुन तथेव गमनचित्तं उप्पादेसि। देवता पि पुन तथेव परोदि। एतेनेव उपायेन थेरो तत्थेव वसित्वा तत्थेव परिनिब्बायी ति। एवं मेत्ताविहारी भिक्खु अमनुस्सानं पियो होति। (५)

देवता रक्खन्ती ति। पुत्तमिव मातापितरो देवता रक्खन्ति। (६)

नास्स अग्गि वा विसं वा सत्थं वा कमती ति। मेत्ताविहारिस्स काये उत्तराय उपासिकाय

गुणों के बारे में प्रत्यवेक्षण करते हुए यह कहा—"जबसे उपसम्पन्न हुए हो और जबसे यहाँ आये हो, इस बीच तुमसे कोई प्रमाद (भूल-चुक) नहीं हुआ। हे मार्ष![1] तुम्हारे लाभ के क्या कहने!"॥

जब वे चित्तलपर्वत के विहार की ओर जा रहे थे, तब दोनों ओर जाने वाले रास्ते को पाकर "यह रास्ता या यह?"—यों सोचते हुए खड़े थे। तब उन्हें पर्वत पर रहने वाले देवता ने हाथ फैलाकर—"यह रास्ता है"—कहते हुए रास्ता दिखलाया।

वे चित्तल पर्वत विहार जाकर वहाँ चार महीने रहने के बाद "भोर में चला जाऊँगा"—यों सोचकर सो गये। चंक्रमण-कोण पर (स्थित) मणिल[2] वृक्ष पर रहने वाला देवता सीढ़ी के (प्रस्तर)—फलक पर बैठकर रोने लगा। स्थविर ने पूछा—"कौन है?" "भन्ते, मैं मणिलियाँ[3] हूँ।" "किसलिये रो रहे हो?" "आपके जाने के कारण।" "मेरे यहाँ रुकने से तुम्हारा क्या लाभ होगा?" "भन्ते! आपके यहाँ रहने से अमनुष्य परस्पर मैत्रीपूर्वक रहते हैं, वे अब आपके जाने के बाद परस्पर कलह करेंगे, दुर्वचन भी कहेंगे।" स्थविर ने यह कहकर कि "यदि मेरे यहाँ रहने से तुम सब सुख से रह सकते हो, तो ठीक है।" अगले चार महीने भी वहीं रहकर उन्होंने पुनः जाने के लिये मन बनाया। देवता फिर से वैसे ही रोया। इस प्रकार स्थविर वहीं रहते हुए परिनिर्वृत हुए। यों मैत्री-विहारी भिक्षु अमनुष्यों को भी प्रिय होता है। (५)

देवता रक्खन्ति—जैसे माता-पिता पुत्र की वैसे ही देवता (उसकी) रक्षा करते हैं। (६)

---

१. संस्कृत और पालि दोनों में ही इसे आयुष्मान् के समान आदर-स्नेहसूचक सम्बोधन माना जाता है। आचार्य बुद्धघोष के अनुसार इसका अर्थ है—दुःखरहित। द्र०—रीज़ डेविड्स की 'पालि इंगलिश डिक्शनरी' पृष्ठ-५३०।

२. एक प्रकार का वृक्ष। मणिल का शाब्दिक अर्थ है—वह जिसमें मांस के लोथड़े लटके हों, जैसे साँड़ के गले में लटका होता है। —अनु०

३. मणिल वृक्ष पर निवास करने के कारण उसने स्वयं को मणिलिया कहा।

विय अग्गि वा, संयुत्तभाणकचूळसिवत्थेरस्सेव विसं वा, सङ्किच्चसामणेरस्सेव सत्थं वा न कमति, न पविसति। नास्स कायं विकोपेती ति वुत्तं होति।

धेनुवत्थुं पि चेत्थ कथयन्ति। एका किर धेनु वच्छकस्स खीरधारं मुञ्चमाना अट्ठासि। एको लुद्दको 'तं विज्झिस्सामी' ति हत्थेन सम्परिवत्तेत्वा दीघदण्डसत्तिं मुञ्चि। सा तस्सा सरीरं आहच्च तालपण्णं विय पवट्टमाना गता, नेव उपचारबलेन, न अप्पनाबलेन, केवलं वच्छके बलवपियचित्तताय। एवंमहानुभावा मेत्ता ति। (७)

तुवटं चित्तं समाधियती ति। मेत्ताविहारिनो खिप्पमेव चित्तं समाधियति, नत्थि तस्स दन्धायितत्तं। (८)

मुखवण्णो विप्पसीदती ति। बन्धना पवुत्तं तालपक्कं विय चस्स विप्पसन्नवण्णं मुखं होति। (९)

असम्मूळ्हो कालं करोती ति। मेत्ताविहारिनो सम्मोहमरणं नाम नत्थि, असम्मूळ्हो व निद्दं ओक्कमन्तो विय कालं करोति। (१०)

उत्तरिं अप्पटिविज्झन्तो ति। मेत्तासमापत्तितो उत्तरिं अरहत्तं अधिगन्तुं असक्कोन्तो इतो चवित्वा सुत्तप्पबुद्धो विय ब्रह्मलोकं उपज्जती ति॥ (११)

अयं मेत्ताभावनाय वित्थारकथा॥

२. करुणाभावनाकथा

४१. करुणं[1] भावेतुकामेन पन निक्करुणताय आदीनवं करुणाय च आनिसंसं पच्च-

---

नास्स अग्गि वा विसं वा सत्थं वा कमति—मैत्री-विहारी भिक्षु के शरीर पर न तो उत्तरा उपासिका के समान अग्नि का, न संयुक्तभाणक चूळस्थविर के समान विष का, न सांकृत्य श्रामणेर के समान शस्त्र का प्रभाव पड़ता है।[2] अर्थात् उसके शरीर को हानि नहीं पहुँचाता। (७)

तुवटं चित्तं समाधियति—मैत्रीविहारी का चित्त शीघ्र ही (तुवटं=त्वरितम्) एकाग्र हो जाता है, उसके लिये आलस्य का कोई चिह्न नहीं है। (८)

मुखवण्णो विप्पसीदति—डण्डी से टूटे हुए पके ताड़ के फल के समान, उसके मुख का रंग खिला खिला सा रहता है। (९)

असम्मूळ्हो कालं करोति—मैत्रीविहारी के लिये सम्मोह (बेहोशी) के साथ मृत्यु (का अस्तित्व) नहीं है। असम्मोह के साथ ही, नींद लग जाने के समान, मृत्यु को प्राप्त होता है। (१०)

उत्तरिं अप्पटिविज्झन्तो—यदि वह मैत्रीसमापत्ति से उत्तर अवस्था (अर्हत्त्व) को न भी पा सका, तो भी यहाँ से च्युत होकर नींद से जगे हुए के समान ब्रह्मलोक में तो उत्पन्न होता ही है। (११)

यह मैत्रीभावना की विस्तृत व्याख्या पूर्ण हुई॥

२. करुणा भावना

४१. करुणा (करुणा ब्रह्मविहार) की भावना के अभिलाषी को करुणारहित होने के दोष

---

१. **करुणं** ति। करुणाब्रह्मविहारं।

२. द्र० धम्मपद अट्ठकथा १७.३, ८.९ एवं विशुद्धिमार्ग का बारहवाँ परिच्छेद।

वेक्खित्वा करुणाभावना आरभितब्बा। तं च पन आरभन्तेन पठमं पियपुग्गलादीसु न आरभितब्बा। पियो हि पियट्ठाने येव तिट्ठति। अतिप्पियसहायको अतिप्पियसहायकट्ठानेयेव, मज्झत्तो मज्झत्तट्ठाने येव, अप्पियो अप्पियट्ठाने येव, वेरी वेरिट्ठाने येव तिट्ठति। लिङ्गविसभाग-कालङ्कता अखेत्तमेव।

४२. कथं च भिक्खु करुणासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति? "**सेय्यथापि नाम एकं पुग्गलं दुग्गतं दुरुपेतं दिस्वा करुणायेय्य, एवमेव सब्बसत्ते करुणाय फरती**" (अभि० २/३२८) ति **विभङ्गे** वुत्तत्ता सब्बपठमं ताव किञ्चिदेव करुणायितब्बरूपं परमकिच्छप्पत्तं दुग्गतं दुरुपेतं कपणपुरिसं छन्नाहारं कपालं पुरतो ठपेत्वा अनाथसालाय निसिन्नं हत्थपादेहि पग्घरन्तकिमिगणं अट्टस्सरं करोन्तं दिस्वा—"किच्छं वतायं सत्तो आपन्नो, अप्पेव नाम इमम्हा दुक्खा मुच्चेय्या" ति करुणा पवत्तेतब्बा। तं अलभन्तेन सुखितो पि पापकारी पुग्गलो वज्झेन उपमेत्वा करुणायितब्बो।

४३. कथं? सेय्यथापि सह भण्डेन गहितं चोरं "वधेथ नं" ति रञ्ञो आणाय राजपुरिसा बन्धित्वा चतुक्के चतुक्के पहारसतानि देन्ता आघातनं नेन्ति। तस्स मनुस्सा खादनीयं पि भोजनीयं पि मालागन्धविलेपनतम्बूलानि पि देन्ति। किञ्चापि सो तानि खादन्तो चेव परिभुञ्जन्तो च सुखितो भोगसमप्पितो विय गच्छति, अथ खो तं नेव कोचि "सुखितो अयं महाभोगो" ति मञ्ञति। अञ्ञदत्थु "अयं वराको इदानि मरिस्सति, यं यदेव हि अयं पदं

एवं करुणा के गुण का प्रत्यवेक्षण करते हुए करुणा भावना का आरम्भ करना चाहिये। किन्तु उसे भी आरम्भ करते समय सर्वप्रथम प्रिय व्यक्तियों आदि के प्रति नहीं प्रारम्भ करना चाहिये; क्योंकि प्रिय तो प्रिय ही होता है, अतिप्रिय मित्र अतिप्रियमित्र ही, मध्यस्थ मध्यस्थ ही, अप्रिय अप्रिय ही और वैरी वैरी ही होता है। (तात्पर्य यह कि ब्रह्मविहार में परिवर्तन से उस प्रिय आदि के प्रियत्व आदि में तो परिवर्तन होता नहीं।) (साथ ही) लिङ्ग का विपरीत होना, मृत होना तो अक्षेत्र (आलम्बन बनाये जाने के अयोग्य) ही है।

४२. "कैसे भिक्षु करुणायुक्त चित्त से एक दिशा को परिव्याप्त कर साधना करता है? जैसे किसी एक दुर्गतिग्रस्त, दुरवस्था प्राप्त व्यक्ति को देखकर करुणा करे, वैसे ही सब सत्त्वों को करुणा का आलम्बन बनाता है" (अभि० २/३२८)—यों **विभङ्ग** में उक्त होने से सर्वप्रथम दयनीय व्यक्ति को जो अभागा, दुर्गतिग्रस्त, दीनहीन हो, जिसके हाथ पाँव कटे हों, जो अनाथालय में अपने सामने (भीख माँगने का) कटोरा लेकर बैठा हो, जिसके हाथ पैरों में से कीड़े निकल रहे हों, जो (पीड़ा के कारण) कराह रहा हो; देखकर—"यह व्यक्ति अभागा है, कितना अच्छा हो यदि यह इस दुःख से छूट जाय"—यों करुणा उत्पन्न करनी चाहिये। उस (वैसे आलम्बन) को न पाने पर किसी सुखी किन्तु पापी व्यक्ति की वध्य से तुलना करते हुए करुणा करनी चाहिये।

४३. कैसे? जैसे कि रँगे हाथ पकड़े गये चोर को "इसका वध कर दो"—ऐसी राजाज्ञा के अनुसार राजकर्मचारी बाँधकर हर चौराहे पर सौ सौ कोड़े लगाते हुए वधस्थल पर ले जाते हैं। उस मनुष्य को खाद्य-भोज्य भी, माला-गन्ध-विलेपन और ताम्बूल (पान) भी देते हैं। यद्यपि वह उन्हें खाते हुए, परिभोग करते हुए सुखी, भोगसम्पन्न के समान जाता है, फिर भी 'यह सुखी

निक्खिपति, तेन तेन सन्तिके मरणस्स होती'' ति तं जनो करुणायति। एवमेव करुणाकम्मट्ठानिकेन भिक्खुना सुखितो पि पुग्गलो एवं करुणायितब्बो—''अयं वराको किञ्चापि इदानि सुखितो सुसज्जितो भोगे परिभुञ्जति, अथ खो तीसु द्वारेसु एकेना पि कतस्स कल्याणकम्मस्स अभावा इदानि अपायेसु अनप्पकं दुक्खं दोमनस्सं पटिसंवेदिस्सती'' ति।

५४. एवं तं पुग्गलं करुणायित्वा ततो परं एतेनेव उपायेन[1] पियपुग्गले, ततो मज्झत्ते, ततो वेरिम्ही—ति अनुक्कमेन करुणा पवत्तेतब्बा।

सचे पनस्स पुब्बे वुत्तनयेनेव वेरिम्हि पटिघं उप्पज्जति, तं मेत्ताय वुत्तनयेनेव वूपसमेतब्बं। यो पि चेत्थ कतकुसलो होति, तं पि ञातिरोगभोगब्यसनादीनं अञ्ञतरेन ब्यसनेन समन्नागतं दिस्वा वा सुत्वा वा तेसं अभावे पि वट्टदुक्खं अनतिक्कन्तत्ता ''दुक्खितो व अयं'' ति एवं सब्बथा पि करुणायित्वा वुत्तनयेनेव—अत्तनि, पियपुग्गले, मज्झत्ते, वेरिम्ही ति चतुसु जनेसु सीमासम्भेदं कत्वा तं निमित्तं आसेवन्तेन भावेन्तेन बहुलीकरोन्तेन मेत्तायं वुत्तनयेनेव[2] तिकचतुक्कज्झानवसेन अप्पना वड्ढेतब्बा।

अङ्गुत्तरट्ठकथायं पन ''पठमं वेरिपुग्गलो करुणायितब्बो, तस्मिं चित्तं मुदुं कत्वा

है, महाभोगवान् है'—ऐसा तो कोई नहीं मानता। इसके विपरीत, ''यह अभागा अब मर जायेगा, यह ज्यों ज्यों एक एक पद रखता है, मृत्यु के समीप होता जाता है''—ऐसा सोचकर करुणा करता है। इस प्रकार करुणा को कर्मस्थान बनाने वाले भिक्षु को सुखी (किन्तु पुण्यसञ्चय न करने वाले) व्यक्ति के प्रति यों करुणा उत्पन्न करनी चाहिये—''यद्यपि यह अभागा, अभी सुखी है...भोगों का परिभोग कर रहा है, किन्तु तीनों द्वारों में से एक से भी पुण्यकर्म न करने से कुछ ही देर बाद (मृत्यु के बाद) अपायों (नरक आदि योनियों) में अकथनीय दुःख एवं दौर्मनस्य का अनुभव करेगा।''

४४. यों उस व्यक्ति पर करुणा करने के बाद, इसी प्रकार से प्रिय व्यक्ति पर, फिर मध्यस्थ पर, फिर वैरी पर—यों करुणा करनी चाहिये।

यदि इसे पूर्वकथित प्रकार से ही (पीछे पृष्ठ-१५१) वैरी के प्रति द्वेष उत्पन्न होता हो, तो उसे मैत्री (-भावना) के प्रसङ्ग में कथित प्रकार से ही शान्त करना चाहिये। एवं जो यहाँ कुशल (कर्म) करने वाला होता है, उसके प्रति भी यह देखकर या सुनकर कि यह ज्ञाति, रोग, भोग, व्यसन आदि में से किसी न किसी व्यसन से युक्त है, अथवा इनके अभाव में भी (संसार-) चक्ररूपी दुःख का अतिक्रमण तो नहीं ही किया है, ''यह दुःखी ही है''—यों सर्वथा करुणा करे। कहे गये प्रकार से ही—स्वयं, प्रिय व्यक्ति, मध्यस्थ, वैरी—यों चारों जनों के प्रति सीमा का अतिक्रमण करते हुए उस निमित्त का अभ्यास, भावना, बार बार अभ्यास करने वाले को मैत्रीप्रकरण में पूर्वोक्त प्रकार से ही त्रिक या चतुष्क ध्यान के अनुसार अर्पणा का वर्धन करना चाहिये।

किन्तु **अङ्गुत्तरट्ठकथा** में यह क्रम बतलाया गया है—''पहले वैरी व्यक्ति पर करुणा करनी

---

१. **एतेनेव उपायेना** ति। येन विधिना एतरहि यथावुत्ते परमकिच्छापन्ने आयतिं वा दुक्खभागिम्हि पुग्गले करुणायितुं करुणा उप्पादिता, एतेनेव नयेन।

२. मेत्ताभावनाकथायं १५१ पिट्ठे वुत्तेन नयेन।

दुग्गतो, ततो पियपुग्गलो, ततो अत्ता" ति अयं कमो वुत्तो। सो "दुग्गतं दुरुपेतं" ति पाळिया न समेति। तस्मा वुत्तनयेनेवेत्थ भावनं आरभित्वा सीमासम्भेदं कत्वा अप्पना वड्ढेतब्बा। ततो परं, पञ्चहाकारेहि अनोधिसो फरणा, सत्तहाकारेहि ओधिसो फरणा, दसहाकारेहि दिसाफरणा ति अयं विकुब्बना, "सुखं सुपती" ति आदयो आनिसंसा च मेत्तायं वुत्तनयेनेव वेदितब्बा ति।

अयं करुणाभावनाय वित्थारकथा॥

३. मुदिताभावनाकथा

४५. मुदिताभावनं आरभन्तेनापि न पठमं पियपुग्गलादीसु आरभितब्बा। न हि पियो पियभावमत्तेनेव मुदिताय पदट्ठानं होति, पगेव मज्झत्तवेरिनो। लिङ्गविसभाग-कालङ्कता अखेत्तमेव।

४६. अतिप्पियसहायको पन सिया पदट्ठानं यो **अट्ठकथायं** सोण्डसहायो[१] ति वुत्तो। सो हि मुदितमुदितो व होति, पठमं हसित्वा पच्छा कथेति, तस्मा सो वा पठमं मुदिताय फरितब्बो, पियपुग्गलं वा सुखितं सज्जितं मोदमानं दिस्वा वा सुत्वा वा "मोदति वतायं सत्तो, अहो साधु, अहो सुट्ठू" ति मुदिता उप्पादेतब्बा। इममेव हि अत्थवसं पटिच्च **विभङ्गे** वुत्तं—

चाहिये। उसके प्रति चित्त को मृदु बनाकर फिर दुर्गतिग्रस्त, फिर प्रिय व्यक्ति, फिर स्वयं के प्रति।" यह (कथन) "**दुग्गतं दुरुपेतं**" इस (उक्त १७६ पृ०) पालि (-पाठ) से सङ्गत नहीं है।

इसलिये उक्त प्रकार से ही यहाँ भावना का आरम्भ कर, सीमा का अतिक्रमण करते हुए अर्पणा को बढ़ाना चाहिये। तत्पश्चात् पाँच प्रकार से विभागरहित व्यापकता, सात प्रकार से विभागसहित व्यापकता, दस प्रकार से दिशा-व्यापकता रूपी बहुआयामी परिवर्तनशीलता, एवं "**सुखं सुपति**" आदि गुणों को मैत्रीप्रकरण में बतलाये गये प्रकार से ही समझना चाहिये॥

यह करुणाभावना की विस्तृत व्याख्या है॥

३. मुदिता भावना

४५. मुदिता भावना का आरम्भ करने वाले को भी पहले प्रिय व्यक्ति आदि के प्रति आरम्भ नहीं करना चाहिये; क्योंकि प्रिय 'प्रिय' होने मात्र से ही तो मुदिता का आसन्न कारण (पदस्थान) नहीं बन जाता। फिर मध्यस्थ एवं वैरी की तो बात ही क्या है! लिङ्गविपरीतता एवं मृत होना तो यहाँ भी अग्राह्य (अक्षेत्र) है ही।

४६. किन्तु ऐसा प्रिय मित्र पदस्थान हो सकता है, जिसे **अट्ठकथा** में शौण्डसहायक[२] कहा गया है। क्योंकि वह सदा मुदित ही रहता है। हँसता पहले है, बोलता बाद में है। इसलिये या तो पहले उसे मुदिता का आलम्बन बनाना चाहिये, या किसी प्रिय व्यक्ति को सुखी अलंकृत (सजा-धजा), आनन्द मानते हुए देख या सुनकर "यह व्यक्ति कितना मुदित है! बहुत अच्छा, बहुत सुन्दर!"—यों मुदिता उत्पन्न करनी चाहिये। इसी अभिप्राय से **विभङ्ग** में कहा गया है—

---

१. **सोण्डसहायो** ति। अतिप्पियसहायो, न तु सुरापानसहायो।

२. 'शौण्डसहायक' का शाब्दिक अर्थ है—मदिरापान में सहभागी मित्र। किन्तु यह अर्थ प्रस्तुत प्रसङ्ग में असङ्गत होने से यहाँ इसका अर्थ करना चाहिये—अतिप्रिय मित्र।

"कथं च भिक्खु मुदितासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति? सेय्यथापि नाम एकं पुग्गलं पियं मनापं दिस्वा मुदितो अस्स, एवमेव सब्बे सत्ते मुदिताय फरती" (अभि० २/३३०) ति।

४७. सचे पिस्स सो सोण्डसहायो वा पियपुग्गलो वा अतीते सुखितो अहोसि, सम्पति पन दुग्गतो दुरुपेतो, अतीतमेव चस्स सुखितभावं अनुस्सरित्वा "एस अतीते एवं महाभोगो महापरिवारो निच्चप्पमुदितो अहोसी" ति तमेवस्स मुदिताकारं गहेत्वा मुदिता उप्पादेतब्बा। "अनागते वा पन पुन तं सम्पत्तिं लभित्वा हत्थिक्खन्ध-अस्सपिट्ठि-सुवण्णसिविकादीहि विचरिस्सती" ति अनागतं पिस्स मुदिताकारं गहेत्वा मुदिता उप्पादेतब्बा।

४८. एवं पियपुग्गले मुदितं उप्पादेत्वा, अथ मज्झत्ते, ततो वेरिम्ही ति अनुक्कमेन मुदिता पवत्तेतब्बा। सचे पनस्स पुब्बे वुत्तनयेनेव वेरिम्हि पटिघं उप्पज्जति, तं मेत्तायं वुत्तनयेनेव वूपसमेत्वा इमेसु च तीसु अत्तनि चा ति चतूसु समचित्तताय सीमासम्भेदं कत्वा तं निमित्तं आसेवन्तेन भावेन्तेन बहुलीकरोन्तेन मेत्तायं वुत्तनयेनेव तिकचतुक्कज्झानवसेन अप्पना वड्ढेतब्बा। ततो परं "पञ्चहाकारेहि अनोधिसो फरणा, सत्तहाकारेहि ओधिसो फरणा, दसहाकारेहि दिसाफरणा" ति अयं विकुब्बना, "सुखं सुपती" ति आदयो आनिसंसा च मेत्तायं वुत्तनयेनेव वेदितब्बा ति।

अयं मुदिताभावनाय वित्थारकथा॥

"और भिक्षु किस प्रकार मुदितायुक्त चित्त से एक दिशा को व्याप्त कर साधना करता है? जैसे किसी प्रिय, अभिष्ट व्यक्ति को देखकर प्रसन्न हो, ऐसे ही सब सत्त्वों को मैत्री का आलम्बन बनाता है।" (अभि० २/३३०)।

४७. यदि उसका घनिष्ठ मित्र या प्रिय व्यक्ति बीते समय में सुखी रहा हो किन्तु इस समय दुर्गतिग्रस्त, भाग्यहीन हो, तो भी उसके अतीत सुखी भाव का स्मरण करते हुए "यह भूतकाल में ऐसा महाभोगवान्, महापरिवारवाला, नित्यप्रमुदित रहा करता था"—यों उसके उस मुदितरूप को ही ग्रहण कर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिये। अथवा "भविष्य में पुनः उस सम्पत्ति को पाकर हाथी के कन्धे, घोड़े की पीठ, सोने की पालकी आदि पर बैठेगा"—यों इसके भावी मुदित रूप को भी ग्रहण कर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिये।

४८. यों प्रिय व्यक्ति के प्रति मुदिता उत्पन्न करने के बाद मध्यस्थ के प्रति, फिर वैरी के प्रति—यों क्रम से मुदिता भावना उत्पन्न करनी चाहिये। यदि इसे पूर्वोक्त प्रकार से ही वैरी के प्रति प्रतिघ उत्पन्न होता है, तो मैत्री भावना में बतलाये गये ढंग से ही उसे शान्त कर, इन तीनों और स्वयं को लेकर चारों के प्रति समान भाव रखते हुए सीमा का अतिक्रमण करे एवं उस निमित्त का अभ्यास, भावना, (बार-बार अभ्यास) करते हुए मैत्री में बतलाये गये प्रकार से ही त्रिक एवं चतुष्क ध्यान के अनुसार अर्पणा की वृद्धि करनी चाहिये। इसके बाद "पाँच प्रकार से विभागसहित व्यापकता, दस प्रकार से दिशा-व्यापकता" इस रूप में बहुआयामी परिवर्तनशीलता एवं "सुखं सुपति" आदि गुणों को मैत्री में कहे गये प्रकार से ही जानना चाहिये।

यह मुदिता भावना की विस्तृत व्याख्या है॥

४. उपेक्खाभावनाकथा

४९. उपेक्खाभावनं भावेतुकामेन पन मेत्तादीसु पटिलद्धतिकचतुक्कज्झानेन पगुणततियज्झाना वुट्ठाय "सुखिता होन्तू" ति आदिवसेन सत्तकेलायनमनसिकारयुत्तत्ता, पटिघानुनयसमीपचारित्ता, सोमनस्सयोगेन ओळारिकत्ता च पुरिमासु आदीनवं, सन्तसभावत्ता उपेक्खाय आनिसंसं च दिस्वा य्वास्स पकतिमज्झत्तो पुग्गलो, तं अज्झुपेक्खित्वा उपेक्खा उप्पादेतब्बा। ततो पियपुग्गलादीसु। वुत्तं हेतं—"कथं च भिक्खु उपेक्खासहगतेन चेतसा एकं दिसं फरित्वा विहरति? सेय्यथापि नाम एकं पुग्गलं नेव मनापं न अमनापं दिस्वा उपेक्खको अस्स, एवमेव सब्बे सत्ते उपेक्खाय फरती" (अभि० २/२३१) ति।

५०. तस्मा वुत्तनयेनेव मज्झत्तपुग्गले उपेक्खं उप्पादेत्वा अथ पियपुग्गले, ततो सोण्डसहायके, ततो वेरिम्ही ति एवं इमेसु च तीसु अत्तनि चा ति सब्बत्थ मज्झत्तवसेन सीमासम्भेदं कत्वा तं निमित्तं आसेवितब्बं भावेतब्बं बहुलीकातब्बं। तस्सेवं करोतो पथवीकसिणे वुत्तनयेनेव[१] चतुत्थज्झानं उप्पज्जति।

५१. किं पनेतं पथवीकसिणादीसु उप्पन्नततियज्झानस्सा पि उप्पज्जती ति? नुपज्जति। कस्मा? आरम्मणविसभागताय। मेत्तादिसु उप्पन्नततियज्झानस्सेव पन उप्पज्जति, आरम्मण-

---

४. उपेक्षा भावना

४९. उपेक्षाभावना के अभिलाषी को, जो मैत्री आदि में त्रिक या चतुष्क ध्यान प्राप्त कर चुका हो, (चतुष्क नय के अनुसार) तृतीय ध्यान का भली भाँति अभ्यास करने के बाद, उससे उठकर "सुखी हों" आदि के रूप में सत्त्वों के भोगविलास के प्रति मनस्कारयुक्त होने से, प्रतिघ एवं अनुनय (स्वीकृति) के समीपवर्ती होने से, तथा सौमनस्य के योग के कारण स्थूल होने से, पूर्व की (मैत्री आदि की) भावना में दोष देखते हुए जो व्यक्ति इस (योगी) के लिये प्रकृति (से ही) मध्यस्थ हो; उसके प्रति उपेक्षा करते हुए उपेक्षा उत्पन्न करनी चाहिये। तत्पश्चात् प्रिय व्यक्ति आदि के प्रति। क्योंकि यह कहा गया है—"कैसे भिक्षु उपेक्षायुक्त चित्त से एक दिशा को आलम्बन बनाकर विहार करता है? जैसे कि किसी ऐसे व्यक्ति को, जो न तो प्रिय हो, न अप्रिय, देखकर उपेक्षा होती है, वैसे ही सभी सत्त्वों के प्रति उपेक्षा के साथ साधना करता है।" (अभि० २/२३१)।

५०. इसलिये यथोक्त प्रकार से ही, मध्यस्थ व्यक्ति के प्रति उपेक्षा उत्पन्न करने के बाद प्रिय व्यक्ति के प्रति, तब घनिष्ठ मित्र के प्रति, फिर वैरी के प्रति—यों इन तीनों तथा स्वयं के प्रति भी। सर्वत्र (चारों के विषय में) मध्यस्थ से सीमा-अतिक्रमण (आरम्भ) करते हुए, (क्रमशः आगे बढ़ते हुए) उस निमित्त का अभ्यास, भावना (बार-बार अभ्यास) करना चाहिये। ऐसा करने वाले को पृथ्वीकसिण में प्रोक्तानुसार ही चतुर्थ ध्यान उत्पन्न होता है।

५१. किन्तु क्या चतुर्थ ध्यान उस को उत्पन्न होता है जिसने पृथ्वीकसिण आदि को आलम्बन बनाकर तृतीय ध्यान प्राप्त किया है? (उस को) नहीं उत्पन्न होता। क्यों? आलम्बन असमान होने

---

१. "अयं समापत्ति आसन्नपीतिपच्चत्थिका" ति आदिना पथवीकसिणे वुत्तनयेन।

सभागताया ति। ततो परा पन विकुब्बना च आनिसंसपटिलाभो च मेत्तायं वुत्तनयेनेव वेदितब्बो ति। अयं उपेक्खाभावनाय वित्थारकथा॥

पकिण्णककथा

ब्रह्मुत्तमेन कथिते इमे ब्रह्मविहारे इति विदित्वा।
भिय्यो एतेसु अयं पकिण्णककथा पि विञ्ञेय्या॥

५२. एतासु हि मेत्ता-करुणा-मुदिता-उपेक्खासु **अत्थतो** ताव—१. मेज्जती[1] ति **मेत्ता**। सिनिय्हती ति अत्थो। मित्ते भवा, मित्तस्स वा एसा पवत्ती ति मेत्ता। २. परदुक्खे सति साधूनं हदयकम्पनं करोती ति **करुणा**। किणाति वा परदुक्खं, हिंसति विनासेती ति **करुणा**। किरियति वा दुक्खितेसु, फरणवसेन पसारियती ति **करुणा**। ३. मोदन्ति ताय तंसमङ्गिनो, सयं वा मोदति, मोदनमत्तमेव वा तं ति **मुदिता**। ४. 'अवेरा होन्तू' ति आदिब्यापारप्पहानेन मज्झत्तभावूपगमेन च उपेक्खती ति **उपेक्खा**।

५३. **लक्खणादितो** पनेत्थ हिताकारप्पवत्तिलक्खणा मेत्ता, हितूपसंहाररसा, आघात-विनयपच्चुपट्ठाना, सत्तानं मनापभावदस्सनपदट्ठाना। ब्यापादूपसमो एतिस्सा सम्पत्ति, सिनेह-सम्भवो विपत्ति। (क)

से। (अर्थात् पृथ्वीकसिण आदि की मैत्री आदि से समानता नहीं है।) जिसे मैत्री आदि में तृतीय ध्यान उत्पन्न हो चुका है, उसी को उत्पन्न होता है, आलम्बन समान होने से। इसके बाद बहुआयामी परिवर्तनशीलता एवं गुण-लाभ को मैत्री में कथित प्रकार से समझना चाहिये।

यह उपेक्षा भावना की विस्तृत व्याख्या है॥

प्रकीर्णक

उत्तम ब्रह्मा (तथागत) द्वारा कथित इन ब्रह्मविहारों को इसी रूप में जानकर इनमें यह अतिरिक्त प्रकीर्णक (संयुक्त) वर्णन भी जानना चाहिये।

५२. इन मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा में **अर्थ** के अनुसार—

१. **मेद** (स्नेह) से युक्त होती है, अतः **मेत्ता** (मैत्री) है। अर्थात् स्नेह करती है। अथवा, मित्र में उत्पन्न होती है, मित्र के प्रति प्रवृत्त होती है, अतः **मैत्री** है। २. दूसरों को दुःख होने पर साधुओं के हृदय को कँपाती है, अतः **करुणा** है अथवा, परदुःख को हानि पहुँचाती है, (उसकी) हिंसा करती है, विनाश करती है, अतः करुणा है। अथवा, दुःखितों पर बिखेर दी जाती है, विस्तृत रूप में फैला दी जाती है, अतः करुणा है। ३. उससे युक्त उसके द्वारा प्रमुदित होते हैं, या वह स्वयं मुदित होती है, या यह मुदित होना मात्र ही है; अतः **मुदिता** है। ४. "वैररहित हों" आदि व्यापार (चिन्तन, मनस्कार) छोड़ देने से एवं मध्यस्थ भाव रखने से उपेक्षा करती है, अतः **उपेक्खा** (**उपेक्षा**) है।

५३. **लक्षण** आदि से—हित के रूप में प्रवर्तित होना मैत्री का लक्षण है। हित को ले

---

१. **मेज्जती** ति। धम्मतो अञ्ञस्स कत्तुनिवत्तनत्थं धम्ममेव कत्तारं कत्वा निद्दिसति।

दुक्खापनयनाकारप्पवत्तिलक्खणा करुणा, परदुक्खासहनरसा, अविहिंसापच्चुपट्ठाना, दुक्खाभिभूतानं अनाथभावदस्सनपदट्ठाना। विहिंसूपसमो तस्सा सम्पत्ति, सोकसम्भवो विपत्ति। (ख)

पमोदलक्खणा मुदिता, अनिस्सायनरसा[१] अरतिविघातपच्चुपट्ठाना, सत्तानं सम्पत्ति-दस्सनपदट्ठाना। अरतिवूपसमो तस्सा सम्पत्ति, पहाससम्भवो विपत्ति। (ग)

सत्तेसु मज्झत्ताकारप्पवत्तिलक्खणा उपेक्खा, सत्तेसु समभावदस्सनरसा, पटिघानुनय-वूपसमपच्चुपट्ठाना, 'कम्मस्सका सत्ता, ते कस्स रुचिया सुखिता वा भविसन्ति, दुक्खतो वा मुच्चिस्सन्ति, पत्तसम्पत्तितो वा न परिहायिस्सन्ती' ति एवं पवत्तकम्मस्सकतादस्सनपदट्ठाना। पटिघानुनयवूपसमो तस्सा सम्पत्ति, गेहसिताय अञ्ञाणुपेक्खाय सम्भवो विपत्ति। (घ)

५४. चतुन्नं पि पनेतेसं ब्रह्मविहारानं विपस्सनासुखं चेव भवसम्पत्ति च **साधारणप्पयोजनं**, ब्यापादादिपटिघातो **आवेणिकं**। ब्यापादपटिघातप्पयोजना हेत्थ मेत्ता, विहिंसाअरतिरागपटिघातप्पयोजना इतरा। वुत्तं पि चेतं—"**निस्सरणं हेतं, आवुसो, ब्यापादस्स, यदिदं मेत्ता चेतोविमुत्ति...पे०...निस्सरणं हेतं, आवुसो, विहेसाय, यदिदं करुणा चेतोविमुत्ति...**

आना इसका रस (कृत्य) है। दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा का दमन इसका प्रत्युपस्थान (जानने का आकार, अभिव्यक्ति) है। सत्त्वों को प्रिय समझना इसका पदस्थान (आसन्न कारण) है। व्यापाद का शमन होना इसकी सम्पत्ति (सफलता) है। (पृथग्जनोचित, स्वार्थपूर्ण) स्नेह का उत्पन्न होना विपत्ति (असफलता) है। (क)

दु:ख को दूर करने के रूप में प्रवृत्त होना करुणा का लक्षण है। परदु:ख को सहन न करना रस है। अविहिंसा प्रत्युपस्थान है। दु:खाभिभूतों का अनाथत्व (विवशता) देखना पदस्थान है। विहिंसा का शमन उसकी सम्पत्ति एवं (पृथग्जनोचित) शोक का उत्पन्न होना विपत्ति है। (ख)

मुदिता का लक्षण प्रमोद है। ईर्ष्यालु का प्रतिपक्ष होना रस है। (तात्पर्य यह है कि जो ईर्ष्यालु है उसमें मुदिता नहीं रह सकती।) अरति (ऊब, अरुचि) का उन्मूलन प्रत्युपस्थान है। सत्त्वों की सम्पत्ति का दर्शन पदस्थान है। अरति का शमन उसकी सम्पत्ति, एवं प्रहास (हँसी-ठट्ठे) की उत्पत्ति विपत्ति है। (ग)

सत्त्वों के प्रति मध्यस्थता के रूप में प्रवृत्त होना उपेक्षा का लक्षण है। सत्त्वों में समत्वदर्शन रस है। प्रतिघ एवं अनुनय का शमन प्रत्युपस्थान है। "सत्त्वों ने कर्म स्वयं ही किये हैं। फिर वे भला किस (दूसरे व्यक्ति) की रुचि के अनुसार सुखी हो सकेंगे या दु:ख से छूट सकेंगे, या प्राप्त सम्पत्ति से वञ्चित न होंगे?"—कर्मों के इस स्वकृतित्व का दर्शन पदस्थान है। प्रतिघ एवं अनुनय का शमन उसकी सम्पत्ति, तथा कामगुणनिश्रित (गेहसित) अज्ञान (जन्य) उपेक्षा की उत्पत्ति विपत्ति है। (घ)

५४. इन चारों ब्रह्मविहारों का साधारण (समान) प्रयोजन विपश्यनारूप सुख एवं (अनागत) भव-सम्पत्ति है। व्यापाद आदि का नाश उनका अपना अपना प्रयोजन है। क्योंकि मैत्री का प्रयोजन व्यापाद का नाश है, जबकि अन्यों (करुणा, मुदिता, उपेक्षा) का प्रयोजन (क्रमश:) विहिंसा, अरति

---

१. **अनिस्सायनरसा** ति। **इस्सायनस्स** उसूयनस्स पटिपक्खभावकिच्चा।

पे०...निस्सरणं हेतं, आवुसो, अरतिया, यदिदं मुदिता चेतोविमुत्ति...निस्सरणं हेतं, आवुसो, रागस्स, यदिदं उपेक्खा चेतोविमुत्ती" (दी० नि० ३/७९६-७९७) ति।

५५. एकमेकस्स चेत्थ आसन्न-दूरवसेन द्वे द्वे पच्चत्थिका।

मेत्ताब्रह्मविहारस्स हि—समीपचारो विय पुरिसस्स सपत्तो, गुणदस्सनसभागताय रागो आसन्नपच्चत्थिको। सो लहुं ओतारं लभति। तस्मा ततो सुट्ठु मेत्ता रक्खितब्बा। पब्बतादि-गहननिस्सितो विय पुरिसस्स सपत्तो, सभागविसभागताय व्यापादो दूरपच्चत्थिको। तस्मा ततो निब्भयेन मेत्तायितब्बं। मेत्तायिस्सति, कोपं च करिस्सती ति अट्ठानमेतं।

करुणाब्रह्मविहारस्स—"चक्खुविञ्ञेय्यानं रूपानं इट्ठानं कन्तानं मनापानं मनोरमानं लोकामिसपटिसंयुत्तानं अप्पटिलाभं वा अप्पटिलाभतो समनुपस्सतो पुब्बे वा पटिलद्धपुब्बं अतीतं निरुद्धं विपरिणतं समनुस्सरतो उप्पज्जति दोमनस्सं, यं एवरूपं दोमनस्सं, इदं वुच्चति गेहसितं दोमनस्सं" (म० नि० ३/१३२४) ति आदिना नयेन आगतं गेहसितं[१] दोमनस्सं विपत्ति-दस्सनसभागताय आसन्नपच्चत्थिकं। सभागविसभागताय विहिंसा दूरपच्चत्थिका। तस्मा ततो निब्भयेन करुणायितब्बं। करुणं च नाम करिस्सति, पाणि-आदीहि च विहेठयिस्सती ति अट्ठानमेतं।

मुदिताब्रह्मविहारस्स—"चक्खुविञ्ञेय्यानं रूपानं इट्ठानं...पे०...लोकामिसपटि-

---

एवं राग का नाश है। एवं यह कहा भी गया है—"आयुष्मन्! क्योंकि यह व्यापाद से निःसरण (बाहर निकलता) है—यह जो मैत्री चित्तविमुक्ति है ...पूर्ववत्... आयुष्मन्, क्योंकि यह विहिंसा से निःसरण है—यह जो करुणा-चित्तविमुक्ति है ...पूर्ववत्... आयुष्मन्! क्योंकि यह अरति से निःसरण है—यह जो मुदिता-चित्तविमुक्ति है...पूर्ववत्...आयुष्मन्! क्योंकि यह राग से निःसरण है—यह जो उपेक्षा-चित्तविमुक्ति है।" (दी० नि० ३/७९६-७९७)।

५५. प्रत्येक ब्रह्मविहार के निकटवर्ती और दूरवर्ती दो शत्रु हैं। किसी पुरुष के पास ही विचरण करने वाले उसके शत्रु के समान, **मैत्रीब्रह्मविहार** का निकटवर्ती शत्रु राग है, क्योंकि दोनों (मैत्री एवं राग) समान रूप से (दूसरों के) गुण को देखते हैं। वह (राग, मैत्रीयुक्त चित्त में प्रवेश का) अवसर शीघ्र ही पा जाता है। इसलिये उससे मैत्री की रक्षा भलीभाँति करनी चाहिये। पर्वत आदि गहन स्थान में रहने वाले शत्रु के समान, व्यापाद मैत्री का दूरस्थ शत्रु है; क्योंकि वह समान (राग) का असमान प्रतिपक्ष होता है। इसलिये उससे निर्भय होकर मैत्री करनी चाहिये। कोई मैत्री करे और साथ ही साथ कोप भी—यह सम्भव नहीं है।

करुणाब्रह्मविहार का—"चक्षु द्वारा विज्ञेय इष्ट, कान्त, मनाप, मनोरम, लोकामिष (लौकिक सुखोपभोग) से युक्त रूपों के न मिलने पर 'नहीं मिला' यों सोचने से या जो पूर्वमें उपलब्ध थे किन्तु अब विगत, नष्ट और परिवर्तित हो चुके हैं उनका अनुस्मरण करने से दौर्मनस्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार का दौर्मनस्य ही कामगुणनिश्रित दौर्मनस्य कहा जाता है।" (म० नि० ३/१३२४)—आदि प्रकार से बतलाया गया कामगुणनिश्रित दौर्मनस्य समीपवर्ती शत्रु है; क्योंकि वह विपत्तिदर्शन करने में (करुणा के) समान है। समान का असमान होने से विहिंसा दूरवर्ती

---

१. गेहसितं ति। कामगुणनिस्सितं।

संयुत्तानं पटिलाभं वा पटिलाभतो समनुपस्सतो पुब्बे वा पटिलद्धपुब्बं अतीतं निरुद्धं विपरिणतं समनुस्सरतो उप्पज्जति सोमनस्सं; यं एवरूपं सोमनस्सं, इदं वुच्चति गेहसितं सोमनस्सं" (म० नि० ३/१३२४) ति आदिना नयेन आगतं गेहसितं सोमनस्सं सम्पत्तिदस्सन-सभागताय आसन्नपच्चत्थिकं। सभागविसभागताय अरति दूरपच्चित्थिका। तस्मा ततो निब्भयेन मुदिता भावेतब्बा। पमुदितो च नाम भविस्सति, पन्तसेनासनेसु च अधिकुसलधम्मेसु[1] वा उक्कण्ठिस्सती ति अट्ठानमेतं।

उपेक्खाब्रह्मविहारस्स पन—"**चक्खुना रूपं दिस्वा उप्पज्जति उपेक्खा बालस्स मूळ्हस्स पुथुज्जनस्स अनोधिजिनस्स अविपाकजिनस्स अनादीनवदस्साविनो अस्सुतवतो पुथुज्जनस्स, या एवरूपा उपेक्खा, रूपं सा नातिवत्तति, तस्मा सा उपेक्खा गेहसिता ति वुच्चती**" (म० नि० ३/१३२५) ति आदिना नयेन आगता गेहसिता अञ्ञाणुपेक्खा दोसगुण-अविचारणवसेन सभागत्ता आसन्नपच्चत्थिका। सभागविसभागताय रागपटिघा दूरपच्चत्थिका। तस्मा ततो निब्भयेन उपेक्खितब्बं। उपेक्खिस्सति च नाम रज्जिस्सति च पटिहञ्ञिस्सति चा ति अट्ठानमेतं।

५६. सब्बेसं पि च एतेसं कत्तुकामता च्छन्दो आदि, नीवरणादिविक्खम्भनं मज्झं, अप्पना परियोसानं, पञ्ञत्तिधम्मवसेन एको व सत्तो अनेके वा सत्ता आरम्मणं, उपचारे वा अप्पनाय वा पत्ताय आरम्मणवड्ढनं।

शत्रु हैं। इस कारण उससे निर्भय रहकर करुणा करनी चाहिये। कोई करुणा करे और साथ ही प्राणी आदि के प्रति क्रूर भी हो, यह सम्भव नहीं है।

मुदिताब्रह्मविहार का—"चक्षु द्वारा विज्ञेय इष्ट...पूर्ववत्...लोकामिष रूपों के लाभ को 'लाभ हुआ'—यों सोचने से या जो पूर्व में (लाभ) प्राप्त था किन्तु अब अतीत, निरुद्ध, परिवर्तित हो गया है उसका बार बार स्मरण करने से सौमनस्य उत्पन्न होता है। ऐसे सौमनस्य को कामगुणनिश्रित सौमनस्य कहते हैं।" (म० नि० ३/१३२४)—आदि प्रकार से बतलाया गया कामगुणनिश्रित सौमनस्य-समापत्ति-दर्शन में समान होने से निकटवर्ती शत्रु हैं। समान का असमान होने से अरति दूरवर्ती शत्रु है। इसलिये उससे निर्भय रहते हुए मुदिता की भावना करनी चाहिये। कोई प्रमुदित भी हो और सुदूर शयनासनों से, शमथ-विपश्यना (अधिकुशल धर्मों) से असन्तुष्ट भी हो, यह सम्भव नहीं है।

उपेक्षाब्रह्मविहार का—"चक्षु से रूप देखकर सीमाओं का अतिक्रमण न करने वाले, विपाक (कर्म-फल) को न जीतने वाले, दोष न देखने वाले, बाल, मूढ़, जिसने सद्धर्म का श्रवण ही न किया हो ऐसे पृथग्जन को (भी) उपेक्षा उत्पन्न होती है। ऐसी उपेक्षा रूप का अतिक्रमण नहीं करती। अतः वह उपेक्षा कामगुणनिश्रित कही जाती है।" (म० नि० ३/१३२५)—आदि प्रकार से बतलायी गयी कामगुणनिश्रित अज्ञानजन्य उपेक्षा दोष-गुण का विचार न करने से विषय में उपेक्षाब्रह्मविहार के समान है, अतः निकटवर्ती शत्रु है। समान के असमान होने से राग एवं प्रतिघ दूरवर्ती शत्रु हैं। कोई उपेक्षा भी करे एवं साथ ही राग या द्वेष भी करे—यह हो ही नहीं सकता।

---

१. **अधिकुसलधम्मेसू** ति। समथविपस्सनाधम्मेसु।

तत्रायं **वड्ढनक्कमो**—यथा हि कुसलो कस्सको कसितब्बट्ठानं परिच्छिन्दित्वा कसति, एवं पठममेव एकं आवासं परिच्छिन्दित्वा तत्थ सत्तेसु 'इमस्मिं आवासे **सत्ता अवेरा** होन्तू' ति आदिना नयेन मेत्ता भावेतब्बा। तत्थ चित्तं मुदुं कम्मनियं कत्वा द्वे आवासा परिच्छिन्दितब्बा। ततो अनुक्कमेन तयो, चत्तारो, पञ्च, छ, सत्त, अट्ठ, नव, दस, एका रच्छा, उपड्ढगामो, गामो, जनपदो, रज्जं, एका दिसा ति एवं याव एकं चक्कवाळं, ततो वा पन भिय्यो तत्थ तत्थ सत्तेसु मेत्ता भावेतब्बा। तथा करुणादयो ति—अयमेत्थ आरम्मणवड्ढनक्कमो।

५७. यथा पन कसिणानं निस्सन्दो आरुप्पा, समाधिनिस्सन्दो नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं, विपस्सनानिस्सन्दो फलसमापत्ति, समथविपस्सनानिस्सन्दो निरोधसमापत्ति; एवं पुरिमब्रह्मविहारत्तयनिस्सन्दो एत्थ उपेक्खाब्रह्मविहारो। यथा हि धम्मे अनुस्सापेत्वा तुलासङ्घाटं अनारोपेत्वा न सक्का आकासे कूटगोपानसियो ठपेतुं, एवं पुरिमेसु ततियज्झानं विना न सक्का चतुत्थं भावेतुं ति॥

५८. एत्थ सिया—कस्मा पनेता मेत्ताकरुणामुदिताउपेक्खा ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति? कस्मा च चतस्सो व? को च एतासं कमो? अभिधम्मे च कस्मा अप्पमञ्ञा ति वुत्ता ति?

वुच्चते—सेट्ठट्ठेन ताव निद्दोसभावेन चेत्थ ब्रह्मविहारता वेदितब्बा। सत्तेसु सम्मापटि-

---

५६. इन सभी (ब्रह्मविहारों का) आरम्भ वह उत्साह (छन्द) है जो कार्य करने की इच्छा (कर्तृकामता) में निहित रहता है। नीवरण आदि का दब जाना (विष्कम्भन) मध्य है। अर्पणा पर्यवसान है। विचार के विषय (प्रज्ञप्तिधर्म) के रूप में एक या अनेक सत्त्व आलम्बन हैं। जब उपचार या अर्पणा प्राप्त होती है, तब आलम्बन में वृद्धि होती है।

वृद्धि का क्रम इस प्रकार है—जैसे कोई कुशल कृषक कृषियोग्य भूमि की सीमा बाँधकर जोतता है, वैसे सर्वप्रथम एक आवास की सीमा बाँधकर उसमें रहने वाले सत्त्वों के प्रति "इस आवास में सत्त्व वैररहित हों" आदि प्रकार से मैत्री की भावना करनी चाहिये। उसमें जब चित्त मृदु एवं कर्मण्य हो जाय, तब दो आवासों की सीमा बाँधनी चाहिये। तब क्रमशः तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दस, एक गली (रथ्या), आधा गाँव, गाँव, जनपद, राज्य, एक दिशा तक एवं इसी प्रकार (बढ़ते-बढ़ते) एक चक्रवाल (ब्रह्माण्ड) या उससे भी अधिक, वहाँ वहाँ के सत्त्वों के प्रति मैत्री भावना करनी चाहिये। एवं करुणा आदि में भी आलम्बनवृद्धि का यही क्रम है।

५७. जैसे कसिणों का फल आरूप्य हैं, समाधि का फल नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है, विपश्यना का फल फलसमापत्ति है, शमथ और विपश्यना का फल निरोधसमापत्ति है; वैसे पूर्व के तीन ब्रह्मविहारों का फल उपेक्षाब्रह्मविहार हैं। जैसे खम्भों को गाड़े विना, बाँस-बल्ली से ढाँचा बनाये विना जिस पर छत टिकती है ऐसी (त्रिकोण के आकार की) ढालुई दीवाल (गोपानसी) आकाश में नहीं बनायी जा सकती, वैसे ही पहले के (ब्रह्मविहारों) में तृतीय ध्यान (प्राप्त किये) बिना चतुर्थ ध्यान की भावना नहीं की जा सकती।

५८. यहाँ ये प्रश्न उठ सकते हैं—ये मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा 'ब्रह्मविहार' क्यों कही जाती हैं? एवं ये चार ही क्यों हैं? एवं इनका क्रम क्या है? तथा ये अभिधर्म में किसलिये अप्रमाण कही गयी हैं?

पत्तिभावेन हि सेट्ठा एते विहारा। यथा च ब्रह्मानो निद्दोसचित्ता विहरन्ति, एवं एतेहि सम्पयुत्ता योगिनो ब्रह्मसमा हुत्वा विहरन्ती ति सेट्ठट्ठेन निद्दोसभावेन च ब्रह्मविहारा ति वुच्चन्ति।

५९. कस्मा च चतस्सो वा? ति आदि पञ्हस्स पन इदं विसज्जनं—

विसुद्धिमग्गादिवसा चतस्सो हितादिआकारवसा पनासं।
कमो, पवत्तन्ति च अप्पमाणे ता गोचरे येन तदप्पमञ्ञा॥

एतासु हि यस्मा मेत्ता व्यापादबहुलस्स, करुणा विहेसाबहुलस्स, मुदिता अरतिबहुलस्स, उपेक्खा रागबहुलस्स विसुद्धिमग्गो। यस्मा च हितूपसंहार-अहितापनयन-सम्पत्तिमोदन-अनाभोगवसेन चतुब्बिधो येव सत्तेसु मनसिकारो। यस्मा च यथा माता दहर-गिलान-योब्बनप्पत्त-सकिच्चपसुतेसु चतूसु पुत्तेसु दहरस्स अभिवुड्ढिकामा होति, गिलानस्स गेलञ्ञापनयनकामा, योब्बनप्पत्तस्स योब्बनसम्पत्तिया चिरट्ठितिकामा, सकिच्चपसुतस्स किस्मिंचि परियाये[1] अव्यावटा[2] होति; तथा अप्पमञ्ञाविहारिकेना पि सब्बसत्त्वेसु मेत्तादिवसेन भावेतब्बं। तस्मा इतो विसुद्धिमग्गादिवसा चतस्सो व अप्पमञ्ञा।

६०. यस्मा पन चतस्सो पेता भावेतुकामेन पठमं हिताकारप्पवत्तिवसेन सत्तेसु

इन का उत्तर यह है—श्रेष्ठ होने से, निर्दोष होने से उनका ब्रह्मविहार होना जानना चाहिये। क्योंकि सत्त्वों के प्रति सम्यक्प्रतिपत्ति रूप होने से ये विहार श्रेष्ठ हैं। एवं जैसे ब्रह्मा निर्दोष चित्त से साधना करते हैं, वैसे ही इनसे युक्त योगी ब्रह्मा के समान होकर साधना करते हैं। अत: श्रेष्ठ होने से, निर्दोष होने से 'ब्रह्मविहार' कही जाती हैं।

५९. चार ही क्यों हैं? आदि प्रश्न का यह उत्तर है—

(क) विशुद्धि के मार्ग के अनुसार ये चार हैं। (ख) हित आदि (उद्देश्य) के अनुसार इनका यह क्रम है। (ग) वे अप्रमाण (सीमारहित) गोचर (क्षेत्र) में प्रवृत्त होती हैं, इसलिये अप्रमाण हैं॥

इनमें, क्योंकि मैत्री व्यापादबहुल (जिसमें व्यापाद अधिक हो) के लिये, करुणा प्रतिहिंसाबहुल के लिये, मुदिता अरतिबहुल के लिये एवं उपेक्षा रागबहुल के लिये विशुद्धि का मार्ग है; एवं क्योंकि हित करना, अहित को दूर करना, (पर) सम्पत्ति से मुदिता होना एवं पक्षपात न करना—इनके अनुसार सत्त्वों के प्रति चार प्रकार का ही मनस्कार होता है; एवं क्योंकि जैसे माता अपने अल्पवयस्क, रोगी, युवक एवं कार्यरत—इन चार पुत्रों में से अल्पवयस्क के वयस्क होने की कामना करती है, रोगी का रोग दूर होने की कामना करती है, युवक के लिये यौवन-सम्पत्ति की चिरस्थिति की कामना करती है एवं कार्यरत पुत्र के किसी पर्याय (कार्य के अनुसार परिवर्तनक्रम) के प्रति अनुत्सुक होती है—वैसे ही अप्रामाण्यविहारी को भी सभी सत्त्वों के प्रति मैत्री आदि के अनुसार भावना करनी चाहिये। अत: चार विशुद्धि-मार्गों के अनुसार अप्रमाण चार ही हैं। (क)

६०. एवं क्योंकि इन चारों की ही भावना करने वाले को सर्वप्रथम हितैषी के रूप में

---

१. **परियाये** ति। वारे, तस्मिं तस्मिं किच्चवसेन परिवत्तनक्कमे ति अत्थो।

२. **अब्यावटा** ति। अनुस्सुका।

पटिपज्जितब्बं, हिताकारप्पवत्तिलक्खणा च मेत्ता। ततो एवं पत्थितहितानं सत्तानं दुक्खाभिभवं दिस्वा वा सुत्वा वा सम्भावेत्वा वा दुक्खापनयनाकारप्पवत्तिवसेन, दुक्खापनयनाकारप्पवत्तिलक्खणा च करुणा। अथेवं पत्थितहितानं पत्थितदुक्खापगमानं च नेसं सम्पत्तिं दिस्वा सम्पत्तिपमोदनवसेन पमोदनलक्खणा च मुदिता। ततो परं पन कत्तब्बाभावतो अज्झुपेक्खकत्तसङ्खातेन मज्झत्ताकारेन पटिपज्जितब्बं, मज्झत्ताकारप्पवत्तिलक्खणा च उपेक्खा। तस्मा इतो हितादिआकारवसा पनासं पठमं मेत्ता वुत्ता, अथ करुणा, मुदिता, उपेक्खा ति—अयं कमो वेदितब्बो।

६१. यस्मा पन सब्बापेता अप्पमाणे गोचरे पवत्तन्ति। अप्पमाणा हि सत्ता एतासं गोचरभूता। एकसत्तस्सा पि च एत्तके पदेसे मेत्तादयो भावेतब्बा ति एवं पमाणं अगहेत्वा सकलफरणवसेनेव पवत्ता ति। तेन वुत्तं—

"विसुद्धिमग्गादिवसा चतस्सो हितादिआकारवसा पनासं।
कमो, पवत्तन्ति च अप्पमाणे ता गोचरे येन तदप्पमञ्ञा" ति॥

६२. एवं अप्पमाणगोचरताय एकलक्खणासु चापि एतासु पुरिमा तिस्सो तिकचतुक्कज्झानिका व होन्ति। कस्मा? सोमनस्साविप्पयोगतो। कस्मा पनासं सोमनस्सेन अविप्पयोगो ति? दोमनस्ससमुट्ठितानं ब्यापादादीनं निस्सरणत्ता। पच्छिमा पन अवसेस-एकज्झानिका व। कस्मा? उपेक्खावेदनासम्पयोगतो। न हि सत्तेसु मज्झत्ताकारप्पवत्ता ब्रह्मविहारुपेक्खा उपेक्खावेदनं विना वत्तती ति।

सत्त्वों के प्रति प्रवृत्त होना चाहिये एवं हित के रूप में प्रवृत्त होना मैत्री का लक्षण हैं; तत्पश्चात् जिनका हित चाहा गया है उन सत्त्वों को दुःख से अभिभूत देख या सुनकर या स्वयं समझकर, दुःख दूर करने के रूप में (सत्त्वों के प्रति प्रवृत्त होना चाहिये)। एवं करुणा का लक्षण दुःखापनयन के रूप में प्रवृत्त होता है—एवं जिनका हित चाहा गया एवं दुःखों के दूर होने की कामना की गयी, ऐसे इन (सत्त्वों) की सम्पत्ति देखकर उस सम्पत्ति से प्रमुदित होने के रूप में (प्रवृत्त होना चाहिये) एवं मुदिता का लक्षण प्रमुदित होना है; तत्पश्चात् कुछ करने योग्य शेष न होने से उपेक्षासंज्ञक मध्यस्थता के रूप में प्रवृत्त होना है; इसलिये उनके (उद्देश्य) हित आदि के अनुसार मैत्री को पहले कहा गया है फिर करुणा, मुदिता, उपेक्षा को—यह क्रम समझना चाहिये। (ख)

६१. क्योंकि ये सभी अप्रमाणगोचर में प्रवृत्त होती हैं, अप्रमाण सत्त्व इनके गोचर हैं, "मैत्री आदि की भावना केवल एक सत्त्व के प्रति या एक ही प्रदेश में करनी चाहिये"—ऐसी सीमा का ग्रहण न करते हुए सभी को आलम्बन बना कर प्रवृत्त होती हैं; इसलिये कहा गया है—

"विशुद्धि के मार्ग के अनुसार ये चार हैं। हित आदि के अनुसार इनका क्रम हैं। वे अप्रमाण गोचर में प्रवृत्त होती हैं अतः अप्रमाण हैं॥" (ग)

६२. यों ये चारों 'अप्रमाणगोचर' के रूप में एक ही लक्षण वाली हैं। फिर भी इनमें से पूर्व की तीन त्रिक एवं चतुष्क ध्यान वाली (क्रमशः चतुष्क एवं पञ्चक नय के अनुसार) ही होती है। (अन्तिम चतुर्थ या पञ्चम ध्यान उनमें नहीं होता।) क्यों? सौमनस्य के असंयोग से। क्यों सौमनस्य का असंयोग है? दौर्मनस्य से समुत्थित व्यापाद आदि का निःसरण होने के कारण।

६३. यो पनेवं वदेय्य—यस्मा भगवता **अट्ठकनिपाते** चतूसु पि अप्पमञ्ञासु अविसेसेन वुत्तं—"**ततो त्वं, भिक्खु, इमं समाधिं सवितक्कं पि सविचारं भावेय्यासि, अवितक्कं पि विचारमत्तं भावेय्यासि, अवितक्कं पि अविचारं भावेय्यासि, सप्पीतिकं पि भावेय्यासि, निप्पीतिकं पि भावेय्यासि, सातसहगतं पि भावेय्यासि, उपेक्खासहगतं पि भावेय्यासी**" (अं० नि० ३/४८५) ति, तस्मा चतस्सो पि अप्पमञ्ञा चतुक्कपञ्चकज्झानिका ति? सो मा हेवं तिस्स वचनीयो।

एवं हि सति कायानुपस्सनादयो पि चतुक्कपञ्चकज्झानिका सियुं। वेदनादीसु च पठमज्झानं पि नत्थि, पगेव दुतियादीनि। तस्मा ब्यञ्जनच्छायामत्तं गहेत्वा मा भगवन्तं अब्भाचिक्खि, गम्भीरं हि बुद्धवचनं। तं आचरिये पयिरुपासित्वा अधिप्पायतो गहेतब्बं।

६४. अयं हि तत्र अधिप्पायो—"साधु, मे, भन्ते, भगवा सङ्खित्तेन धम्मं देसेतु, यमहं भगवतो धम्मं सुत्वा एको वूपकट्ठो अप्पमत्तो आतापी पहितत्तो विहरेय्यं" ति एवं आयाचित-धम्मदेसनं किर तं भिक्खुं यस्मा सो पुब्बे पि धम्मं सुत्वा तत्थेव वसति, न समणधम्मं कातुं गच्छति, तस्मा नं भगवा—"एवमेव पनिधेकच्चे मोघपुरिसा ममञ्ञेव अज्झेसन्ति, धम्मे च भासिते ममञ्ञेव अनुबन्धितब्बं मञ्ञन्ती" ति अपसादेत्वा पुन यस्मा सो अरहत्तस्स उपनिस्सयसम्पन्नो, तस्मा नं ओवदन्तो आह—"तस्मातिह ते, भिक्खु, एवं सिक्खितब्बं—

किन्तु अन्तिम (उपेक्षा भावना) शेष एक (अन्तिम) ध्यान वाली ही होती है। क्यों? उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होने के कारण। क्योंकि सत्त्वों के प्रति मध्यस्थता के रूप में प्रवृत्त उपेक्षाब्रह्मविहार उपेक्षावेदना के विना सम्भव नहीं है।

६३. किन्तु जो यह कहे कि क्योंकि भगवान् ने (अं० नि० के) **अष्टकनिपात** में चारों अप्रमाणों में कोई अन्तर किये विना कहा है—"**भिक्षु, उसके बाद तुम इस सवितर्कसविचार समाधि की भावना करना, और अवितर्कविचारमात्र की भावना करना, प्रीतिसहित की भी भावना करना, सुखसहित की भी भावना करना, उपेक्षासहगत की भी भावना करना**" (अं० ३/४८५)—इसलिये चारों ही अप्रमाण चतुष्क एवं पञ्चक ध्यान वाली हैं? तो उससे कहना चाहिये कि ऐसा नहीं है।

क्योंकि यदि ऐसा हो, तो कायानुपश्यना आदि भी चतुष्क पञ्चक ध्यान वाले होंगे। एवं वेदना आदि में तो प्रथम ध्यान भी नहीं होता, फिर द्वितीय आदि कहाँ से होंगे! इसलिये शब्दार्थमात्र का ग्रहण कर भगवान् के वचनों का मिथ्या अर्थ न लगाइये, क्योंकि बुद्धवचन गम्भीर है। आचार्य की सेवा कर (उनके श्रीमुख से) उस (बुद्धवचन) का अभिप्रायतः ग्रहण करना चाहिये।

६४. वहाँ यह अभिप्राय है—"**भन्ते! अच्छा हो यदि भगवान् मुझे धर्म का उपदेश संक्षेप में दें, जिससे मैं भगवान् से धर्मश्रवण कर एकाकी, सबसे पृथक्, अप्रमत्त, उद्योगी एवं संयमी होकर विहार करूँ**"—इस प्रकार धर्मोपदेश की याचना करने वाले किसी भिक्षु को, क्योंकि वह इससे पहले भी धर्मश्रवण करने पर भी वहीं रहा, श्रमणधर्म पालन के लिये गया नहीं, इसलिये भगवान् ने उसे यों फटकारा—"**ऐसे ही यहाँ कोई कोई अकर्मण्य पुरुष मुझसे ही प्रश्न पूछा करते हैं और उपदेश करने पर मेरे ही पीछे लगे रहना ठीक मानते हैं।**" इसके बाद, क्योंकि वह भिक्षु अर्हत् के उपनिश्रय (आवश्यक योग्यता, प्रत्यय) से सम्पन्न था, अतः उसे पुनः इस प्रकार प्रबोधित

'अज्झत्तं मे चित्तं ठितं भविस्सति सुसण्ठितं, न चुप्पन्ना पापका अकुसला धम्मा चित्तं परियादाय ठस्सन्ती' ति। एवं हि ते, भिक्खु, सिक्खितब्बं'' ति।

६५. इमिना पनस्स ओवादेन नियकज्झत्तवसेन चित्तेकग्गतामत्तो मूलसमाधि वुत्तो।

ततो ''एत्तकेनेव सन्तुट्ठिं अनापज्जित्वा एवं सो एव समाधि वड्ढेतब्बो'' ति दस्सेतुं ''यतो खो ते भिक्खु अज्झत्तं चित्तं ठितं होति सुसण्ठितं, न चुप्पन्ना पापका अकुसला धम्मा चित्तं परियादाय तिट्ठन्ति, ततो ते भिक्खु एवं सिक्खितब्बं—'मेत्ता मे चेतोविमुत्ति भाविता भविस्सति बहुलीकता यानीकता वत्थुकता अनुट्ठिता परिचिता सुसमारद्धा, ति। एवं हि ते, भिक्खु, सिक्खितब्बं'' ति एवमस्स मेत्तावसेन भावनं वत्वा पुन ''यतो खो ते, भिक्खु, अयं समाधि एवं भावितो होति बहुलीकतो, ततो त्वं भिक्खु इमं मूलसमाधिं सवितक्कं पि सविचारं भावेय्यासि...पे०...उपेक्खासहगतं पि भावेय्यासी'' ति वुत्तं।

तस्सत्थो—यदा ते, भिक्खु, अयं मूलसमाधि एवं मेत्तावसेन भावितो होति, तदा त्वं तावतकेना पि तुट्ठिं अनापज्जित्वा व इमं मूलसमाधिं अञ्ञेसु पि आरम्मणेसु चतुक्क-पञ्चकज्झानानि पापयमानो सवितक्कं पि सविचारं ति आदिना नयेन भावेय्यासी ति।

६६. एवं वत्वा च पुन करुणादिअवसेसब्रह्मविहारपुब्बङ्गमं पिस्स अञ्ञेसु आरम्मणेसु चतुक्कपञ्चकज्झानवसेन भावनं करेय्यासी ति दस्सेन्तो—''यतो खो ते, भिक्खु, अयं समाधि

करते हुए कहा—''इसलिये, भिक्षु! तुम्हें यहाँ यों सीखना चाहिये—'मेरा अन्तर, चित्त स्थिर सुस्थिर होगा एवं उत्पन्न हो चुके पापमय अकुशल धर्म चित्त को विक्षुब्ध करने के लिये बने नहीं रहेंगे। भिक्षु, तुम्हें यों सीखना चाहिये।''

६५. इस उपदेश द्वारा, उसके अपने अन्तर के अनुसार, चित्त की एकाग्रतामात्र को ही मूल समाधि कहा गया है।

तत्पश्चात् ''इतने से ही सन्तुष्ट न होकर, उसी समाधि को यों बढ़ाना चाहिये''—इसे प्रदर्शित करने के लिये ''भिक्षु, जब से तुम्हारा अन्तर, चित्त स्थिर सुस्थिर हो जाय तथा उत्पन्न पापमय अकुशल धर्म चित्त को विक्षुब्ध करने के लिये बने न रहें, तबसे, भिक्षु, तुम्हें यों सीखना चाहिये''—इस प्रकार उसके लिये मैत्रीरूप भावना का निर्देश कर, पुनः यह कहा गया है—''भिक्षु, जब से यह समाधि यों भावित, अभ्यस्त हो जाय, तबसे, भिक्षु, तुम इस सवितर्कसविचारसमाधि की भावना करो...पूर्ववत्...उपेक्षासहगत की भावना करो।'' यह प्रसङ्गनिर्देशपूर्वक उद्धरण (अं० नि० ३/४८५) का वास्तविक अभिप्राय बतलाया गया है।

उसका अर्थ है—''भिक्षु, जब तुम्हें यह मूल समाधि (=चित्त की एकाग्रता मात्र, आलम्बन चाहे कोई भी हो) यों मैत्री के रूप में भावित (विकसित अवस्था को प्राप्त) हो जाय, तब तुम केवल उतने से ही सन्तुष्ट न होकर इस मूल समाधि को भी अन्य आलम्बनों में चतुष्क पञ्चक ध्यान तक पहुँचाते हुए, 'सवितर्क-सविचार भी' आदि प्रकार से (बतलाये गये के अनुसार) भावना करो।''

६६. इस कथन के बाद यह दरसाते हुए कि करुणा आदि शेष ब्रह्मविहारों से पूर्व भी यह (भिक्षु) अन्य आलम्बनों में चतुष्क-पञ्चक ध्यान के अनुसार भावना कर सकता है; ''भिक्षु!

एवं भावितो होति बहुलीकतो, ततो ते, भिक्खु, एवं सिक्खितब्बं—करुणा मे चेतोविमुत्ती" ति आदिमाह।

६७. एवं मेत्तादिपुब्बङ्गमं चतुक्कपञ्चकज्झानवसेन भावनं दस्सेत्वा पुन कायानुपस्सनादिपुब्बङ्गमं दस्सेतुं "यतो खो ते, भिक्खु, अयं समाधि एवं भावितो होति बहुलीकतो, ततो ते भिक्खु एवं सिक्खितब्बं काये कायानुपस्सी विहरिस्सामी" ति आदिं वत्वा "यतो खो ते, भिक्खु, अयं समाधि एवं भावितो भविस्सति सुभावितो, ततो त्वं भिक्खु येन येनेव गग्घसि[1], फासुञ्ञेव गग्घसि, यत्थ यत्थेव ठस्ससि फासुञ्ञेव ठस्ससि, यत्थ यत्थेव निसीदिस्ससि फासुञ्ञेव निसीदिस्सति, यत्थ यत्थेव सेय्यं कप्पेस्ससि, फासुञ्ञेव सेय्यं कप्पेस्ससी" ति ति अरहत्तनिकूटेन देसनं समापेसि। तस्मा तिकचतुक्कज्झानिका व मेत्तादयो, उपेक्खा पन अवसेसएकज्झानिका वा ति वेदितब्बा। तथेव च **अभिधम्मे** (अभि० २/३३१) विभत्ता ति।

६८. एवं तिकचतुज्झानवसेन चेव अवसेसएकज्झानवसेन च द्विधा ठितानं पि एतासं सुभपरमादिवसेन अञ्ञमञ्ञं असदिसो आनुभावविसेसो वेदितब्बो। **हलिद्दवसनसुत्तस्मिं**[2] हि एता सुभपरमादिभावेन विसेसेत्वा वुत्ता। यथाह—"**सुभपरमाहं, भिक्खवे, मेत्तं, चेतोविमुत्तिं वदामि...आकासानञ्चायतनपरमाहं, भिक्खवे, करुणं चेतोविमुत्तिं वदामि...विञ्ञाणञ्चा-**

जब तुम्हारी यह समाधि यों भावित अभ्यस्त हो जाय, तब, भिक्षु! तुम्हें यों सीखना चाहिये— "करुणा मेरे चित्त की विमुक्ति है"—आदि कहा गया है।

६७. यों मैत्री आदि के पूर्व भी चतुष्क-पञ्चक ध्यान के रूप में भावना की जाती है, यह दिखलाया गया है। पुनः, कायानुपश्यना आदि की अपेक्षा पूर्ववर्ती होना प्रदर्शित करने के लिये— "भिक्षु, जब तुम्हारी यह समाधि यों भावित, अभ्यस्त हो जाय, तब, भिक्षु, तुम्हें यह सीखना चाहिये—'काय में कायानुपश्यी होकर विहार करूँगा"—यों कहकर, अर्हत्त्व (के वर्णन) तक ले जाकर इस देशना का इस प्रकार समापन किया गया है—"भिक्षु, जब तुम्हारी यह समाधि यों भावित, भली भाँति भावित हो जायगी तब, भिक्षु, तुम जहाँ जहाँ जाओगे सुविधा के साथ ही जाओगे; जहाँ जहाँ खड़े होगे सुविधा के साथ ही खड़े होगे; जहाँ जहाँ बैठोगे सुविधापूर्वक ही बैठोगे, जहाँ जहाँ शयन करोगे सुविधापूर्वक ही शयन करोगे, इसलिये मैत्री आदि त्रिक-चतुष्क ध्यान वाली ही हैं, अथवा (दूसरे शब्दों में) उपेक्षा अवशेष एक (अन्तिम) ध्यान वाली है, यह जानना चाहिये। अभिधर्म (अभि० २/३३१) में वे वैसे ही विभक्त हैं।

६८. यों 'त्रिक-चतुष्क ध्यान' एवं 'शेष एक ध्यान' के अनुसार (मैत्री आदि) यद्यपि दो प्रकार की हैं, तथापि 'शुभ परम' आदि के अनुसार उनकी क्षमता (अनुभाव) की परस्पर असमान जानना चाहिये। **हलिद्दवसनसुत्त** में इन्हें 'शुभपरम' आदि भाव से विशेषित कर बतलाया गया है। जैसा कि कहा गया है—"भिक्षुओ, मैं 'शुभ' को मैत्री-चित्त-विमुक्ति का चरम (परम) कहता हूँ... भिक्षुओ! मैं आकाशानन्त्यायतन को करुणाचित्तविमुक्ति का चरम कहता हूँ...भिक्षुओ, मैं

---

१. **गग्घसी** ति। गमिस्ससि।

२. **हलिद्दवसनसुत्तास्मिं** ति। संयुत्तनिकायस्स ४६. बोज्झङ्गसंयुत्तट्ठ-मेत्तासहगतसुत्ते।

यतनपरमाहं, भिक्खवे, मुदितं चेतोविमुत्तिं वदामि...आकिञ्चञ्ञायतनपरमाहं, भिक्खवे, उपेक्खं चेतोविमुत्तिं वदामी" (सं० नि० ४/१७६८) ति।

६९. कस्मा पनेता एवं वुत्ता ति? तस्स तस्स उपनिस्सयत्ता। मेत्ताविहारिस्स हि सत्ता अप्पटिक्कूला होन्ति। अथस्स अप्पटिक्कूलपरिचया अप्पटिक्कूलेसु परिसुद्धवण्णेसु नीलादीसु चित्तं उपसंहरतो अप्पकसिरेनेव तत्थ चित्तं पक्खन्दति। इति मेत्ता सुभविमोक्खस्स उपनिस्सयो होति, न ततो परं; तस्मा 'सुभपरमा' ति वुत्ता।

७०. करुणाविहारिस्स दण्डाभिघातादिरूपनिमित्तं सत्तदुक्खं समनुपस्सन्तस्स करुणाय पवत्तिसम्भवतो रूपे आदीनवो परिविदितो होति। अथस्स परिविदितरूपादीनवत्ता पथवीकसिणादीसु अञ्ञतरं उग्घाटेत्वा रूपनिस्सरणे आकासे चित्तं उपसंहरतो अप्पकसिरेनेव तत्थ चित्तं पक्खन्दति। इति करुणा आकासानञ्चायतनस्स उपनिस्सयो होति, न ततो परं; तस्मा 'आकासानञ्चायतनपरमा' ति वुत्ता।

७१. मुदिताविहारिस्स पन तेन तेन पामोज्जकारणेन उप्पन्नपामोज्जसत्तानं विञ्ञाणं समनुपस्सन्तस्स मुदिताय पवत्तिसम्भवतो विञ्ञाणग्गहणपरिचितं चित्तं होति। अथस्स अनुक्कमाधिगतं आकासानञ्चायतनं अतिकम्म आकासनिमित्तगोचरे विञ्ञाणे चित्तं उपसंहरतो अप्पकसिरेनेव तत्थ चित्तं पक्खदन्ती[1] ति मुदिता विञ्ञाणञ्चायतनस्स उपनिस्सयो होति, न ततो परं; तस्मा 'विञ्ञाणञ्चायतनपरमा' ति वुत्ता।

विज्ञानानन्त्यायतन को मुदिता-चित्तविमुक्ति का चरम कहता हूँ... भिक्षुओ! मैं आकिञ्चन्यायतन को उपेक्षाचित्तविमुक्ति का चरम कहता हूँ।" (सं० नि० ४/१७६८)।

६९. इन्हें ऐसा क्यों कहा गया है? अपने अपने मूलाधार (उपनिश्रय) के कारण। यथा—मैत्रीविहारी के प्रति सत्त्व अप्रतिकूल रहते हैं। क्योंकि यह (भिक्षु) 'अप्रतिकूल' से परिचित होता है, अत: अप्रतिकूल, परिशुद्ध नीलादि वर्णों में चित्त को लगाते समय शीघ्र ही उनमें चित्त का प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार मैत्री 'शुभ-विमोक्ष' का ही मूलाधार होती है, उससे आगे की नहीं। अत: उसे 'शुभ आधार' (शुभपरम) कहा जाता है।

७०. करुणाविहारी में, क्योंकि रूपनिमित्त (रूप है कारण जिसका ऐसे) दण्डाघात आदि के रूप में सत्त्वों का दु:ख को देखकर करुणा उपजती है, अत: वह रूप के दोष को अच्छी तरह जानता है। क्योंकि उसे रूप का दोष भलीभाँति विदित है, अत: पृथ्वीकसिण आदि में से जिस किसी (ध्यानालम्बन) को हटाकर, जब रूपबाह्य आकाश में चित्त को लगाता है, तब शीघ्र ही उसमें चित्त का प्रवेश होता है। यों करुणा, क्योंकि आकाशानन्त्यायतन का आधार होती है, अगले की नहीं अत:, उसे 'आकाशानन्त्यायतन का आधार कहा गया है।

७१. प्रमोद के जिस किसी कारण से सत्त्वों में उत्पन्न प्रमोदरूप विज्ञान को भलीभाँति देखने से क्योंकि मुदिताविहारी में मुदिता की उत्पत्ति होती है, अत: उसका चित्त विज्ञान के ग्रहण से परिचित होता है। जब वह क्रमश: अधिगत आकाशानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर, आकाश-निमित्त को गोचर (क्षेत्र) बनाने वाले विज्ञान में चित्त को लगाता है, तब चित्त अनायास उसमें

---

१. **पक्खन्दती** ति। अनुपविसति, विगोक्खभावेन अप्पेति।

७२. उपेक्खाविहारिस्स पन "सत्ता सुखिता वा होन्तु, दुक्खतो वा विमुच्चन्तु सम्पत्तसुखतो वा मा विमुच्चन्तू" ति आभोगाभावतो सुखदुक्खादिपरमत्थगाहविमुखभावतो अविज्जमानग्गहणदुक्खं चित्तं होति। अथस्स परमत्थगाहतो विमुखभावपरिचितचित्तस्स परमत्थो अविज्ज-मानग्गहणदुक्खचित्तस्स च अनुक्कमाधिगतं विञ्ञाणञ्चायतनं समतिक्कम्म सभावतो अविज्जमाने परमत्थभूतस्स विञ्ञाणस्स अभावे चित्तं उपसंहरतो अप्पकसिरेनेव तत्थ चित्तं पक्खन्दति। इति उपेक्खा आकिञ्चञ्ञायतनस्सं उपनिस्सयो होति, न ततो परं; तस्मा 'आकिञ्चञ्ञायतनपरमा' ति वुत्ता ति।

७३. एवं सुभपरमादिवसेन एतासं आनुभावं विदित्वा, पुन सब्बा पेता दानादीनं सब्बकल्याणधम्मानं परिपूरिका ति वेदितब्बा। सत्तेसु हि हितज्झासयताय सत्तानं दुक्खासहनताय, पत्तसम्पत्तिविसेसानं चिरट्ठितिकामताय, सब्बसत्तेसु च पक्खपाताभावेन समप्पवत्तचित्ता महासत्ता "इमस्स दातब्बं, इमस्स न दातब्बं" ति विभागं अकत्वा सब्बसत्तानं सुखनिदानं दानं देन्ति। तेसं उपघातं परिवज्जयन्ता सीलं समादियन्ति। सीलपरिपूरणत्थं नेक्खम्मं भजन्ति। सत्तानं हिताहितेसु असम्मोहत्थाय पञ्ञं परियोदपेन्ति। सत्तानं हितसुखत्थाय निच्चं विरियमारभन्ति। उत्तमविरियवसेन वीरभावं पत्ता पि च सत्तानं नानप्पकारकं अपराधं खमन्ति। "इदं वो दस्साम, करिस्सामा" ति कतं पटिञ्ञं न विसंवादेन्ति। तेसं हितसुखाय अविचलाधिट्ठाना होन्ति। तेसु अविचलाय मेत्ताय पुब्बकारिनो होन्ति। उपेक्खाय पच्चुपकारं

प्रवेश कर जाता है। यों, मुदिता आकाशानन्त्यायतन का ही मूलाधार होती है, अगले की नहीं। अतः उसे 'विज्ञानानन्त्यायतन का आधार' कहा गया है।

७२. उपेक्षाविहारी में "सत्त्व सुखी हों", या "दुःख से छूट जायँ" या प्राप्त सम्पत्तिसुख उनसे छिन न जाय"—ऐसा मनस्कार नहीं होता। अतः सुख-दुःखादि परमार्थ (वस्तुतः विद्यमान) के ग्रहण से विमुख होने के कारण, उसका चित्त (परमार्थतः) अविद्यमान का ग्रहण करने में दक्ष होता है। यह, चित्त परमार्थग्रहण के प्रति विमुखता से परिचित तथा परमार्थतः अविद्यमान के ग्रहण में दक्ष होता है; क्रम से अधिगत विज्ञानानन्त्यायतन का समतिक्रमण कर स्वभावतः अविद्यमान में (अर्थात्) परमार्थभूत विज्ञान के अभाव में चित्त को जब लगाता है, तब अल्प प्रयास से ही चित्त उसमें प्रवेश कर जाता है। यों; उपेक्षा आकिञ्चन्यायतन का आधार होती है, उससे आगे की नहीं। इसलिये उसे 'आकिञ्चन्यायतन का आधार' कहा गया है।

७३. इस प्रकार, 'शुभ के आधार' के रूप में इनकी क्षमता जानने के बाद यह जानना चाहिये कि ये सभी दान आदि सर्वकल्याणधर्मों को पूर्णता तक पहुँचाने वाली हैं। सत्त्वों के प्रति हितैषिता होने से, सत्त्वों का दुःख न सहन करने से, प्राप्त सम्पत्ति की चिरस्थिति चाहने से, एवं सब सत्त्वों के प्रति पक्षपात के अभाव से, सबको समान मानने वाले महासत्व 'इसे देना चाहिये, इसे नहीं देना चाहिये'—ऐसा भेदभाव नहीं करते। सब सत्त्वों के लिये सुखकारी दान देते हैं। उन्हें हानि न पहुँचाते हुए, शील का ग्रहण करते हैं। शील की परिपूर्णता के लिये नैष्काम्य (त्याग) का अभ्यास करते हैं। सत्त्वों के हिताहित के विषय में सम्मोह (मिथ्या धारण) से बचने के लिये प्रज्ञा को पर्यवदात (परिशुद्ध) करते हैं। सत्त्वों के हितसुख के लिये सर्वदा प्रयासरत रहते हैं। उत्तम

नासीसन्ती ति एवं पारमियो पूरेत्वा याव दसबल-चतुवेसारज्ज-छअसाधारणञाण-अट्ठारसबुद्ध-धम्मप्पभेदे सब्बे पि कल्याणधम्मे परिपूरेन्ती ति एवं दानादिसब्बकल्याणधम्म-परिपूरिका एता व होन्ती ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
समाधिभावनाधिकारे **ब्रह्मविहारनिद्देसो** नाम
नवमो परिच्छेदो॥

●●

वीर्य के कारण वीरत्व को पाकर भी, सत्त्वों के नाना प्रकार के अपराधों को क्षमा कर देते हैं। 'तुम्हें यह देंगे, (यह) करेंगे'—ऐसी प्रतिज्ञा करने पर उसे तोड़ते नहीं हैं। उनके प्रति अचल मैत्री के कारण, (उनके कार्य को) सबसे पहले करते हैं; उपेक्षा (युक्त) होने से प्रत्युपकार नहीं चाहते। इस प्रकार (दान, शील आदि) पारमिताओं को पूरा कर, दश बल, चार वैशारद्य, छह असाधारण ज्ञान, अट्ठारह बुद्ध-धर्म—इन प्रभेदों वाले सभी कल्याणकर धर्मों को भी पूर्णता तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार ये (मैत्री आदि चित्तविमुक्तियाँ) ही दान आदि सब कल्याणकर धर्मों को पूर्णता लाभ कराने वाली हैं॥

साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ के
समाधिभावनाधिकार में **ब्रह्मविहारनिर्देश** नामक
नवम परिच्छेद सम्पन्न॥

●●

१०. आरुप्पनिद्देसो

दसमो परिच्छेदो

१. पठमारुप्प(आकासानञ्चायतन)कथा

१. ब्रह्मविहारानन्तरं उद्दिट्ठेसु पन चतूसु आरुप्पेसु आकासानञ्चायतनं ताव भावेतुकामो **"दिस्सन्ति खो पन रूपाधिकरणं दण्डादान-सत्थादान-कलह-विग्गह-विवादा, नत्थि खो पनेतं सब्बसो आरुप्पे ति। सो इति पटिसङ्खाय रूपानं येव निब्बिदाय विरागाय निरोधाय पटिपन्नो होती"** (म० नि० २/५६७) ति वचनतो एतेसं दण्डादानादीनं चेव चक्खुसोतरोगादीनं च आबाध-सहस्सानं वसेन करजरूपे[१] आदीनवं दिस्वा तस्स समतिक्कमाय ठपेत्वा, परिच्छिन्नाकासकसिणं, नवसु पथवीकसिणादीसु अञ्ञतरस्मिं चतुत्थज्झानं उप्पादेति।

२. तस्स किञ्चापि रूपावचरचतुत्थज्झानवसेन करजरूपं अतिक्कन्तं होति, अथ खो कसिणरूपं पि यस्मा तप्पटिभागमेव, तस्मा तं पि समतिक्कमितुकामो होति।

कथं? यथा अहिभीरुको पुरिसो अरञ्ञे सप्पेन अनुबद्धो वेगेन पलायित्वा पलातट्ठाने लेखाचित्तं तालपण्णं वा वल्लिं वा रज्जुं वा फलिताय वा पन पथविया फलितन्तरं[२] दिस्वा

---

१०. आरूप्यनिर्देश

दशम परिच्छेद

१. प्रथम आरूप्य (आकाशानन्त्यायतन)

१. ब्रह्मविहार के अनन्तर उपदिष्ट चार आरूप्यों में आकाशानन्त्यायतन की भावना का अभिलाषी—"रूप के फलस्वरूप दण्ड रखना, शस्त्र रखना, कलह, विग्रह, विवाद दिखायी देते हैं; किन्तु इ1 (सब) का आरूप्य में सर्वथा अभाव है। वह (भिक्षु) यही सोचकर केवल रूपों के प्रति ही निर्वेद, विराग एवं निरोध के लिये प्रतिपन्न होता है।" (म० नि० २/५६७) इस वचन के अनुसार इन दण्ड रखना आदि एवं चक्षु, श्रोत्र के रोग आदि तथा सहस्रों विपत्तियों के कारण कर्मज रूप में दोष देखकर, उसकी सीमा से परे जाने के लिये परिच्छिन्नाकाश कसिण को छोड़ देता है। तब पृथ्वी आदि नौ कसिणों में से किसी एक में चतुर्थ ध्यान उत्पन्न करता है।

२. रूपावचर चतुर्थ ध्यान के कारण वह कर्मज रूप की सीमा से परे हो जाता है; किन्तु क्योंकि कसिण रूप भी उसके लिये विपरीत ही है, अतः उसका भी अतिक्रमण करना चाहता है। कैसे?

जैसे कि सर्प से डरने वाले किसी पुरुष के पीछे जङ्गल में कोई सर्प पड़ जाय और वह तेजी से भाग खड़ा हो। वह जहाँ भागकर जाय, वहाँ (सर्प की आकृति से मिलती-जुलती या

---

१. **करजरूपे** ति। करं=कम्मं, तेन समुट्ठिते रूपे। कम्मजरूपेत्यत्थो।

२. **फलितन्तरं** ति। अञ्ञं विवरं। **दिस्वा** ति। दूरतो दिस्वा।

भायतेव उत्तसतेव, नेव नं दक्खितुकामो होति। यथा च अनत्थकारिना वेरिपुरिसेन सद्धिं एकगामे वसमानो पुरिसो तेन वधबन्धगेहज्झापनादीहि उपद्दुतो अञ्ञं गामं वसनत्थाय गन्त्वा तत्रापि वेरिना समानरूपसद्दसमुदाचारं पुरिसं दिस्वा भायतेव उत्तसतेव, नेव नं दक्खितुकामो होति।

३. तत्रिदं ओपम्मसंसन्दनं—तेसं हि पुरिसानं अहिना वेरिना वा उपद्दुतकालो विय भिक्खुनो आरम्मणवसेन करजरूपसमङ्गिकालो। तेसं वेगेन पलायन-अञ्ञगामगमनानि विय भिक्खुनो रूपावचरचतुत्थज्झानवसेन करजरूपसमतिक्कमनकालो। तेसं पलातट्ठाने च अञ्ञगामे च लेखाचित्ततालपण्णादीनि चेव वेरिसदिसं पुरिसं च दिस्वा भयसन्तासअदस्सनकामता विय भिक्खुनो कसिणरूपं पि तप्पटिभागमेव इदं ति सल्लक्खेत्वा तं पि समतिक्कमितुकामता।

सूकराभिहतसुनख-पिसाचभीरुकादिका पि चेत्थ उपमा वेदितब्बा।

४. एवं सो[1] तस्मा चतुत्थज्झानस्स आरम्मणभूता कसिणरूपा निब्बिज्ज पक्कमितुकामो पञ्चहाकारेहि चिण्णवसी हुत्वा पगुणरूपावचरचतुत्थज्झानतो वुट्ठाय तस्मिं झाने—"इमं मया निब्बिण्णं रूपं आरम्मणं करोती" ति च, "आसन्नसोमनस्सपच्चत्थिकं" ति च, "सन्त-विमोक्खतो ओळारिकं" ति च आदीनवं पस्सति। अङ्गोळारिकता पनेत्थ नत्थि। यथेव हेतं रूपं दुवङ्गिकं, एवं आरुप्पानि पी ति।

उससे सम्बद्ध कोई वस्तु जैसे-) ताड़ के रेखांकित पत्ते, लता, रस्सी या धरती में विवर (छेद) को देखे। देखकर वह डरता ही है, त्रस्त ही होता है, उसे देखना भी नहीं चाहता। और जैसे किसी प्राणघातक शत्रु (जानी दुश्मन) के साथ एक गाँव में कोई व्यक्ति रहता हो और वह (शत्रु) उसे मारने बाँधने या घर जलाने आदि द्वारा उद्विग्न करे जिससे वह किसी दूसरे गाँव में रहने चला जाय। वहाँ भी शत्रु के समान रूप या शब्द को देखे। तब वह उससे डरता ही है, त्रस्त ही होता है, उसे देखना भी नहीं चाहता।

३. यहाँ इस उपमा का प्रयोग इस प्रकार है—सर्प या शत्रु से उन पुरुषों के उद्विग्न होने के समय के समान भिक्षु का वह समय है, जब वह आलम्बन के रूप में कर्मज रूप को अपनाता है। उनके तेजी से भागकर दूसरे गाँव में जाने के समान भिक्षु का वह समय है जब वह रूपावचर चतुर्थ ध्यान के रूप में कर्मज रूप का अतिक्रमण करता है। जिस स्थान पर भाग कर पहुँचा गया है, वहाँ, या दूसरे गाँव में, रेखाङ्कित ताड़पत्र आदि को या वैरी के समान (रूप वाले) पुरुष को देखकर भयसन्त्रास होने या देखने की इच्छा न होने के समान, 'कसिण रूप भी उसका विपरीत ही है' यों निरीक्षण कर उससे भी पार जाने की भिक्षु की इच्छा है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में सूकर द्वारा आक्रान्त कुत्ते की, एवं पिशाच से भयग्रस्त पुरुष आदि की उपमा भी समझनी चाहिये।

४. वैसे ही वह (योगी) उस चतुर्थ ध्यान के आलम्बनभूत कसिण रूप से विरक्त होकर उससे आगे जाने की इच्छा से पाँच प्रकार की वशिता का अभ्यास कर, अभ्यस्त रूपावचर चतुर्थ ध्यान से उठकर उस ध्यान में यों दोष देखता है—"जिस रूप से मैं विरक्त हूँ, उसी को यह

---

१. सो ति। योगावचरो।

५. सो तत्थ एवं आदीनवं दिस्वा निकन्तिं परियादाय आकासानञ्चायतनं सन्ततो अनन्ततो मनसिकरित्वा चक्कवाळपरियन्तं वा यत्तकं इच्छति तत्तकं वा कसिणं पत्थरित्वा तेन फुट्ठोकासं "आकासो आकासो" ति वा, "अनन्तो आकासो" ति वा मनसिकरोन्तो उग्घाटेति। कसिणं उग्घाटेन्तो हि नेव किलञ्जं विय संवेल्लेति, न कपालतो पूवं विय उद्धरति। केवलं पन तं नेव आवज्जेति, न मनसि करोति, न पच्चवेक्खति। अनावज्जेन्तो अमनसिकरोन्तो अप्पच्चवेक्खन्तो च, अञ्ञदत्थु तेन फुट्ठोकासं "आकासो आकासो" ति मनसिकरोन्तो कसिणं उग्घाटेति नाम।

कसिणं पि उग्घाटियमानं नेव उब्बट्टति न विवट्टति। केवलं इमस्स अमनसिकारं च "ओकासो आकासो" ति मनसिकारं च पटिच्च उग्घाटितं नाम होति, कसिणुग्घाटिमाकासमत्तं पञ्ञायति। कसिणुग्घाटिमाकासं ति वा, कसिणफुट्ठोकासो ति वा, कसिणविवित्ताकासं ति वा, सब्बमेतं एकमेव।

६. सो तं कसिणुग्घाटिमाकासनिमित्तं "आकासो आकासो" ति पुनप्पुनं आवज्जेति, तक्काहतं वितक्काहतं करोति। तस्सेवं पुनप्पुनं आवज्जयतो तक्काहतं वितक्काहतं करोतो नीवरणानि विक्खम्भन्ति, सति सन्तिट्ठति, उपचारेन चित्तं समाधियति। सो तं निमित्तं पुनप्पुनं आसेवति, भावेति, बहुलीकरोति।

(ध्यान) आलम्बन बनाता है", "सौमनस्य उसका समीपवर्ती वैरी है", एवं शान्त विमोक्ष की अपेक्षा स्थूल है। किन्तु उस (चतुर्थ ध्यान) में अङ्ग की स्थूलता नहीं होती। रूप (रूपावचर चतुर्थ ध्यान) में भी वे ही दो अङ्ग होते हैं, जो आरूप्य (अरूपावचर ध्यान) में होते हैं।

५. वह उनमें यों दोष देखकर एवं उनके प्रति आसक्ति को समाप्त कर, आकाशानन्त्यायतन के विषय में 'यह शान्त है, अनन्त है' यों मनस्कार करते हुए ब्रह्माण्डपर्यन्त, या जहाँ तक चाहे वहाँ तक, कसिण का प्रसार करता है (ध्यान का आलम्बन बनाता है)। तब उस कसिण द्वारा घेरे गये आकाश के विषय में "आकाश, आकाश" या "अनन्त आकाश"—यों मनस्कार करते हुए (उस कसिण को) मिटा देता है। कसिण को मिटाते समय न तो चटाई के समान लपेटता है, न ही कढ़ाई से पुए के समान निकालता है; अपितु केवल उसके प्रति ध्यान नहीं देता, मन नहीं लगाता, प्रत्यवेक्षण नहीं करता। ध्यान न देते हुए, मन न लगाते हुए, प्रत्यवेक्षण न करते हुए; किसी भी तरह से उसके द्वारा घेरे गये आकाश का "आकाश, आकाश"—यों मनस्कार करने वाले के लिये कहा जाता है कि वह कसिण को मिटा देता है।

मिटाये जाते समय कसिण भी न तो उठाया जाता है, न लपेटा जाता है। केवल इस (योगी) के द्वारा मनस्कार न किये जाने से, और "आकाश, आकाश"—यों मनस्कार किये जाने से 'मिटाया गया' कहा जाता है। जिस स्थान से कसिण मिटा दिया जाता है, वह आकाशमात्र जान पड़ता है। जहाँ से कसिण मिटा दिया गया हो वह आकाश, जिसे कसिण ने अधिकृत कर रखा हो वह आकाश, तथा कसिण से असम्पृक्त आकाश—ये सब (वस्तुतः) एक ही हैं।

६. जहाँ से कसिण मिटाया था वहाँ के उस आकाशनिमित्त के प्रति वह "आकाश, आकाश" यों बार-बार ध्यान देता है और उस पर तर्क-वितर्क करता है। बार बार ध्यान देते,

तस्सेवं पुनप्पुनं आवज्जयतो मनसिकरोतो पथवीकसिणादीसु रूपावचरचित्तं विय आकासे आकासानञ्चायतनचित्तं अप्पेति। इधा पि हि पुरिमभागे तीणि चत्तारि वा जवनानि कामावचरानि उपेक्खावेदनासम्पयुत्तानेव होन्ति, चतुत्थं पञ्चमं वा अरूपावचरं। सेसं पथवीकसिणे वुत्तनयमेव[१]।

७. अयं पन विसेसो—एवं उप्पन्ने अरूपावचरचित्ते सो भिक्खु यथा नाम यानप्पुतोळि-कुम्भिमुखादीनं[२] अञ्ञतरं नीलपिलोतिकाय वा पीतलोहितोदातादीनं वा अञ्ञतराय पिलोति-काय बन्धित्वा पेक्खमानो पुरिसो वातवेगेन वा अञ्ञेन वा केनचि अपनीताय पिलोतिकाय आकासं येव पेक्खमानो तिट्ठेय्य, एवमेव, पुब्बे कसिणमण्डलं झानचक्खुना पेक्खमानो विहरित्वा "आकासो आकासो" ति इमिना परिकम्ममनसिकारेन सहसा अपनीते तस्मिं निमित्ते आकासं येव पेक्खमानो विहरति।

एत्तावता चेस "**सब्बसो रूपसञ्ञानं समतिक्कमा पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा 'अनन्तो आकासो' ति आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरती**" (अभि० २/२९५) ति वुच्चति।

८. तत्थ **सब्बसो** ति। सब्बाकारेन, सब्बासं वा अनवसेसानं ति अत्थो। **रूपसञ्ञानं**

तर्क वितर्क करते समय नीवरण दब जाते हैं, स्मृति स्थिर होती है, उपचार द्वारा चित्त एकाग्र होता है। पुनः वह उस निमित्त का अभ्यास, भावना, बार बार अभ्यास करता है।

बार बार पुनरावृत्ति, मनस्कार करते समय, पृथ्वीकसिण आदि (आलम्बन) में रूपावचर चित्त के समान; आकाश (-आलम्बन) में आकाशानन्त्यायतन चित्त उत्पन्न होता है। यहाँ भी प्राथमिक स्तर पर तीन या चार जवन कामावचर एवं उपेक्षा वेदना-सम्प्रयुक्त ही होते हैं, चतुर्थ या पञ्चम अरूपावचर होता है। शेष, पृथ्वीकसिण में जैसा बतलाया गया है, वैसा ही है।

७. अन्तर यह है—यों अरूपावचर चित्त उत्पन्न हो जाने पर वह भिक्षु जो कि पहले कसिणमण्डल को ज्ञानचक्षु से देखते हुए विहार करता था, अब "आकाश, आकाश"—इस प्रकार इस प्रारम्भिक मनस्कार द्वारा (कसिणमण्डल के) सहसा दूर कर दिये जाने से उस निमित्त में केवल आकाश को ही देखता हुआ साधना करता है; वैसे ही जैसे कि किसी पर्दों से ढकी पालकी, सामान रखने के थैले या बड़े आकार के गोलाकार पात्र आदि के मुख (द्वार) को नीले, पीले, लाल या श्वेत वस्त्र से बाँधकर उसे देखने वाला पुरुष वायु के वेग से या किसी अन्य उपाय द्वारा वस्त्र हटा लिये जाने पर आकाश को देखता रह जाय।

एवं इसी स्थल पर यह कहा गया है—"सर्वथा रूपसंज्ञाओं का समतिक्रमण करने से, प्रतिघसंज्ञाओं के अस्तगत हो जाने से, नानात्वसंज्ञाओं का मनस्कार न करने से 'अनन्त आकाश'—यों आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त कर साधना करता है।" (अभि० २/२९५)।

८. यहाँ **सब्बसो** का यह अर्थ है—सब प्रकार से (सर्वथा); या सभी का, अशेष

---

१. पथवीकसिणनिद्देसे पठमज्झानकथायं चतुत्थज्झानकथायं च।

२. **यानप्पुतोळि-कुम्भिमुखादीनं** ति। ओगुण्ठनसिविकादियानानं मुखं यानमुखं, पुतोळिया खुद्दकद्वारस्स मुखं पुतोळिमुखं, कुम्भिमुखं ति पच्चेकं मुख-सद्दो सम्बन्धितब्बो। पुतोळिया रथिकाय मुखं पुतोलिमुखं वा।

ति। सञ्ञासीसेन वुत्तरूपावचरज्झानानं चेव तदारम्मणानं च। रूपावचरज्झानं पि रूपं ति वुच्चति "**रूपी रूपानि पस्सती**" (दी० नि० २/३६५) ति आदीसु। तस्स आरम्मणं पि "**बहिद्धा रूपानि पस्सति सुवण्णदुब्बण्णानी**" (दी० नि० २/३६५) ति आदिसु। तस्मा इध रूपे सञ्ञा रूपसञ्ञा ति एवं सञ्ञासीसेन वुत्तरूपावचरज्झानस्सेतं अधिवचनं। रूपं सञ्ञा अस्सा ति रूपसञ्ञं। रूपं अस्स नामं ति वुत्तं होति। पथवीकसिणादिभेदस्स तदारम्मणस्स चेतं अधिवचनं ति वेदितब्बं।

समतिक्कमा ति। विरागा निरोधा च। किं वुत्तं होति? एतासं कुसलविपाककिरिय-वसेन पञ्चदसन्नं झानसङ्खातानं रूपसञ्ञानं, एतेसं च पथवीकसिणादिवसेन नवन्नं आरम्मण-सङ्खातानं रूपसञ्ञानं सब्बाकारेन अनवसेसानं वा विरागा च निरोधा च विरागहेतुं चेव निरोधहेतुं च आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति। न हि सक्का सब्बसो अनतिक्कन्तरूप-सञ्ञेन एतं उपसम्पज्ज विहरितुं ति।

९. तत्थ यस्मा आरम्मणे अविरत्तस्स सञ्ञासमतिक्कमो न होति, समतिक्कन्तासु च सञ्ञासु आरम्मणं समतिक्कन्तमेव होति। तस्मा आरम्मणसमतिक्कमं अवत्वा "**तत्थ कतमा रूपसञ्ञा? रूपावचरसमापत्तिं समापन्नस्स वा उपपन्नस्स वा दिट्ठधम्मसुखविहारिस्स वा सञ्ञा सञ्जानना सञ्जानितत्तं, इमा वुच्चन्ति रूपसञ्ञायो। इमा रूपसञ्ञायो अतिक्कन्तो होति वीतिक्कन्तो समतिक्कन्तो, तेन वुच्चति सब्बसो रूपसञ्ञानं समतिक्कमा**" (अभि० २/३१४)

रूपसञ्ञानं—'संज्ञा' के अन्तर्गत बताये गये रूपावचर ध्यानों एवं उनके आलम्बनों का। "रूपी रूपों को देखता है" (दी० नि० २/३६५) आदि में रूपावचर ध्यान को भी रूप कहा गया है। "सुवर्ण (सुरूप) दुर्वर्ण (कुरूप) रूपों को बाह्य के रूप में देखता है" (दी० नि० २/३६५) आदि में उसके आलम्बन को भी (रूप कहा गया है)। इसलिये यहाँ 'रूपसंज्ञा' का तात्पर्य है 'रूप के विषय में संज्ञा'। यों 'संज्ञा' के अन्तर्गत बतलाये गये रूपावचर ध्यान का (ही) यह नाम है। रूप इसकी संज्ञा है अतः यह 'रूपसंज्ञा' है। अर्थात् रूप इसका नाम (अधिवचन) है। उस (ध्यान) के पृथ्वीकसिण आदि भेद वाले आलम्बन का भी यह नाम है—ऐसा जानना चाहिये।

समतिक्कम्मा—विराग से, निरोध से। अर्थात्? कुशल, विपाक एवं क्रिया—इन पन्द्रह ध्यानसंज्ञक रूपसंज्ञाओं के प्रति एवं इनके पृथ्वीकसिण आदि नव आलम्बनसंज्ञक रूपसंज्ञाओं के प्रति सब प्रकार से, या अशेष (रूपसंज्ञाओं) के प्रति विराग से एवं निरोध से, अर्थात् विराग के कारण और निरोध के कारण आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त कर साधना करता है। जिसने रूपसंज्ञा का सर्वथा अतिक्रमण नहीं किया हो, वह इसे प्राप्त कर साधना नहीं कर सकता।

९. वहाँ, क्योंकि आलम्बन के प्रति विरक्त न होने वाला (योगी) संज्ञा की सीमा से परे नहीं जाता, एवं संज्ञा की सीमा पार कर लेने पर, तो आलम्बन का अतिक्रमण हो ही जाता है; अतः आलम्बन के अतिक्रमण के बारे में न कहकर, **विभङ्ग**प्रकरण में इस प्रकार संज्ञाओं का ही अतिक्रमण बतलाया गया है—"वहाँ कौन-सी रूपसंज्ञा है? रूपावचरसमापत्तिलाभी की, या उस (रूपावचरसमापत्ति) में उत्पन्न की, या दृष्टधर्मसुखविहारी की संज्ञा (स्पष्ट ज्ञान), संज्ञानता (जानना), संज्ञित (ज्ञात होने स्थिति)—ये रूपसंज्ञाएँ कही जाती हैं। ये रूपसंज्ञा अतिक्रान्त,

ति एवं **विभङ्गे** सञ्ञानं येव समतिक्कमो वुत्तो। यस्मा पन आरम्मणसमतिक्कमेन पत्तब्बा एता समापत्तियो, न एकस्मिं येव आरम्मणे पठमज्झानादीनि विय। तस्मा अयं आरम्मणसमतिक्कम-वसेना पि अत्थवण्णना कता ति वेदितब्बा।

१०. **पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा** ति। चक्खादीनं वत्थूनं रूपादीनं आरम्मणानं च पटिघातेन समुप्पन्ना सञ्ञा पटिघसञ्ञा। रूपसञ्ञादीनं एतं अधिवचनं। यथाह—"**तत्थ कतमा पटिघसञ्ञा ? रूपसञ्ञा सद्दसञ्ञा गन्धसञ्ञा रससञ्ञा फोट्ठब्बसञ्ञा, इमा वुच्चन्ति पटिघसञ्ञायो**" (अभि० २/३१४) ति। तासं कुसलविपाकानं पञ्चन्नं, अकुसलविपाकानं पञ्चन्नं ति सब्बसो दसन्नं पि पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा पहाना असमुप्पादा अप्पवत्तिं कत्वा ति वुत्तं होति।

कामं चेता पठमज्झानादीनि समापन्नस्सा पि न सन्ति। न हि तस्मिं समये पञ्चद्वारवसेन चित्तं पवत्तति। एवं सन्ते पि अञ्ञत्थ पहीनानं सुखदुक्खानं चतुत्थज्झाने विय, सक्कायदिट्ठा-दीनं ततियमग्गे विय च इमस्मिं झाने उत्साहजननत्थं इमस्स झानस्स पसंसावसेन एतासं एत्थ वचनं वेदितब्बं।

११. अथ वा किञ्चापि ता रूपावचरं समापन्नस्सा पि न सन्ति, अथ खो न पहीनत्ता न सन्ति। न हि रूपविरागाय रूपावचरभावना संवत्तति, रूपायत्ता च एतासं[१] पवत्ति। अयं

व्यतिक्रान्त, समतिक्रान्त[२] होती हैं, इसलिये कहा जाता है—सर्वथा रूपसंज्ञाओं का समतिक्रमण करके" (अभि० २/३१४)। क्योंकि आलम्बन के अतिक्रमण से इन समापत्तियों की प्राप्ति होती है, न कि प्रथम ध्यान आदि के समान एक ही आलम्बन में; अतः इस व्याख्या का सम्बन्ध आलम्बन के अतिक्रमण से भी है—ऐसा समझना चाहिये।

१०. **पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा**—चक्षु आदि वस्तुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) एवं रूप आदि आलम्बनों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य) के घात-प्रतिघात (परस्पर सम्पर्क) से उत्पन्न हुई संज्ञा प्रतिघसंज्ञा है। रूपसंज्ञा आदि को ही प्रतिघसंज्ञा कहते हैं। जैसा कि कहा है—"कौन सी प्रतिघसंज्ञा है ? रूपसंज्ञा, शब्दसंज्ञा, गन्धसंज्ञा, रससंज्ञा, स्प्रष्टव्यसंज्ञा—ये प्रतिघसंज्ञाएँ कही जाती हैं।" (अभि० २/३१४)। पाँच कुशलविपाक एवं पाँच अकुशलविपाक—इन सभी दस प्रतिघसंज्ञाओं के अस्त प्रहीण एवं उत्पन्न होने से। अर्थात् उन्हें प्रवृत्त न करते हुए।

यद्यपि ये (प्रतिघसंज्ञाएँ) प्रथमध्यानलाभी में भी नहीं होती, क्योंकि उस समय (उसका) चित्त पाँच इन्द्रिय-द्वारों से प्रवृत्त नहीं होता; तथापि इस ध्यान के प्रति उत्साह उत्पन्न करने के लिये, इस ध्यान की प्रशंसा के रूप में, उन्हें यहाँ बतलाया गया है—यह जानना चाहिये। वैसे ही जैसे कि चतुर्थ ध्यान के प्रसङ्ग में सुख-दुःख का एवं तृतीय मार्ग (दुःखनिरोध) के प्रसङ्ग में सत्कायदृष्टि आदि का उल्लेख किया जाता है, जो कि अन्यत्र प्रहीण हो चुके होते हैं।

११. अथवा, यद्यपि वे रूपावचर (ध्यान)—लाभी में नहीं होती, किन्तु प्रहीण होने के कारण नहीं होती—ऐसा नहीं है। कारण यह है कि रूपावचर भावना रूप के प्रति विराग की ओर

---

१. **एतासं** ति। पटिघसञ्ञानं।

२. अतिक्रान्त, व्यतिक्रान्त, समतिक्रान्त—इन तीनों शब्दों का अर्थ एक ही है—जिसका अतिक्रमण किया गया है।

पन भावना रूपविरागाय संवत्तति। तस्मा ता एत्थ[1] पहीना ति वत्तुं वट्टति। न केवलं च वत्तुं, एकंसेनेव एवं धारेतुं पि वट्टति।

तासं हि इतो पुब्बे अप्पहीनत्ता येव पठमं झानं समापन्नस्स "सद्दो कण्टको" (अं० नि० ४/२४८) ति वुत्तो भगवता। इध च पहीनत्ता येव अरूपसमापत्तीनं आनेञ्जता (अभि० २/१७३) सन्तविमोक्खता (म० नि० १/५०) च वुत्ता। आळारो च कालामो अरूपसमापन्नो पञ्चमत्तानि सकसतानि निस्साय अतिक्कमन्तानि नेव अद्दस, न पन सद्दं अस्सोसी (दी० नि० २/३८२) ति।

१२. **नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा** ति। नानत्ते वा गोचरे पवत्तानं सञ्ञानं, नानत्तानं वा सञ्ञानं। यस्मा हि एता "तत्थ कतमा नानत्तसञ्ञा? असमापन्नस्स मनोधातुसमङ्गिस्स वा मनोविञ्ञाणधातुसमङ्गिस्स वा सञ्ञा सञ्जानना सञ्जानितत्तं, इमा वुच्चन्ति नानत्तसञ्ञायो" (अभि० २/३१४) ति एवं **विभङ्गे** विभजित्वा वुत्ता इध[2] अधिप्पेता असमापन्नस्स मनोधातु-मनोविञ्ञाणधातुसङ्गहिता सञ्ञा रूपसद्दादिभेदे नानत्ते नानासभावे गोचरे पवत्तन्ति, यस्मा चेता अट्ठ कामावचरकुसलसञ्ञा, द्वादस अकुसलसञ्ञा, एकादस कामावचरकुसलविपाकसञ्ञा, द्वे अकुसलविपाकसञ्ञा, एकादश कामावचरकिरियसञ्ञा ति एवं चतुचत्तालीसं पि सञ्ञा

नहीं ले जाती (अत: उनके प्रहीण होने की सम्भावना रूपावचर ध्यान में नहीं है)। साथ ही, इन (प्रतिघसंज्ञाओं) की प्रवृत्ति रूप पर ही निर्भर होती है। किन्तु यह (अरूपावचर भावना) रूप-विराग की ओर ले जाती है। इसलिये यह कहना उचित है कि ये यहाँ (प्रथम आरूप्य में) प्रहीण हो जाती हैं। और न केवल कहना, अपितु पूरी तरह से ऐसा मानना भी उचित है।

क्योंकि ये इससे पहले प्रहीण नहीं होती, इसीलिये भगवान् ने कहा है कि प्रथमध्यान-लाभी के लिये "शब्द कण्टक (के समान) हैं" (अं० नि० ४/२४८)। एवं यहाँ प्रहीण होने से ही अरूपसमापत्तियों की स्थिरता (आनिञ्ज्यता) एवं शान्त विमोक्ष रूप होना (म० नि० १/५०) बतलाया गया है। अरूप (ध्यान) लाभी **आळार कालाम** ने अपने पास से गुजरती हुई पाँच सौ गाड़ियों को न तो देखा और न ही उनकी ध्वनि सुनी। (दी० नि० २/३८२)।

१२. **नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा**—('नानत्तसञ्ञानं' का अर्थ है)—नानात्व (से युक्त, नाना) गोचरों में प्रवृत्त संज्ञाओं के प्रति या नानात्व संज्ञाओं के प्रति। क्योंकि "उनमें नानात्वसंज्ञा क्या है? जो (ध्यान-) समापत्ति-लाभी नहीं है, मनोधातु से युक्त या मनोविज्ञानधातु से युक्त है, उसकी संज्ञा, संज्ञानता, संज्ञित—ये नानत्व संज्ञाएँ कही जाती हैं" (अभि० २/३१४)—यों **विभङ्ग** में विभाजन करके कही गयीं तथा इस प्रसङ्ग में अभिप्रेत, असमापन्न की मनोधातु और मनोविज्ञान धातु में संगृहीत संज्ञा रूप, शब्द आदि के भेद से नानात्व में, नाना स्वभाव के गोचर में प्रवृत्त होती हैं (इसलिये "नानात्व संज्ञाएँ" कही जाती हैं)।

अथवा, क्योंकि आठ कामावचर कुशल संज्ञा, बारह अकुशल संज्ञा, ग्यारह कामावचर कुशलविपाक संज्ञा, दो अकुशलविपाक संज्ञा, ग्यारह कामावचरक्रिया संज्ञा यों चौवालीस संज्ञाएँ (४४) भी नाना, नानास्वभाववाली, परस्पर असमान हैं, अत: 'नानात्वसंज्ञा' कहा गया है। उन

---

१. **एत्था** ति। पठमारुप्पकथायं।

२. **इधा** ति। अरूपज्झाने।

नानत्ता नानासभावा अञ्ञमञ्ञं असदिसा, तस्मा नानत्तसञ्ञा ति वुत्ता। तासं सब्बसो नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा अनावज्जना असमन्नाहारा अपच्चवेक्खणा। यस्मा ता नावज्जेति, न मनसि करोति, न पच्चवेक्खति, तस्मा ति वुत्तं होति।

यस्मा चेत्थ पुरिमा रूपसञ्ञा पटिघसञ्ञा च इमिना झानेन निब्बत्ते भवे पि न विज्जन्ति, पगेव तस्मिं भवे इमं झानं उपसम्पज्ज विहरणकाले, तस्मा तासं समतिक्कमा अत्थङ्गमा ति द्वेधा पि अभावो येव वुत्तो। नानत्तसञ्ञासु पन यस्मा अट्ठ कामावचरकुसलसञ्ञा, नव किरियसञ्ञा, दसाकुसलसञ्ञा—ति इमा सत्तवीसतिसञ्ञा इमिना झानेन निब्बत्ते भवे विज्जन्ति, तस्मा तासं अमनसिकारा ति वुत्तं ति वेदितब्बं। तत्रा पि हि इमं झानं उपसम्पज्ज विहरन्तो तासं अमनसिकारा येव उपसम्पज्ज विहरति, ता पन मनसिकरोन्तो असमापन्नो होती ति।

१३. सङ्खेपतो चेत्थ "रूपसञ्ञानं समतिक्कमा" ति इमिना सब्बरूपावचरधम्मानं पहानं वुत्तं। "पटिघसञ्ञानं अत्थङ्गमा, नानत्तसञ्ञानं अमनसिकारा" ति इमिना सब्बेसं कामावचरचित्तचेतसिकानं पहानं च अमनसिकारो च वुत्तो ति वेदितब्बो।

१४. **अनन्तो आकासो** ति। एत्थ नास्स उप्पादन्तो वा वयन्तो वा पञ्ञायती ति अनन्तो। आकासो ति कसिणुग्घाटिमाकासो[1] वुच्चति। मनसिकारवसेना पि चेत्थ अनन्तता वेदितब्बा। तेनेव **विभङ्गे** वुत्तं—"**तस्मिं आकासे चित्तं ठपेति, सण्ठपेति, अनन्तं फरति, तेन वुच्चति अनन्तो आकासो**' (अभि० २/३१५) ति।

नानात्व-संज्ञाओं का सर्वथा मनस्कार न करने, ध्यान न देने, (उनके प्रति) एकाग्र न होने, प्रत्यवेक्षण न करने से। अर्थात् क्योंकि उनके प्रति ध्यान नहीं देता, मन में नहीं लाता, प्रत्यवेक्षण नहीं करता, इसलिये।

एवं क्योंकि यहाँ पहले की रूपसंज्ञा एवं प्रतिघसंज्ञा इस ध्यान द्वारा उत्पन्न भव में भी नहीं रहती, उस भव में इस ध्यान को प्राप्त कर विहार करने के समय के बारे में तो कहना ही क्या है! अत: उनका अतिक्रमण करने एवं अस्त होने से—यों दो प्रकार से (उनका) अभाव ही बतलाया गया है। नानात्वसंज्ञाओं में आठ कामावचर कुशलसंज्ञा, नौ क्रियासंज्ञा, दस अकुशलसंज्ञा—ये सत्ताईस (२७) संज्ञाएँ क्योंकि इस ध्यान द्वारा उत्पन्न भव में होती हैं; इसलिये उनका मनस्कार न करना कहा गया है—यह जानना चाहिये। वहाँ भी इस ध्यान को प्राप्त कर विहार करने वाला (योगी) उनका मनस्कार न करते हुए ही (ध्यान को) प्राप्त कर साधना करता है। यदि उनका मनस्कार करता है तो (ध्यान-) लाभी नहीं होता।

१३. संक्षेप में—यहाँ "रूपसंज्ञाओं के समतिक्रमण से"—इस (कथन) द्वारा सब रूपावचर धर्मों का प्रहाण बतलाया गया है। तथा "प्रतिघसंज्ञाओं के अस्त होने से, नानात्वसंज्ञाओं के अमनस्कार से"—इसके द्वारा सब कामावचर चित्त-चैतसिकों का प्रहाण और अमनस्कार बतलाया गया है—यह जानना चाहिये।

---

१. अजटाकास-परिच्छिन्नाकासानं इध अनधिपेतत्ता "**आकासो ति कसिणुग्घाटिमाकासो वुच्चती**" ति आह। कसिणं उग्घाटियति एतेना ति कसिणुग्घाटो, तदेव **कसिणुग्घाटिमं**।

आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरती ति। एत्थ पन नास्स अन्तो ति अनन्तं, आकासं अनन्तं आकासानन्तं, आकासानन्तमेव आकासानञ्चं। तं आकासानञ्चं अधिट्ठानट्ठेन आयतनमस्स ससम्पयुत्तधम्मस्स झानस्स देवानं देवायतनमिवा ति आकासानञ्चायतनं। **उपसम्पज्ज विहरती ति** आकासानञ्चायतनं पत्वा निप्फादेत्वा तदनुरूपेन इरियापथविहारेन विहरति॥

अयं आकासानञ्चायतनकम्मट्ठाने वित्थारकथा॥

२. दुतियारुप्प (विञ्ञाणञ्चायतन) कथा

१५. विञ्ञाणञ्चायतनं भावेतुकामेन पन पञ्चहाकारेहि आकासानञ्चायतनसमापत्तियं चिण्णवसीभावेन[१] "आसन्नरूपावचरज्झानपच्चत्थिका अयं समापत्ति, नो च विञ्ञाणञ्चायतनमिव सन्ता" ति आकासानञ्चायतने आदीनवं दिस्वा तत्थ निकन्तिं परियादाय विञ्ञाणञ्चायतनं सन्ततो मनसिकरित्वा तं आकासं फरित्वा पवत्तविञ्ञाणं "विञ्ञाणं विञ्ञाणं" ति पुनप्पुनं आवज्जितब्बं, मनसिकातब्बं, पच्चवेक्खितब्बं, तक्काहतं वितक्काहतं कातब्बं। "अनन्तं अनन्तं" ति पन न मनसिकातब्बं।

१६. तस्सेवं तस्मिं निमित्ते पुनप्पुनं चित्तं चारेन्तस्स नीवरणानि विक्खम्भन्ति, सति

---

१४. **अनन्तो आकासो**—इसका ओर-छोर ज्ञात नहीं होता है, अत: अनन्त है। जिसमें से कसिण मिटा दिया गया हो, उस आकाश को (यहाँ) अकाश कहा गया है। तथा अनन्तता को यहाँ 'मनस्कार की अनन्तता' ही समझना चाहिये। इसीलिये **विभङ्ग** में कहा गया है—"उस आकाश में चित्त को रखता है, व्यवस्थित करता है, अनन्तरूप से (ध्यान का) विस्तार करता है, इसलिये 'अनन्त आकाश' कहा जाता है।" (अभि० २/३१५)।

आकासानञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति—इसका अन्त नहीं है, अत: अनन्त है। आकाश है और अनन्त है, अत: आकाशानन्त है। आकाशानन्त ही आकाशानन्त्य है। वह आकाशानन्त्य अपने सम्प्रयुक्त धर्मध्यान का अधिष्ठान के अर्थ में आयतन (आधार) है, जैसे देवों का देवायतन होता है, अत: आकाशानन्त्यायतन है। **उपसम्पज्ज विहरति**—आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त कर, उसे उत्पन्न कर, तदनुरूप ईर्य्यापथ से विहार करता है॥

यह आकाशानन्त्यायतन कर्मस्थान की व्याख्या है॥

२. द्वितीय आरूप्य (विज्ञानानन्त्यायतन)

१५. विज्ञानानन्त्यायतन की भावना के अभिलाषी को, जिसने पाँच प्रकार से आकाशानन्त्यायतनसमापत्ति में कुशलता प्राप्त कर ली हो, "इस समापत्ति का समीपवर्ती वैरी रूपावचर ध्यान है, एवं यह विज्ञानानानन्त्यायतन के समान शान्त नहीं है"—यों आकाशानन्त्यायतन में दोष देखकर उसके प्रति आसक्ति छोड़ देना चाहिये तथा विज्ञानानन्त्यायतन का 'शान्त' के रूप में मनस्कार कर, आकाश को व्याप्त कर प्रवृत्त विज्ञान के प्रति "विज्ञान, विज्ञान" यों बारम्बार ध्यान देना चाहिये,

---

१. चिण्णो चरितो पगुणीकतो आवज्जनादिलक्खणो वसीभावो एतेना ति चिण्णवसीभावो, तेन चिण्णवसीभावेन।

सन्तिट्ठति, उपचारेन चित्तं समाधियति। सो तं निमित्तं पुनप्पुनं आसेवति, भावेति, बहुलीकरोति। तस्सेवं करोतो आकासे आकासानञ्चायतनं विय आकासफुटे विञ्ञाणे विञ्ञाणञ्चायतनचित्तं अप्पेति। अप्पनानयो पनेत्थ वुत्तनयेनेव वेदितब्बो।

एत्तावता चेस "**सब्बसो आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्म अनन्तं विञ्ञाणं ति विञ्ञाणञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरती**" (अभि० २/३९५) ति वुच्चति।

१७. **तत्थ सब्बसो** ति इदं वुत्तनयमेव। **आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्मा** ति एत्थ पन पुब्बे वुत्तनयेनेव झानं पि आकासानञ्चायतनं, आरम्मणं पि। आरम्मणं पि हि पुरिमनयेनेव आकासानञ्चं च तं पठमस्स आरुप्पज्झानस्स आरम्मणत्ता देवानं देवायतनं विय अधिट्ठानट्ठेन आयतनं चा ति आकासानञ्चायतनं। तथा आकासानञ्चं च तं तस्स झानस्स सञ्जातिहेतुत्ता "कम्बोजा अस्सानं आयतनं" ति आदीनि विय सञ्जातिदेसट्ठेन आयतनं चा ति पि आकासानञ्चायतनं। एवमेतं, झानं च आरम्मणं चा ति उभयं पि अप्पवत्तिकरणेन च अमनसिकरणेन च समतिक्कमित्वा व यस्मा इदं विञ्ञाणञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहातब्बं, तस्मा उभयं पेतं एकज्झं कत्वा "आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्मा" ति इदं वुत्तं ति वेदितब्बं।

मनस्कार करना चाहिये, प्रत्यवेक्षण करना चाहिये, तर्क-वितर्क करना चाहिये। किन्तु "अनन्त, अनन्त"—यों मनस्कार नहीं करना चाहिये।[1]

१६. उस निमित्त में बार-बार चित्त को लगाने वाले उस योगी के नीवरण दब जाते हैं, स्मृति स्थिर होती है, उपचार द्वारा चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त का पुनः पुनः अभ्यास, भावना, बार ब्रार वृद्धि करता है। ऐसा करने वाला, आकाश (आलम्बन) में आकाशानन्त्यायतन के समान, आकाश को विषय बनाने वाले विज्ञान में विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त करता है। अर्पणा की विधि यहाँ पूर्वकथित के अनुसार ही जाननी चाहिये।

इस प्रसङ्ग में यह कहा गया है—"सर्वथा आकाशानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर अनन्त विज्ञान=विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त कर विहरता है।" (अभि० २/३९५)।

१७. इनमें, **सब्बसो**—इसे पूर्वोक्त के अनुसार जानना चाहिये। **आकासानञ्चायतनं समतिक्कम्म**—यहाँ, पूर्वोक्त प्रकार से ही, ध्यान भी आकाशानन्त्यायतन है और (ध्यान का) आलम्बन भी। क्योंकि आलम्बन भी पूर्वोक्त प्रकार से ही आकाशानन्त्य है। एवं क्योंकि यह प्रथम आरूप्य ध्यान का आलम्बन होने से अधिष्ठान के अर्थ में आयतन है, जैसे देवों का देवायतन, अतः आकाशानन्त्यायतन (कहा जाता) है, वैसे ही यह आकाशानन्त्य है और क्योंकि इसके कारण वह ध्यान उत्पन्न होता है, अतः उत्पत्ति के देश (क्षेत्र) के अर्थ में आयतन है, जैसे "कम्बोज (एक देशविशेष) अश्वों का आयतन है।" इसलिये भी आकाशानन्त्यायतन (कहलाता) है। तात्पर्य यह है—क्योंकि ध्यान एवं (उसके) आलम्बन—दोनों को ही प्रवर्तित एवं मनस्कार न करते हुए उनका अतिक्रमण कर, इस विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त कर साधना करनी चाहिये। अतः उन दोनों को ही एक मानकर "आकाशानन्त्यायतन का समतिक्रमण कर" ऐसा कहा गया जानना चाहिये।

---

१. उसका "अनन्तविज्ञान, अनन्तविज्ञान" इस प्रकार या "विज्ञान, विज्ञान"—इस प्रकार मनस्कार करना चाहिये।—परमार्थमञ्जूषा (विसुद्धिमग्गट्ठकथा) ३४।

१८. **अनन्तं विञ्ञाणं** ति। तं येव 'अनन्तो आकासो' ति एवं फरित्वा पवत्तविञ्ञाणं। "अनन्तं विञ्ञाणं" ति एवं मनसिकरोन्तो ति वुत्तं होति। मनसिकारवसेन वा अनन्तं। सो हि तं आकासारम्मणं विञ्ञाणं अनवसेसतो मनसिकरोन्तो "अनन्तं" ति मनसिकरोति।

यं पन **विभङ्गे** वुत्तं—"**अनन्तं विञ्ञाणं ति यं येव आकासं विञ्ञाणेन फुटं मनसिकरोति, अनन्तं फरति, तेन वुच्चति अनन्तं विञ्ञाणं**" (अभि० २/३१५) ति। तत्थ 'विञ्ञाणेना' ति उपयोगत्थे करणवचनं वेदितब्बं। एवं हि **अट्ठकथाचरिया** तस्स अत्थं वण्णयन्ति। अनन्तं फरति, तं येव आकासं फुटं विञ्ञाणं मनसिकरोती ति वुत्तं होति।

विञ्ञाणञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरती ति। एत्थ पन नास्स अन्तो ति अनन्तं, अनन्तमेव आनञ्चं, विञ्ञाणं आनञ्चं विञ्ञाणानञ्चं ति अवत्वा विञ्ञाणञ्चं ति वुत्तं। अयं हेत्थ रूळ्हिसद्दो। तं विञ्ञाणञ्चं अधिट्ठानट्ठेन आयतनमस्स ससम्पयुत्तधम्मस्स झानस्स देवानं देवायतनमिवा ति विञ्ञाणञ्चायतनं। सेसं पुरिमसदिसमेवा ति॥

अयं विञ्ञाणञ्चायतनकम्मट्ठाने वित्थारकथा॥

३. ततियारुप्प(आकिञ्चञ्ञायतन)कथा

१९. आकिञ्चञ्ञायतनं भावेतुकामेन पनं पञ्चहाकारेहि विञ्ञाणञ्चायतनसमापत्तियं चिण्णवसीभावेन "आसन्नआकासानञ्चायतनपच्चत्थिका अयं समापत्ति, नो च आकिञ्चञ्ञा-

---

१८. **अनन्तं विञ्ञाणं**—जो विज्ञान आकाश को आलम्बन बनाकर 'अनन्त आकाश' इस रूप में प्रवृत्त हुआ था, उसी विज्ञान को "अनन्त विज्ञान"—यों मनस्कार करने के कारण कहा जाता है। या मनस्कार के अनुसार अनन्त है; क्योंकि वह आकाश को आलम्बन बनाने वाले उस विज्ञान का निरवशेष मनस्कार करते हुए (वस्तुत:) 'अनन्त'—यह मनस्कार करता है।

किन्तु **विभङ्ग** में जो यह कहा गया है—"अनन्त विज्ञान=उसी आकाश का, जो विज्ञान का आलम्बन हैं, जो विज्ञान का मनस्कार करता है, अनन्त को आलम्बन बनाता है, इसलिये अनन्त विज्ञान कहा जाता है" (अभि० २/३१५)—इस प्रसङ्ग में "विज्ञान द्वारा"—इसमें उपयोग के अर्थ में करण कारक जानना चाहिये। **अट्ठकथाचार्य** उसका यही अर्थ बतलाते हैं। अनन्त को आलम्बन बनाता है, उसी (पूर्व आलम्बनभूत) आकाश को व्याप्त करने वाले विज्ञान का मनस्कार करता है—यह अर्थ है।

विञ्ञाणञ्चायतनं उपसम्पज्ज विहरति—यहाँ इसका अन्त नहीं है, अत: अनन्त है। अनन्त ही आनन्त्य है। विज्ञान+आनन्त्य=विज्ञानानन्त्य। (किन्तु) यह न कहकर 'विज्ञानन्त्य' कहा गया है। यहाँ यह रूढ़ शब्द है। विज्ञानानन्त्य अधिष्ठान के अर्थ में इसके सम्प्रयुक्त धर्म-ध्यान का आयतन है, जैसे देवों का देवायतन; अत: विज्ञानानन्त्यायतन है। शेष (की व्याख्या) पूर्व सदृश ही (जाननी चाहिये)॥

यह विज्ञानानन्त्यायतन कर्मस्थान की व्याख्या है॥

३. तृतीय आरूप्य (आकिञ्चन्यायतन)

१९. **आकिञ्चन्यायतन** की भावना के अभिलाषी को पाँच प्रकार से विज्ञानानन्त्यायतन-समापत्ति में कुशलता प्राप्त कर "आकाशानन्त्यायतन इस समापत्ति का समीपवर्ती वैरी है, एवं (यह)

यतनमिव सन्ता'' ति विञ्ञाणञ्चायतने आदीनवं दिस्वा तत्थ निकन्तिं परियादाय आकिञ्चञ्ञायतनं सन्ततो मनसिकरित्वा तस्सेव विञ्ञाणञ्चायतनारम्मणभूतस्स आकासानञ्चायतनविञ्ञाणस्स अभावो सुञ्ञता विवित्ताकारो मनसिकातब्बो।

कथं ? तं विञ्ञाणं अमनसिकरित्वा ''नत्थि नत्थी'' ति वा, ''सुञ्ञं सुञ्ञं'' ति वा, ''विवित्तं विवित्तं'' ति वा पुनप्पुनं आवज्जितब्बं, मनसिकातब्बं पच्चवेक्खितब्बं, तक्काहतं वितक्काहतं कातब्बं।

२०. तस्सेवं तस्मिं निमित्ते चित्तं चारेन्तस्स नीवरणानि विक्खम्भन्ति, सति सन्तिट्ठति, उपचारेन चित्तं समाधियति। सो तं निमित्तं पुनप्पुनं आसेवति भावेति, बहलीकरोति। तस्सेवं करोतो आकासे फुटे महग्गतविञ्ञाणे विञ्ञाणञ्चायतनं विय तस्सेव आकासं फरित्वा पवत्तस्स महग्गतविञ्ञाणस्स सुञ्ञविवित्तनत्थिभावे आकिञ्चञ्ञायतनचित्तं अप्पेति। एत्था पि च अप्पनानयो वुत्तनयेनेव वेदितब्बो।

२१. अयं पन विसेसो—तस्मिं हि अप्पनाचित्ते उप्पन्ने सो भिक्खु यथा नाम पुरिमो मण्डलमालादीसु केनचिदेव करणीयेन सन्निपतितं भिक्खुसङ्घं दिस्वा कत्थचि गन्त्वा सन्निपातकिच्चावसाने व उट्ठाय पक्कन्तेसु भिक्खूसु आगन्त्वा द्वारे ठत्वा पुन तं ठानं ओलोकेन्तो सुञ्ञमेव पस्सति, विवित्तमेव पस्सति, नास्स एवं होति—''एत्तका नाम भिक्खू कालङ्कता वा दिसापक्कन्ता वा'' ति, अथ खो सुञ्ञमिदं विवित्तं ति नत्थिभावमेव पस्सति; एवमेव पुब्बे आकासे पवत्तितविञ्ञाणं विञ्ञाणञ्चायतनज्झानचक्खुना पस्सन्तो विहरित्वा ''नत्थि नत्थी[1]''

आकिञ्चन्यायतन के समान शान्त भी नहीं हैं''—यों विज्ञानानन्त्यायतन में दोष देखकर, उसके प्रति आसक्ति छोड़ देनी चाहिये तथा आकिञ्चन्यायतन का शान्त के रूप में मनस्कार करते हुए, उसी आकाशानन्त्यायतन से सम्बद्ध विज्ञान के अभाव, शून्यता, रिक्तता (विविक्त आकार) पर मन लगाना चाहिये, जो विज्ञानानन्त्यायतन का आलम्बन बना था। कैसे? उस विज्ञान का मनस्कार न करते हुए, ''नहीं है, नहीं है'' या ''शून्य, शून्य'' या ''रिक्त, रिक्त''—यों बार बार अभ्यास, मनस्कार, प्रत्यवेक्षण, तर्क वितर्क करना चाहिये।

२०. यों उस निमित्त में चित्त लगाने वाले के नीवरण दब जाते हैं, स्मृति स्थिर होती हैं, उपचार द्वारा चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त का मनन, भावना, बारंबार अभ्यास करता है। जब वह ऐसा करता है, तब आकाश को आलम्बन बनानेवाले महद्गत (अत्युत्कृष्ट) विज्ञान में विज्ञानानन्त्यायतन के समान, उसी आकाश को आलम्बन बनाकर प्रवृत्त हुए महद्गत विज्ञान के शून्यता, रिक्तता या अनस्तित्व में आकिञ्चन्यायतन चित्त उत्पन्न होता है। यहाँ भी अर्पणा की विधि पूर्वोक्त प्रकार से ही जाननी चाहिये।

२१. अन्तर यह है—जैसे कोई पुरुष सभागार आदि में किसी कारणवश एकत्र हुए भिक्षुसङ्घ को देखे। तत्पश्चात् कहीं चला जाय। सभा का कार्य सम्पन्न हो जाने पर भिक्षु (भी) उठकर चले जाँय। तब व (पुरुष) लौटकर यदि द्वार पर खड़ा होकर फिर से उस स्थान को देखे तो शून्य ही देखेगा, रिक्त ही देखेगा। वह यह तो नहीं मान लेता कि ''उतने भिक्षु दिवङ्गत हो गये, या

---

१. **नत्थि नत्थी** ति। आमेडितवचनं भावनाकारदस्सनं।

ति आदिना परिकम्ममनसिकारेन अन्तरहिते तस्मिं विञ्ञाणे तस्स अपगमसङ्खातं अभावमेव पस्सन्तो विहरति।

एत्तावता चेस **"सब्बसो विञ्ञाणञ्चायतनं समतिक्कम्म नत्थि किञ्ची ति आकिञ्चञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरती"** (अभि० २/३९५) ति वुच्चति।

२२. इधा पि **सब्बसो** ति। इदं **वुत्तनयमेव**। **विञ्ञाणञ्चायतनं** ति। एत्था पि च पुब्बे वुत्तनयेनेव झानं पि विञ्ञाणञ्चायतनं, आरम्मणं पि। आरम्मणं पि हि पुरिमनयेनेव विञ्ञाणञ्चं च तं, दुतियस्स आरुप्पज्झानस्स आरम्मणत्ता देवानं देवायतनं विय अधिट्ठानट्ठेन आयतनं चा ति विञ्ञाणञ्चायतनं। तथा विञ्ञाणं च तं तस्सेव झानस्स सञ्ञातिहेतुत्ता "कम्बोजा अस्सानं आयतनं" ति आदीनि विय सञ्ञातिदेसट्ठेन आयतनं चा ति पि विञ्ञाणञ्चायतनं। एवमेतं झानं च आरम्मणं चा ति उभयं पि अप्पवत्तिकरणेन च अमनसिकरणेन च समतिक्कमित्वा व यस्मा इदं आकिञ्चञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहातब्बं, तस्मा उभयं पेतं एकज्झं कत्वा "विञ्ञाणञ्चायतनं समतिक्कम्मा" ति इदं वुत्तं ति वेदितब्बं।

नत्थि किञ्ची ति। नत्थि नत्थि, सुञ्ञं सुञ्ञं, विवित्तं विवित्तं ति एवं मनसिकरोन्तो ति वुत्तं होति। यं पि **विभङ्गे** वुत्तं—**"नत्थि किञ्ची ति तं येव विञ्ञाणं अभावेति विभावेति अन्तरधापेति, नत्थि किञ्ची ति पस्सति, तेन वुच्चति—नत्थि किञ्ची"** ति, तं किञ्चापि खयतो

प्रदेश से बाहर चले गये"; अपितु उसे शून्य, रिक्त या 'नहीं है' इस रूप में देखता है। वैसे ही, अर्पणाचित्त उत्पन्न हो जाने पर वह भिक्षु जो पहले आकाश (के विषय) में प्रवृत्त विज्ञान को विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान-चक्षु से देखते हुए विहार करता था, अब "नहीं है, नहीं है" आदि प्रारम्भिक मनस्कार द्वारा उस अन्तर्हित विज्ञान में उसके अपगम (लोप) संज्ञक अभाव को ही देखते हुए साधना करता है।

इसी के विषय में यह कहा गया है—"सर्वथा विज्ञानानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर, 'कुछ नहीं है' यों आकिञ्चन्यायतन को प्राप्त कर साधना करता है।" (अभि० २/३९५)।

२२. यहाँ भी, **सब्बसो**—यह पूर्वोक्त व्याख्यानुसार ही है।

विञ्ञाणञ्चायतनं—यहाँ भी पूर्वोक्त के अनुसार ही, ध्यान भी विज्ञानानन्त्यायतन है एवं आलम्बन भी। आलम्बन भी, पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही, विज्ञानानन्त्यायतन इसलिये है क्योंकि वह विज्ञानानन्त्य है, साथ ही द्वितीय आरूप्य ध्यान का आलम्बन होने से अधिष्ठान के अर्थ में आयतन है, जैसे देवों का देवायतन। और भी, वह विज्ञान है एवं उसी ध्यान की उत्पत्ति का हेतु होने से "कम्बोज अश्वों का आयतन है" आदि के समान उत्पत्तिदेश के अर्थ में आयतन है, इसलिये भी विज्ञानानन्त्यायतन है। इस प्रकार, क्योंकि इस ध्यान एवं आलम्बन दोनों को ही प्रवृत्त न करने, मनस्कार न करने से अतिक्रमण करते हुए इस आकिञ्चन्यायतन को प्राप्त कर विहार करना चाहिये, अतः दोनों के लिये ही "विज्ञानानन्त्यायतन का अतिक्रमण कर" ऐसा कहा गया है—जानना चाहिये।

नत्थि किञ्चि—तात्पर्य यह है कि वह "नहीं है, नहीं है, या शून्य शून्य, या रिक्त रिक्त"—यों मनस्कार करता है। **विभङ्ग** में भी यह जो कहा गया है—"कुछ नहीं है" इस रूप में उसी विज्ञान का अभाव करता है, अन्तर्हित करता है, "कुछ नहीं है" इस रूप में देखता है। इसलिये

सम्मसनं विय वुत्तं, अथ ख्वस्स एवमेव अत्थो दट्ठब्बो। तं हि विञ्ञाणं अनावज्जेन्तो अमनसिकरोन्तो अपच्चवेक्खन्तो केवलमस्स नत्थिभावं सुञ्ञभावं विवित्तभावमेव मनसिकरोन्तो अभावेति विभावेति अन्तरधापेती ति वुच्चति, न अञ्ञथा ति।

आकिञ्चञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरती ति। एत्थ पन नास्स किञ्चनं ति अकिञ्चनं। अन्तमसो भङ्गमत्तं पि अस्स अवसिट्ठं नत्थी ति वुत्तं होति। अकिञ्चनस्स भावो आकिञ्चञ्ञं। आकासानञ्चायतनविञ्ञाणापगमस्सेतं अधिवचनं। तं आकिञ्चञ्ञं अधिट्ठानट्ठेन आयतनमस्स झानस्स देवानं देवायतनमिवा ति आकिञ्चञ्ञायतनं। सेसं पुरिमसदिसमेवा ति॥

अयं आकिञ्चञ्ञायतनकम्मट्ठाने वित्थारकथा॥

४. चतुत्थारुप्प(नेवसञ्ञानासञ्ञायतन)कथा

२३. नेवसञ्ञासञ्ञायतनं भावेतुकामेन पन पञ्चहाकारेहि आकिञ्चञ्ञायतनसमापत्तियं चिण्णवसीभावेन "आसन्नविञ्ञाणञ्चायतनपच्चत्थिका अयं समापत्ति, नो च नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं विय सन्ता" ति वा "**सञ्ञा रोगो, सञ्ञा गण्डो, सञ्ञा सल्लं, एतं सन्तं, एतं पणीतं यदिदं नेवसञ्ञानासञ्ञा**" (म० नि० ३/१०४४) ति वा एवं आकिञ्चञ्ञायतने आदीनवं, उपरि आनिसंसं च दिस्वा आकिञ्चञ्ञायतने निकन्तिं परियादाय नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं सन्ततो मनसिकरित्वा सा व अभावं आरम्मणं कत्वा पवत्तिता आकिञ्चञ्ञायतनसमापत्ति

कहा गया है—'कुछ नहीं है'। वह यद्यपि इस ढंग से कहा गया है कि जैसे ('नत्थि' आदि को) विज्ञान के क्षय के अर्थ में समझा जाना चाहिये; किन्तु उसका अर्थ यही समझना चाहिये। उस विज्ञान के प्रति उन्मुख न होते हुए, मनस्कार न करते हुए, प्रत्यवेक्षण न करते हुए, केवल इसके नास्तित्व, शून्यत्व, विविक्तत्व (रिक्तता) का ही मनस्कार करते हुए (विज्ञान का) अभाव करता है, अनुपस्थित करता है, अन्तर्धान करता है—यह कहा गया है, अन्यथा नहीं (समझना चाहिये)।

आकिञ्चञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरति—इसका कुछ (=किञ्चन) नहीं है अतः अकिञ्चन है। अर्थात् यहाँ तक कि इसका भङ्ग भी अवशिष्ट नहीं रहता (क्योंकि भङ्ग भी उसी का सम्भव है, जिसका पहले अस्तित्व हो)। अकिञ्चनत्व ही आकिञ्चन्य है। आकाशानन्त्यायतन से सम्बद्ध विज्ञान के लोप का यह अधिवचन है। वह आकिञ्चन्य अधिष्ठान के अर्थ में इस ध्यान का आयतन है, जैसे देवों का देवायतन; अतः आकिञ्चन्यायतन है। शेष पूर्वानुसार ही है॥

यह आकिञ्चन्यातयन की व्याख्या है॥

४. चतुर्थ आरूप्य (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन)

२३. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की भावना के अभिलाषी को पाँच प्रकार से आकिञ्चन्यायतन-समापत्ति में कुशलता प्राप्त कर "इस समापत्ति का समीपवर्ती वैरी विज्ञानानन्त्यायतन है, एवं यह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के समान शान्त भी नहीं है"—इस प्रकार; या "संज्ञा रोग है, संज्ञा गण्ड (व्रण) है, संज्ञा शल्य (काँटा) है। यह शान्त है, यह उत्कृष्ट है यह जो नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है" (म० नि० ३/१०४४)—इस प्रकार आकिञ्चन्यातयन में दोष देखकर तथा आगे (के स्तर में) गुण देखकर आकिञ्चन्यायतन के प्रति आसक्ति छोड़कर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का शान्त के रूप में मनस्कार करना

"सन्ता सन्ता" ति पुनप्पुनं आवज्जितब्बा, मनसिकातब्बा, पच्चवेक्खितब्बा, तक्काहता वितक्काहता कातब्बा।

२४. तस्सेवं तस्मिं निमित्ते पुनप्पुनं मानसं चारेन्तस्स नीवरणानि विक्खम्भन्ति, सति सन्तिट्ठति, उपचारेन चित्तं समाधियति। सो तं निमित्तं पुनप्पुनं आसेवति, भावेति, बहुलीकरोति। तस्सेवं करोतो विञ्ञाणापगमे आकिञ्चञ्ञायतनं विय आकिञ्चञ्ञायतनसमापत्तिसङ्खातेसु चतूसु खन्धेसु नेवसञ्ञानासञ्ञायतनचित्तं अप्पेति। अप्पनानयो पनेत्थ वुत्तनयेनेव वेदितब्बो।

एत्तावता चेस "**सब्बसो आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम्म नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहरती**" (अभि० २/३९५) ति वुच्चति।

२५. इधा पि **सब्बसो** ति। इदं वुत्तनयमेव। **आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम्मा** ति। एत्था पि पुब्बे वुत्तनयेनेव झानं पि आकिञ्चञ्ञायतनं, आरम्मणं पि। आरम्मणं पि हि पुरिमनयेनेव आकिञ्चञ्ञं च तं, ततियस्स आरुप्पज्झानस्स आरम्मणत्ता देवानं देवायतनं विय अधिट्ठानट्ठेन आयतनं चा ति आकिञ्चञ्ञायतनं। तथा आकिञ्चञ्ञं च तं, तस्सेव झानस्स सञ्जातिहेतुत्ता "कम्बोजा अस्सानं आयतनं" ति आदीनि विय सञ्जातिदेसट्ठेन आयतनं चा ति पि आकिञ्चञ्ञायतनं। एवमेतं झानं च आरम्मणं चा ति उभयं पि अप्पवत्तिकरणेन च अमनसि-करणेन च समतिक्कमित्वा व यस्मा इदं नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं उपसम्पज्ज विहातब्बं, तस्मा उभयं पेतं एकज्झं कत्वा आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम्मा ति इदं वुत्तं ति वेदितब्बं।

२६. **नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं** ति। एत्थ पन याय सञ्ञाय भावतो तं नेवसञ्ञाना-

---

चाहिये। अभाव को आलम्बन बनाकर प्रवृत्त हुई उसी आकिञ्चन्यायतनसमापत्ति की ओर "शान्त, शान्त" इस रूप में बार बार ध्यान देना चाहिये, मनस्कार करना चाहिये, प्रत्यवेक्षण करना चाहिये, तर्क-वितर्क करना चाहिये।

२४. उन निमित्त में बार बार मन लगाने वाले के नीवरण दब जाते हैं, स्मृति स्थिर होती है, उपचार से चित्त समाधिस्थ होता है। वह उस निमित्त का मनन, भावना, बार बार अभ्यास करता है। जब वह ऐसा करता है, तब विज्ञान के लुप्त होने पर आकिञ्चन्यायतन (की प्राप्ति) के समान, आकिञ्चन्यायतनसमापत्तिसंज्ञक चार स्कन्धों में नैवसंज्ञानासंज्ञायतन चित्त अर्पणा में उत्पन्न होता है। अर्पणा की विधि पूर्वोक्त के अनुसार ही समझी जानी चाहिये।

इसी विषय में कहा गया है—"सर्वथा आकिञ्चन्यायतन का अतिक्रमण कर नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन को प्राप्त कर विहार करता है" (अभि० २/३९५)।

२५. यहाँ भी **सब्बसो**—यह पूर्वोक्त के अनुसार ही है।

आकिञ्चञ्ञायतनं समतिक्कम्म—यहाँ भी पूर्वोक्त के अनुसार ही आकिञ्चन्यायतन ध्यान भी है और उस आकिञ्चन्य को आलम्बन भी समझना चाहिये। तृतीय आरूप्य ध्यान का आलम्बन होने से अधिष्ठान के अर्थ में आयतन भी है, जैसे देवों का आयतन=देवायतन।

और भी—वह आकिञ्चन्य है, एवं उसी ध्यान की उत्पत्ति का हेतु होने से उत्पत्ति के देश के अर्थ में आयतन भी है, "कम्बोज अश्वों का आयतन है" आदि के समान, इसलिये भी आकिञ्चन्यायतन है। यों ध्यान एवं आलम्बन दोनों को ही प्रवृत्त न करने से, मनस्कार न करने

सञ्ञायतनं ति वुच्चति। यथा पटिपन्नस्स सा सञ्ञा होति, तं ताव दस्सेतुं **विभङ्गे**— "नेवसञ्ञीनासञ्ञी" ति उद्धरित्वा "**तं येव आकिञ्चञ्ञायतनं सन्ततो मनसि करोति, सङ्खारावसेससमापत्तिं भावेति, तेन वुच्चति—नेवसञ्ञीनासञ्ञी**" (अभि० २/३१६) ति वुत्तं। तत्थ **सन्ततो मनसि करोती** ति। "सन्ता वतायं समापत्ति, यत्र हि नाम नत्थिभावं पि आरम्मणं करित्वा ठस्सती" ति एवं सन्तारम्मणताय तं सन्ता ति मनसि करोति।

सन्ततो चे मनसि करोति, कथं समतिक्कमो होती ति? असमापज्जितुकामताय। सो हि किञ्चापि तं सन्ततो मनसिकरोति, अथ ख्वस्स "अहमेतं आवज्जिस्सामि, समापज्जिस्सामि, अधिट्ठहिस्सामि, वुट्ठहिस्सामि, पच्चवेक्खिस्सामी" ति एस आभोगो समन्नाहारो मनसिकारो न होति। कस्मा? आकिञ्चञ्ञायतनतो नेवसञ्ञानासञ्ञायतनस्स सन्ततर-पणीततरताय।

२८. यथा हि राजा महच्चराजानुभावेन[1] हत्थिक्खन्धवरगतो नगरवीथियं विचरन्तो दन्तकारादयो सिप्पिके एकं वत्थं दळ्हं निवासेत्वा एकेन सीसं वेठेत्वा दन्तचुण्णादीहि समोकिण्णगत्ते अनेकानि दन्तविकतिआदीनि सिप्पानि करोन्ते दिस्वा "अहो वत रे छेका आचरिया ईदिसानि पि नाम सिप्पानि करिस्सन्ती" ति एवं तेसं छेकताय तुस्सति, न चस्स एवं होति—"अहो वताहं रज्जं पहाय एवरूपो सिप्पिको भवेय्यं" ति। तं किस्स हेतु?

से अतिक्रमण करते हुए ही, क्योंकि इस नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त कर विहार करना चाहिये, अत: दोनों के लिये ही "आकिञ्चन्यायतन का अतिक्रमण कर" ऐसा कहा गया जानना चाहिये।

२६. **नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं**—यहाँ, जो उसका अभ्यास करता है, उसी में वह संज्ञा होती है, जिसकी उपस्थिति के कारण इस (समापत्ति) को "नैवसंज्ञानासंज्ञायतन" कहा जाता है। यही प्रदर्शित करने के लिये **विभङ्ग** में पहले, "नैवसंज्ञीनासंज्ञी" इसे उद्धृत कर, पुन: यह कहा गया है—"उसी आकिञ्चन्यायतन का शान्त के रूप में मनस्कार करता है, अवशिष्ट संस्कारों के साथ समापत्ति की भावना करता है, इसलिये कहते हैं—नैवसंज्ञीनासंज्ञी" (अभि० २/३१६)। वहाँ **सन्ततो मनसिकरोति**—"यह समापत्ति शान्त है, क्योंकि यह नास्तित्व को भी आलम्बन बनाकर रह सकती है"—यों शान्त आलम्बन वाली होने से उसका शान्त के रूप में मनस्कार करता है।

२७. यदि शान्त के रूप में मनस्कार करता है, तो अतिक्रमण कैसे होता है? समापत्ति (प्राप्ति) की (वस्तुत:) इच्छा न होने से! क्योंकि यद्यपि वह उसका शान्त के रूप में मनस्कार करता है, तथापि उसे "मैं इसकी ओर अभिमुख होऊँगा, प्राप्त करूँगा, अधिष्ठान करूँगा, उससे उठूँगा, प्रत्यवेक्षण करूँगा" ऐसा विचार, प्रतिक्रिया या मनस्कार नहीं होता। क्यों? क्योंकि आकिञ्चन्यायतन की अपेक्षा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन अधिक शान्त अधिक उत्कृष्ट है।

२८. जैसे कोई राजा स्वकीय राजवैभव का प्रदर्शन करते हुए हाथी पर बैठकर नगर की वीथियों पर विचरण करते समय देखे कि (हाथी) दाँत के कुछ शिल्पी चूर्ण आदि से धूल-धूसरित (हाथी-) दाँत को काटने-छीलने आदि अनेक प्रकार के शिल्पों में लगे हैं; तो वह उनकी निपुणता पर इस प्रकार सन्तोष अनुभव करता है—"ये (शिल्पविद्या के) आचार्य कितने निपुण हैं कि कला (कारीगरी) भी कर लेते हैं।" (किन्तु) वह राजा यह तो नहीं सोचता—"क्या ही अच्छा हो

---

१. महता च राजानुभावेना त्यत्थो।

रज्जसिरिया महानिसंसताय। सो सिप्पिनो समतिक्कमित्वा व गच्छति। एवमेव एस किञ्चापि तं समापत्तिं सन्ततो मनसिकरोति, अथ ख्वस्स—"अहमेतं समापत्तिं आवज्जिस्सामि, समापज्जिस्सामि, अधिट्ठहिस्सामि, वुट्ठहिस्सामि, पच्चवेक्खिस्सामी" ति नेव आभोगो समन्नाहारो मनसिकारो होति।

सो तं सन्ततो मनसिकरोन्तो पुब्बे वुत्तनयेन तंपरमसुखुमं अप्पनापत्तं सञ्ञं पापुणाति, याय नेवसञ्ञीनासञ्ञी नाम होति, सङ्खारावसेससमापत्तिं भावेतीति वुच्चति। **सङ्खारावसेस-समापत्तिं** ति। अच्चन्तसुखुमभावप्पत्तसङ्खारं चतुत्थारुप्पसमापत्तिं।

२९. इदानि यं तं एवं अधिगताय सञ्ञाय वसेन नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति वुच्चति, तं अत्थतो दस्सेतुं—"**नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समापन्नस्स वा उपन्नस्स वा दिट्ठधम्मसुखविहारिस्स वा चित्तचेतसिका धम्मा**" (अभि० २/३१६) ति वुत्तं। तेसु इध समापन्नस्स चित्तचेतसिका धम्मा अधिप्पेता।

वचनत्थो पनेत्थ ओळारिकाय सञ्ञाय अभावतो सुखुमाय च भावतो नेवस्स ससम्पयुत्तधम्मस्स झानस्स सञ्ञा नासञ्ञा ति नेवसञ्ञानासञ्ञं। नेवसञ्ञानासञ्ञं च तं, मनायतनधम्मायतनपरियापन्नत्ता आयतनं चा ति नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं।

अथवा यायमेत्थ सञ्ञा, सा पटुसञ्ञाकिच्चं कातुं असमत्थताय नेव सञ्ञा,

---

यदि मैं राज्य छोड़कर ऐसा ही शिल्पी बन जाऊँ।" क्यों? क्योंकि राज्यश्री में अधिक गुण हैं। (अत:) वह शिल्पियों का अतिक्रमण कर (उन्हें वहीं छोड़कर) चला जाता है। वैसे ही यद्यपि यह (योगी) उस समापत्ति का शान्त के रूप में मनस्कार करता है, तथापि उसे—"मैं इस समापत्ति की ओर अभिमुख होऊँगा, प्राप्त करूँगा, अधिष्ठान करूँगा, उठूँगा, प्रत्यवेक्षण करूँगा"—ऐसा विचार, प्रतिक्रिया या मनस्कार कभी नहीं होता।

वह उसका शान्त के रूप में मनस्कार करते हुए पूर्वोक्त प्रकार से उस परम सूक्ष्म, अर्पणा के स्तर तक पहुँची हुई संज्ञा को प्राप्त करता है, जिसके कारण उसे नैवसंज्ञीनासंज्ञी कहा जाता है, एवं उसके विषय में कहा जाता है कि वह अवशिष्ट संस्कारों के साथ समापत्ति की भावना करता है। **सङ्खारावसेससमापत्तिं**—चतुर्थ अर्थात् आरूप्य समापत्ति को, जिसके संस्कार अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में होते हैं।

२९. अब जिसे यों अधिगत संज्ञा के कारण नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा जाता है, उसे अर्थत: प्रदर्शित करने के लिये यह कहा गया है—"**नैवसंज्ञानासंज्ञायतन**=नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त करने वाले के या दृष्टधर्मसुखविहारी के चित्त-चैतसिक धर्म" (अभि० २/३१६)। उनमें से, समापत्ति-लाभी के चित्तचैतसिक धर्म यहाँ अभिप्रेत हैं। यहाँ शाब्दिक अर्थ यह है कि स्थूल संज्ञा का अभाव होने एवं सूक्ष्म संज्ञा का भाव होने से इसके सम्प्रयुक्त धर्मध्यान की न तो संज्ञा है न असंज्ञा; अत: नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वह नैवसंज्ञानासंज्ञा है तथा मनआयतन एवं धर्मायतन से युक्त होने के कारण आयतन भी है, इसलिये नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है।

अथवा जो यहाँ संज्ञा है, वह संज्ञा के निश्चित कृत्य को करने में असमर्थ है, अत: संज्ञा

सङ्खारावसेससुखुमभावेन विज्जमानत्ता नासञ्ञा ति नेवसञ्ञानासञ्ञा। नेवसञ्ञानासञ्ञा[1] च सा सेसधम्मानं अधिट्ठानट्ठेन आयतनं चाति **नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं**।

३०. न केवलं चेत्थ सञ्ञा व एदिसी, अथ खो वेदना पि नेववेदनानावेदना, चित्तं पि नेवचित्तंनाचित्तं, फस्सो पि नेवफस्सोनाफस्सो। एस नयो सेससम्पयुत्तधम्मेसु। सञ्ञासीसेन पनायं देसना कता ति वेदितब्बा।

पत्तमक्खनतेलप्पभुतीहि च उपमाहि एस अत्थो विभावेतब्बो—

सामणेरो किर तेलेन पत्तं मक्खेत्वा ठपेसि। तं यागुपानकाले थेरो "पत्तमाहारा" ति आह। सो "पत्ते तेलमत्थि, भन्ते" ति आह। ततो "आहर, सामणेर, तेलं, नाळिं पूरेस्सामी" ति वुत्ते "नत्थि, भन्ते तेलं" ति आह। तत्थ यथा अन्तोवुत्थत्ता यागुया सद्धिं अकप्पियट्ठेन, "तेलमत्थी" ति होति, नाळिपूरणादीनं वसेन "नत्थी" ति होति। एवं सा पि सञ्ञा पटुसञ्ञाकिच्चं कातुं असमत्थताय नेवसञ्ञा, सङ्खारावसेससुखुमभावेन विज्जमानत्ता नासञ्ञा होति।

३१. किं पनेत्थ सञ्ञाकिच्चं ति? आरम्मणसञ्जाननं चेव विपस्सनाय च विसयभावं उपगन्त्वा निब्बिदाजननं। दहनकिच्चमिव हि सुखोदके तेजोधातु सञ्जाननकिच्चं पेसा पटुं कातुं न सक्कोति। सेससमापत्तीसु सञ्ञा विय विपस्सनाय विसयभावं उपगन्त्वा निब्बिदाजननं पि कातुं न सक्कोति।

नहीं है। अवशिष्ट संस्कारों के रूप में सूक्ष्म रूप से विद्यमान होने से असंज्ञा भी नहीं है। अतः नैवसंज्ञानासंज्ञा है। वह नैवसंज्ञानासंज्ञा है एवं अधिष्ठान के अर्थ में शेष धर्मों का आयतन भी है, अतः नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है।

३०. एवं यहाँ न केवल संज्ञा ऐसी है, अपितु वेदना भी नैववेदनानावेदना है, चित्त भी नैवचित्तनाचित्त है, स्पर्श भी नैवस्पर्शनास्पर्श है। शेष सम्प्रयुक्त धर्मों में भी यही विधि है। किन्तु संज्ञा को सर्वोपरि रखते हुए देशना की गयी है—ऐसा जानना चाहिये।

पात्र में लगे हुए तैल आदि की उपमाओं से इस अर्थ का स्पष्टीकरण करना चाहिये।

किसी श्रामणेर ने पात्र में तैल लगाकर रख दिया। यवागू पीने के समय स्थविर ने उसे पुकारा—"पात्र ले आओ।" उसने कहा—"भन्ते, पात्र में तैल है।" तब "ले आओ तैल, श्रामणेर! शीशी भर लूँ" ऐसा कहे जाने पर बोला—"भन्ते, तैल नहीं है।" वहाँ, जैसे पात्र के अन्दर लगा हुआ होने से यवागू के साथ विषम होने के अर्थ में "तैल है" "तैल नहीं है"—ऐसा कहा जाता है; वैसे वह संज्ञा भी संज्ञा के निश्चित कृत्य को करने में समर्थ न होने की संज्ञा नहीं होती, अवशिष्ट संस्कार के रूप में सूक्ष्म रूप से विद्यमान होने से असंज्ञा भी नहीं होती।

३१. यहाँ संज्ञा का कृत्य क्या है? आलम्बन को जानना एवं विपश्यना का विषयभाव प्राप्त कर निर्वेद उत्पन्न करना। शीतोष्ण (कुनकुने) जल में जैसे तेजोधातु (अग्नि) जलाने का कृत्य नहीं कर सकती, वैसे ही यह (सूक्ष्म संज्ञा) संज्ञायतन का निश्चित कृत्य नहीं कर सकती। जैसे

---

१. **नेवसञ्ञा** ति एत्थ न-कारो अभावत्थो। **नासञ्ञं** ति एत्थ न-कारो अञ्ञत्थो, अ-कारो अभावत्थो व, असञ्ञं अनसञ्ञं चा ति अत्थो।

अञ्ञेसु हि खन्धेसु अकताभिनिवेसो भिक्खु नेवसञ्ञानासञ्ञायतनक्खन्धे सम्मसित्वा निब्बिदं पत्तुं समत्थो नाम नत्थि, अपि च आयस्मा सारिपुत्तो। पकतिविपस्सको पन महापञ्ञो सारिपुत्तसदिसो व सक्कुणेय्य। सो पि—"**एवं किरिमे धम्मा अहुत्वा सम्भोन्ति, हुत्वा पटिवेन्ती**" (म० नि० ३/११२२) ति एवं कलापसम्मसनवसेनेव, नो अनुपदधम्म-विपस्सनावसेन। एवं सुखुमत्तं गता एसा समापत्ति।

३२. यथा च पत्तमक्खनतेलूपमाय, एवं मग्गुदकूपमाय पि अयमत्थो विभावेतब्बो—मग्गप्पटिपन्नस्स किर थेरस्स पुरतो गच्छन्तो सामणेरो थोकमुदकं दिस्वा—"उदकं, भन्ते, उपाहना ओमुञ्चथा" ति आह। ततो थेरेन "सचे उदकमत्थि आहर न्हानसाटिकं, न्हायिस्सामा" ति वुत्ते "नत्थि, भन्ते' ति आह। तत्थ यथा उपाहनतेमनमत्तट्ठेन "उदकं अत्थी" ति होति, न्हायनट्ठेन "नत्थी" ति होति; एवं पि सा पटुसञ्ञाकिच्चं कातुं असमत्थताय नेवसञ्ञा, सङ्खारावसेससुखुमभावेन विज्जमानत्ता नासञ्ञा होति।

न केवलं च एताहेव, अञ्ञाहि पि अनुरूपाहि उपमाहि एस अत्थो विभावेतब्बो।

उपसम्पज्ज विहरती ति। इदं वुत्तनयमेवा ति॥

अयं नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकम्मट्ठाने वित्थारकथा॥

संज्ञा शेष समापत्तियों में विपश्यना का विषय बनकर निर्वेद उत्पन्न करती है, वैसे भी यह नहीं कर सकती।

अन्य स्कन्धों में अभिनिवेश रखने वाला भिक्षु नैवसंज्ञानासंज्ञा स्कन्ध में चिन्तन द्वारा निर्वेद प्राप्त नहीं कर सकता। केवल आयुष्मान् सारिपुत्र या सारिपुत्र के समान स्वभाव से विपश्यी एवं महाप्राज्ञ ही कर सकता है। वे (सारिपुत्र) भी "ऐसे ये धर्म नहीं होकर होते हैं, होकर विनष्ट होते हैं" (म० नि० ३.११२२)—यों कलाप (समूह) के चिन्तन द्वारा ही (निर्वेद प्राप्त कर सके), अनुपद धर्म की विपश्यना (स्पर्श आदि पर पृथक्-पृथक् रूप से, अनित्य आदि के अनुसार विचार करना) द्वारा नहीं। यह समापत्ति इतनी सूक्ष्म होती है।

३२. जैसे पात्र में लगे तैल की उपमा द्वारा, वैसे ही सड़क पर के जल की उपमा द्वारा भी इस अर्थ को स्पष्ट करना चाहिये—

मार्ग में किसी स्थविर के आगे आगे चलते हुए श्रामणेर ने थोड़ा जल देखकर कहा—"भन्ते, जल है। जूते को उतार लीजिए।" स्थविर द्वारा—"यदि जल है तो स्नान के लिये वस्त्र लाओ, नहा लूँ"—ऐसा कहने पर "नहीं है" ऐसा कहता है; वैसे ही वह संज्ञा अपने निश्चित कृत्य को करने में असमर्थ होने से संज्ञा भी नहीं होती, अवशिष्ट संस्कार के रूप में सूक्ष्मतया विद्यमान होने से असंज्ञा भी नहीं होती।

न केवल इन्हीं से, अपितु अन्य भी अनुरूप उपमाओं से इस अर्थ को स्पष्ट करना चाहिये।

उपसम्पज्ज विहरति—यह पूर्वकृत व्याख्या के अनुसार ही है॥

यह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कर्मस्थान की व्याख्या है॥

पकिण्णककथा

३३. असदिसरूपो नाथो आरुप्पं यं चतुब्बिधं आह।
तं इति ञत्वा तस्मिं पकिण्णककथा पि विञ्ञेय्या॥

३४. आरुप्पसमापत्तियो हि—

आरम्मणातिक्कमतो चतस्सो पि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतासं न इच्छन्ति विभाविनो॥

एतासु हि रूपनिमित्तातिक्कमतो पठमा, आकासातिक्कमतो दुतिया, आकासे पवत्तितविञ्ञाणातिक्कमतो ततिया, आकासे पवत्तितविञ्ञाणस्स अपगमातिक्कमतो चतुत्थी ति सब्बथा आरम्मणातिक्कमतो चतस्सो पि भवन्तिमा आरुप्पसमापत्तियो ति वेदितब्बा। अङ्गातिक्कमं पन एतासं न इच्छन्ति पण्डिता। न हि रूपावचरसमापत्तीसु विय एतासु अङ्गातिक्कमो अत्थि। सब्बासु पि हि एतासु—उपेक्खा, चित्तेकग्गता ति द्वे एव झानङ्गानि होन्ति।

३५. एवं सन्ते पि—

सुप्पणीततरा होन्ति पच्छिमा पच्छिमा इध।
उपमा तत्थ विञ्ञेय्या पासादतलसाटिका॥

यथा हि चतुभूमिकस्स पासादस्स हेट्ठिमतले दिब्बनच्चगीतवादितसुरभिगन्धमाला-भोजनसयनच्छादनादिवसेन पणीता पञ्चकामगुणा पच्चुपट्ठिता अस्सु। दुतिये ततो पणीततरा, ततिये ततो पणीततरा, चतुत्थे सब्बपणीततरा। तत्थ किञ्चापि तानि चत्तारि पि पासादतलानेव,

---

प्रकीर्णक

३३. अद्वितीय नाथ (भगवान् बुद्ध) ने जो चार प्रकार के आरूप्य बतलाये हैं, उन्हें इस प्रकार (पूर्वोक्तानुसार) जानकर, उनमें यह प्रकीर्णक-वर्णन भी (समाविष्ट) जानना चाहिये॥

३४. क्योंकि—ये चारों (आरूप्य) आलम्बन के अतिक्रमण द्वारा होते हैं। बुद्धिमान् इनमें (ध्यान के) अङ्गों का अतिक्रमण नहीं मानते॥

इनमें से, रूप-निमित्त के अतिक्रमण के प्रथम, आकाश के अतिक्रमण से द्वितीय, आकाश के विषय में प्रवर्तित विज्ञान के अतिक्रमण से तृतीय एवं आकाश में प्रवर्तित विज्ञान के लोप रूप अतिक्रमण से चतुर्थ—यों सर्वथा आलम्बन के अतिक्रमण से ही चारों आरूप्य-समापत्तियाँ होती हैं—यह जानना चाहिये। बुद्धिमान् इनमें अङ्गों का अतिक्रमण नहीं मानते; क्योंकि रूपावचर-समापत्तियों के समान इनमें अङ्गों का अतिक्रमण नहीं होता। इन सभी में दो ही ध्यानाङ्ग होते हैं—उपेक्षा एवं चित्तैकाग्रता।

३५. ऐसा होने पर भी—

यहाँ (आरूप्य समापत्तियाँ) उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होती जाती हैं। इस प्रसङ्ग में प्रासादतल एवं वस्त्र की उपमा को (अर्थ-स्पष्टीकरण में सहायक) समझना चाहिये॥

जैसे चार तलों (मंजिलों) वाले प्रासाद के नीचे वाले तल में दिव्य नृत्य-गीत-वाद्य, सुरभि-गन्धयुक्त माला, भोजन-शयन, वस्त्रादि (आच्छादन) के रूप में उत्कृष्ट पाँच कामगुण प्रत्युपस्थित

नत्थि नेसं पासादतलभावेन विसेसो। पञ्चकामगुणसमिद्धविसेसेन पन हेट्ठिमतो हेट्ठिमतो उपरिमं उपरिमं पणीततरं होति। (१)

यथा च एकाय, इत्थिया कन्तित-थूल-सण्ह-सण्हतर-सण्हतमसुत्तानं चतुपल-तिपल-द्विपल-एकपलसाटिका अस्सु, आयामेन च वित्थारेन च समप्पमाणा। तत्थ किञ्चापि ता साटिका चतस्सो पि आयामतो च वित्थारतो च समप्पमाणा, नत्थि तासं पमाणतो विसेसो। सुखसम्फस्स-सुखुमभाव-महग्घभावेहि पन पुरिमाय पुरिमाय पच्छिमा पच्छिमा पणीततरा होन्ति। एवमेव किञ्चापि चतूसु एतासु उपेक्खा चित्तेकग्गता ति एतानि द्वे येव अङ्गानि होन्ति, अथ खो भावनाविसेसेन तेसं अङ्गानि पणीत-पणीततरभावेन सुप्पणीततरा होन्ति पच्छिमा पच्छिमा इधा ति वेदितब्बा। (२)

३६. एवं अनुपुब्बेन पणीतपणीता चेता—

असुचिम्हि मण्डपे लग्गो एको तं निस्सतो परो।
अञ्ञो बहि अनिस्साय तं तं निस्साय चापरो॥
ठितो चतूहि एतेहि पुरिसेहि यथाक्कमं।
समानताय ञातब्बा चतस्सो पि विभाविना॥

तत्रायमत्थयोजना—असुचिम्हि किर देसे एको मण्डपो, अथेको पुरिसो आगन्त्वा तं असुचिं जिगुच्छमानो तं मण्डपं हत्थेहि आलम्बित्वा तत्थ लग्गो लग्गितो विय अट्ठासि।

हों, दूसरे में उससे उत्कृष्टतर, तीसरे में उससे उत्कृष्टतर, चौथे में उत्कृष्टतम। यहाँ, यद्यपि वे चारों प्रासादतल ही हैं, किन्तु प्रासादतल के रूप में उनमें (परस्पर) किसी प्रकार की (आपेक्षिक) विशेषता नहीं है। पाँच कामगुणों की समृद्धि की विशेषता से ही निचले-निचले की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के उत्कृष्टतर होते हैं। (१)

एवं जैसे किसी स्त्री के द्वारा निर्मित मोटे, पतले, उससे भी पतले, उससे भी पतले सूतों से चौहरी, तिहरी, दोहरी एवं इकहरी मोटाई के कपड़े हों, जिनकी लम्बाई एवं चौड़ाई एक समान हो। वहाँ यद्यपि ये चारों ही वस्त्र लम्बाई चौड़ाई में समान परिणाम के हैं, उनमें परिमाणतः कोई विशेषता नहीं है, किन्तु कोमल स्पर्श, पतलापन, बहुमूल्य होने आदि के आधार पर वे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होते हैं। वैसे ही यद्यपि इन चारों (आरूप्यों) में उपेक्षा एवं चित्तैकाग्रता—ये दो ही अङ्ग होते हैं, तथापि यहाँ भावना की विशेषता से उनके अङ्ग उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होते हैं, यह जानना चाहिये। (२)

३६. तथा इस प्रकार क्रमशः उत्कृष्टोत्कृष्ट ये समापत्तियाँ यों समझी जानी चाहिये—

अशुचि (स्थान) पर (किसी) मण्डप से सटकर खड़ा हुआ एक (पुरुष), उसका सहारा लिये हुए दूसरा, उनसे हटकर बाहर खड़ा हुआ तीसरा, एवं उस (तीसरे) के सहारे से खड़ा हुआ चौथा—इन चारों पुरुषों से क्रमशः चारों (समापत्तियों) की समानता बुद्धिमानों को समझनी चाहिये॥

इस कथन का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

किसी गन्दे स्थान पर एक मण्डप (तम्बू) तना था। कोई पुरुष आया और उस गन्दगी से जुगुप्सा न करते हुए उस मण्डप का हाथ से सहारा लेकर उससे सटकर खड़ा हो गया। तब

अथापरो आगन्त्वा तं मण्डपे लग्गं पुरिसं निस्सितो[१]। अथञ्ञो आगन्त्वा चिन्तेसि—"यो एस मण्डपलग्गो, यो च तं निस्सितो, उभो पेते दुट्ठिता, धुवो नेसं मण्डपपपाते पातो, हन्दाहं बहि येव तिट्ठामी" ति। सो तं निस्सितं अनिस्साय बहि येव अट्ठासि। अथापरो आगन्त्वा मण्डपलग्गस्स च तन्निस्सितस्स च अखेमभावं चिन्तेत्वा बहिट्ठितं च "सुट्ठितो" ति मन्त्वा तं निस्साय अट्ठासि।

तत्थ असुचिम्हि देसे मण्डपो विय कसिणुग्घाटिमाकासं दट्ठब्बं। असुचिजिगुच्छाय मण्डपलग्गो पुरिसो विय रूपनिमित्तजिगुच्छाय आकासारम्मणं आकासानञ्चायतनं। मण्डपलग्गं पुरिसं निस्सितो विय आकासारम्मणं आकासानञ्चायतनं आरब्भ पवत्तं विञ्ञाणञ्चायतनं। तेसं द्विन्नं पि अखेमभावं चिन्तेत्वा अनिस्साय तं मण्डपलग्गं बहिट्ठितो विय आकासानञ्चायतनं आरम्मणं अकत्वा तदभावारम्मणं आकिञ्चञ्ञायतनं। मण्डपलग्गस्स तन्निस्सितस्स च अखेमतं चिन्तेत्वा बहिट्ठितं च "सुट्ठितो" ति मन्त्वा तं निस्साय ठितो विय विञ्ञाणाभावसङ्खाते बहिपदेसे ठितं आकिञ्चञ्ञायतनं आरब्भ पवत्तं नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं दट्ठब्बं।

३७. एवं पवत्तमानं च—

आरम्मणं करोतेव अञ्ञाभावेन तं इदं।
दिट्ठदोसं पि राजानं वुत्तिहेतु जनो यथा॥

कोई दूसरा पुरुष भी आकर उस मण्डप से सटे हुए पुरुष से टिककर खड़ा हो गया। तब किसी तीसरे ने आकर सोचा—"यह जो मण्डप से सटा हुआ है और यह जो उस पर टिका है, ये दोनों ही गलत जगह पर खड़े हैं। यदि मण्डप गिर पड़ा तो इनका दबना निश्चित है। अच्छा हो मैं बाहर ही रहूँ"—और वह उस टिके हुए (दूसरे पुरुष) का सहारा न लेकर बाहर ही खड़ा रहा। तभी कोई चौथा (पुरुष) आया और मण्डप से सटे हुए को और उस पर टिके हुए को असुरक्षित समझ कर तथा जो बाहर खड़ा था उसे उचित जगह पर खड़ा जानकर उसका सहारा लेकर खड़ा हो गया।

वहाँ, गन्दे स्थान पर निर्मित मण्डप के समान उस आकाश को समझना चाहिये जिसमें से कसिण मिटा दिया गया है। गन्दगी के प्रति जुगुप्सा (घृणा) के कारण मण्डप से सटे पुरुष के समान, रूपनिमित्त के प्रति जुगुप्सा के कारण आकाश को आलम्बन बनाने वाले आकाशा-नन्त्यायतन को (जानना चाहिये)। मण्डप से सटे पुरुष का सहारा लेकर खड़े होने वाले के समान, आकाश को आलम्बन बनाने वाले आकाशानन्त्यायतन के प्रति प्रवृत्त विज्ञानानन्त्यायतन को...। उन दोनों को ही असुरक्षित मानकर मण्डप से सटे हुए का सहारा न लेकर, बाहर खड़े होने वाले के समान, आकाशानन्त्यायतन को आलम्बन न बनाकर उसके अभाव को आलम्बन बनाने वाले आकिञ्चन्यायतन को...। मण्डप से सटे और उस पर टिके दोनों को ही असुरक्षित समझकर तथा बाहर खड़े को ही "सही जगह पर खड़ा" मानकर, उसके सहारे टिकने वाले के समान, विज्ञानाभाव संज्ञक बाह्य प्रदेश में स्थित आकिञ्चन्यायतन के प्रति प्रवृत्त नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को समझना चाहिये।

३७. एवं ऐसा होने पर—यह (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) अन्य (आलम्बन) का अभाव होने

---

१. निस्सितो ति। निस्साय ठितो।

"इदं हि नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं, आसन्नविञ्ञाणञ्चायतनपच्चत्थिका अयं समापत्ती" ति एवं दिट्ठदोसं पि तं आकिञ्चञ्ञायतनं **अञ्ञस्स** आरम्मणस्स **अभावा आरम्मणं करोतेव**। यथा किं? **दिट्ठदोसं पि ग्रजानं वुत्तिहेतु यथा जनो**। यथा हि असंयतं फरुसकायवचीमनो-समाचारं किञ्चि सब्बदिसम्पत्तिं राजानं "फरुससमाचारो अयं" ति एवं दिट्ठदोसं पि अञ्ञत्थ वुत्तिं[१] अलभमानो जनो वुत्तिहेतु निस्साय वत्तति, एवं दिट्ठदोसं पि तं आकिञ्चञ्ञायतनं अञ्ञं आरम्मणं अलभमानमिदं नेवसञ्ञानसञ्ञायतनं आरम्मणं करोतेव।

३८. एवं कुरुमानं च—

आरूळ्हो दीघनिस्सेणिं यथा निस्सेणिबाहुकं।
पब्बतग्गं च आरूळ्हो यथा पब्बतमत्थकं॥
यथा वा गिरिमारूळ्हो अत्तनो येव जण्णुकं।
ओलुब्भति, तथेवेतं झानमोलुब्भ वत्तती ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे समाधिभावनाधिकारे
आरुप्पनिद्देसो नाम दसमो परिच्छेदो॥

●●

से उस (आकिञ्चन्यायतन) को आलम्बन बनाता ही है, जैसे जीविका के उद्देश्य से लोग ऐसे राजाओं को भी (आश्रय) बनाते ही हैं, जिनमें दोष स्पष्ट: दिखायी देते हों॥

क्योंकि यद्यपि नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (की चेतना) द्वारा आकिञ्चन्यायतन में यों दोष देखा जा चुका होता है कि "आकाशानन्त्यायतन इस समापत्ति का समीपवर्ती वैरी है", तथापि अन्य कोई आलम्बन (सम्भव) न होने से यह उस आकिञ्चन्यायतन को आलम्बन बनाता ही है। कैसे? जैसे किसी धनपति में दोष दिखायी देने पर भी लोग जीविका के लिये उन पर (आश्रित होते हैं)। या जैसे कि किन्हीं असंयत मन वचन कर्म से कठोर व्यवहार करने वाले, समग्र सम्पत्तियों के स्वामी राजा के विषय में "यह कठोर व्यवहार वाला है"—यों दोष देखकर भी अन्यत्र जीविका न मिलने पर लोग जीविकार्थ उसका सहारा लेते हैं; वैसे ही दोष प्रत्यक्ष होने पर भी, अन्य आलम्बन की अनुपलब्धता के कारण, उस आकिञ्चन्यायतन को यह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन आलम्बन बनाता ही है।

३८. एवं ऐसा करते हुए—जैसे लम्बी सीढ़ी पर चढ़ने वाला व्यक्ति (थकान से बचने के लिये) सीढ़ी के हत्थों का या जैसे पहाड़ पर चढ़ने वाला (चढ़ते समय), पहाड़ के पत्थरों का या अपने ही घुटनों का (हाथ टेककर) सहारा लेता है, वैसे ही यह (चतुर्थ आरूप्य) ध्यान का सहारा लेकर टिकता है॥

साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ के समाधिभावनाधिकार में
आरूप्यनिर्देश नामक दशम परिच्छेद समाप्त॥

●●

---

१. वुत्तिं ति। जीविकं।

११. समाधिनिद्देसो

एकादसमो परिच्छेदो

आहारेपटिक्कूलभावनाकथा

१. इदानि आरुप्पानन्तरं 'एका सञ्ञा' ति एवं उद्दिट्ठाय[1] आहारे पटिक्कूलसञ्ञाय भावनानिद्देसो अनुप्पत्तो।

तत्थ आहरती ति आहारो। सो चतुब्बिधो—१. कबळीकाराहारो, २. फस्साहारो, ३. मनोसञ्चेतनाहारो, ४. विञ्ञाणाहारो ति।

२. को पनेत्थ किमाहरती ति? **कबळीकाराहारो** ओजट्ठमकं रूपं आहरति। **फस्साहारो** तिस्सो वेदना आहरति। **मनोसञ्चेतनाहारो** तीसु भवेसु पटिसन्धिं आहरति। **विञ्ञाणाहारो** पटिसन्धिक्खणे नामरूपं आहरति।

३. तेसु कबळीकाराहारे निकन्तिभयं[2], फस्साहारे उपगमनभयं, मनोसञ्चेतनाहारे उपपत्तिभयं, विञ्ञाणाहारे पटिसन्धिभयं। एवं सप्पटिभयेसु च तेसु कबळीकाराहारो पुत्तमंसूपमेन (सं० नि० २/५०९) दीपेतब्बो, फस्साहारो निच्चम्मगावूपमेन (सं० नि० २/५०९),

---

११. समाधिनिर्देश

एकादश परिच्छेद

आहार में प्रतिकूल संज्ञा की भावना

१. अब, आरूप्य के बाद 'एक संज्ञा'—यों पूर्व (तृतीय परिच्छेद में) निर्दिष्ट आहार में प्रतिकूल संज्ञा की भावना के निर्देश का प्रसङ्ग आ पहुँचा है।

वहाँ, आहार का अर्थ है—आहरण करता (लाता) है। अत: वह चार प्रकार का है—१. कवलीकार (ग्रास-ग्रास करके खाया जाने वाला) आहार, २. स्पर्शाहार, ३. मन:सञ्चेतना आहार एवं ४. विज्ञानाहार।

२. यहाँ, कौन किसे लाता है? १. कवलीकार आहार ओजोऽष्टमक[3] रूप को लाता है। २ स्पर्शाहार तीन वेदनाओं (सुख, दु:ख एवं उपेक्षा) को लाता है। ३. मन:सञ्चेतना आहार तीन भवों में प्रतिसन्धि को लाता है। ४. विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण में नाम-रूप को लाता है।

३. उनमें से, कवलीकार आहार में तृष्णा (निकन्ति) का, स्पर्शाहार में उपगमन (पास जाने), मन:सञ्चेतना आहार में उत्पत्ति एवं विज्ञानाहार में प्रतिसन्धि का भय है। इस प्रकार भय के साथ रहने वाले उनमें से कवलीकार आहार को पुत्र-मांस की उपमा द्वारा (सं० नि० २/५०९),

---

१. ततियपरिच्छेदे ति सेसो।
२. **निकन्ति**=तण्हा, तं भयं अनत्थावहतो।

३. चार महाभूत, गन्ध, वर्ण, रस एवं ओज—ये आठ 'ओजोऽष्टमक' (=ओज के साथ आठ) कहे जाते हैं।

मनोसञ्चेतनाहारो अङ्गारकासूपमेन (सं० नि० २/५११), विञ्ञाणाहारो सत्तिसतूपमेना (सं० नि० २/५१२) ति।

४. इमेसु पन चतूसु आहारेसु असितपीतखायितसायितप्पभेदो कबळीकारो आहारो व इमस्मिं अत्थे आहारो ति अधिप्पेतो। तस्मिं आहारे पटिकूलाकारग्गहणवसेन उप्पन्ना सञ्ञा **आहारे पटिक्कूलसञ्ञा।**

५. तं आहारे पटिक्कूलसञ्ञं भावेतुकामेन कम्मट्ठानं उग्गहेत्वा उग्गहतो एकपदं पि अविरज्झन्तेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन असितपीतखायितसायितप्पभेदे कबळीकाराहारे दसहाकारेहि पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। सेय्यथीदं—१. गमनतो, २. परियेसनतो, ३. परिभोगतो, ४. आसयतो, ५. निधानतो, ६. अपरिपक्कतो, ७. परिपक्कतो, ८. फलतो, ९. निस्सन्दतो, १०. सम्मक्खनतो ति।

६. **तत्थ गमनतो** ति। एवं महानुभावे नाम सासने पब्बजितेन सकलरत्तिं बुद्धवचनसज्झायं वा समणधम्मं वा कत्वा कालस्सेव वुट्ठाय चेतियङ्गणबोधियङ्गवत्तं कत्वा पानीयं परिभोजनीयं उपट्ठपेत्वा परिवेणं सम्मज्जित्वा सरीरं पटिजग्गित्वा आसनं आरुय्ह वीस-तिंसवारे कम्मट्ठानं मनसिकरित्वा उट्ठाय पत्तचीवरं गहेत्वा निज्जनसम्बाधानि[1] पविवेकसुखानि छायूदककसम्पन्नानि सुचीनि सीतलानि रमणीयभूमिभागानि तपोवनानि पहाय अरियं विवेकरतिं अनपेक्खित्वा सुसानाभिमुखेन सिङ्गालेन विय आहारत्थाय गामाभिमुखेन गन्तब्बं।

एवं गच्छता च मञ्चम्हा वा पीठम्हा वा ओतरणतो पट्ठाय पादरजघरगोलिकवच्चा-

---

स्पर्शाहार को चर्मरहित गाय की उपमा द्वारा (सं० नि० २/५११), मन:सञ्चेतना आहार को अङ्गारों से भरे गड्ढे की उपमा द्वारा (सं० नि० २/५१२) एवं विज्ञानाहार को सौ बर्छियों की उपमा द्वारा समझाना चाहिये।

४. इन चार आहारों में, जो आहार खाद्य, पेय, चर्व्य (चबाये जाने योग्य) एवं लेह्य (चाटे जाने योग्य) इन प्रभेदों वाला है, वह यहाँ कवलीकार आहार के अर्थ में अभिप्रेत है। उस आहार को प्रतिकूल के रूप में ग्रहण करने से उत्पन्न हुई जो संज्ञा है, वह 'आहार में प्रतिकूल संज्ञा' है।

५. उस आहार में प्रतिकूल संज्ञा की भावना करने की इच्छा वाले को (एकान्त में जाकर) कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिये एवं ग्रहण करने के बाद विना एक पद भी विस्मृत किये, एकान्त में जाकर खाद्य, पेय, चर्व्य, लेह्य प्रभेदों वाले कवलीकार आहार की इन दस प्रकार की प्रतिकूलताओं का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। यथा—१. गमन, २. पर्येषण, ३. परिभोग, ४. आशय, ५. निधान, ६. अपरिपक्क, ७. परिपक्क, ८. फल, ९. निष्यन्द, १०. संम्रक्षण से।

६. **गमन से कैसे?**—ऐसे महान् शासन में प्रव्रजित (योगी) रात्रिपयन्त बुद्धवचन का पाठ या श्रमणधर्म का अभ्यास करने के बाद समय पर उठकर चैत्य के आँगन या बोधि (-वृक्ष) के आँगन का (मार्जन आदि) कृत्य करके, जल एवं भोजन रखकर, आँगन को भी स्वच्छ कर एवं शरीर की आवश्यकताएँ पूरी कर, आसन पर बैठ बीस-तीस बार कर्मस्थान का मनस्कार करता है। तब उठकर पात्र-चीवर लेकर लोक-बाधा से रहित, विवेक-सुख वाले छाया एवं जल

---

१. **निज्जनसम्बाधानी** ति। जनसम्बाधरहितानि।

दिसम्परिकिण्णं पच्चत्थरणं अक्कमितब्बं होति। ततो अप्पेकदा मूसिकजतुकवच्चादीहि उपहतत्ता अन्तोगब्भतो पटिक्कूलतरं पमुखं दट्ठब्बं होति। ततो उलूक-पारावतादिवच्चसम्मक्खितत्ता उपरिमतलतो पटिक्कूलतरं हेट्ठिमतलं। ततो कदाचि कदाचि वातेरितेहि पुराणतिणपण्णेहि गिलानसामणेरानं मुत्तकरीसखेळसिङ्घाणिकाहि वस्सकाले उदकचिक्खल्लादीहि च सङ्किलिट्ठत्ता हेट्ठिमतलतो पटिक्कूलतरं परिवेणं। परिवेणतो पटिक्कूलतरा विहाररच्छा दट्ठब्बा होति।

अनुपुब्बेन पन बोधिं च चेतियं च वन्दित्वा वितक्कमाळके[१] ठितेन मुत्तरासिसदिसं चेतियं मोरपिञ्छकलापमनोहरं बोधिं देवविमानसम्पत्तिसस्सिरीकं सेनासनं च अनपलोकेत्वा एवरूपं नाम रमणीयं पदेसं पिट्ठितो कत्वा आहारहेतु गन्तब्बं भविस्सती ति पक्कमित्वा गाममग्गं पटिपन्नेन खाणुकण्टकमग्गो पि उदकवेगभिन्नविसममग्गो पि दट्ठब्बो होति।

ततो गण्डं पटिच्छादेन्तेन विय निवासनं निवासेत्वा वणचोळकं बन्धन्तेन विय कायबन्धनं बन्धित्वा अट्ठिसङ्घातं पटिच्छादेन्तेन विय चीवरं पारुपित्वा भेसज्जकपालं नीहरन्तेन विय पत्तं नीहरित्वा गामद्वारसमीपं पापुणन्तेन हत्थिकुणप-अस्सकणप-गोकुणप-महिंस-

---

के सम्पन्न, पवित्र, शीतल रमणीय भूभागों, तपोवनों को अथवा विवेक के प्रति रति को छोड़ श्मशान की ओर श्रृगाल के गमन के समान, आहार के लिये गाँव की ओर उसे जाना पड़ता है।

यों जाने वाले को मंच या चौकी से उतरने के बाद पैरों की धूल, छिपकिली के मल आदि से मैले गलीचे को पार करना पड़ता है। इसके बाद दरवाजे के पास (पहुँचने पर) कमरे से भी अधिक गन्दे (प्रतिकूल), मूषक, चमगादड़ आदि के मल को देखना पड़ता है। फिर उल्लू, कबूतर आदि के मल के कारण ऊपरी मंजिल से भी गन्दी निचली मंजिल को...इसके बाद कभी-कभी हवा से उड़ते सूखे पत्तों, बीमार श्रामणेरों के मूत्र, मल, कफ, नाक का मैल आदि एवं वर्षा में पानी कीचड़ आदि से गन्दे होने के कारण निचली मंजिल से भी मलिन विहार की ओर जाने वाले मार्ग को देखना पड़ता है।

क्रम से बोधि (-वृक्ष) एवं चैत्य की वन्दनाकर, वितर्कमाल[२] में खड़े हुए (भिक्षु) को मुक्ताराशि के समान चैत्य, मोरपंख के समान मनोहर बोधि (-वृक्ष) एवं देवविमान के समान सम्पत्ति-श्रीयुक्त शयनासन की उपेक्षा करते हुए, ऐसे रमणीय प्रदेश की ओर पीठ फेरकर 'आहार हेतु जाना होगा' ऐसा सोचकर, गाँव के मार्ग पर चलते हुए कण्टकाकीर्ण मार्ग या जलप्रवाह से छिन्न-भिन्न मार्ग को भी देखना होता है।

तब जैसे कोई व्रण को ढँके वैसे वस्त्र पहनकर, जैसे घाव को बाँधे वैसे शरीर को वस्त्र से बाँधकर, जैसे अस्थिसमूह को ढँके वैसे चीवर ओढ़कर, जैसे कोई भैषज्य का कपाल लिये हुए हो, वैसे पात्र लेकर जब ग्राम के द्वार के समीप जाता है, तब हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, मनुष्य, सर्प, कुत्ते (आदि) के शवों को भी देखना पड़ता है। न केवल देखना पड़ता है अपितु घ्राण (इन्द्रिय) को अप्रिय लगने वाली गन्ध भी सहनी पड़ती है।

---

१. **वितक्कमाळके** ति। "कत्थु नु खो अज्ज भिक्खाय चरितब्बं" ति आदिना **वितक्कनमाळके**।

२. "आज भिक्षाटन के लिये कहाँ जाना ठीक होगा"—यों सोचना वितर्क है। जिस स्थान पर खड़ा होकर ऐसा सोचता है, उसे **वितर्कमाल** कहते हैं।

कुणप-मनुस्सकुणप-अहिकुणप-कुक्कुरकुणपानि पि दट्ठब्बानि भवन्ति। न केवलं च दट्ठब्बानि, गन्धो पि नेसं घानं पटिहनमानो अधिवासेतब्बो होति। ततो गामद्वारे ठत्वा चण्डहत्थिअस्सादिपरिस्सयपरिवज्जनत्थं गामरच्छा ओलोकेतब्बा होन्ति।

इच्चेतं पच्चत्थरणादिअनेककुणपपरियोसानं पटिक्कूलं आहारहेतु अक्कमितब्बं च दट्ठब्बं च घायितब्बं च होति—अहो वत, भो, पटिक्कूलो आहारो ति। एवं गमनतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (१)

कथं **परियेसनतो ?** एवं गमनपटिक्कूलं अधिवासेत्वा पि गामपविट्ठेन सङ्घाटिपारुतेन कपणमनुस्सेन विय कपालहत्थेन घरपटिपाटिया गामवीथीसु चरितब्बं होति, यत्थ वस्सकाले अक्कन्तअक्कन्तट्ठाने याव पिण्डिकमंसा पि उदकचिक्खल्ले[१] पादा पविसन्ति, एकेन हत्थेन पत्तं गहेतब्बं होति, एकेन चीवरं उक्खिपितब्बं। गिम्हकाले वातवगेन समुट्ठितेहि पंसुतिणरजेहि ओकिण्णसरीरेन चरितब्बं। तं तं गेहद्वारं पत्वा मच्छधोवन-मंसधोवन-तण्डुलधोवन-खेळ-सिङ्घाणिक-सुनख-सूकरवच्चादीहि सम्मिस्सानि किमिकुलाकुलानि नीलमक्खिकपरि-किण्णानि ओळिगल्लानि[२] चेव चन्दनिकट्ठानानि[३] च दट्ठब्बानि होन्ति, अक्कमितब्बानि पि। यतो ता मक्खिका उट्ठहित्वा सङ्घाटियं पि पत्ते पि सीसे पि निलीयन्ति!

घरं पविट्ठस्सा पि केचि देन्ति, केचि न देन्ति। ददमाना पि एकच्चे हिय्यो पक्कभत्तं पि पुराणखज्जकं पि पूतिकुम्माससूपादीनि पि ददन्ति। अददमाना पि केचिदेव "अतिच्छथ,

---

फिर ग्रामद्वार पर खड़े होकर मतवाले हाथी, घोड़े आदि के उपद्रवों से बचने के लिये ग्राम की ओर जाने का **रास्ता** देखना पड़ता है।

यों आहारहेतु गलीचे से लेकर अनेकानेक गन्दगियों को पार करना, देखना, सूँघना पड़ता है। ओह! आहार कितना प्रतिकूल है। यों **गमन से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (१)

पर्येषण से किस प्रकार? यों गमन की प्रतिकूलता सहने के बाद भी सङ्घाटी (चीथड़ों से बना ओढ़ने का वस्त्र) ओढ़कर ग्राम में प्रविष्ट (भिक्षु) को भिखारी के समान हाथ में भिक्षा-पात्र लिये हुए ग्राम की गलियों में घर घर घूमना पड़ता है। वर्षाकाल में जिन जिन स्थानों को पार करता है, घुटने पर पानी-कीचड़ में पैर धँस जाते हैं। एक हाथ से पात्र पकड़ना होता है, दूसरे से चीवर उठाये रखना होता है। गर्मी के दिनों में वायुवेग से उड़ती हुई धूल-गर्द, तिनकों से धूसरित शरीर लिये हुए चारिका करनी पड़ती है। इस या उस घर के दरवाजे पर जाकर ऐसे गड्ढे गढ़हियों को देखना पड़ता है पार भी करना पड़ता है, जो मछली मांस या चावल के धोवन, कफ-पोंटा, कुत्ते-सूअर के मल आदि के साथ कीड़ों के झुण्ड से बजबजाते रहते हैं, जिन पर नीली मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं जो उड़कर सङ्घाटी में भी, पात्र में भी, सिर में भी घुस जाती हैं।

घर में प्रवेश करने पर भी कोई दाता देते हैं, कोई कोई नहीं देते। देने वालों में भी कोई

---

१. **उदकचिक्खल्ले** ति। उदकमिस्से कद्दमे।

२. **ओळिगल्लानि**। उच्छिट्ठोदकगब्भमलादीनं सकद्दमानं सन्दनट्ठानानि, यानि जण्णुमत्तअसुचिभरितानि पि होन्ति।

३. **चन्दनिकानि** केवलानं उच्छिट्ठोदकगब्भमलादीनं सन्दनट्ठानानि।

भन्ते'' ति वदन्ति। केचि पन अपस्समाना विय तुण्ही होन्ति, केचि अञ्ञेन मुखं करोन्ति, केचि ''गच्छ, रे मुण्डका' ति आदीहि फरुसवाचाहि समुदाचरन्ति। एवं कपणमनुस्सेन विय गामे पिण्डाय चरित्वा निक्खमितब्बं ति।

इच्चेतं गामप्पवेसनतो पट्ठाय याव निक्खमना उदकचिक्खल्लादिपटिक्कूलं आहारहेतु अक्कमितब्बं चेव दट्ठब्बं च अधिवासेतब्बं च होति—अहो वत, भो, पटिक्कूलो आहारो ति। एवं परियेसनतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (२)

कथं **परिभोगतो ?** एवं परियिट्ठाहारेन पन बहिगामे फासुकट्ठाने सुखनिसिन्नेन याव तत्थ हत्थं न ओतारेति, ताव तथारूपं गरुट्ठानियं भिक्खुं वा लज्जिमनुस्सं वा दिस्वा निमन्तेतुं पि सक्का होति। भुञ्जितुकामताय पनेत्थ हत्थे ओतरितमत्ते ''गण्हथा'' ति वदन्तेन लज्जितब्बं होति। हत्थं पन ओतारेत्वा भद्दन्तस्स पञ्चङ्गुलिअनुसारेन सेदो पग्घरमानो सुक्खथद्धभत्तं पि तेमेन्तो मुदुं करोति।

अथ तस्मिं परिमद्दनमत्तेना पि सम्भिन्नसोभे आलोपं कत्वा मुखे ठपिते हेट्ठिमदन्ता उदुक्खलकिच्चं साधेन्ति, उपरिमा मुसलकिच्चं, जिव्हा हत्थकिच्चं। तं तत्थ सुवानदोणियं सुवानपिण्डमिव दन्तमुसलेहि कोट्टेत्वा जिव्हाय सम्परिवत्तियमानं जिव्हग्गे तेनुपसन्नखेळो मक्खेति, वेमज्झतो पट्ठाय बहलखेळो मक्खेति, दन्तकट्ठेन असम्पत्तट्ठाने दन्तगूथको मक्खेति।

सो एवं विचुण्णितमक्खितो तं खणं येव अन्तरहितवण्णगन्धसङ्खारविसेसो सुवान-

---

कोई कल का (बासी) भात भी, बासी खाद्य भी, सड़ी दाल या सूप आदि भी दे देते हैं। न देने वालों में भी कोई कोई ''आगे बढ़िये, भन्ते''—यों कहते हैं; कोई कोई अनदेखी करते हुए चुप रहते हैं। कोई कोई 'जा रे मुण्डे!'' यों कठोर वचन भी कहते हैं। यों भिखारी के समान गाँव में भिक्षाटन करने निकलना पड़ता है। इस प्रकार, ग्राम में प्रवेश से लेकर निष्क्रमणपर्यन्त, आहार के लिये पानी-कीचड़ आदि गन्दगियों को लाँघना पड़ता है। ओह! आहार कितना प्रतिकूल है। यों **पर्येषण से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (२)

परिभोग से कैसे ? जिसे आहार मिल गया हो, वह ग्राम से बाहर किसी सुविधायुक्त स्थान पर सुखपूर्वक बैठता है। (भोजन में) हाथ लगाने से पहले ही यदि किसी आदरणीय भिक्षु को या आवश्यकता वाले किसी संकोची व्यक्ति को देखता है तो उसे (भोजनहेतु) निमन्त्रित कर सकता है। किन्तु यदि खाने की इच्छा से उसमें हाथ लगा चुका होता है तो ''लीजिये'' यों कहने में लज्जा आती है। हाथ डालकर मसलते हुए की पाँचों अँगुलियों से बहता हुआ पसीना सूखे-कड़े भात को भी तरल करता हुआ मुलायम बना देता है।

तब यों मसलने वाले का (भोजन) भी शोभारहित (विकृत) हो जाता है। कौर बनाकर मुख में रखने पर नीचे के दाँत ओखली का काम करते हैं, ऊपर के मूसल का, जिह्वा हाथ का। वहाँ (मुख में) जब वह कुत्ते के भोजन-पात्र (द्रोणी) में कुत्ते के (भोजन-) पिण्ड के समान, दाँतरूपी मुसल से कूटता है, जिह्वा से उलटता पलटता है, तब जिह्वा के अग्रभाग से (उत्पन्न) पतला थूक (भोजन में) मिल जाता है, मध्यभाग से गाढ़ा थूक मिल जाता है, और जहाँ दातौन से साफ नहीं किया गया हो, वहाँ दाँतों का मैल मिल जाता है।

दोणियं[1] ठितसुवानवमथु विय परमजेगुच्छभावं उपगच्छति। एवरूपो पि समानो चक्खुस्स आपाथमतीतत्ता अज्झोहरितब्बो होती ति। एवं परिभोगतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (३)

कथं आसयतो? एवं परिभोगं उपगतो च पनेस अन्तो पविसमानो यस्मा बुद्धपच्चेकबुद्धानं पि रञ्ञो पि चक्कवत्तिस्स पित्तसेम्हपुब्बलोहितासयेसु चतूसु अञ्ञतरो आसयो होति येव, मन्दपुञ्ञानं पन चत्तारो पि आसवा होन्ति; तस्मा यस्स पित्तासयो अधिको होति तस्स बहलमधुकतेलमक्खितो विय परमजेगुच्छो होति, यस्स सेम्हासयो अधिको होति तस्स नागबलापण्णरसमक्खितो विय, यस्स पुब्बासयो अधिको होति तस्स पूतितक्कमक्खितो विय, यस्स लोहितासयो अधिको होति तस्स रजनमक्खितो विय परमजेगुच्छो होती ति। एवं आसयतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (४)

कथं **निधानतो?** सो इमेसु चतूसु आसयेसु अञ्ञतरेन आसयेन मक्खितो अन्तोउदरं पविसित्वा नेव सुवण्णभाजने न मणिरजतादिभाजनेसु निधानं गच्छति। सचे पन दसवस्सिकेन अज्झोहरियति, दस वस्सानि अधोतवच्चकूपसदिसे ओकासे पतिट्ठहति। सचे वीस-तिंस-चत्तालीस-पञ्ञास-सट्ठि-सत्तति-असीति-नवुति-वस्सिकेन, सचे वस्ससतिकेन अज्झोहरियति, वस्ससतं अधोतवच्चकूपसदिसे ओकासे पतिट्ठहती ति। एवं निधानतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (५)

वह (आहार) यों पिसकर एवं लसलसा होकर उसी क्षण वर्ण, गन्ध, संस्कार की विशेषताओं से पूर्णतः रहित होकर, कुत्ते की द्रोणी में स्थित कुत्ते के वमन के समान, अत्यधिक घृणाजनक हो जाता है। ऐसा होने पर भी, क्योंकि आँख से दिखायी नहीं देता इसलिये, उसे निगलना सम्भव होता है। यों **परिभोग से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (३)

आशय से कैसे? यों परिभोग कर लिये जाने के बाद भीतर जाने पर क्योंकि यह बुद्धों, प्रत्येकबुद्धों को भी, चक्रवर्ती राजाओं को भी पित्त, कफ, पीब, रक्त—इन चार आशयों (परिपाकों) में से कोई एक आशय अवश्य होता है जबकि मन्दपुण्य वालों में ये चारों आशय होते हैं; अतः जिसमें पित्त का आशय अधिक होता है उसका (उदरस्थित आहार) महुआ के गाढ़े तेल से चुपड़े हुए के समान अत्यन्त घृणित होता है। जिसमें कफ का आशय अधिक होता है उसका नागवला के पत्ते के रस से लिपटे हुए के समान...जिसमें पीब का आशय अधिक होता है, उसका सड़ी छाछ से लिपटे हुए के समान...जिसमें रक्त का आशय अधिक होता है, उसका (लाल) रंग से लिपटे हुए के समान अत्यधिक घृणित होता है। यों **आशय से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (४)

निधान से कैसे? वह इन चार आशयों में से जिस किसी भी आशय से लिपटा हुआ हो, पेट के भीतर जाने पर न तो सोने के पात्र में, न मणि या रजत आदि के पात्र में रखा गया होता है। अपितु यदि वह दसवर्षीय (व्यक्ति) द्वारा खाया गया होता है जो दस वर्षों से न धोये गये शौचालय (शौच के लिये बनाया गया कुएँ जैसे गहरा गड्ढा) के समान खाली स्थान में रहता है। यदि बीस-तीस-चालीस-पचास-साठ-सत्तर-अस्सी-नब्बे वर्ष वाले या सौ वर्ष वाले के द्वारा

---

१. **सुवानदोणियं** ति। सारमेय्यानं **भुञ्जनकअम्बणे।**

कथं **अपरिपक्कतो?** सो पनायमाहारो एवरूपे ओकासे निधानमुपगतो याव अपरिपक्को होति, ताव तस्मिं येव यथावुत्तप्पकारे परमन्धकारतिमिसे नानाकुणपगन्धवासितपवनविचरिते अतिदुग्गन्धजेगुच्छे पदेसे यथा नाम निदाघे अकालमेघेन अभिवुट्ठम्हि चण्डालगामद्वारआवाटे पतितानि तिणपण्णकिलञ्जखण्डअहिकुक्कुरमनुस्सकुणपादीनि सुरियातपेन सन्तत्तानि फेणबुब्बुळकाचितानि तिट्ठन्ति। एवमेव तंदिवसं पि हिय्यो पि ततो पुरिमे दिवसे पि अज्झोहटो सब्बो एकतो हुत्वा सेम्हपटलपरियोनद्धो कायग्गिसन्तापकुथितकुथनसञ्जातफेणपुप्फुळकाचितो परमजेगुच्छभावं उपगन्त्वा तिट्ठती ति। एवं अपरिपक्कतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (६)

कथं **परिपक्कतो?** सो तत्तकायग्गिना परिपक्को समानो न सुवण्णरजतादिधातुयो विय सुवण्णरजतादिभावं उपगच्छति। फेणुबुब्बुळके पन मुञ्चन्तो सण्हकरणियं पिंसित्वा नाळिके पक्खित्तपण्डुमत्तिका विय करीसभावं उपगन्त्वा पक्कासयं, मुत्तभावं उपगन्त्वा मुत्तवत्थिं च पूरेती ति। एवं परिपक्कतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (७)

कथं **फलतो?** सम्मा परिपच्चमानो च पनायं केसलोमनखदन्तादीनि नानाकुणपानि निप्फादेति असम्मा परिपच्चमानो दद्दु-कण्डु-कच्छु-कुट्ठ-किलास-सोस-कासातिसारप्पभुतीनि रोगसतानि, इदमस्स फलं ति। एवं फलतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (८)

कथं **निस्सन्दतो?** अज्झोहरियमानो चेस एकेन द्वारेन पविसित्वा निस्सन्दमानो "अक्खिम्हा अक्खिगूथको, कण्णम्हा कण्णगूथको" ति आदिना पकारेन अनेकेहि द्वारेहि

खाया गया होता है, तो बीस-बीस...सौ वर्षों से न धोये गये शौचालय जैसे खाली स्थान में रहता है। यों **निधान से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (५)

अपरिपक्व से कैसे? वह आहार ऐसे खाली स्थान में जाकर जब तक ठीक तरह से पचता नहीं है, तब तक उस पूर्वोक्त प्रकार के ही निविड (घोर) अन्धेरे में, जहाँ अनेक प्रकार की दुर्गन्धों से वासित वायु घूमती रहती है, ऐसे अतिदुर्गन्धित, जुगुप्सित प्रदेश में उस दिन या कल, परसों के भी खाये हुए (आहार) के साथ एक में मिलकर, कफ की तरह से चिपका हुआ, शरीर के ताप से खौल-खौलकर फेन के बुलबुले छोड़ता हुआ अत्यन्त जुगुप्सित रूप प्राप्त करता है। यों **अपरिपक्व से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (६)

परिपक्व से कैसे? वह शरीर-ताप से पचने पर सोने-चाँदी आदि धातुओं के समान (अग्नि में तपाये जाने से परिशुद्ध हुए) सोने-चाँदी आदि का रूप नहीं पाता, अपितु फेन के बुलबुले छोड़ता हुआ, लोढ़े से पीसकर किसी नली में भरी गयी पीली मिट्टी के समान, मल के रूप में पक्वाशय को एवं मूत्र के रूप में मूत्र की थैली को भरता है। यों **परिपक्व से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (७)

फल से कैसे? यह जब अच्छी तरह पच जाता है, तब केश, रोम, नख, दाँत आदि नाना गन्दगियों को उत्पन्न करता है; जब अच्छी तरह नहीं पचता, तब दाद, खाज, चेचक, कुष्ठ, प्लेग, सूखारोग, खाँसी आदि सैकड़ों रोगों को। यह इसका फल है। **यों फल से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (८)

निष्यन्द (निकासी) से कैसे? खाते समय यह एक द्वार से प्रवेश कर, निकलते समय

निस्सन्दति। अज्झोहरणसमये चेस महापरिवारेना पि अज्झोहरियति। निस्सन्दसमये पन उच्चारपस्सावादिभावं उपगतो एककेनेव नीहरीयति। पठमदिवसे च नं परिभुञ्जन्तो हट्ठपहट्ठो पि होति उदग्गुदग्गो पीतिसोमनस्सजातो। दुतियादिवसे निस्सन्देन्तो पिहितनासिको होति विकुरितमुखो जेगुच्छी मङ्कुभूतो। पठमदिवसे च नं रत्तो गिद्धो गधितो मुच्छितो पि अज्झोहरित्वा दुतियदिवसे एकरत्तिवासेन विरत्तो अट्टीयमानो हरायमानो जिगुच्छमानो नीहरति। तेनाहु **पोराणा**—

"अन्नं पानं खादनीयं भोजनं च महारहं।
एकद्वारेन पविसित्वा नवद्वारेहि सन्दति॥
अन्नं पानं खादनीयं भोजनं च महारहं।
भुञ्जति सपरिवारो, निक्खामेन्तो निलीयति॥
अन्नं पानं खादनीयं भोजनं च महारहं।
भुञ्जति अभिनन्दन्तो, निक्खामेन्तो जिगुच्छति॥
अन्नं पानं खादनीयं भोजनं च महारहं।
एकरत्तिपरिवासा सब्बं भवति पूतिकं" ति॥

एवं निस्सन्दन्तो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (९)

कथं **सम्मक्खनतो**? परिभोगकाले पि चेस हत्थ-ओट्ठ-जिव्हा-तालूनि सम्मक्खेति। तानि तेन सम्मक्खितत्ता पटिक्कूलानि होन्ति, यानि धोतानि पि गन्धहरणत्थं पुनप्पुनं धोवितब्बानि

आँखों से आँख का कीचड़, कानों से कान का मैल आदि प्रकार से अनेक द्वारों से निकलता है। एवं यह खाये जाते समय महापरिवार के साथ भी खाया जाता है; किन्तु निकलते समय मल-मूत्र आदि के रूप में हर एक द्वारा अलग अलग से निकाला जाता है। तथा पहले दिन इसे खाते समय (व्यक्ति) प्रसन्न, गद्‌गद होता है, प्रीति-सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। दूसरे दिन निकालते समय नाक बन्द करता है, मुँह बिचकाता है, घृणा करता है, चुप रहता है। पहले दिन राग एवं लोभ के साथ, उसे खाने के लिये टूट पड़ता है, है खाता है। दूसरे दिन (पेट में) रात भर रहने मात्र से (इसके प्रति) विरक्त, हैरान परेशान-सा होते हुए निकालता है।

इसीलिये **प्राचीनों** ने कहा है—"अन्न, पान, खाद्य (के रूप में) उत्तम भोजन एक द्वार से प्रवेश कर नव द्वारों से निकलता है॥

अन्न-पान, खाद्य उत्तम भोजन को सपरिवार खाता है, निकालते समय छिपकर निकालता है॥

अन्न-पान, खाद्य उत्तम-भोजन की प्रशंसा करते हुए खाता है, निकालते समय घृणा अनुभव करता है॥

अन्न-पान, खाद्य उत्तम भोजन (पेट में) रात भर रहने से सबका सब सड़ जाता है॥"

यों निष्यन्द से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण करना चाहिये। (९)

संम्रक्षण (चिपकना, लिपटना) से कैसे? खाये जाते समय भी यह हाथ, ओंठ, जीभ, तालु आदि से चिपकता है। वे उससे लिपटे होने से गन्दे हो जाते हैं। जिन्हें धोने के बाद भी

होन्ति। परिभुत्तो समानो यथा नाम ओदने पच्चमाने थुसकणकुण्डकादीनि उत्तरित्वा उक्खलि-मुखवट्टिपिधानियो मक्खेन्ति; एवमेव सकलसरीरानुगतेन कायग्गिना फेणुद्देहकं पच्चित्वा उत्तरमानो दन्ते दन्तमलभावेन सम्मक्खेति। जिव्हातालुप्पभुतीनि खेळसेम्हादिभावेन, अक्खि-कण्णनासअधोमग्गादिके अक्खिगूथक-कण्णगूथक-सिङ्घाणिका-मुत्त-करीसादिभावेन सम्मक्खेति, येन सम्मक्खितानि इमानि द्वारानि दिवसे दिवसे धोवियमानानि पि नेव सुचीनि, न मनोरमानि होन्ति, तेसु एकच्चं धोवित्वा हत्थो पुन उदकेन धोवितब्बो होति, एकच्चं धोवित्वा द्वत्तिक्खत्तुं गोमयेन पि मत्तिकाय पि गन्धचुण्णेन पि धोवतो पटिक्कूलता न विगच्छती ति। एवं सम्मक्खनतो पटिक्कूलता पच्चवेक्खितब्बा। (१०)

७. तस्सेवं दसहाकारेहि पटिक्कूलतं पच्चवेक्खतो तक्काहतं वितक्काहतं करोन्तस्स पटिक्कूलाकारवसेन कवळीकाराहारो पाकटो होति। सो तं निमित्तं पुनप्पुनं आसेवति, भावेति, बहुलीकरोति। तस्सेवं करोतो नीवरणानि विक्खम्भन्ति। कबळीकाराहारस्स सभावधम्मताय गम्भीरत्ता अप्पनं अप्पत्तेन उपचारसमाधिना चित्तं समाधियति। पटिक्कूलाकारग्गहणवसेन पनेत्थ सञ्ञा पाकटा होति। तस्मा इमं कम्मट्ठानं 'आहारे पटिक्कूलसञ्ञा' इच्चेव सङ्खं गच्छति।

८. इमं च पन आहारे पटिक्कूलसञ्ञं अनुयुत्तस्स भिक्खुनो रसतण्हाय चित्तं पतिलीयति, पतिकुटति, पतिवट्टति। सो कन्तारनित्थरणत्थिको विय पुत्तमंसं विगतमदो आहारं आहारेति यावदेव दुक्खस्स नित्थरणत्थाय। अथस्स अप्पकसिरेनेव कबळीकाराहारपरिञ्ञा-

---

गन्ध दूर करने के लिये बारंबार धोना पड़ता है। खा लिया जाने पर समस्त शरीर में व्याप्त शरीर के ताप से फेन छोड़ता हुआ पकता है तथा ऊपर उतराता है, दाँत में दाँत की मैल के रूप में चिपकता है जीभ, तालु आदि में थूक, कफ आदि होकर, वैसे ही जैसे कि चावल पकते समय भूसी, कनी आदि ऊपर उतराकर हाँड़ी के ऊपरी भाग के किनारों और ढक्कन में चिपकते हैं। आँख, कान, नाक, अधोमार्ग आदि में आख कान का मैल, पोंटा, मूत्र, मल आदि के रूप में लिपटता है, जिससे लिपटे हुए ये द्वार नित्य धोये जाने पर भी न पवित्र होते हैं, न मनोरम होते हैं। उनमें से किसी किसी को धोकर हाथ को फिर से जल से धोना पड़ता है, किसी किसी को धोकर दो तीन बार गोबर मिट्टी, या सुगन्धित चूर्ण से भी धोने पर प्रतिकूलता (दुर्गन्ध, अशुचि) नहीं जाती है। यों **संम्रक्षण से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण** करना चाहिये। (१०)

७. जब वह यों दस प्रकार से प्रतिकूलता का प्रत्यवेक्षण करता है, तर्क-वितर्क करता है, तब कवलीकार आहार की प्रतिकूलता स्पष्टतः प्रकट (प्रतीत) होती है। वह उस निमित्त की ओर बार बार मन लगाता है, भावना करता है, अभ्यास करता है। उसके ऐसा करने पर नीवरण दब जाते हैं। कवलीकार आहार के स्वभावत: गम्भीर होने से अर्पणा नहीं प्राप्त होती, उपचार-समाधि द्वारा चित्त समाहित होता है। क्योंकि यहाँ संज्ञा आहार की प्रतिकूलता के रूप में प्रकट होती है, अतः इस कर्मस्थान को 'आहार में प्रतिकूलसंज्ञा' कहा जाता है।

८. इस 'आहार में प्रतिकूलसंज्ञा में लगे हुए भिक्षु का चित्त रस-तृष्णा से विमुख हो जाता है, हट जाता है, लौट जाता है। जैसे दुर्गम वन को पार करने का अभिलाषी (अतिकठिन परिस्थिति में जीवनरक्षा के लिये) पुत्र का मांस (भी खा लेता है), वैसे ही (यह योगी) मदरहित होकर

मुखेन पञ्चकामगुणिको रागो परिञ्ञं गच्छति। सो पञ्चकामगुणपरिञ्ञामुखेन रूपक्खन्धं परिजानाति। अपरिपक्कादिपटिक्कूलभाववसेन चस्स कायगता सतिभावना पि पारिपूरिं गच्छति। असुभसञ्ञाय अनुलोमप्पटिपदं पटिपन्नो होति। इमं पन पटिपत्तिं निस्साय दिट्ठेव धम्मे अमतपरियोसानतं अनभिसम्भुणन्तो सुगतिपरायनो होती ति॥

अयं आहारे पटिक्कूलसञ्ञाभावनाय वित्थारकथा॥

चतुधातुववत्थानभावनाकथा

९. इदानि आहारे पटिक्कूलसञ्ञानन्तरं एकं ववत्थानं ति एवं उद्दिट्ठस्स[१] चतुधातुववत्थानस्स भावनानिद्देसो अनुप्पत्तो। तत्थ ववत्थानं ति सभावूपलक्खणवसेन सन्निट्ठानं। चतुन्नं धातूनं ववत्थानं **चतुधातुववत्थानं।** धातुमनसिकारो, धातुकम्मट्ठानं, चतुधातुववत्थानं ति अत्थतो एकं। तयिदं द्विधा आगतं—सङ्खेपतो च, वित्थारतो च। सङ्खेपतो **महासतिपट्ठाने** आगतं। वित्थारतो **महाहत्थिपदूपमे, राहुलोवादे, धातुविभङ्गे** च।

१०. तं हि—"**सेय्यथापि, भिक्खवे, दक्खो गोघातको वा गोघातकन्तेवासी वा गाविं वधित्वा चतुमहापथे बिलसो विभजित्वा निसिन्नो अस्स; एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु इममेव कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसो पच्चवक्खति—अत्थि इमस्मिं काये पथवीधातु**

आहार करता है, केवल दुःख से पार जाने की इच्छा से। कवलीकार आहार का वास्तविक रूप जानने से, पञ्च कामगुणों के प्रति राग (का वास्तविक रूप) वह अनायास समझ जाता है। पञ्च कामगुणों को जानने से रूपस्कन्ध को भलीभाँति जान लेता है। अपरिपक्व आदि प्रतिकूलता के रूप में उसकी कायगत स्मृति-भावना भी परिपूर्ण हो जाती है। वह अशुभसंज्ञा के अनुरूप मार्ग पर चलने वाला होता है। वह इस मार्ग के सहारे इस जन्म में अमृतमय निर्वाण भले ही न प्राप्त कर पाये, परन्तु सुगति अवश्य प्राप्त करता है॥

यह आहार में प्रतिकूलसंज्ञा-भावना की व्याख्या है॥

चतुर्धातुव्यवस्थान-भावना

९. आहार में प्रतिकूलसंज्ञा के बाद, अब 'एक व्यवस्थान'—यों (तृतीय परिच्छेद में) निर्दिष्ट चतुर्धातुव्यवस्थानरूप भावना के निर्देश (का प्रसङ्ग) आ गया। यहाँ, व्यवस्थान का तात्पर्य है स्वभाव का उपलक्षण करते (स्वभावगत विशेषता बतलाते) हुए निश्चय करना (परिभाषित करना)। चार-धातुओं का व्यवस्थान=**चतुर्धातुव्यवस्थान**। धातु-मनस्कार, धातुकर्मस्थान, चतुर्धातुव्यवस्थान—ये अर्थतः एक ही हैं। (पालि में) यह (व्यवस्थान) दो प्रकार से आया है—संक्षेप में एवं विस्तार में। संक्षेप में **महासतिपट्ठान** (सुत्त) में एवं विस्तार से **महाहत्थिपदूपम, राहुलोवाद** एवं **धातु-विभङ्ग** में।

१०. तीक्ष्णप्रज्ञावाले धातुकर्मस्थानिक के लिये यह **महासतिपट्ठानसुत्त** (दी० नि० २/५२३) में इस प्रकार संक्षेप में आया है—"भिक्षुओ! जैसे कोई दक्ष गोघातक या उस गोघातक का शिष्य गाय को मारकर, टुकड़े-टुकड़े कर चौराहे पर बैठा हो; वैसे ही, भिक्षुओ, भिक्षु इस काया का,

---

१. ततियपरिच्छेदे ति सेसो।

आपोधातु तेजोधातु वायोधातू'' ति एवं तिक्खपञ्ञस्स धातुकम्मट्ठानिकस्स वसेन महासतिपट्ठाने (दी० नि० २/५२३) सङ्खेपतो आगतं।

तस्सत्थो—यथा छेको गोघातको वा तस्सेव वा भत्तवेतनभतो अन्तेवासिको गाविं बधित्वा विनिविज्झित्वा चतस्सो दिसा गतानं महापथानं वेमज्झट्ठानसङ्खाते चतुमहापथे कोट्ठासं कत्वा निसिन्नो अस्स; एवमेव भिक्खु चतुन्नं इरियापथानं येन केनचि आकारेन ठितत्ता यथाठितं, यथाठितत्ता च यथापणिहितं कायं 'अत्थि इमस्मिं काये पथवीधातु...पे०...वायोधातू' ति एवं धातुसो पच्चवेक्खति।

किं वुत्तं होति? यथा गोघातकस्स गाविं पोसेन्तस्स पि आघातानं आहरन्तस्स पि आहरित्वा तत्थ बन्धित्वा ठपेन्तस्स पि वधेन्तस्स पि वधितं मतं पस्सन्तस्स पि तावदेव गावी ति सञ्ञा न अन्तरधायति, याव नं पदालेत्वा बिलसो[1] न विभजति। विभजित्वा निसिन्नस्स पन गावीसञ्ञा अन्तरधायति, मंससञ्ञा पवत्तति। नास्स एवं होति—''अहं गाविं विक्किणामि, इमे गाविं हरन्ती'' ति। अथ ख्वस्स—''अहं मंसं विक्किणामि, इमे पि मंसं हरन्ति''च्चेव होति। एवमेव इमस्सापि भिक्खुनो पुब्बे बालपुथुज्जनकाले गिहिभूतस्स पि पब्बजितस्स पि तावदेव सत्तो ति वा पोसो ति वा पुग्गलो ति वा सञ्ञा न अन्तरधायति, याव इममेव कायं यथाठितं यथापणिहितं घनविनिब्भोगं कत्वा धातुसो न पच्चवेक्खति। धातुसो पच्चवेक्खतो पन सत्तसञ्ञा अन्तरधायति, धातुवसेनेव चित्तं सन्तिट्ठति। तेनाह भगवा—''सेय्यथापि, भिक्खवे,

चाहे वह जैसे भी स्थित हो, जिस अवस्था में हो, धातुओं के अनुसार यों प्रत्यवेक्षण करता है—इस काया में पृथ्वीधातु, अब्धातु, तेजोधातु एव वायुधातु हैं।''

उसका अर्थ है—जैसे कुशल गोघातक या उसका वेतनभोगी शिष्य बैल को मारकर, बोटी-बोटी काटकर चारों दिशाओं को जाने वाले राजमार्ग के मध्यस्थान कहे जाने वाले चौराहे पर (गोमांस के) टुकड़े-टुकड़े करके बैठा हो, वैसे ही भिक्षु चारों ईर्य्यापथों में से जिस किसी प्रकार में स्थित होने से यथास्थित, यथास्थित होने से ही यथाप्रणिहित (समाधिस्थ) काया के बारे में ''इस काया में पृथ्वीधातु...वायुधातु हैं''—यों धातु के अनुसार प्रत्यवेक्षण करता है। तात्पर्य यह है—जैसे कि गोघातक जब गाय को पालता है तब भी, वधस्थल पर ले जाता है तब भी, वहाँ बाँधे रखता है तब भी, वध करता है तब भी, और वध के बाद (उसे) मरी हुई देखता है तब भी 'गाय' की संज्ञा का लोप नहीं हुआ रहता; लोप तो तभी होता है जबकि उसे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है। टुकड़े-टुकड़े करके बैठे हुए (कसाई) के लिये 'गो' संज्ञा का लोप हो जाता है, 'मांस' की संज्ञा प्रवृत्त होती है। उसे ऐसा नहीं लगता—''मैं बैल को बच रहा हूँ, या ये लोग बैल को ले जा रहे हैं'', अपितु उसे लगता है—'मैं मांस बेच रहा हूँ। ये लोग भी मांस ले जा रहे हैं।'' वैसे ही यह भिक्षु पूर्वकाल में जब बाल-पृथग्जन या गृहस्थ था तब भी, प्रव्रजित हुआ तब भी (उसके लिये स्वयं के बारे में) सत्त्व, पुरुष या पुद्गल-संज्ञा का लोप नहीं हो सका। यह (लोप) तब तक नहीं होता जब तक कि यथास्थित, यथाप्रणिहित इसी का का स्थूल (महाभूतों) के रूप में निर्धारण करते हुए धातुओं के रूप में प्रत्यवेक्षण नहीं करता। धातुओं के रूप में प्रत्यवेक्षण करने

१. **बिलसो** ति। बिलं बिलं कत्वा।

दक्खो गोघातको वा...पे०...निसिन्नो अस्स; एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु...पे०...वायोधातू'' ति।

११. महाहत्थिपदूमे (म० नि० १/२६१) पन—''**कतमा चावुसो, अज्झत्तिका पथवीधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं कक्खळं खरिगतं उपादिन्नं। सेय्यथीदं—केसा लोमा...पे०... उदरियं करीसं, यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि अज्झत्तं पच्चत्तं कक्खळं खरिगतं उपादिन्नं—अयं वुच्चतावुसो, अज्झत्तिका पथवीधातू**'' ति च,

''**कतमा चावुसो, अज्झत्तिका आपोधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं आपो आपोगतं उपादिन्नं। सेय्यथीदं, पित्तं...पे०...मुत्तं, यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि अज्झत्तं पच्चत्तं आपो आपोगतं उपादिन्नं—अयं वुच्चतावुसो, अज्झत्तिका आपोधातू**'' ति च,

''**कत्तमा चावुसो, अज्झत्तिका तेजोधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं तेजो तेजोगतं उपादिन्नं। सेय्यथीदं—येन च सन्तप्पति, येन च जीरीयति, येन च परिडय्हति, येन च असितपीतखायितसायितं सम्मा परिणामं गच्छति, यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि अज्झत्तं पच्चत्तं तेजो तेजोगतं उपादिन्नं—अयं वुच्चतावुसो, अज्झत्तिका तेजोधातू**'' ति च,

''**कतमा चावुसो, अज्झत्तिका वायोधातु? यं अज्झत्तं पच्चत्तं वायो वायोगतं उपादिन्नं। सेय्यथीदं—उद्धङ्गमा वाता, अधोगमा वाता, कुच्छिसया वाता, कोट्ठासया वाता,**

पर सत्त्व-संज्ञा का लोप हो जाता है, चित्त धातु के अनुसार ही स्थित होता है। अत: भगवान् ने कहा है—''भिक्षुओ! जैसे दक्ष गोघातक या...पूर्ववत्...बैठा हो; वैसे ही, भिक्षुओ! भिक्षु...पूर्ववत्... वायुधातु है।'' (१)

११. महाहत्थिपदूपमसुत्त—(म० १/२३५) में, जो अतितीक्ष्ण प्रज्ञावान् नहीं है ऐसे धातुकर्मस्थानिक के लिये, विस्तार से यों आया है—

''आयुष्मन्! आध्यात्मिक पृथ्वीधातु क्या है? जो स्वयं के भीतर ठोस, कठोर (रूक्ष), (कर्म द्वारा) उपात्त ('उपादिन्न', प्राप्त) है। यथा—केश, रोम...पूर्ववत्...उदरस्थ पदार्थ, मल, या जो अन्य भी स्वयं के भीतर ठोस, कठोर उपादान है—आयुष्मन्! इसे कहते हैं आध्यात्मिक पृथ्वी-धातु।'' एवं—

''आयुष्मन्! आध्यात्मिक अप्-धातु क्या है? जो स्वयं के भीतर जल, जलगत (जल के सभी प्रकारों के अन्तर्गत आने वाला) उपादान है। यथा—पित्त...पूर्ववत्...मूत्र, या जो अन्य भी कोई स्वयं के भीत जल, जलगत उपादान है—आयुष्मन्, इसे कहते हैं आध्यात्मिक अप्-धातु।'' एवं—

''आयुष्मन्! आध्यात्मिक तेजोधातु क्या है? जो स्वयं के भीतर तेज, तेजोगत एवं उपात्त है। यथा—जिससे सन्तप्त होता है, जिससे जीर्ण (वृद्धावस्था को प्राप्त) होता है, जिससे दग्ध होता है, एवं जिससे खाया-पिया, चबाया-चाटा हुआ (आहार) सम्यक् परिणाम उत्पन्न करता है। या जो अन्य भी कोई स्वयं के भीतर तेज, तेजोगत उपादान है—आयुष्मन्, इसे कहते हैं, आध्यात्मिक तेजोधातु।'' एवं—

''आयुष्मन्, आध्यात्मिक वायुधातु क्या है? जो स्वयं के भीतर वायु, वायुगत उपादान है। यथा—ऊर्ध्व वायु, अधोवायु, कुक्षि-स्थित वायु, कोष्ठ-स्थित वायु, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रहने वाली वायु,

अङ्गमङ्गानुसारिनो वाता, अस्सासो पस्सासो इति वा, **यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि अज्झत्तं पच्चत्तं वायो वायोगतं उपादिन्नं—अयं वुच्चतावुसो, अज्झत्तिका वायोधातू**'' ति च।

एवं नातितिक्खपञ्ञस्स धातुकम्मट्ठानिकस्स वसेन वित्थारतो आगतं। यथा चेत्थ, एवं **राहुलोवाद** (म० नि० २/५८१) **धातुविभङ्गेसु** (अभि० २/१०२) पि।

१२. तत्रायं अनुत्तानपदवण्णना—**अज्झत्तं पच्चत्तं** ति। इदं ताव उभयं पि नियकस्स अधिवचनं। नियकं नाम अत्तनि जातं। ससन्तानपरियापन्नं ति अत्थो। तयिदं यथा लोके इत्थीसु कथा अधित्थी ति वुच्चति, एवं अत्तनि पवत्तत्ता अज्झत्तं, अत्तानं पटिच्च पवत्तत्ता पच्चत्तं ति पि वुच्चति।

कक्खळं ति। थद्धं। **खरिगतं** ति। फरुसं। तत्थ पठमं लक्खणवचनं, दुतियं आकारवचनं। कक्खळलक्खणा हि पथवीधातु। सा फरुसाकारा होति, तस्मा खरिगतं ति वुत्ता। **उपादिन्नं** ति। दळ्हं आदिन्नं। अहं ममं ति एवं दळ्हं आदिन्नं, गहितं। परामट्ठं ति अत्थो।

सेय्यथीदं ति। निपातो। तस्स तं कतमं ति चे ति अत्थो। ततो तं दस्सेन्तो "**केसा लोमा**'' ति आदिमाह। एत्थ च मत्थलुङ्गं पक्खिपित्वा वीसतिया आकारेहि पथवीधातु निद्दिट्ठा ति वेदितब्बा। **यं वा पनञ्ञं पि किञ्ची** ति। अवसेसेसु तीसु कोट्ठासेसु पथवीधातु सङ्गहिता।

विस्सन्दनभावेन तं तं ठानं अप्पोति पप्पोती ति **आपो**। कम्मसमुट्ठानादिवसेन नानाविधेसु आपेसु गतं ति **आपोगतं**। किं तं? आपोधातुया आबन्धनलक्खणं।

आश्वास-प्रश्वास, या जो अन्य भी स्वयं के भीतर वायु, वायुगत उपादान है—आयुष्मन्, इसे कहते हैं आध्यात्मिक वायुधातु।''

जैसे यहाँ (महाहत्थिपदूपम में), वैसे ही **राहुलोवाद** (म० २/५८१) एवं **धातुविभङ्ग** (अभि० २/१०२) में भी (विस्तार से आया है)।

१२. यहाँ अस्पष्ट पदों की व्याख्या इस प्रकार है—**अज्झत्तं पच्चत्तं**—ये दोनों ही (पद) 'स्वयं' (नियक) के अधिवचन हैं। 'नियक' का अर्थ है अपने में उत्पन्न। अर्थात् अपनी (चित्त-) सन्तान में समाविष्ट। जैसे लोक में स्त्रियों के बीच होने वाली बातचीत 'अधिस्त्रि' कही जाती है, वैसे ही अपने में प्रवृत्त होने से अध्यात्म (अज्झत्त) एवं अपने आश्रय से प्रवृत्त होने से प्रत्यात्म (पच्चत्तं) भी कहा जाता है। **कक्खलं**—कठोर (कर्कश)। **खरिगतं**—परुष (कठोर)। यहाँ प्रथम शब्द (कक्खलं) लक्षण को बतलाता है और द्वितीय (खरिगतं) आकार (रूप) को। क्योंकि पृथ्वीधातु का लक्षण कठोर होना है। उसका आकार कठोर (ठोस) होता है, अतः उसे 'खरिगतं' कहा गया है। **उपादिन्नं**—(कर्म द्वारा) दृढ़तापूर्वक ग्रहण किया गया (या प्राप्त) मैं, मेरा—इस रूप में दृढ़तापूर्वक लाया गया, गृहीत अर्थात् परामृष्ट।

सेय्यथीदं—निपात (अव्यय) शब्द है। उसका अर्थ है—वह क्या है? (अर्थात्, 'वह क्या है' यह प्रश्न उपस्थित कर उदाहरण देते समय 'जैसे' शब्द का प्रयोग किया जाता है।) पुनः, इसे दरसाते हुए 'केश', 'रोम' आदि कहा गया है। यहाँ पर जानना चाहिये कि मस्तिष्क का भी समावेश करते हुए बीस प्रकार की पृथ्वीधातु का निर्देश किया गया है। **यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि**—अवशेष तीस भागों में संगृहीत पृथ्वीधातु।

तेजनवसेन **तेजो**। वुत्तनयेनेव तेजेसु गतं ति **तेजोगतं**। किं तं? उण्हत्तलक्खणं। **येन चा** ति। येन तेजोधातुगतेन कुपितेन अयं कायो **सन्तप्पति**। एकाहिकजरादिभावेन उसुमजातो होति। **येन च जीरियती** ति। येन अयं कायो जीरति, इन्द्रियवेकल्लतं बलपरिक्खयं वलिपलितादिभावं च पापुणाति। **येन च परिडय्हती** ति। येन कुपितेन अयं कायो डय्हति, सो च पुग्गलो "डय्हामि डय्हामी" ति कन्दन्तो सतधोतसप्पि-गोसीसचन्दनादिलेपं चेव तालवण्टवातं च पच्चासीसति। **येन च असितपीतखायितसायितं सम्मा परिणामं गच्छती** ति। येनेतं असितं वा ओदनादि, पीतं वा पानकादि, खायितं वा पिट्ठखज्जकादि, सायितं वा अम्बपक्कमधुफाणितादि सम्मा परिपाकं गच्छति। रसादिभावेन विवेकं गच्छती ति अत्थो। एत्थ च पुरिमा तयो तेजोधातुसमुट्ठाना, पच्छिमो कम्मसमुट्ठानो व।

वायनवसेन **वायो**। वुत्तनयेनेव वायेसु गतं ति **वायोगतं**। किं तं? वित्थम्भनलक्खणं। **उद्धङ्गमा वाता** ति। उग्गारहिक्कादिपवत्तका उद्धं आरोहणवाता। **अधोगमा वाता** ति। उच्चारपस्सावादिनीहरणका अधो ओरोहणवाता। **कुच्छिसया वाता** ति। अन्तानं बहि वाता। **कोट्ठासया वाता** ति। अन्तानं अन्तो वाता। **अङ्गमङ्गानुसारिनो वाता** ति। धमनिजालानुसारेन

धारा के रूप में बहता है (अप्पोति), इस-उस स्थान पर बहता है (पप्पोति), अत: **आपो** (जल) है। 'कर्म से उत्पन्न' आदि नानाविध अप् में गत (समाविष्ट) है, अत: **आपोगतं** है। वह क्या है? अप्-धातु का 'बाँधना' लक्षण।

तेज उष्ण (गर्म) करने के रूप में (परिभाषित) है। पूर्वोक्त विधि के अनुसार ही, जो तेज में गत है, वह **तेजोगतं** है। वह क्या है? उष्णत्व-लक्षण। **येन च**—जिस तेज धातु के कुपित हो जाने पर यह शरीर **सन्तप्पति** (अर्थात् सन्तप्त हो जाता है), एक दिन के लिये ज्वर आदि होने पर उष्ण हो जाता है। **येन च जीरियति**—जिससे यह शरीर जीर्ण होता है, इन्द्रियविकलता, बल का क्षय, झुर्री पड़ना, (केशों और रोमों का) पकना आदि होता है। **येन च परिडय्हति**—जिसके कुपित होने पर यह शरीर जलता है, और वह व्यक्ति 'जल रहा हूँ, जल रहा हूँ'—यों चिल्लाता हुआ सौ बार (शीतल जल से) धोये गये घृत, कपूर (गोशीर्ष) चन्दन आदि का लेप एवं पंखे की हवा आदि चाहता है। **येन च असितपीतखायितसायितं सम्मा परिणामं गच्छति**—जिसके द्वारा वह खाया हुआ चावल आदि, या पिया हुआ पेय आदि, या चबाया हुआ (आटे से बना खझला=एक प्रकार का खाद्य पदार्थ) आदि, या चाटा हुआ पका आम, मधु, राब आदि अच्छी तरह पच जाते हैं। रस आदि के रूप में अलग अलग हो जाते हैं। यहाँ पूर्व के तीन—१. जिससे शरीर तपता है, २. जीर्ण होता है, ३. जलता है; तेज धातु से उत्पन्न हैं। अन्तिम (जिससे आहार पचता है) कर्म से ही उत्पन्न है।

बहती है अत: **वायो** (वायु) है। पूर्वोक्त के अनुसार ही, वायुओं में गत (समाविष्ट) है अत: **वायोगतं** है। वह क्या है? विष्टम्भन (खिंचाव, विस्तार)—लक्षण। **उद्धङ्गमा वाता**—डकार, हिचकी आदि के रूप में ऊपर की ओर चढ़ने वाली वायु। **अधोगमा वाता**—मलमूत्र आदि को बाहर निकालने वाली नीचे उतरने वाली वायु। **कुच्छिसया वाता**—आँतों के बाहर की वायु। **कोट्ठसमा वाता**—आँतों के भीतर की वायु। **अङ्गमङ्गानुसारिनो वाता**—धमनीजाल के अनुसार

सकलसरीरे अङ्गमङ्गानि अनुसटा सम्मिञ्जनपसारणादिनिब्बत्तका वाता। **अस्सासो** ति। अन्तो पविसननासिकवातो। **पस्सासो** ति। बहिनिक्खमननासिकवातो। एत्थ च पुरिमा पञ्च चतुसमुट्ठाना, अस्सासपस्सासा चित्तसमुट्ठाना व। सब्बत्थ **यं वा पनञ्ञं पि किञ्ची** ति। इमिना पदेन अवसेसकोट्ठासेसु आपोधातुआदयो सङ्गहिता।

इति वीसतिया आकारेहि पथवीधातु, द्वादसहि आपोधातु, चतूहि तेजोधातु, छहि वायोधातू ति द्वाचत्तालीसाय आकारेहि चतस्सो धातुयो वित्थारिता होन्ती ति।

अयं तावेत्थ पाळिवण्णना॥

१३. भावनानये पनेत्थ तिक्खपञ्ञस्स भिक्खुनो 'केसा पथवीधातु, लोमा पथवीधातू' ति एवं वित्थारतो धातुपरिग्गहो पपञ्चतो उपट्ठाति। 'यं थद्धलक्खणं, अयं पथवीधातु। यं आबन्धनलक्खणं, अयं आपोधातु। यं परिपाचनलक्खणं, अयं तेजोधातु। यं वित्थम्भनलक्खणं, अयं वायोधातू' ति एवं मनसिकरोतो पनस्स कम्मट्ठानं पाकटं होति। नातितिक्खपञ्ञस्स पन एवं मनसिकरोतो अन्धकारं अविभूतं होति। पुरिमनयेन वित्थारतो मनसिकरोन्तस्स पाकटं होति।

१४. कथं? यथा द्वीसु भिक्खूसु बहुपेय्यालं तन्तिं सज्झायन्तेसु, तिक्खपञ्ञो भिक्खु सकिं वा द्विक्खत्तुं वा पेय्यालमुखं वित्थारेत्वा ततो परं उभतो कोटिवसेनेव सज्झायं करोन्तो

शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में व्याप्त, मोड़ने-फैलाने आदि को सम्भव बनाने वाली वायु। **अस्सासो**— नासिका द्वारा भीतर प्रवेश करने वाली वायु। **पस्सासो**—नासिका द्वारा बाहर निकलने वाली वायु। एवं इनमें पूर्व की पाँच (वायु) चार (कर्म, चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न हैं, आश्वास-प्रश्वास केवल चित्त से ही उत्पन्न है। सर्वत्र **यं वा पनञ्ञं पि किञ्चि**—इस पद से अवशेष भागों में अप्-धातु आदि संगृहीत हैं।

यों बीस प्रकार से पृथ्वीधातु का, बारह प्रकार से अब्धातु का, चार प्रकार से तेजोधातु का, छह प्रकार से वायु-धातु का—यों बयालीस प्रकार से चारों धातुओं का विस्तार (के साथ वर्णन) किया गया है॥

यह यहाँ पालि की व्याख्या है॥

भावनाविधि

१३. किन्तु भावनाविधि में तीक्ष्णप्रज्ञ भिक्षु को "केश पृथ्वीधातु हैं, रोम पृथ्वीधातु हैं"— यों विस्तार से धातु-ग्रहण प्रपञ्च जान पड़ता है। उसे तो इस प्रकार मनस्कार करने पर ही कर्मस्थान प्रकट होता है—"जो स्तम्भ (ठोस करना, दृढ़ होना) लक्षण वाली है, वह पृथ्वीधातु है। जो बन्धन लक्षण वाली है, वह अब्धातु है। जो परिपाचन लक्षण वाली है, वह तेजोधातु है। जो विष्कम्भन लक्षण वाली है, वह वायुधातु है।" किन्तु जिसकी प्रज्ञा अति तीक्ष्ण नहीं है, वह यदि यों (संक्षेप में) मनस्कार करता है तो उसका (कर्मस्थान) अस्पष्ट, अप्रकट होता है। (किन्तु) पूर्वविधि से विस्तारपूर्वक मनस्कार करने पर प्रकट होता है।

१४. कैसे? जैसे (कोई) दो भिक्षु अनेक 'पेय्याल' (पुनरुक्ति) वाली तन्ति (वचन-पंक्ति) का पारायण कर रहे हों, तो तीक्ष्णप्रज्ञ भिक्षु एक दो बार पेय्याल का विस्तार करने के बाद (पुनरुक्तियों

गच्छति। तत्र नातितिक्खपञ्ञो एवं वत्ता होति—"किं सज्झायो नाम एस ओट्ठपरियाहतत्तं कातुं न देति, एवं सज्झाये करियमाने कदा तन्ति परियोसानं गमिस्सती" ति? एवमेव तिक्खपञ्ञस्स केसादिवसेन वित्थारतो धातुपरिग्गहो पपञ्चतो उपट्ठाति। 'यं थद्धलक्खणं, अयं पथवीधातू' ति आदिना नयेन सङ्खेपतो मनसिकरोतो कम्मट्ठानं पाकटं होति। इतरस्स तथा मनसिकरोतो अन्धकारं अविभूतं होति। केसादिवसेन वित्थारतो मनसिकरोन्तस्स पाकटं होति।

१५. तस्मा इमं कम्मट्ठानं भावेतुकामेन तिक्खपञ्ञेन ताव रहोगतेन पटिसल्लीनेन सकलं पि अत्तनो रूपकायं आवज्जेत्वा, यो इमस्मिं काये थद्धभावो वा खरभावो वा—अयं पथवीधातु। यो आबन्धनभावो वा द्रवभावो वा—अयं आपोधातु। यो परिपाचनभावो वा उण्हभावो वा—अयं तेजोधातु। यो वित्थम्भनभावो वा समुदीरणभावो वा—अयं वायोधातू ति। एवं सङ्खित्तेन धातुयो परिग्गहेत्वा पुनप्पुनं पथवीधातु आपोधातू ति धातुमत्ततो निस्सत्ततो निज्जीवतो आविज्जितब्बं, मनसिकातब्बं, पच्चवेक्खितब्बं।

तस्सेवं वायममानस्स न चिरेनेव धातुप्पभेदावभासनपञ्ञापरिग्गहितो सभावधम्मारम्मणत्ता अप्पनं अप्पत्तो उपचारमत्तो समाधि उप्पज्जति।

१६. अथ वा पन—ये इमे चतुन्नं महाभूतानं निस्सत्तभावदस्सनत्थं **धम्मसेनापतिना—"अट्ठिं च पटिच्च न्हारुं च पटिच्च मंसं च पटिच्च चम्मं च पटिच्च आकासो परिवारितो रूपं**

को एक दो बार पढ़ने के बाद) केवल आरम्भ एवं अन्त (के पाठ) का ही पारायण करता है। ऐसी स्थिति में जिसकी प्रज्ञा अतितीक्ष्ण नहीं है, वह यों कहता है—"यह कैसा पारायण है भला? यह (वाचक) तो (सहपाठी को) होंठ तक हिलाने का मौका नहीं देता। यदि ऐसा पढ़ा जायगा तो कब तक हम पाठ याद कर पायेंगे! वैसे ही तीक्ष्णप्रज्ञ को केश आदि के अनुसार विस्तारपूर्वक धातु-परिग्रह प्रपञ्च जान पड़ता है। "जो स्तम्भ-लक्षण है वह पृथ्वीधातु है" आदि प्रकार से संक्षेपतः मनस्कार करते हुए कर्मस्थान प्रकट होता है। यदि दूसरा (मन्दबुद्धि) ऐसा करता है, तो उसे (कर्मस्थान) अस्पष्ट, अप्रकट होता है। (मन्दबुद्धि को तो) केश आदि के अनुसार विस्तारपूर्वक मनस्कार करने से ही (कर्मस्थान) प्रकट होता है।

१५. अतः इस कर्मस्थान की भावना के अभिलाषी तीक्ष्णप्रज्ञ को एकान्त में जाकर अपने समस्त रूपकाय की ओर ध्यान केन्द्रित करते हुए, संक्षेप में धातुओं का ग्रहण (मनन) यों करना चाहिये—इस काया में जो स्तम्भ या रूक्ष स्वभाव का है, वह पृथ्वीधातु है। जो बन्धनभाव या द्रवभाव है, वह अप् धातु है। जो परिपाचन या उष्ण स्वभाव का है, वह तेजोधातु है। जो विष्टम्भन या चलन स्वभाव का है वह वायुधातु है। यों संक्षेप में धातु के रूप में ग्रहण कर, तब पुनः पुनः, पृथ्वीधातु, अप् धातु—यों धातुमात्र के रूप में, निःसत्त्व के रूप में, निर्जीव के रूप में ध्यान देना चाहिये, मनस्कार करना चाहिये, प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

यों प्रयास करने वाले को शीघ्र ही धातु के प्रभेदों का स्पष्ट भान कराने वाली प्रज्ञा के बल से वह समाधि उत्पन्न होती है, जो उपचारमात्र होती है; क्योंकि स्वभाव धर्म को आलम्बन बनाने से (वह समाधि) अर्पणा (के स्तर को) नहीं प्राप्त कर पाती।

१६. अथवा, जो कि धर्मसेनापति (स्थविर सारिपुत्र) द्वारा इन चार महाभूतों के निःसत्त्व

त्वेव सङ्खं गच्छती" (म० नि० १/२४०) ति चत्तारो कोट्ठासा वुत्ता, तेसु तं तं अन्तरानुसारिना ञाणहत्थेन विनिब्भुजित्वा, यो एतेसु थद्धभावो वा खरभावो वा अयं पथवीधातू ति पुरिमनयेनेव धातुयो परिग्गहेत्वा पुनप्पुनं 'पथवीधातु, आपोधातू' ति धातुमत्ततो निस्सत्ततो निज्जीवतो आवज्जितब्बं, मनसिकातब्बं, पच्चवेक्खितब्बं।

तस्सेवं वायममानस्स न चिरेनेव धातुप्पेदावभासनपञ्ञापरिग्गहितो सभावधम्मा-रम्मणत्ता अप्पनं अप्पतो उपचारमत्तो समाधि उप्पज्जति॥

अयं सङ्खेपतो आगते चतुधातुववत्थाने भावनानयो॥

१७. वित्थारतो आगते पन एवं वेदितब्बो—

इदं कम्मट्ठानं भावेतुकामेन हि नातितिक्खपञ्ञेन योगिना आचरियसन्तिके द्वाचत्तालीसाय आकारेहि वित्थारतो उग्गण्हित्वा वुत्तप्पकारे सेनासने विहरन्तेन कतसब्बकिच्चेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन १. ससम्भारसङ्खेपतो, २. ससम्भारविभत्तितो, ३. सलक्खणसङ्खेपतो, ४. सलक्खणविभत्तितो—एवं चतूहाकारेहि **कम्मट्ठानं भावेतब्बं**।

१८. तत्थ कथं **ससम्भारसङ्खेपतो** भावेति? इध भिक्खु वीसतिया कोट्ठासेसु 'थद्धाकारं पथवीधातू' ति ववत्थपेति। द्वादससु कोट्ठासेसु यूसगतं उदकसङ्खातं 'आबन्धनाकारं आपोधातू'

भाव को दिखलाने के लिये, "जब अस्थि, स्नायु, मांस, चर्म द्वारा आकाश घेरा जाता है, तब 'रूप' यह संज्ञा उत्पन्न होती है" (म० नि० १/२४०)—यों चार भागों का उल्लेख किया गया है; उनमें से प्रत्येक को ज्ञानरूपी हस्त से अलग-अलग कर, जो इनमें स्तम्भन स्वभाव का हो या कठोर स्वभाव का हो उसे पृथ्वीधातु; इस प्रकार पूर्वोक्त विधि से ही धातुतः परिग्रहण कर, बार बार पृथ्वी धातु, अप्-धातु—यों धातुमात्र के रूप में, निःसत्त्व के रूप में, निर्जीव के रूप में ध्यान देना चाहिये, मनस्कार तथा प्रत्यवेक्षण करना चाहिये।

यों प्रयास करने वाले को शीघ्र ही धातु-प्रभेदों का स्पष्ट भान कराने वाली प्रज्ञा के बल से वह समाधि उत्पन्न होती है जो स्वभाव-धर्मों को आलम्बन बनाने से अर्पणा तक नहीं पहुँचती, उपचारमात्र होती है॥

यह पालिपाठ में आये चतुर्धातुव्यवस्थान की भावनाविधि है॥

१७. विस्तृत रूप में चाहने पर इस के विषय में यों जानना चाहिये—

इस कर्मस्थान की भावना के अभिलाषी, साधारण प्रज्ञा वाले योगी को आचार्य के समीप बयालीस प्रकारों को विस्तार के साथ सीख कर, उक्त प्रकार के शयनासन में विहार करते हुए, यों चार प्रकार से कर्मस्थान की भावना करनी चाहिये—१. संरचना करने वाले घटकों (ससम्भार) का संक्षेप करते हुए, २. संरचक घटकों का विश्लेषण करते हुए, ३. स्वलक्षणों का संक्षेप करते हुए, तथा ४. स्वलक्षणों का विश्लेषण करते हुए।

१८. इनमें, संरचक घटकों का संक्षेप करते हुए कैसे भावना करता है? यहाँ भिक्षु (काय के) बीस भागों[1] में "ठोस आकार पृथ्वीधातु है"—यों निश्चित करता है। बारह भागों[2] में तरल

---

१. केश, रोम, नख, दाँत, त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थि-मज्जा, वृक्क (गुर्दा), हृदय, यकृत, क्लोम, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, छोटी आँत, उदरस्थ पदार्थ, मल एवं मस्तिष्क।

२. पित्त, कफ, पीव, रक्त, मेद, अश्रु, वसा, थूक, पोंटा, लसिका और मूत्र।

ति ववत्थपेति। चतूसु कोट्ठासेसु 'परिपाचनकतेजं तेजोधातू' ति ववत्थपेति। छसु कोट्ठासेसु 'वित्थम्भनाकारं वायोधातू' ति ववत्थपेति। तस्सेवं ववत्थापयतो येव धातुयो पाकटा होन्ति। ता पुनप्पुनं आवज्जयतो मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव उपचारसमाधि उप्पज्जति। (१)

१९. यस्स पन एवं भावयतो कम्मट्ठानं न इज्झति, तेन **ससम्भारविभत्तितो** भावेतब्बं। कथं? तेन हि भिक्खुना यं तं कायगतासतिकम्मट्ठाननिद्देसे सत्तधा उग्गहकोसल्लं[१] दसधा मनसिकारकोसल्लं[२] च वुत्तं, द्वत्तिंसाकारे ताव तं सब्बं अपरिहापेत्वा तचपञ्चकादीनं अनुलोमपटिलोमतो वचसा सज्झायं आदिं कत्वा सब्बं तत्थ वुत्तविधानं कातब्बं। अयमेव हि विसेसो—तत्थ वण्ण-सण्ठान-दिसोकास-परिच्छेदवसेन केसादयो मनसिकरित्वा पि पटिक्कूलवसेन चित्तं ठपेतब्बं, इध धातुवसेन। तस्मा वण्णादिवसेन पञ्चधा केसादयो मनसिकरित्वा अवसाने एवं मनसिकारो पवत्तेतब्बो—

इमे **केसा** नाम सीसकटाहपलिवेठनचम्मे जाता। तत्थ यथा वम्मिकमत्थके जातेसु कुण्ठतिणेसु न वम्मिकमत्थको जानाति—'मयि कुण्ठतिणानि जातानी' ति, नपि कुण्ठतिणानि जानन्ति—'मयं वम्मिकमत्थके जातानी' ति; एवमेव न सीसकटाहपलिवेठनचम्मं जानाति—

तथा उदक (जल) कहलाने वाली बन्धनाकार अप् धातु है, यह निश्चय करता है। चार भागों में[३] परिपाचन करने वाला तेज (शरीर की उष्णता) तेजो धातु है—यों निश्चिय क़रता है। छह भागों में विष्टम्भन के आकार (=विशेषता) वाली वायु धातु है—ऐसा निश्चय करता है। जब वह ऐसा निश्चय करता है, तभी धातुएँ प्रकट (स्पष्टतः ज्ञात) होती हैं। उन पर बार बार ध्यान देने, मनस्कार करने से ही उक्त प्रकार से उपचारसमाधि उत्पन्न होती है। (१)

१९. किन्तु जिसे यों भावना करने पर कर्मस्थान में सफलता न मिले, उसे संरचना करने वाले घटकों का विश्लेषण करते हुए भावना करनी चाहिये। कैसे? उस भिक्षु द्वारा यह जो 'कायगत-स्मृतिकर्मस्थाननिर्देश' में सात प्रकार का उद्ग्रहकौशल[४] एवं दस प्रकार का मनस्कारकौशल[५] बतलाया गया है, बत्तीस प्रकार में से किसी को भी न छोड़ते हुए, सर्वप्रथम त्वक्-पञ्चक आदि का अनुलोम रूप में एवं प्रतिलोम रूप में पाठ करना चाहिये, तब वे सब कहे गये विधान करने चाहियें, विशेषता बस इतनी है—वहाँ (कायगतास्मृति में) वर्ण, संस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद के अनुसार केश आदि का मनस्कार करने के बाद भी, उनका विचार प्रतिकूल के रूप में करना चाहिये; जबकि यहाँ (धातुव्यवस्थान के प्रसङ्ग में) धातु के रूप में। इसलिये वर्ण आदि के रूप में पाँच प्रकार से केश आदि का मनस्कार करने के बाद अन्त में यों मनस्कार करना चाहिये—

केश—ये केश कपाल को ढँकने वाले भीतरी चर्म में उत्पन्न होते हैं। जैसे वल्मीक (दीमक की बाँबी) पर उग आये कुण्ठ (?) तृणों के बारे में वल्मीक नहीं जानता—"मेरे ऊपर कुण्ठ तृण उग आये हैं", कुण्ठ तृण भी नहीं जानते—"हम वल्मीक के ऊपर उगे हैं", वैसे ही कपाल

---

१. इमस्मिं येव गन्थे ६८तमे पिट्ठे दट्ठब्बं। २. एतं पि एत्थेव ७१तमे पिट्ठे दट्ठब्बं।

३. (१) जिससे तपता है, (२) जीर्ण होता है, (३) जलता है, (४) जिससे खाया पिया आदि पचता है—ये ही चार भाग हैं। ४. द्र० यही ग्रन्थ, पृष्ठ-६८।

५. यही ग्रन्थ, पृष्ठ-७१।

'मयि केसा जाता' ति, नपि केसा जानन्ति—'मयं सीसकटाहपलिवेठनचम्मे जाता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति केसा नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

लोमा सरीरवेठनचम्मे जाता। तत्थ यथा सुञ्ञगामट्ठाने जातेसु दब्बतिणकेसु न सुञ्ञगामट्ठानं जानाति—'मयि दब्बतिणकानि जातानी' ति, न पि दब्बतिणकानि जानन्ति—'मयं सुञ्ञगामट्ठाने जातानी ति; एवमेव न सरीरवेठनचम्मं जानाति—'मयि लोमा जाता' ति, न पि लोमा जानन्ति—'मयं सरीरवेठनचम्मे जाता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति लोमा नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अव्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

नखा अङ्गुलीनं अग्गेसु जाता। तत्थ, यथा कुमारकेसु दण्डकेहि मधुयट्ठिके विज्झित्वा कीळन्तेसु न दण्डका जानन्ति—'अम्हेसु मधुयट्ठिका ठपिता' ति, न पि मधुयट्ठिका जानन्ति—'मयं दण्डकेसु ठपिता' इति; एवमेव न अङ्गुलियो जानन्ति—'अम्हाकं अग्गेसु नखा ठपिता' इति, न पि नखा जानन्ति—'मयं अङ्गुलीनं अग्गेसु जाता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोग-पच्च-वक्खणरहिता एते धम्मा। इति नखा नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अव्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवाधातू ति।

दन्ता हनुकट्ठिकेसु जाता। तत्थ, यथा वड्ढकीहि पासाणउदुक्खलेसु केनचिदेव

को परिवेष्टित करने वाला चर्म नहीं जानता कि "मुझमें केश उत्पन्न है"; न ही केश जानते हैं—"हम कपाल को परिवेष्टित करने वाले चर्म में उगे हैं।" ये धर्म एक दूसरे के बारे में सोच समझ या प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। इस प्रकार केश इस शरीर का एक विशिष्ट भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य निस्सत्त्व, स्तब्ध (ठोस) पृथ्वीधातु है।

रोम—रोम शरीर को ढँकने वाले चर्म से उत्पन्न हैं। जैसे कि किसी (जन-) शून्य ग्राम में उत्पन्न दूब (दूर्वा) के बारे में शून्य ग्राम-प्रदेश नहीं जानता—'मुझमें दूब उगी हैं", और न दूब ही जानती है—'मैं शून्य प्रदेश में ऊगी हूँ'; वैसे ही न तो शरीर को ढँकने वाला चर्म जानता है—"मुझमें रोम उत्पन्न हैं", न ही रोम जानते हैं—"हम शरीर को ढँकने वाले चर्म में उत्पन्न हैं।" ये धर्म परस्पर सोच समझ एवं प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। इस प्रकार रोम इस शरीर का एक विशिष्ट भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वीधातु है।

नख—नाखून अँगुलियों के अग्रभाग में उत्पन्न हैं। जिस प्रकार लड़के जब महुए की गुठलियों को डण्डे से तोड़ने का खेल खेलते हैं, तब डण्डे यह नहीं जानते—"हम पर महुए की गुठलियाँ रखी गयी हैं", महुए की गुठलियाँ भी नहीं जानतीं—"हम डण्डे पर रखी गयी हैं", वैसे ही अंगुलियाँ नहीं जानतीं—"हमारे अग्रभाग पर नाखून स्थित है", नाखून भी नहीं जानते कि "हम अंगुलियों के अग्रभाग में उत्पन्न हैं।" ये धर्म भी परस्पर सोच समझ और प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। यों नख इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन अव्याकृत शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वीधातु है।

दाँत—दाँत जबड़े में उत्पन्न हैं। जैसे जब मजदूर पत्थर से बनी हुई ओखली (के समान

सिलेसजातेन बन्धित्वा ठपितत्थम्भेसु न उदुक्खला जानन्ति—'अम्हेसु थम्भा ठिता' ति, न पि थम्भा जानन्ति—'मयं उदुक्खलेसु ठिता' ति; एवमेव हनुकट्ठीनि जानन्ति—'अम्हेसु दन्ता जाता' ति, नपि दन्ता जानन्ति—'मयं न हनुकट्ठिसु जाता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्च-वेक्खणरहिता एते धम्मा। इति दन्ता नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

तचो सकलसरीरं परियोनन्धित्वा ठितो। तत्थ, यथा अल्लगोचम्मपरियोनद्धाय महावीणाय न महावीणा जानाति—'अहं अल्लगोचम्मेन परियोनद्धा' ति, नापि अल्लगोचम्मं जानाति—'मया महावीणा परियोनद्धा' ति; एवमेव न सरीरं जानाति—'अहं तचेन परियोनद्धं' ति, न पि तचो जानाति—'मया सरीरं परियोनद्धं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति तचो नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

मंसं अट्ठिसङ्घाटं अनुलिम्पित्वा ठितं। तत्थ यथा महामत्तिकलित्ताय भित्तिया न भित्ति जानाति—'अहं महामत्तिकाय लित्ता' ति, न पि महामत्तिका जानाति—'मया भित्ति लित्ता' ति, एवमेव न अट्ठिसङ्घाटो जानाति—'अहं नवपेसिसतप्पभेदेन मंसेन लित्तो' ति; न पि मंसं जानाति—'मया अट्ठिसङ्घाटो लित्तो' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति मंसं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

न्हारू सरीरब्भन्तरे अट्ठीनि आबन्धमाना ठिता। तत्थ यथा वल्लीहि विनद्धेसु

खोखले भाग) में किसी प्रकार के चिपकाने वाले पदार्थ (गारा, सीमेंट आदि) से जोड़कर खम्भों को खड़ा करते हैं, तब वे ओखलियाँ नहीं जानतीं—"हममें खम्भे स्थित हैं", खम्भे भी नहीं जानते—"हम ओखलियों में स्थित हैं।" वैसे ही जबड़ों में स्थित नहीं जानते... "हम जबड़ों में उत्पन्न हैं।" ये धर्म पूर्ववत्...। यों दाँत पृथ्वीधातु है।

त्वचा—त्वचा समस्त शरीर को लपेट कर स्थित है। जैसे बैल के चमड़े से यदि किसी वृहदाकार वीणा को परिवेष्टित कर दिया जाय तो वह वृहदाकार वीणा नहीं जानती—"मैं बैल के नर्म चमड़े (त्वचा) से लपेटी गयी हूँ", बैल का नर्म चमड़ा भी नहीं जानता—"मेरे द्वारा वृहदाकार वीणा लपेटी गयी है"; वैसे ही शरीर नहीं जानता—"मैं त्वचा से परिवेष्टित हूँ", त्वचा भी नहीं जानती—"मेरे द्वारा शरीर परिवेष्टित है।" ये धर्म परस्पर...पूर्ववत्...। यों त्वचा पृथ्वी-धातु है।

मांस—अस्थिकङ्काल का लेपन करते हुए स्थित है। जैसे गाढ़ी मिट्टी से पुती हुई दीवार यह नहीं जानती—"मैं गाढ़ी मिट्टी से पुती हूँ", गाढ़ी मिट्टी भी नहीं जानती—"मुझसे दीवार पोती गयी है"; वैसे ही अस्थिकङ्काल नहीं जानता—"मैं नौ सौ पेशियों वाले मांस से लिपा हूँ", मांस भी नहीं जानता—"मुझसे अस्थिकङ्काल लिपा हुआ है।" ये धर्म परस्पर...पूर्ववत्...। यों मांस पृथ्वीधातु है।

स्नायु—स्नायु शरीर के भीतर अस्थियों को बाँधे हुए स्थित है। जैसे बाड़ा घेरने आदि

कुट्टदारूसु न कुट्टदारूनि जानन्ति—'मयं वल्लीहि विनद्धानी' ति, न पि वल्लियो जानन्ति—'अम्मेहि कुट्टदारूनि विनद्धानी' ति; एवमेव न अट्ठीनि जानन्ति—'मयं न्हारूहि आबद्धानी' ति, न पि न्हारू जानन्ति—'अम्हेहि अट्ठीनि आबद्धानी' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खण-रहिता एते धम्मा। इति न्हारु नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धा पथवीधातू ति।

अट्ठीसु पण्हिकट्ठि गोप्फकट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं। गोप्फकट्ठि जङ्घट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं। जङ्घट्ठि ऊरुट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं, ऊरुट्ठि कटिट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं। कटिट्ठि पिट्ठिकण्टकं उक्खिपित्वा ठितं। पिट्ठिकण्टको गीवट्ठिं उक्खिपित्वा ठितो। गीवट्ठि सीसट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं। सीसट्ठि गीवट्ठिके पतिट्ठितं। गीवट्ठि पिट्ठिकण्ठके पतिट्ठितं। पिट्ठिकण्टको कटिट्ठिम्हि पतिट्ठितो। कटिठि ऊरुट्ठिके पतिट्ठतं। ऊरुट्ठि जङ्घट्ठिके पतिट्ठितं। जङ्घट्ठि गोप्फकट्ठिके पतिट्ठितं। गोप्फकट्ठि पण्हिकट्ठिके पतिट्ठितं।

तत्थ यथा इट्ठकदारुगोमयादिसञ्चयेसु न हेट्ठिमा हेट्ठिमा जानन्ति—'मयं उपरिमे उपरिमे उक्खिपित्वा ठिता' ति, न पि उपरिमा उपरिमा जानन्ति—'मयं हेट्ठिमेसु हेट्ठिमेसु पतिट्ठिता' ति; एवमेव न पण्हिकट्ठि जानाति—'अहं गोप्फकट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं' ति। न गोप्फकट्ठि जानाति—'अहं जङ्घट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं' ति। न जङ्घट्ठि जानाति—'अहं ऊरुट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं' ति। न ऊरुट्ठि जानाति—'अहं कटिट्ठिं उक्खिपित्वा ठितं' ति। न कटिट्ठि जानाति—

के उपयोग में आने वाली लकड़ियाँ ('कुट्टदारु', संस्कृत में—'कुष्ट' अर्थात् एक विशेष प्रकार का पौधा) यदि लताओं में बँधी हों तो वे लकड़ियाँ यह नहीं जानतीं कि "हम लताओं से बँधी हैं", लतायें भी नहीं जानतीं—"हमसे लकड़ियाँ बँधी हैं"; वैसे ही अस्थियाँ नहीं जानती—"हम स्नायुओं से बँधी हैं, स्नायु भी नहीं जानते—"हमसे अस्थियाँ बँधी हैं"। ये धर्म परस्पर पूर्ववत्...। यों, स्नायु पृथ्वीधातु है।

अस्थि—अस्थियों में एड़ी की अस्थि गुल्फ की अस्थि को उठाये हुए स्थित है। गुल्फ-अस्थि टँखने की अस्थि को, टँखने की अस्थि जाँघ की अस्थि को, जाँघ की अस्थि कमर की अस्थि को, कमर की अस्थि रीढ़ की (काँटेनुमा) अस्थि को, रीढ़ की अस्थि ग्रीवा की अस्थि को, ग्रीवा की अस्थि सिर की अस्थि को उठाये हुए है। सिर की अस्थि ग्रीवा की अस्थि पर प्रतिष्ठित है। ग्रीवा की अस्थि रीढ़ की हड्डी पर प्रतिष्ठित है। रीढ़ की हड्डी कमर की हड्डी पर टिकी हुई है। कमर की अस्थि जाँघ की अस्थि पर टिकी हुई है। जाँघ की अस्थि टँखने की अस्थि पर टिकी है। टँखने की अस्थि गुल्फ की अस्थि पर टिकी है। गुल्फ की अस्थि एड़ी की अस्थि पर टिकी है।

इनमें, जैसे ईंट, लकड़ी, गोबर आदि को (एक के ऊपर एक) रखने पर, नीचे नीचे की (वस्तुएँ) यह नहीं जानतीं कि हम ऊपर ऊपर वालियों को उठाये हुए हैं; न ही ऊपर ऊपर वाली जानती हैं कि हम नीचे-नीचे वालियों पर स्थित हैं; वैसे ही एड़ी की अस्थि नहीं जानती कि मैं गुल्फ की अस्थि को उठाये हुए हूँ। न ही गुल्फ की अस्थि जानती है कि मैं टँखने की अस्थि को उठाये हुए हूँ। न टँखने की अस्थि जानती है कि मैं जाँघ की अस्थि को उठाये हुए हूँ, न

'अहं पिट्ठिकण्टकं उक्खिपित्वा ठितं' ति। न पिट्ठिकण्टको जानाति—'अहं गीवट्ठिं उक्खिपित्वा ठितो' ति। न गीवट्ठि जानाति—'अहं सीसट्ठिं उक्खिपित्वा ठित्तं' ति। न सीसट्ठि जानाति—'अहं गीवट्ठिम्हि पतिट्ठितं' ति। न गीवट्ठि जानाति—'अहं पिट्ठिकण्टके पतिट्ठितं' ति। न पिट्ठिकण्टको जानाति—'अहं कटिट्ठिम्हि पतिट्ठितो' ति। न कटिट्ठि जानाति—'अहं *ऊरुट्ठिम्हि पतिट्ठितं' ति। न ऊरुट्ठि जानाति—'अहं जङ्घट्ठिम्हि पतिट्ठितं' ति। न* जङ्घट्ठि जानाति—'अहं गोप्फकट्ठिम्हि पतिट्ठितं' ति। न गोप्फकट्ठि जानाति—'अहं पण्हिकट्ठिम्हि *पतिट्ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति अट्ठि नाम इमस्मिं सरीरे* पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।.

अट्ठिमिञ्जं तेसं तेसं अट्ठीनं अब्भन्तरे ठितं। तत्थ यथा वेळुपब्बादीनं अन्तो पक्खित्तसिन्नवेत्तग्गादीसु[१] न वेळुपब्बादीनि जानन्ति—'अम्हेसु वेत्तग्गादीनि पक्खित्तानी' ति, न पि वेत्तग्गादीनि जानन्ति—'मयं वेळुपब्बादीसु ठितानी' ति; एवमेव न अट्ठीनि जानन्ति—'अम्हाकं अन्तो मिञ्जं ठितं' ति, न पि मिञ्जं जानाति—'अहं अट्ठीनं अन्तो ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति अट्ठिमिञ्जं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

वक्कं गलवाटकतो निक्खन्तेन एकमूलेन थोकं गन्त्वा द्विधा भिन्नेन थूलन्हारुना विनिबद्धं हुत्वा हदयमसं परिक्खिपित्वा ठितं। तत्थ यथा वण्टूपनिबद्धे अम्बफलद्वये न वण्टं जानाति—'मया अम्बफलद्वयं उपनिबद्धं' ति, न पि अम्बफलद्वयं जानाति—'अहं वण्टेन उपनिबद्धं'

जाँघ की अस्थि जानती है कि मैं कमर की अस्थि को उठाये हुए हूँ। न कमर की अस्थि जानती है कि मैं रीढ़ की अस्थि को उठाये हुए हूँ। न रीढ़ की अस्थि जानती है कि मैं सिर की अस्थि को उठाये हुए हूँ। न सिर की अस्थि जानती है कि मैं रीढ़ की अस्थि पर टिकी हूँ। न रीढ़ की अस्थि जानती है कि मैं कमर की अस्थि पर टिकी हूँ। न कमर की अस्थि जानती है कि मैं जाँघ की अस्थि पर टिकी हूँ। न जाँघ की अस्थि जानती है कि मैं टँखने की अस्थि पर टिकी हूँ। न टँखने की अस्थि जानती है कि मैं गुल्फ की अस्थि पर टिकी हूँ। न गुल्फ की अस्थि जानती है कि मैं एड़ी की अस्थि पर टिकी हूँ। ये धर्म परस्पर सोच समझ से प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। यों अस्थि इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वीधातु है।

अस्थिमज्जा—अस्थिमज्जा उन-उन अस्थियों के अन्दर होती हैं। जैसे कि यदि बाँस के पोरों आदि में भीगे बाँस के अङ्कुर आदि डाल दिये जाँय, तो बाँस के पोर आदि नहीं जानते कि हममें अङ्कुर आदि डाले गये हैं, न ही अङ्कुर आदि जानते हैं—हम बाँस के पोरों में स्थित हैं; वैसे ही अस्थियाँ नहीं जानतीं कि हमारे अन्दर मज्जा स्थित है, न ही मज्जा जानती है कि मैं अस्थियों के भीतर स्थित हूँ। ये धर्म परस्पर सोच-समझ से, प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। यों अस्थिमज्जा इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, ठोस पृथ्वीधातु है।

वृक्क—वृक्क (गुर्दा)—गले से निकलने वाले एक ही मूल वाले एवं कुछ दूर जाकर दो भागों में बँट जाने वाले स्थूल स्नायु (मोटी नसों) से बँधा हुआ, हृदय के मांस को घेर कर स्थित

---

१. **सिन्नवेत्तग्गादीसू** ति। सेदितवेत्तकळीरादीसु।

ति; एवमेव न थूलन्हारु जानाति—'मया वक्कं उपनिबद्धं' ति, न पि वक्कं जानाति—'अहं थूलन्हारुना उपनिबद्धं' ति। अञ्ञञ्ञं आभोपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति वक्कं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

हदयं सरीरब्भन्तरे ऊरट्ठिपञ्जरमज्झं निस्साय ठितं। तत्थ यथा जिण्णसन्दमानिकपञ्जरं निस्साय ठपिताय मंसपेसिया न जिण्णसन्दमानिकपञ्जरब्भन्तरं जानाति—'मं निस्साय मंसपेसि ठपिता' ति, न पि मंसपेसि जानाति—'अहं जिण्णसन्दमानिकपञ्जरं निस्साय ठिता' ति; एवमेव न उरट्ठिपञ्जरब्भन्तरं जानाति—'मं निस्साय हदयं ठितं' ति, न पि हदयं जानाति—'अहं उरट्ठिपञ्जरं निस्साय ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति हदयं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

यकनं अन्तोसरीरे द्विन्नं थनानमभन्तरे दक्खिणपस्स निस्साय ठितं। तत्थ यथा उक्खलिकपालपस्सम्हि लग्गे यमकमंसपिण्डे[१] न उक्खलिकपालपस्सं जानाति—'मयि यमकमंसपिण्डो लग्गो' ति, न पि यमकमंसपिण्डो जानाति—'अहं उक्खलिकपालपस्से लग्गो' ति; एवमेव न थनानमब्भन्तरे दक्खिणपस्सं जानाति—'मं निस्साय यकनं ठितं' ति, न पि यकनं जानाति—'अहं थनानं अब्भन्तरे दक्खिणपस्सं निस्साय ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति यकनं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

है। जैसे यदि दो आम के फल (एक) वृन्त (डण्डी) से बँधे हों, तो वृन्त नहीं जानता कि मेरे द्वारा आम के फल का जोड़ा बँधा हुआ है, न आम के फल का जोड़ा जानता है कि मैं वृन्त से बँधा हुआ हूँ; वैसे ही न तो स्थूल स्नायु जानती है कि मुझसे वृक्क उपनिबद्ध है, न ही वृक्क जानता है कि मैं स्थूल स्नायु से उपनिबद्ध हूँ। ये धर्म ...पूर्ववत्...। यों वृक्क पृथ्वी धातु है।

हृदय—शरीर के भीतर, छाती के अस्थिपञ्जर के मध्य, (उसके) सहारे स्थित है। जैसे कि यदि किसी जीर्ण-शीर्ण गाड़ी के ढाँचे के सहारे मांस का टुकड़ा रखा हो, तो जीर्ण-शीर्ण गाड़ी के ढाँचे का भीतरी भाग यह नहीं जानता कि मेरे सहारे मांसपेशी रखी है, न ही मांसपेशी जानती है कि मैं जीर्ण-शीर्ण गाड़ी के ढाँचे के सहारे स्थित हूँ; वैसे ही छाती के अस्थिपञ्जर का आन्तरिक भाग नहीं जानता कि मेरे सहारे हृदय स्थित है, न ही हृदय जानता है कि मैं छाती के अस्थिपञ्जर के सहारे स्थित हूँ। ये धर्म परस्पर ...पूर्ववत्...। यों हृदय पृथ्वी-धातु है।

यकृत्—यकृत् शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच में दाहिनी ओर स्थित है। जैसे खाना पकाने के पात्र के एक ओर यदि मांस पिण्ड का जोड़ा चिपका हुआ हो, तो न तो पात्र जानता है—'मुझमें मांस-पिण्ड का जोड़ा चिपका हुआ है', न मांस-पिण्ड का जोड़ा जानता है—"मैं खाना पकाने के पात्र में चिपका हुआ हूँ; वैसे ही न तो स्तनों के बीच का दाहिना पार्श्व जानता है—'मेरे सहारे यकृत स्थित है', न ही यकृत जानता है—'मैं स्तनों के बीच दाहिनी ओर स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर...। पूर्ववत्...। यों, यकृत पृथ्वीधातु है।

---

१. **यमकमंसपिण्डे** ति। मंसपिण्डयुगळे।

किलोमकेसु पटिच्छन्नकिलोमकं हदयं च वक्कं च परिवारेत्वा ठितं। अप्पटिच्छन्न-किलोमकं सकलसरीरे चम्मस्स हेट्ठतो मंसं परियोनन्धित्वा ठितं। तत्थ यथा पिलोतिकपलि-वेठिते मंसे न मंसं जानाति—'अहं पिलोतिकाय पलिवेठितं' ति, न पि पिलोतिका जानाति—'मया मंसं पलिवेठितं' ति; एवमेव न वक्कहदयानि सकलसरीरे च मंसं जानाति—'अहं किलोमकेन पटिच्छन्नं' ति। न पि किलोमकं जानाति—'मया वक्कहदयानि सकलसरीरे च मंसं पटिच्छन्नं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति किलोमकं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

पिहकं हदयस्स वामपस्से उदरपटलस्स मत्थकपस्सं निस्साय ठितं। तत्थ यथा कोट्ठमत्थकपस्सं[१] निस्साय ठिताय गोमयपिण्डिया न कोट्ठमत्थकपस्सं जानाति—'गोमयपिण्डि मं निस्साय ठिता' ति, न पि गोमयपिण्डि जानाति—'अहं कोट्ठमत्थकपस्सं निस्साय ठिता' ति; एवमेव न उदरपटलस्स मत्थकपस्सं जानाति—'पिहकं मं निस्साय ठितं' ति; न पि पिहकं जानाति—'अहं उदरपटलस्स मत्थकपस्सं निस्साय ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्च-वेक्खणरहिता एते धम्मा। इति पिहकं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

फप्फासं सरीरब्भन्तरे द्विन्नं थनानमन्तरे हदयं च यकनं च उपरि छादेत्वा ओलम्बन्तं ठितं। तत्थ यथा जिण्णकोट्ठब्भन्तरे लम्बमाने सकुणकुलावके न जिण्णकोट्ठब्भन्तरं जानाति—'मयि सकुणकुलावको लम्बमानो ठितो' ति, न पि सकुणकुलावको जानाति—'अहं

क्लोम—प्रतिच्छन्न (छिपा हुआ) क्लोम हृदय एवं वृक्क को घेरकर स्थित है। अप्रति-च्छन्नक्लोम पूरे शरीर के चर्म के नीचे मांस को बाँधे हुए स्थित है। जैसे कि मांस को यदि किसी कपड़े के टुकड़े में लपेट दिया जाय, तो मांस नहीं जानता—'मैं कपड़े के टुकड़े में लपेटा हुआ हूँ', न कपड़े का टुकडा जानता है—'मुझसे मांस लपेटा गया है'; वैसे ही न तो वृक्क, न हृदय और न समस्त शरीर का मांस जानता है—'मैं क्लोम द्वारा घिरा हुआ हूँ'—न ही क्लोम जानता है—'मेरे द्वारा हृदय, वृक्क एवं समस्त शरीर का मांस घिरा हुआ है।' ये धर्म परस्पर...पूर्ववत्। यों, क्लोम पृथ्वी धातु है।

प्लीहा—प्लीहा (तिल्ली) हृदय के बायीं ओर, उदर पटल के ऊपरी पार्श्व के सहारे स्थित है। जैसे यदि खलिहान (अनाज, भूसा आदि रखने की कोठरी) के भीतर ऊपर की ओर उपला (गोबर का कण्डा) रखा हों, तो खलिहान का ऊपरी भाग नहीं जानता—'उपला मेरे सहारे स्थित है', न उपला जानता है—'मैं खलिहान के ऊपरी भाग के सहारे स्थित हूँ'; वैसे ही न तो उदर-पटल जानता है—प्लीहा मेरे सहारे स्थित है', न ही प्लीहा जानता है—'मैं उदर-पटल के ऊपरी पार्श्व के सहारे स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर ...पूर्ववत्...। यों प्लीहा पृथ्वीधातु है।

फुप्फुस—(फेफड़ा) शरीर के भीतर दोनों स्तनों के बीच, हृदय एवं यकृत को ऊपर से ढँके हुए, लटकता हुआ स्थित है। जैसे यदि किसी जीर्ण (पुराने समय में बने हुए) खलिहान के भीतर पक्षी का घोसला लटक रहा हो तो वह जीर्ण खलिहान नहीं जानता—'मुझमें पक्षी का

---

१. **कोट्ठमत्थकपस्सं** ति। कुसूलस्स अब्भन्तरे मत्थकपस्सं।

जिण्णकोट्ठब्भन्तरे लम्बमानो ठितो' ति; एवमेव न तं सरीरब्भन्तरं जानाति—'मयि पप्फासं लम्बमानं ठितं' ति, न पि पप्फासं जानाति—'अहं एवरूपे सरीरब्भन्तरे लम्बमानं ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति पप्फासं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

अन्तं गलवाटककरीसमग्गपरियन्ते सरीरब्भन्तरे ठितं। तत्थ यथा लोहितदोणिकाय ओभुञ्जित्वा ठपिते छिन्नसीसधम्मनिकळेवरे न लोहितदोणि जानाति—'मयि धम्मनिकळेवरं ठितं' ति, न पि धम्मनिकळेवरं जानाति—'अहं लोहितदोणिया ठितं' ति; एवमेव न सरीरब्भन्तरं जानाति—'मयि अन्तं ठितं' ति, न पि अन्तं जानाति—'अहं सरीरब्भन्तरे ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति अन्तं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

अन्तगुणं अन्तन्तरे एकवीसतिअन्तभोगे[1] बन्धित्वा ठितं। तत्थ यथा पादपुञ्छनरज्जुमण्डलकं सिब्बेत्वा ठितेसु रज्जुकेसु न पादपुञ्छनरज्जुमण्डलकं जानाति—'रज्जुका मं सिब्बित्वा ठिता' ति, न पि रज्जुका जानन्ति—मयं पादपुच्छनरज्जुमण्डलकं सिब्बित्वा ठिता' ति; एवमेव न अन्तं जानाति—'अन्तगुणं मं आबन्धित्वा ठितं' ति, न पि अन्तगुणं जानाति—'अहं अन्तं आबन्धित्वा ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति अन्तगुणं नाम इमस्मिं सरारे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

उदरियं उदरे ठितं असितपीतखायितसायितं। तत्थ यथा सुवानदोणियं ठिते सुवानवमथुम्हि न सुवानदोणि जानाति—'मयि सुवानवमथुठितो' ति, न पि सुवानवमथु जानाति—'अहं सुवानदोणियं ठितो' ति; एवमेव न उदरं जानाति—'मयि उदरियं ठितं' ति,

---

घोंसला लटक रहा है, न ही पक्षी का घोंसला जानता है—'मैं जीर्ण खलिहान में लटक रहा हूँ'; वैसे ही न तो शरीर का वह भीतरी भाग जानता है—'मुझमें फुफ्फुस लटक रहा है', न ही फुफ्फुस जानता है—'मैं इस शरीर के भीतर लटक रहा हूँ'। ये धर्म ...पूर्ववत्...। यों फुफ्फुस पृथ्वीधातु है।

आँत—आँत शरीर के भीतर गले से लेकर मल मार्ग तक स्थित है। जैसे यदि रक्त की द्रोणी में सिरकटे धामिन (सर्प की एक प्रजाति) साँप के शरीर को मोड़ कर रख दिया गया हो, तो रक्त की द्रोणी नहीं जानती—'मुझमें धामिन साँप का शरीर स्थित है' न ही धामिन का शरीर जानता है—'मैं रक्त की द्रोणी में स्थित हूँ'; वैसे ही न तो शरीर का भीतरी भाग जानता है—'मुझमें आँत स्थित है', न ही आँत जानती है—'मैं शरीर के भीतर स्थित हूँ' ये धर्म परस्पर... पूर्ववत्...। यों आँत पृथ्वीधातु है।

उदरस्थ पदार्थ—उदर (पेट) में स्थित, खाये-पिये, चबाये-चाटे गये पदार्थ। जैसे यदि कुत्ते (के आहार) की द्रोणी में कुत्ते का वमन रखा हो, तो कुत्ते की द्रोणी नहीं जानती—'मुझमें

---

१. **एकवीसतिअन्तभोगे** ति। एकवीसतिया ठानेसु ओभग्गोभग्गे अन्तमण्डले।

न पि उदरियं जानाति—'अहं उदरे ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति उदरियं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

करीसं पक्कासयसङ्खाते अट्ठङ्गुलवेळुपब्बसदिसे अन्तपरियोसाने ठितं। तत्थ यथा वेळुपब्बे ओमद्दित्वा पक्खित्ताय सण्हपण्डुमत्तिकाय न वेळुपब्बं जानाति—'मयि पण्डुमत्तिका ठिता' ति, न पि पण्डुमत्तिका जानाति—'अहं वेळुपब्बे ठिता' ति; एवमेव न पक्कासयो जानाति—'मयि करीसं ठितं' ति, न पि करीसं जानाति—'अहं पक्कासये ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति करीसं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

मत्थलुङ्गं सीसकटाहब्भन्तरे ठितं। तत्थ यथा पुराणलाबुकटाहे पक्खित्ताय पिट्ठपिण्डिया न लाबुकटाहं जानाति—'मयि पिट्ठपिण्डि ठिता' ति, न पि पिट्ठपिण्डि जानाति—'अहं लाबुकटाहे ठिता' ति; एवमेव न सीसकटाहब्भन्तरं जानाति—'मयि मत्थलुङ्गं ठितं' ति, न पि मत्थलुङ्गं जानाति—'अहं सीसकटाहब्भन्तरे ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति मत्थलुङ्गं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो थद्धो पथवीधातू ति।

पित्तेसु अबद्धपित्तं जीवितिन्द्रियपटिबद्धं सकलसरीरं ब्यापेत्वा ठितं। बद्धपित्तं पित्तकोसके ठितं। तत्थ यथा पूवं ब्यापेत्वा ठिते तेले न पूवं जानाति—'तेलं मं ब्यापेत्वा ठितं' ति, न पि तेलं जानाति—'अहं पूवं ब्यापेत्वा ठितं' ति; एवमेव न सरीरं जानाति—'अबद्धपित्तं

कुत्ते का वमन रखा है', न ही कुत्ते का वमन जानता है—'मैं कुत्ते की द्रोणी में रखा हूँ; 'वैसे ही न तो उदर जानता है—'मुझमें उदरस्थ पदार्थ स्थित है', न ही उदरस्थ पदार्थ जानता है—'मैं उदर में स्थित हूँ'। ये धर्म ...पूर्ववत्...। यों, उदरस्थ पदार्थ पृथ्वीधातु है।

मल (करीष)—आँत के अन्तिम सिरे पर, आठ अङ्गुल वाले बाँस के पर्व (पोर) के समान पक्काशय में मल स्थित रहता है जैसे यदि बाँस के पर्व में महीन पीली मिट्टी को खूब मलकर भर दिया जाय, तो बाँस का पर्व नहीं जानता—'मुझमें पीली मिट्टी स्थित है', न ही पीली मिट्टी जानती है—'मैं बाँस के पर्व में स्थित हूँ'; वैसे ही न तो पक्काशय जानता है—'मुझमें मल स्थित है', न ही मल जानता है—'मैं पक्काशय में स्थित हूँ'। ये धर्म ...पूर्ववत्...। यों, मल ठोस पृथ्वीधातु है।

मस्तिष्क—खोपड़ी के भीतर स्थित है। जैसे यदि तुम्बी (सूखी लौकी का खोल) में आटे की पिण्डी रखी हो तो तुम्बी नहीं जानती—मुझमें आटे की पिण्डी रखी है', न ही आटे की पिण्डी जानती हूँ—'मैं तुम्बी में रखी हूँ'; वैसे ही शिर:कपाल का भीतरी भाग नहीं जानता—'मुझ में मस्तिष्क स्थित है', न ही मस्तिष्क जानता है—'मैं शिर:कपाल में स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर सोच-समझ से, प्रत्यवेक्षण से रहित है। यों, मस्तिष्क इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, नि:सत्त्व, ठोस पृथ्वीधातु है। (क)

पित्त—पित्तों में, अबद्ध (=जो स्थानविशेष में सीमित न हो) पित्त समस्त शरीर में व्याप्त

मं ब्यापेत्वा ठितं' ति, न पि अबद्धपित्तं जानाति—'अहं सरीरं ब्यापेत्वा ठितं' ति। यथा वस्सोदकेन पुण्णे कोसातकीकोसके न कोसातकीकोसको जानाति—'मयि वस्सोदकं ठितं' ति, न पि वस्सोदकं जानाति—'अहं कोसातकीकोसके ठितं' ति; एवमेव न पित्तकोसको जानाति—'मयि बद्धपित्तं ठितं' ति, न पि बद्धपित्तं जानाति—'अहं पित्तकोसके ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति पित्तं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो[१] आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

सेम्हं एकपत्तपूरणप्पमाणं उदरपटले ठितं। तत्थ यथा उपरि सञ्जातफेणपटलाय चन्दनिकाय[२] न चन्दनिका जानाति—'मयि फेणपटलं ठितं' ति, न पि फेणपटलं जानाति—'अहं चन्दनिकाय ठितं' ति; एवमेव न उदरपटलं जानाति—'मयि सेम्हं ठितं' ति, न पि सेम्हं जानाति—'अहं उदरपटले ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति सेम्हं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

पुब्बो अनिबद्धोकासो यत्थ यत्थेव खाणुकण्टकप्पहरणअग्गिजालादीहि अभिहते सरीरप्पदेसे लोहितं सण्ठहित्वा पच्चति, गण्डपिळकादयो वा उप्पज्जन्ति, तत्थ तत्थ तिट्ठति। तत्थ यथा फरसुप्पहारादिवसेन पग्घरितनिय्यासे रुक्खे न रुक्खस्स पहारादिप्पदेसा जानन्ति—'अम्हेसु निय्यासो ठितो' ति, न पि निय्यासो जानाति—'अहं रुक्खस्स पहारादिप्पदेसेसु ठितो'

रहता है। बद्ध पित्त पित्तकोष (पित्ताशय='गाल ब्लेडर') में स्थित होता है। जैसे यदि तेल पुए में व्याप्त हो, तो पुआ नहीं जानता—'तैल मुझमें व्याप्त होकर स्थित है', न ही तैल जानता है—'मैं पुए में व्याप्त होकर स्थित हूँ'; वैसे ही न तो शरीर जानता है—'अबद्ध पित्त मुझे व्याप्त कर स्थित है', न ही अबद्ध पित्त जानता है—'मैं शरीर को व्याप्त कर स्थित हूँ'। जैसे यदि नेनुआ के कोष (भीतरी जालीदार भाग) में वर्षा का जल भरा हुआ हो, तो नेनुआ का कोष नहीं जानता—'मुझमें वर्षा का जल स्थित है', न ही वर्षा का जल जानता है—'मैं नेनुआ के कोष में स्थित हूँ'; वैसे ही पित्ताशय नहीं जानता—'मुझमें बद्ध पित्त स्थित है, न ही बद्ध पित्त जानता है—'मैं पित्ताशय में स्थित हूँ'। ये धर्म परस्पर सोच-समझ से, प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। यों, पित्त इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, तरल, बन्धन लक्षण वाली अप्-धातु है।

श्लेष्मा—श्लेष्मा (कफ) एक पात्र भर परिमाण में उदर-पटल (सतह) पर स्थित है। जैसे यदि पोखरे के ऊपर फेन की पर्त उत्पन्न हो जाय, तो पोखरा नहीं जानता—'मुझ पर फेन की पर्त स्थित है, न ही फेन की पर्त जानती है—'मैं पोखरे पर स्थित हूँ'; वैसे ही न तो उदर-पटल जानता है—'मुझ पर श्लेष्मा है', न ही श्लेष्मा जानता है—'मैं उदर-पटल पर स्थित हूँ', ये धर्म...यों श्लेष्मा अप्-धातु है।

पीब—अनिश्चित स्थान वाली पीब वहाँ वहाँ रहती है, जहाँ जहाँ कुश-काँटे गड़ने पर, या चोट-चपेटे लगने पर, या अग्नि की लपट से शरीर जल जाने पर शरीर के उन-उन भागों में

---

१. **यूसभूतो** ति। रसभूतो। २. उच्छिट्ठोदकगब्भमलादीनं छड्डनट्ठानं **चन्दनिका**, तस्सं चन्दनिकायं।

ति; एवमेव न सरीरस्स खाणुकण्टकादीहि अभिहतप्पदेसा जानन्ति—'अम्हेसु पुब्बो ठितो' ति, न पि पुब्बो जानाति—'अहं तेसु पदेसेसु ठितो' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति पुब्बो नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

लोहितेसु संसरणलोहितं पित्तं विय सकलसरीरं ब्यापेत्वा ठितं। सन्निचितलोहितं यकनट्ठानस्स हेट्ठाभागं पूरेत्वा एकपत्तपूरमत्तं वक्कहदययकनपप्फासानि तेमेन्तं ठितं। तत्थ संसरणलोहिते अबद्धपित्तसदिसो व विनिच्छयो। इतरं पन यथा जज्जरकपाले ओवट्ठे उदके हेट्ठा लेड्डुखण्डादीनि तेमियमाने न लेड्डुखण्डादीनि जानन्ति—'मयं उदकेन तेमियमाना' ति, न पि उदकं जानाति—'अहं लेड्डुखण्डादीनि तेमेमी' ति; एवमेव न यकनस्स हेट्ठाभागट्ठानं वक्कादीनि वा जानन्ति—'मयि लोहितं ठितं, अम्हे वा तेमयमानं ठितं' ति, न पि लोहितं जानाति—'अहं यकनस्स हेट्ठाभागं पूरेत्वा वक्कादीनि तेमयमानं ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति लोहितं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

सेदो अग्गिसन्तापादिकालेसु केसलोमकूपविवरानि पूरेत्वा तिट्ठति चेव पग्घरति च। तत्थ यथा उदका अब्बूळ्हमत्तेसु भिसमुळाल-कुमुदनाळकलापेसु न भिसादिकलापविवरानि जानन्ति—'अम्हेहि उदकं पग्घरती' ति, न पि भिसादिकलापविवरेहि पग्घरन्तं उदकं जानाति—'अहं भिसादिकलापविवरेहि पग्घरामी' ति; एवमेव न केसलोमकूपविवरानि

रक्त सञ्चित होकर पक जाता है, या जहाँ फोड़े-फुंसी उत्पन्न होते हैं। जैसे यदि फरसे के प्रहार आदि के कारण वृक्ष से गोंद चूने लग जाय, तो वृक्ष नहीं जानता—'मुझमें गोंद स्थित है', न ही गोंद जानता है—'मैं वृक्ष के चोट खाये हुए भागों में स्थित हूँ'; वैसे ही न तो शरीर के वे भाग, जो कुश काँटे आदि से आहत हैं, जानते हैं—'हममें पीब स्थित है', न ही पीब जानती है—'मैं उन उन भागों में स्थित हूँ'। ये धर्म...। यों, पीब अप् धातु है।

रक्त—संसरण करने वाला रक्त समस्त शरीर को व्याप्त किये हुए हैं। सञ्चित रक्त यकृत् के स्थान के अवर (नीचले) भाग को पूर्ण करता हुआ एक पात्र भर परिमाण में, वृक्क हृदय और फुप्फुस को तर करता हुआ स्थित है। इनमें संसरित रक्त के बारे में अबद्ध पित्त के समान ही समझना चाहिये। दूसरे (सञ्चित) के बारे में—जैसे यदि किसी पुराने घड़े से जल रिस-रिस कर नीचे रखे मिट्टी के ढेलों को भिगो रहा हो, तो मिट्टी के ढेले नहीं जानते—'हम जल द्वारा भिगोये जा रहे हैं', न ही जल जानता है—'मैं मिट्टी के ढेलों को भिगो रहा हूँ'; वैसे ही न तो यकृत् स्थान का अवर भाग, और न वृक्क आदि जानते हैं—'हममें रक्त स्थित हैं, या हमें भिगोते हुए स्थित है', न ही रक्त जानता है—'मैं यकृत के अवर भाग को पूर्ण करते हुए, वृक्क आदि को भिगोते हुए स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर... यों रक्त अप् धातु है।

स्वेद—स्वेद (पसीना) अग्नि धूप आदि (के साथ सम्पर्क) के समय केश और रोम के छिद्रों में भरा भी रहता है, बहता भी रहता है। जैसे यदि कमलिनी-नाल एवं कमल-नाल के गुच्छे जल में से उखाड़ लिये जाँय, तो कमलिनी के गुच्छे; (के बीच के) छिद्र नहीं जानते—

जानन्ति—'अम्हेहि सेदो पग्घरती' ति, नपि सेदो जानाति—'अहं केसलोमकूपविवरेहि पग्घरामी' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति सेदो नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

मेदो थूलस्स सकलसरीरं फरित्वा किसस्स जङ्घमंसादीनि निस्साय ठितो पत्थिन्न-सिनेहो। तत्थ यथा हलिद्दिपिलोतिकपटिच्छन्ने मंसपुञ्जे न मंसपुञ्जो जानाति—'मं निस्साय हलिद्दिपिलोतिका ठिता' ति, न पि हलिद्दिपिलोतिका जानाति—'अहं मंसपुञ्जं निस्साय ठिता' ति; एवमेव न सकलसरीरे जङ्घादीसु वा ठितं मंसं जानाति—'मं निस्साय मेदो ठितो' ति, न पि मेदो जानाति—'अहं सकलसरीरे जङ्घादीसु वा मंसं निस्साय ठितो' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति मेदो नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो पत्थिन्नयूसो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

अस्सु यदा सञ्जायति तदा अक्खिकूपके पूरेत्वा तिट्ठति वा पग्घरति वा। तत्थ यथा उदकपुण्णेसु तरुणतालट्ठिकूपकेसु न तरुणतालट्ठिकूपका जानन्ति—'अम्हेसु उदकं ठितं' ति, न पि तरुणतालट्ठिकूपकेसु ठितं उदकं जानाति—'अहं तरुणतालट्ठिकूपकेसु ठितं' ति; एवमेव न अक्खिकूपका जानन्ति—'अम्हेसु अस्सु ठितं' ति, न पि अस्सु जानाति—'अहं अक्खिकूपकेसु ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति अस्सु नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

वसा अग्गिसन्तापादिकाले हत्थतल-हत्थपिट्ठि-पादतल-पादपिट्ठि-नासापुट-नलाट-अंसकूटेसु ठितविलीनस्नेहो। तत्थ यथा पक्खित्ततेले आचामे न आचामो जानाति—'मं तेलं

'हमसे पानी टपक रहा है', न ही कमलिनी आदि के गुच्छों के बीच से टपकता हुआ पानी जानता है—'मैं कमलिनी आदि के गुच्छों के छिद्रों से टपक रहा हूँ'; वैसे ही न केश-रोम कूपों के छिद्र जानते हैं—'मैं केश-रोम-कूपों के छिद्रों से बहता हूँ'—ये धर्म परस्पर...। यों, स्वेद...अप्-धातु है।

मेद—मेद (चर्बी)—स्थूल (शरीरधारी) के समस्त शरीर को व्याप्त कर एवं कृश के टखने के मांस आदि के सहारे स्थित रहने वाला गाढ़ा स्नेह (चिकनापन) है। जैसे हल्दी से रँगे (पीले) कपड़े के टुकड़े से मांसपुञ्ज ढँका हो, तो मांसपुञ्ज नहीं जानता—'मुझ पर हल्दी रंगा कपड़े का टुकड़ा स्थित है', न ही पीला कपड़ा जानता है—'मैं मांस-पुञ्ज पर टिका हूँ'; वैसे ही न तो समस्त शरीर और न टखने आदि का मांस जानता है—'मेरे सहारे मेद स्थित है', न ही मेद जानता है—'मैं समस्त शरीर या टखने आदि के मांस के सहारे स्थित हूँ'। ये धर्म परस्पर...। यों, मेद...अप् धातु है।

अश्रु—अश्रु जब उत्पन्न होता है, तब आँखों के गड्ढों को भरता है या बहता है। जैसे यदि ताड़ के तैयार (तरुण) फल की गिरियों के विवरों में जल भरा हो, तो तैयार फल की गिरियों के विवर नहीं जानते—हममें जल स्थित है', न ही ताड़ के तैयार फ़ल की गिरियों के विवरों में स्थित जल जानता है 'मैं उक्त विवरों में स्थित हूँ'; वैसे ही न तो आँखों के गड्ढे जानते हैं—

अज्झोत्थरित्वा ठितं' ति, न पि तेलं जानाति—'अहं आचामं अज्झोत्थरित्वा ठितं' ति; एवमेव न हत्थतलादिप्पदेसो जानाति—'मं वसा अज्झोत्थरित्वा ठिता' ति, न पि वसा जानाति—'अहं हत्थतलादिप्पदेसं अज्झोत्थरित्वा ठिता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता ऐते धम्मा। इति वसा नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

खेळो तथारूपे खेळुप्पत्तिपच्चये[1] सति उभोहि कपोलपस्सेहि आरोहित्वा जिव्हातले तिट्ठति। तत्थ यथा अब्बोच्छिन्नउदकनिस्सन्दे नदीतीरकूपके न कूपतलं जानाति—'मयि उदकं सन्तिट्ठती' ति, न पि उदकं जानाति—'अहं कूपतले सन्तिट्ठामी' ति; एवमेव न जिव्हातलं जानाति—'मयि उभोहि कपोलपस्सेहि ओरोहित्वा खेळो ठितो' ति, न पि खेळो जानाति—'अहं उभोहि कपोलपस्सेहि ओरोहित्वा जिव्हातले ठितो' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति खेळो नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

सिङ्घाणिका यदा सञ्जायति, तदा नासापुटे पूरेत्वा तिट्ठति वा पग्घरति वा। तत्थ यथा पूतिदधिभरिताय सिप्पिकाय सिप्पिका जानाति—'मयि पूतिदधि ठितं' ति, न पि पूतिदधि जानाति—'अहं सिप्पिकाय ठितं' ति; एवमेव न नासापुटा जानन्ति—'अम्हेसु सिङ्घाणिका

हममें अश्रु स्थित है', न ही अश्रु जानता है—मैं आँखों के गड्ढों में स्थित हूँ। ये धर्म परस्पर...। यों, अश्रु...अप् धातु है।

वसा—वसा (=वसा पर पाये जाने वाला तैलीय पदार्थ) आग की गर्मी आदि के प्रभाव से हथेली, हाथ के पृष्ठ भाग, तलवे एवं तलवे के पृष्ठ भाग, नासिका, ललाट एवं कन्धों के उभारों पर रहने वाली चिकनाहट है। जैसे चावल के माँड़ पर यदि तैल डाल दिया जाय, तो माँड़ नहीं जानता है—'तैल मुझ पर फैला हुआ है', न ही तैल जानता है—'मैं माँड पर फैला हुआ हूँ'; वैसे ही न तो हथेली, तलवा आदि का प्रदेश (शरीर का भाग) जानता है—'मुझ पर वसा फैली है', न ही वसा जानती है—'मैं हथेली आदि प्रदेश पर फैली हूँ।' ये धर्म परस्पर सोच-समझ से, प्रत्यवेक्षण से रहित हैं। यों, वसा इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, तरल, बन्धन लक्षण वाली अप्-धातु है।

थूक—थूक (सं०-क्ष्वेड) की उत्पत्ति कारण उपस्थित होने पर, थूक दोनों कपोलों से उतरकर जिह्वा-तल (सतह) पर रहता है। जैसे यदि नदी के किनारे बने हुए कूप में जल का निरंतर प्रवाह होता हो, तो कूप का तल नहीं जानता—'मुझमें पानी रहता है', न ही पानी जानता है—'मैं कूप तल में रहता हूँ'; वैसे ही न तो जिह्वा की सतह जानती है—'दोनों कपोलों से उतरा हुआ थूक मुझ पर स्थित है', न ही थूक जानता है—'मैं दोनों कपोलों से उतरकर जिह्वा की सतह पर स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर...। यों थूक...अप् धातु है।

पोंटा—नाक से बहने वाला मलिन द्रव (सिंघाणक) जब उत्पन्न होता है, तब नासिका छिद्रों में भरे रहता है या बहता है। जैसे यदि सीप में सड़ी हुई दही भरी हो, तो सीप नहीं जानती—

---

१. **खेळुप्पत्तिपच्चये**। अम्बिलग्गमधुरग्गादिके।

ठिता' ति, न पि सिङ्घाणिका जानाति—'अहं नासापुटेसु ठिता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्च-वेक्खणरहिता एते धम्मा। इति सिङ्घाणिका नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

लसिका अट्ठिकसन्धीनं अब्भञ्जनकिच्चं साधयमाना असीतिसतसन्धीसु ठिता। तत्थ यथा तेलब्भञ्जिते अक्खे न अक्खो जानाति—'मं तेलं अब्भञ्जित्वा ठितं' ति, न पि तेलं जानाति—'अहं अक्खं अब्भञ्जित्वा ठितं' ति; एवमेव न असीतिसतसन्धियो जानन्ति—'लसिका अम्हे अब्भञ्जित्वा ठिता' ति, न पि लसिका जानाति—'अहं असीतिसतसन्धियो अब्भञ्जित्वा ठिता' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति लसिका नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

मुत्तं वत्थिस्स अब्भन्तरे ठितं। तत्थ यथा चन्दनिकाय पक्खित्ते रवणघटे न रवणघटो जानाति—'मयि चन्दनिकारसो ठितो' ति, न पि चन्दनिकारसो जानाति—'अहं रवणघटे ठितो' ति; एवमेव न वत्थि जानाति—'मयि मुत्तं ठितं' ति, न पि मुत्तं जानाति—'अहं वत्थिम्हि ठितं' ति। अञ्ञमञ्ञं आभोगपच्चवेक्खणरहिता एते धम्मा। इति मुत्तं नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो यूसभूतो आबन्धनाकारो आपोधातू ति।

एवं केसादीसु मनसिकारं पवत्तेत्वा येन सन्तप्पति, अयं इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को

'मुझमें सड़ी हुई दही है', न ही सड़ी हुई दही जानती है—'मैं सीप में स्थित हूँ' वैसे ही न तो नासिका के छिद्र जानते हैं—'हममें पोंटा स्थित है', न ही पोंटा जानता है—'मैं नासिका-छिद्रों में स्थित हूँ'। ये धर्म परस्पर...। यों पोंटा...अप् धातु है।

लसिका—लसिका (सं०-लसीका) अस्थियों के जोड़ों को चिकना बनाते हुए (शरीर के) एक सौ अस्सी जोड़ों में स्थित रहती है। जैसे यदि (रथ आदि की) धुरी पर तेल लगा हो, तो धुरी नहीं जानती—'तैल मुझमें लगा है', न ही तैल जानता है—'मैं धुरी में लगा हूँ'; वैसे ही न तो एक सौ अस्सी सन्धियों के जोड़ जानते हैं—'लसिका हमें तैलीय बनाते हुए स्थित है', न ही लसिका जानती है—'मैं एक सौ अस्सी सन्धियों (जोड़ों) को तैलीय बनाकर स्थित हूँ' ये धर्म परस्पर...। यों, लसिका... अप्-धातु है।

मूत्र—मूत्र वस्ति (मूत्रकोष) के भीतर स्थित रहता है। जैसे यदि पोखरे में रवण घट[१] डाला गया हो, तो रवण घट नहीं जानता—'मुझमें पोखरे का रस (छना हुआ जल) स्थित है', न ही पोखरे का रस जानता है—'मैं रवण घट में हूँ', वैसे ही न तो वस्ति जानती है—'मुझ में मूत्र स्थित है', न ही मूत्र जानता है—'मैं वस्ति में स्थित हूँ।' ये धर्म परस्पर सोच-समझ से, प्रत्यवेक्षण से रहित हैं।...यों, मूत्र इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, तरल, बन्धन लक्षण वाला अप् धातु है। (ख)

केश आदि का इस प्रकार मनस्कार करने के बाद, 'जिससे संतप्त होता है वह इस शरीर

---

१. देखें पीछे टि० पृष्ठ-१०१ एवं उसका हि० अनु०।

कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो परिपाचनाकारो तेजोधातू ति; येन जीरीयति, येन परिडय्हति, तेन असितपीतखायितसायितं सम्मा परिणामं गच्छति, अयं इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो परिपाचनाकारो तेजोधातू ति एवं तेजोकोट्ठासेसु मनसिकारो पवत्तेतब्बो।

ततो उद्धङ्गमे वाते उद्धङ्गमवसेन परिग्गहेत्वा, अधोगमे अधोगमवसेन, कुच्छिसये कुच्छिसयवसेन, कोट्ठासये कोट्ठासयवसेन, अङ्गमङ्गानुसारिम्हि अङ्गमङ्गानुसारिवसेन, अस्सासपस्सासे अस्सासपस्सासवसेन परिग्गहेत्वा उद्धङ्गमा वाता नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो वित्थम्भनाकारो वायोधातू ति। अधोगमा वाता नाम, कुच्छिसया वाता नाम, कोट्ठासया वाता नाम, अङ्गमङ्गानुसारिनो वाता नाम इमस्मिं सरीरे पाटियेक्को कोट्ठासो अचेतनो अब्याकतो सुञ्ञो निस्सत्तो वित्थम्भनाकारो वायोधातू ति एवं वायोकोट्ठासेसु मनसिकारो पवत्तेतब्बो।

तस्सेवं पवत्तमनसिकारस्स धातुयो पाकटा होन्ति। ता पुनप्पुनं आवज्जतो मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव उपचारसमाधि उप्पज्जति। (२)

२०. यस्स पन एवं भावयतो कम्मट्ठानं न इज्झति, तेन **सलक्खणसङ्खेपतो** भावेतब्बं। कथं?

वीसतिया कोट्ठासेसु थद्धलक्खणं पथवीधातू ति ववत्थपेतब्बं। तत्थेव आबन्धन-

---

का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व परिपाचन लक्षण वाली तेजोधातु है'; जिससे जरा को प्राप्त होता है, जिससे दाह का अनुभव करता है, जिससे खाया-पिया-चबाया-चाटा गया (पदार्थ) सम्यक् परिणाम को प्राप्त होता है, वह इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, परिपाचन लक्षण वाली तेजोधातु है'...यों तेज (अग्नि)—भागों का मनस्कार करना चाहिये। (ग)

तत्पश्चात् ऊर्ध्व वायु को ऊर्ध्व वायु के रूप में ग्रहण करो, अधो (वायु) को अधो (वायु) के रूप में, कुक्षि में रहने वाली को कुक्षि में रहने वाली के रूप में, कोष्ठस्थानीय को कोष्ठस्थानीय के रूप में, अङ्ग-प्रत्यङ्गों में सञ्चरण करने वाली को अङ्ग-प्रत्यङ्गों में सञ्चरण करने वाली के रूप में, आश्वास-प्रश्वास को आश्वास प्रश्वास के रूप में ग्रहण कर—'ऊर्ध्ववायु इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, विष्कम्भन लक्षण वाली वायुधातु है। अधो वायु, कुक्षिगत वायु, कोष्ठगत वायु, अङ्ग प्रत्यङ्गों में सञ्चरण करने वाली वायु इस शरीर का एक विशेष भाग है, जो अचेतन, अव्याकृत, शून्य, निःसत्त्व, विष्टम्भन लक्षण वाली वायु धातु है—यों वायु-भागों का मनस्कार करना चाहिये। (घ)

ऐसे मनस्कार करने वाले के लिये धातुएँ प्रकट होती हैं। उन्हें बार बार मन में लाने, मनस्कार करने से उक्त प्रकार से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है। (२)

२०. जिसे यों भावना करने पर भी कर्मस्थान में सिद्धि न प्राप्त हो सके उसे '**स्वलक्षण-संक्षेप**' के अनुसार भावना करनी चाहिये। वह कैसे?

बीस भागों में जो कठोरलक्षण (कठोरता) है, वह पृथ्वी धातु है—ऐसा निश्चय करना

लक्खणं आपोधातू ति। परिपाचनलक्खणं तेजोधातू ति, वित्थम्भनलक्खणं वायोधातू ति।

द्वादससु कोट्ठासेसु आबन्धनलक्खणं आपोधातू ति ववत्थपेतब्बं। तत्थेव परिपाचन-लक्खणं तेजोधातू ति। वित्थम्भनलक्खणं वायोधातू ति। थद्धलक्खणं पथवीधातू ति।

चतूसू कोट्ठासेसु परिपाचनलक्खणं तेजोधातू ति ववत्थपेतब्बं। तेन अविनिभुत्तं वित्थ-म्भनलक्खणं वायोधातू ति। थद्धलक्खणं पथवीधातू ति। आबन्धनलक्खणं आपोधातू ति।

छसु कोट्ठासेसु वित्थम्भनलक्खणं वायोधातू ति ववत्थपेतब्बं। तत्थेव थद्धलक्खणं पथवीधातू ति। आबन्धनलक्खणं आपोधातू ति। परिपाचनलक्खणं तेजोधातू ति। तस्सेवं ववत्थापयतो धातुयो पाकटा होन्ति। ता पुनप्पुनं आवज्जयतो मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव उपचार-समाधि उप्पज्जति। (३)

२१. यस्स पन एवं पि भावयतो कम्मट्ठानं न इज्झति, तेन **सलक्खणविभत्तितो** भावेतब्बं। कथं? पुब्बे वुत्तनयेनेव केसादयो परिग्गहेत्वा केसम्हि थद्धलक्खणं पथवीधातू ति ववत्थपेतब्बं। तत्थेव आबन्धनलक्खणं आपोधातू ति। परिपाचनलक्खणं तेजोधातू ति। वित्थम्भनलक्खणं वायोधातू ति। एवं सब्बकोट्ठासेसु एकेकस्मिं कोट्ठासे चतस्सो चतस्सो धातुयो ववत्थपेतब्बा। तस्सेवं ववत्थापयतो धातुयो पाकटा होन्ति। ता पुनप्पुनं आवज्जयतो मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव उपचारसमाधि उप्पज्जति॥ (४)

चाहिये। उन्हीं (भागों) में बन्धनलक्षण (तरलता, जो कि जल द्वारा आटे को पिण्ड के रूप में बाँधने के समान, बाँधती है) को अब्धातु, परिपाचनलक्षण को तेजोधातु, विष्टम्भनलक्षण को वायुधातु (ऐसा निश्चय करना चाहिये)।

बारह भागों में बन्धनलक्षण को अब्धातु निश्चित करना चाहिये। उन्हीं (भागों) में परिपाचन-लक्षण को तेजोधातु, विष्कम्भनलक्षण को वायुधातु, कठोर लक्षण को पृथ्वीधातु निश्चित करना चाहिये।

चार भागों में परिपाचनलक्षण को तेजोधातु निश्चित करना चाहिये। उस (परिपाचनलक्षण) से पृथक् न किये जा सकने वाले विष्कम्भन लक्षण को वायुधातु, ठोस (कठोर) लक्षण को पृथ्वीधातु, बन्धनलक्षण को अब्धातु (निश्चित करना चाहिये)।

छह भागों में विष्कम्भनलक्षण को वायुधातु निश्चित करना चाहिये। उन्हीं (भागों) में ठोस लक्षण को पृथ्वीधातु, बन्धनलक्षण को अब्धातु, परिपाचनलक्षण को तेजोधातु। यों निश्चय करने वाले के लिये धातुएँ प्रकट होती हैं। उन पर बार बार ध्यान देते हुए, मनस्कार करते हुए, उपचार समाधि उत्पन्न होती है। (३)

२१. जिसे यों भावना करने पर भी कर्मस्थान में सिद्धि न प्राप्त हो, उसे '**स्वलक्षणविभाग**' के अनुसार भावना करनी चाहिये। कैसे? पूर्वोक्त प्रकार से ही केश आदि (ध्यान के विषय के रूप में) ग्रहण कर, केशों में कठोरता पृथ्वीधातु है—ऐसी निश्चय करना चाहिये। उनमें ही बन्धन-लक्षण अप्-धातु, परिपाचनलक्षण तेजोधातु, विष्कम्भनलक्षण वायुधातु है—यह निश्चित करना चाहिये। यों निश्चय करने वाले के लिये धातुएँ प्रकट होती हैं। उनको बार बार ध्यान में लाने, मनस्कार करने से उक्त प्रकार से ही उपचार समाधि उत्पन्न होती है। (४)

२२. अपि च खो पन १. वचनत्थतो, २. कलापतो, ३. चुण्णतो, ४. लक्खणादितो, ५. समुट्ठानतो, ६. नानत्तेकत्ततो, ७. विनिब्भोगाविनिब्भोगतो, ८. सभागविसभागतो, ९. अज्झत्तिकबाहिरविसेसतो, १०. सङ्गहतो, ११. पच्चयतो, १२. असमन्नाहारतो, १३. पच्चय-विभागतो ति इमेहि पि आकारेहि धातुयो मनसिकातब्बा।

तत्थ **वचनत्थतो** मनसिकरोन्तेन पत्थटत्ता पथवी। अप्पोति आपियति अप्पायती ति वा आपो। तेजती ति तेजो। वायती ति वायो। अविसेसेन पन सलक्खणधारणतो दुक्खादानतो दुक्खाधानतो च धातू ति। एवं विसेससामञ्ञवसेन वचनत्थतो मनसि-कातब्बा। (१)

कलापतो ति। या अयं केसा लोमा ति आदिना नयेन बीसतिया आकारेहि पथवीधातु, पित्तं सेम्हं ति च आदिना नयेन द्वादसहाकारेहि आपोधातु निद्दिट्ठा, तत्थ यस्मा—

वण्णो गन्धो रसो ओजा चतस्सो चा पि धातुयो।
अट्ठधम्मसमोधाना होति केसा ति सम्मुति।
तेसं येव विनिब्भोगा नत्थि केसा ति सम्मुति॥

तस्मा केसा पि अट्ठधम्मकलापमत्तमेव। तथा लोमादयो ति। यो पनेत्थ कम्मसमुट्ठानो कोट्ठासो, सो जीवितिन्द्रियेन च भावेन च सद्धिं दसधम्मकलापो पि होति। उस्सदवसेन पन पथवीधातु आपोधातू ति सङ्ख्यं गतो। एवं कलापतो मनसिकातब्बा। (२)

---

२२. इसके अतिरिक्त—१. शब्दार्थ से, २. कलाप से, ३. खण्डों से, ४. लक्षण आदि से, ५. उत्पत्ति से, ६. विभिन्नता एवं एकता से, ७. पृथक्करण-अपृथक्करण से, ८. समानता-असमानता से, ९. आभ्यन्तर एवं बाह्य भेद से, १०. संग्रह से, ११. प्रत्यय से, १२. चेतना (समन्नाहार) के अभाव से, १३. प्रत्यय-विभाग से—यों इन १३ प्रकारों से भी धातुओं का मनस्कार करना चाहिये।

(१) शब्दार्थ से—इनमें शब्दार्थ के अनुसार मनस्कार करने वाले को विशेष एवं सामान्य के अनुसार यों शब्दार्थतः मनस्कार करना चाहिये—

(विशेष=स्वभावगत विशेषता। उसके अनुसार) प्रशस्त (फैली हुई) होने से पृथ्वी है। बहता है, बहकर फैलता है या तृप्त करता है, अतः अप् है। गर्म करता है, अतः तेज है। बहती है, अतः वायु है।

(अविशेष=सामान्य विशेषताओं के अनुसार—)स्वलक्षण को धारण करने से, दुःख का ग्रहण करने से एवं दुःख को धारण करने से धातु है। यों, विशेष एवं सामान्य के अनुसार शब्दार्थतः मनस्कार करना चाहिये।

(२) कलाप से—जो यह केश, रोम आदि बीस प्रकार की पृथ्वीधातु एवं पित्त कफ आदि बारह प्रकार की जलधातु का निर्देश किया गया है, क्योंकि उनमें—वर्ण, गन्ध, रस, ओज और चारों धातुएँ—इन आठ धर्मों के साथ-साथ रहने पर 'केश' (संज्ञा) का व्यवहार होता है; उन (धर्मों) के अलग अलग हो जाने पर 'केश नहीं है' यह व्यवहार होता है।

अतः केश भी आठ धर्मों के समूहमात्र ही हैं। वैसे ही रोम आदि भी। यहाँ, जो भाग कर्म से उत्पन्न है, वह जीवितेन्द्रिय के साथ एवं भाव (स्त्रीत्व-पुरुषत्व) के साथ दस धर्मों का

चुण्णतो ति। इमस्मिं हि सरीरे मज्झिमेन पमाणेन परिग्गय्हमाना परमाणुभेदसञ्चुण्णा सुखुमरजभूता पथवीधातु दोणमत्ता सिया। सा ततो उपड्डप्पमाणाय आपोधातुया सङ्गहिता, तेजोधातुया अनुपालिता, वायोधातुया वित्थम्भिता न विकिरति, न विद्धंसति, अविकिरियमाना अविद्धंसियमाना अनेकविधं इत्थिपुरिसलिङ्गादिभावविकप्पं उपगच्छति, अणु-थूल-दीघ-रस्स-थिर-कथिनादिभावं च पकासेति।

यूसगता आबन्धनाकारभूता पनेत्थ आपोधातु पथवीपतिट्ठिता तेजानुपालिता वायोवित्थम्भिता न पग्घरति न परिस्सवति, अपग्घरमाना अपरिस्सवमाना पीणितपीणितभावं दस्सेति।

असितपीतादिपाचका चेत्थ उसुमाकारभूता उण्हत्तलक्खणा तेजोधातु पथवीपतिट्ठिता आपोसङ्गहिता वायोवित्थम्भिता इमं कायं परिपाचेति, वण्णसम्पत्तिं चस्स आवहति, ताय च पन परिपाचितो अयं कायो न पूतिभावं दस्सेति।

अङ्गमङ्गानुसटा चेत्थ समुदीरणवित्थम्भनलक्खणा वायोधातु पथवीपतिट्ठिता आपो-सङ्गहिता तेजानुपालिता इमं कायं वित्थम्भेति। ताय च पन वित्थम्भितो अयं कायो न परिपतति, उजुकं सण्ठाति। अपराय वायोधातुया समब्भाहतो गमनट्ठाननिसज्जासयनइरियापथेसु विञ्ञत्तिं

समूह भी होता है। किन्तु (कठोरता या बन्धन लक्षण की प्रधानता के आधार पर) 'पृथ्वीधातु' या 'अब्धातु' की संज्ञा प्राप्त करता है। यों कलाप के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(३) खण्ड (चूर्ण) से—इसी शरीर में सूक्ष्म धूलिकणों के रूप में, परमाणुओं के रूप में चूर्ण-विचूर्ण पृथ्वीधातु को लिया जाय, तो वह औसतन एक द्रोण मात्र (लगभग २० कि०) परिमाण की होगी। उससे आधे परिमाण वाली अब्धातु द्वारा एकीकृत होकर, वह (पृथ्वी धातु) तेजो धातु द्वारा पालित[१], वायु द्वारा स्थिर हुई[२] न तो विखरती है, न नष्ट होती है। विना बिखरे, विना नष्ट हुए, वह अनेक प्रकार के स्त्रीत्व-पुरुषत्व आदि भावों के विकल्पों को प्राप्त होती है, तथा सूक्ष्म-स्थूल, दीर्घ-ह्रस्व, ठोस, दृढ़ आदि अवस्थाओं को प्रकट करती है।

तरल, बन्धन लक्षण वाली अब्धातु पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, तेज द्वारा पालित, वायु द्वारा स्तब्ध हुई होने से न तो टपकती है, न बहती है। न टपकते हुए, न बहते हुए...।

खाये-पिये को पचाने वाली तेजाधातु, जिसका लक्षण उष्णता है, पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, अप् द्वारा एकीकृत, वायु द्वारा स्थिर की हुई, इस काया का परिपाक करती है, वर्ण-सम्पत्ति (कान्ति) ले आती है। उसके द्वारा परिपाक होते रहने से ही इस शरीर में सड़न उत्पन्न नहीं हो पाती।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग में फैली हुई (अनुसृत) वायुधातु, जो संसरण एवं विष्कम्भन लक्षण वाली है पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, अप् द्वारा एकीकृत, तेज द्वारा पालित इस शरीर को स्थिर रखती है। उससे स्थिर हुआ होने से यह शरीर गिरता नहीं है, सीधा खड़ा (रह सकता) है। अन्य (इसके अतिरिक्त)

---

१. तेजोधातु शरीर को सड़न से रक्षा करती है, अतएव उसे पालन करने वाली कहा गया है।

२. वायुधातु शरीर को यथास्थित रखती है, अन्यथा अप्-धातु के प्रभाव से इसके चूने या बहने का भय उपस्थित हो जाता।

दस्सेति, समिञ्जेति, सम्पसारेति, हत्थपादं लाळेति। एवमेतं इत्थिपुरिसादिभावेन बालजनवञ्चनं मायारूपसदिसं धातुयन्तं पवत्तती ति। एवं चुण्णतो मनसिकातब्बा। (३)

लक्खणादितो ति। पथवीधातु किंलक्खणा? किंरसा? किं पच्चुपट्ठाना? ति एवं चतस्सो पि धातुयो आवज्जेत्वा पथवीधातु कक्खळत्तलक्खणा, पतिट्ठानरसा, सम्पटिच्छन-पच्चुपट्ठाना। आपोधातु पग्घरणलक्खणा, ब्रूहनरसा, सङ्गहपच्चुपट्ठाना। तेजोधातु उण्हत्त-लक्खणा, परिपाचनरसा, मद्दवानुप्पदानपच्चुपट्ठाना। **वायोधातु** वित्थम्भमलक्खणा समुदीरण-रसा, अभिनीहारपच्चुपट्ठाना ति। एवं लक्खणादितो मनसिकातब्बा। (४)

समुट्ठानतो ति। ये इमे पथवीधातुआदीनं वित्थारतो दस्सनवसेन केसादयो द्वाचत्तालीस कोट्ठासा दस्सिता, तेसु उदरियं करीसं पुब्बो मुत्तं—ति इमे चत्तारो कोट्ठासा उतुसमुट्ठाना व। अस्सु सेदो खेळो सिङ्घाणिका—ति इमे चत्तारो उतुचित्तसमुट्ठाना। असितादिपरिपाचको तेजो-कम्मसमुट्ठानो व। अस्सासपस्सासा चित्तसमुट्ठाना व। अवसेसा सब्बे पि चतुसमुट्ठाना ति। एवं समुट्ठानतो मनसिकातब्बा। (५)

नानत्तेकत्ततो ति। सब्बासं पि धातूनं सलक्खणादितो नानत्तं। अञ्ञानेव हि पथवीधातुया लक्खणरसपच्चुपट्ठानानि, अञ्ञानि आपोधातुआदीनं। एवं लक्खणादिवसेन पन कम्मसमुट्ठानादिवसेन च नानत्तभूतानं पि एतासं रूप-महाभूत-धातु-धम्म-अनिच्चादिवसेन एकत्तं होति।

वायुधातु द्वारा प्रेरित होकर चलना, खड़ा होना, बैठना, सोना आदि ईर्य्यापथों में (प्राणी) समर्थ होता है, (अङ्गों को) मोड़ता है, पसारता है, हाथ पैर को मोड़ता पसारता है। यों यह (वायुधातु) स्त्री-पुरुष आदि के रूप में मूढ़जनों को ठगने वाले मायावी रूप के समान, इस धातु-यन्त्र (शरीर) को चलाती है। यों खण्डशः मनस्कार करना चाहिये।

(४) लक्षण आदि से—पृथ्वीधातु का क्या लक्षण है? रस (कार्य) क्या है? प्रत्युपस्थान (जानने का आकार, पहचान) क्या है? यों चारों धातुओं पर विचार कर, लक्षण आदि के अनुसार यों मनस्कार करना चाहिये—'पृथ्वीधातु का लक्षण कठोरता है, इसका रस प्रतिष्ठा (आधार) देना है, इसका प्रत्युपस्थान स्वीकार करना है। अब्धातु का लक्षण प्रवाह है, इसका रस बढ़ाना है (जैसे अङ्कुर आदि को)। इसका प्रत्युपस्थान संग्रह है। तेजोधातु का लक्षण उष्णता, रसपरिपाचन, प्रत्युपस्थान निरन्तर मृदुता उत्पन्न करना है। वायुधातु का लक्षण विष्कम्भन, रससञ्चरण (समुदीरण), प्रत्युपस्थान एक से दूसरे स्थान में ले जाना है। यों, लक्षण आदि के अनुसार मनस्कार करना चाहिये। (४)

(५) उत्पत्ति से—पृथ्वीधातु आदि के विस्तृत वर्णन के उद्देश्य से ये जो केश आदि बयालीस भाग बतलाये गये हैं, उनमें उदरस्थ पदार्थ, मल, पीब एवं मूत्र—ये चार भाग ऋतु (तापक्रम) से उत्पन्न होते हैं। अश्रु, स्वेद, थूक, पोंटा—ये चार ऋतु एवं चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। खाये पीये को पचाने वाला तेज कर्म से ही उत्पन्न होता है। आश्वास-प्रश्वास चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। शेष सभी चारों से उत्पन्न हैं। यों, उत्पत्ति के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(६) विभिन्नता एवं एकता से—सभी धातुएँ अपने लक्षण आदि के अनुसार परस्पर

सब्बा पि हि धातुयो रुप्पनलक्खणं अनतीतत्ता रूपानि। महन्तपातुभावादीहि कारणेहि महाभूतानि।

महन्तपातुभावादीही ति। एता हि धातुयो—महन्तपातुभावतो, महाभूतसामञ्ञतो, महापरिहारतो, महाविकारतो, महत्ता भूतत्ता चा ति इमेहि कारणेहि महाभूतानी ति वुच्चन्ति।

तत्थ **महन्तपातुभावतो** ति। एतानि हि अनुपादिन्नसन्ताने पि उपादिन्नसन्ताने पि महन्तानि पातुभूतानि। तेसं अनुपादिन्नसन्ताने—

दुवे सतसहस्सानि चत्तारि नहुतानि च।
एत्तकं बहलत्तेन सङ्खातायं वसुन्धरा ति॥

आदिना नयेन महन्तपातुभावता **बुद्धानुस्सतिनिद्देसे** (विसु०-१६) वुत्ता व।

उपादिन्नसन्ताने पि मच्छकच्छपदेवदानवादिसरीरवसेन महन्तानेव पातुभूतानि। वुत्तं हेतं—"**सन्ति, भिक्खवे, महासमुद्दे योजनसतिका पि अत्तभावा**" (अं० नि० ३/३९०) ति आदि। (क)

महाभूतसामञ्ञतो ति। एतानि हि यथा मायाकारो अमणिं येव उदकं मणिं कत्वा दस्सेति, असुवण्णं येव लेड्डुं सुवण्णं कत्वा दस्सेति। यथा च सयं नेव यक्खो न यक्खी समानो यक्खभावं पि यक्खिभावं पि दस्सेति; एवमेव सयं अनीलानेव हुत्वा नीलं उपादारूपं दस्सेन्ति,

---

भिन्न हैं; क्योंकि पृथ्वीधातु के लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान अन्य ही हैं, अप् धातु आदि के अन्य। इस प्रकार लक्षण आदि के अनुसार एवं कर्म से उत्पन्न होने आदि के अनुसार वे परस्पर भिन्न हैं; यद्यपि इनमें महाभूत, धातु, धर्म, अनित्यता आदि के बार में अभिन्नता है।

सभी धातुएँ परिणामना ('रुप्पन')—लक्षण का अतिक्रमण नहीं करतीं, अतः रूप हैं। महान् प्रादुर्भाव आदि कारणों से महाभूत हैं।

महान् प्रादुर्भाव आदि के कारण से—ये धातुएँ महान् प्रादुर्भाव के कारण, महाविकार के कारण तथा महान् और भूत होने से, महापरिहार (रख-रखाव, देखभाल) के कारण, महाविकार के कारण तथा महान् और भूत होने से—इन कारणों से महाभूत कही जाती हैं।

इनमें **महान् प्रादुर्भाव से**—ये (धातुएँ) कर्म द्वारा अनुपार्जित ('अनुपादिन्न') एवं कर्म द्वारा उपार्जित (उपादिन्न) दोनों प्रकार की सन्तानों (जीवन-सन्तति) में महत्ता के साथ प्रादुर्भूत होती हैं। कर्म द्वारा अनुपार्जित सन्तान में उनका महाप्रादुर्भाव बुद्धानुस्मृति के वर्णन प्रसङ्ग (विसु० पृ० १६) में—

पृथ्वी का घनत्व दो लाख, चालीस हँजार (२,४०,०००) योजन कहा जाता है।"... आदि प्रकार से बतलाया ही गया है।

ये कर्म द्वारा उपार्जित सन्तान में भी मछली, कछुआ, देव, दानव आदि के शरीर के रूप में महत्ता के साथ ही प्रादुर्भूत होती है; क्योंकि कहा गया है—"भिक्षुओ! महासमुद्र में शतयोजन के प्राणी भी होते है।" (अं० नि० ३/३९०) (क)

महाभूतों के समान होने से—जैसे जादूगर जल को, जो मणि नहीं है, मणि बनाकर दिखाता है, मिट्टी के ढेले को, जो स्वर्ण नहीं है, स्वर्ण बनाकर दिखाता है; एवं जैसे यक्ष या यक्षी

अपीतानि अलोहितानि अनोदातानेव हुत्वा ओदातं उपादारूपं दस्सेन्ती ति मायाकारमहाभूतसामञ्ञतो महाभूतानि।

यथा च यक्खादीनि महाभूतानि यं गण्हन्ति, नेव नेसं तस्स अन्तो न बहि ठानं उपलब्भति, न च तं निस्साय न तिट्ठन्ति; एवमेव तानि पि नेव अञ्ञमञ्ञस्स अन्तो न बहि ठितानि हुत्वा उपलब्भन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं निस्साय न तिट्ठन्ती ति अचिन्तेय्यट्ठानताय यक्खादिमहाभूतसामञ्ञतो पि महाभूतानि।

यथा च यक्खिनीसङ्खातानि मनापेहि, वण्णसण्ठानविक्खेपेहि अत्तनो भयानकभावं पटिच्छादेत्वा सत्ते वञ्चेन्ति; एवमेव एतानि पि इत्थिपुरिससरीरादीसु मनापेन छविवण्णेन मनापेन अत्तनो अङ्गपच्चङ्गसण्ठानेन मनापेन च हत्थङ्गुलिपादङ्गुलिभमुकविक्खेपेन अत्तनो कक्खळतादिभेदं सरसलक्खणं पटिच्छादेत्वा बालजनं वञ्चेन्ति, अत्तनो सभावं दट्ठुं न देन्ती ति वञ्चकत्तेन यक्खिनीमहाभूतसामञ्ञतो पि महाभूतानि। (ख)

महापरिहारतो ति। महन्तेहि पच्चयेहि परिहरितब्बतो। एतानि हि दिवसे दिवसे उपनेतब्बत्ता महन्तेहि घासच्छादनादीनि भूतानि पवत्तानि ति महाभूतानि। महापरिहारानि वा भूतानी ति पि महाभूतानि। (ग)

महाविकारतो ति। एतानि हि अनुपादिन्नानि पि उपादिन्नानि पि महाविकारानि होन्ति।

न होते हुए भी, स्वयं को यक्ष या यक्षी के रूप में प्रदर्शित करता है; वैसे ही अपने आप में (ये धातुएं) नील न होने पर भी नील उद्भूत ('उपादा') रूपों को दिखलाती हैं, पीत, रक्त, श्वेत न होने पर भी (पीत, रक्त एवं) श्वेत उद्भूत रूपों को दिखलाती हैं। यों, जादूगर के महाभूतों के समान होने से महाभूत हैं।

एवं जैसे कि यक्ष आदि महाभूत जिसे पकड़ते हैं, न तो उसके भीतर ही वे होते हैं न बाहर ही, और ऐसा भी नहीं है कि (वे) उसके सहारे नहीं रहते हों; वैसे ही ये (धातुएँ) न तो एक दूसरे के भीतर ही, न बाहर ही उपलब्ध होती हैं, और न ऐसा ही है कि वे एक दूसरे के सहारे नहीं रहती हों। यों, यक्ष आदि महाभूतों के समान, उनका स्थान अचिन्त्य है, इसलिये भी वे महाभूत हैं।

एवं जैसे यक्षिणी-संज्ञक (अतिमानवीय सत्ताएं) मनोरम वर्ण, आकृति, हाव-भाव द्वारा अपनी भयानकता को छिपाकर प्राणियों को धोखा देती हैं; वैसे ही ये भी स्त्री-पुरुष के शरीर आदि में मनोरम कान्ति, अङ्ग प्रत्यङ्ग की मनोरम आकृति तथा हाथ पैर की अंगुलियों के हाव-भाव से स्वयं के कठोरता आदि भेद को, अपने कार्य एवं लक्षण को छिपाकर, मूढ़ जनों को ठगती हैं, अपने स्वभाव को देखने नहीं देतीं। यों वञ्चक (ठग) होने में यक्षिणी महाभूत के समान होने से भी महाभूत हैं। (ख)

महापरिहार से—महाप्रत्ययों (प्रचुर भोजन वस्त्रादि) द्वारा इनका परिहरण (सार-संभाल) करना होता है, इसलिये। क्योंकि ये प्रतिदिन प्रासव्य भोजन-वस्त्रादि द्वारा होती हैं, प्रवृत्त होती हैं, अतः महाभूत है। अथवा, महापरिहार वाले भूत होने से महाभूत हैं। (ग)

महाविकार से—क्योंकि ये कर्म द्वारा उपार्जित एवं अनुपार्जित—दोनों ही (रूपों में)

तत्थ अनुपादिन्नानं कप्पवुट्ठाने विकारमहत्तं पाकटं होति। उपादिन्नानं धातुक्खोभकाले। तथा हि—

भूमितो वुट्ठिता याव ब्रह्मलोका विधावति।
अच्चि अच्चिमतो लोके डय्हमानम्हि तेजसा॥
कोटिसतसहस्सेकं चक्कवाळं विलीयति।
कुपितेन यदा लोको सलिलेन विनस्सति॥
कोटिसतसहस्सेकं चक्कवाळं विकीरति।
वायोधातुप्पकोपेन यदा लोको विनस्सति॥
पत्थद्धो भवति कायो दट्ठो कट्ठमुखेन वा।
पथवीधातुप्पकोपेन होति कट्ठमुखे व सो॥
पूतिको भवति कायो दट्ठो पूतिमुखेन वा।
आपोधातुप्पकोपेन होति पूतिमुखे व सो॥
सन्तत्तो भवति कायो दट्ठो अग्गिमुखेन वा।
तेजोधातुप्पकोपेन होति अग्गिमुखे व सो॥
सञ्छिन्नो भवति कायो दट्ठो सत्थमुखेन वा।

महाविकार (का आधार) होती हैं। इनमें, जो कर्म द्वारा उपार्जित नहीं है, उसके विकार की महत्ता कल्पारम्भ के समय प्रकट होती है, एवं कर्मोपार्जित की धातु-क्षोभ के समय। यथा—

अग्नि द्वारा प्रलय के समय अग्नि की लपट भूमि से ऊपर उठती हुई ब्रह्मलोक तक तेजी से जा पहुँचती है। जिस समय जल के कुपित होने से लोक का विनाश होता है, उस समय एक करोड़ लाख (=१०,००,००,००,००,००० दस खरब) की सीमा वाला चक्रवाल (ब्रह्माण्ड) विलीन हो जाता है॥

जब वायु धातु के प्रकोप से लोक नष्ट होता है, तब एक करोड़ लाख की सीमा वाला चक्रवाल बिखर जाता है॥ अथवा,

जैसे **काष्ठमुख** सर्प[१] द्वारा डंसे जाने पर शरीर अकड़ जाता है, वैसे ही पृथ्वी धातु के कुपित होने पर (यह लोक) काष्ठमुख (सर्प के मुख) में गये हुए के समान हो जाता है।

जैसे **पूतिमुख** द्वारा डंसा हुआ शरीर सड़ जाता है वैसे ही अब्धातु के प्रकोप से (लोक) पूतिमुख (के मुख) में गये हुए के समान होता है। जैसे **अग्निमुख** द्वारा डंसे जाने पर शरीर सन्तप्त हो जाता है, वैसे ही तेजोधातु के कुपित होने पर (लोक) अग्निमुख (के मुख) में गये हुए के समान हो जाता है।

जैसे **शस्त्रमुख** द्वारा डंसा गया शरीर छिन्न भिन्न (जोड़-जोड़ से टूटा हुआ) हो जाता है, वैसे ही वायुधातु के प्रकोप से (लोक) शस्त्रमुख (के मुख) में गये हुए के समान हो जाता है॥

---

१. 'काष्ठमुख', 'पूतिमुख' आदि का अर्थ 'काठ के समान मुख' 'सड़ा हुआ मुख' आदि मानना असंगत प्रतीत होता है। यहाँ काष्ठमुख आदि का अभिप्राय सम्भवतः यह है : वह सर्प जिसके डँसने पर शरीर काष्ठ की तरह अकड़ जाता है, आदि।—अनु०

वायोधातुप्पकोपेन होति सत्थमुखे व सो॥

इति महाविकारानि भूतानी ति महाभूतानि। (घ)

महत्ता भूतत्ता चा ति। एतानि हि महन्तानि महता वायामेन परिग्गहेतब्बत्ता भूतानि विज्जमानत्ता ति महत्ता भूतत्ता च महाभूतानि। एवं सब्बा पेता धातुयो महन्तपातुभावादीहि कारणेहि महाभूतानि। (ङ)

सलक्खणधारणतो पन दुक्खादानतो च दुक्खाधानतो च सब्बा पि धातुलक्खणं अनतीतत्ता **धातुयो**। सलक्खणधारणेन च अत्तनो खणानुरूपधारणेन च **धम्मा**। खयट्ठेन **अनिच्चा**। भयट्ठेन **दुक्खा**। असारकट्ठेन **अनत्ता**। इति सब्बासं पि रूप-महाभूत-धातु-धम्म-अनिच्चादिवसेन एकत्तं ति एवं नानत्तेकत्ततो मनसिकातब्बा। (६)

विनिब्भोगाविनिब्भोगतो ति। सहुप्पन्ना व एता एकेकस्मिं सब्बपरियन्तिमे सुद्धट्ठकादिकलापे पि पदेसेन अविनिब्भुत्ता, लक्खणेन पन विनिब्भुत्ता ति एवं विनिब्भोगाविनिब्भोगतो मनसिकातब्बा। (७)

सभागविसभागतो ति। एवं अविनिब्भुत्तासु चापि एतासु पुरिमा द्वे गरुकत्ता सभागा। तथा पच्छिमा लहुकत्ता। पुरिमा पन पच्छिमाहि, पच्छिमा च पुरिमाहि विसभागा ति एवं सभागविसभागतो मनसिकातब्बा। (८)

अज्झत्तिकबाहिरविसेसतो ति। अज्झत्तिका धातुयो विञ्ञाणवत्थुविञ्ञत्तिइन्द्रियानं

यों महाविकार वाले भूत होने से महाभूत हैं। (घ)

महान् एवं भूत होने से—महान् प्रयास द्वारा परिग्रहणीय होने से महान् हैं, विद्यमान होने से भूत हैं। यों, महान् एवं भूत होने से महाभूत हैं। (ङ)

स्व-लक्षण को धारण करने से, दुःख का ग्रहण करने से, दुःख को धारण करने से एवं धातु के सभी लक्षणों का अतिक्रमण न करने से धातु हैं। स्व-लक्षण को धारण करने से एवं स्वयं के अनुरूप (लक्षण को) धारण करने से धर्म हैं। क्षय होने के अर्थ में अनित्य हैं। यों, सभी धातुओं का रूप, महाभूत, धातु, धर्म, अनित्यता आदि के विषय में एकत्व है। इस प्रकार, विभिन्नता एवं एकता के अनुसार मनस्कार करना चाहिये। (६)

(७) पृथक्करण, अपृथक्करण से—देश (स्थान) से उन्हें (एक दूसरे से) पृथक् नहीं किया जा सकता; क्योंकि वे सूक्ष्मतम शुद्धाष्टक[१] आदि कलाप में भी साथ साथ उत्पन्न होती हैं (फिर उनके संयोग से बने हुए पदार्थों के बारे में तो कहना ही क्या है!)। किन्तु लक्षण के आधार पर इन्हें पृथक् पृथक् किया (=समझा) जा सकता है। यों पृथक्करण अपृथक्करण के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(८) समान-असमान से—यद्यपि वे इस प्रकार अपृथक्करणीय हैं, फिर भी इनमें पूर्व की दो (पृथ्वी एवं अप्-धातु) भारी होने से एक समान हैं, एवं बाद की दो हल्की होने से। पहले वाली पिछली धातुओं के असमान हैं एवं पिछली पहले वाली (धातुओं) के। यों, समान-असमान के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

---

१. चार महाभूत, वर्ण, गन्ध, रस एवं ओज—ये आठ **शुद्धाष्टक** कहे जाते हैं।

निस्सया होन्ति, सइरियापथा चतुसमुट्ठाना। बाहिरा वुत्तविपरीतप्पकारा ति एवं अज्झत्तिक-बाहिरविसेसतो मनसिकातब्बा। (९)

सङ्गहतो ति। कम्मसमुट्ठाना पथवीधातु कम्मसमुट्ठानाहि इतराहि एक सङ्गहा होति समुट्ठाननानत्ताभावतो, तथा चित्तादिसमुट्ठाना चित्तादिसमुट्ठानाही ति एवं सङ्गहतो मनसिकातब्बा। (१०)

पच्चयतो ति। पथवीधातु आपोसङ्गहिता तेजोअनुपालिता वायोवित्थम्भिता तिण्णं महाभूतानं पतिट्ठा हुत्वा पच्चयो होति। आपोधातु पथवीपतिट्ठिता तेजोअनुपालिता वायोवित्थम्भिता तिण्णं महाभूतानं आबन्धनं हुत्वा पच्चयो होति। तेजोधातु पथवीपतिट्ठिता आपोसङ्गहिता वायोवित्थम्भिता तिण्णं महाभूतानं परिपाचनं हुत्वा पच्चयो होति। वायोधातु पथवीपतिट्ठिता आपोसङ्गहिता तेजोपरिपाचिता तिण्णं महाभूतानं वित्थम्भनं हुत्वा पच्चयो होती ति एवं पच्चयतो मनसिकातब्बा। (११)

असमन्नाहारतो ति। पथवीधातु चेत्थ "अहं पथवीधातू" ति वा, 'तिण्णं महाभूतानं पतिट्ठा हुत्वा पच्चयो होमी' ति वा न जानाति, इतरानि पि तीणि "अम्हाकं पथवीधातु पतिट्ठा हुत्वा पच्चयो होती" ति न जानन्ति। एस नयो सब्बत्था ति एवं असमन्नाहारतो मनसिकातब्बा। (१२)

---

(९) आन्तरिक एवं बाह्य के भेद से—आन्तरिक धातुएँ विज्ञान की वस्तुओं (=विषयों), विज्ञप्तियों एवं इन्द्रियों (स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय) का आधार होती हैं, वे ईर्य्यापथ के साथ सम्बद्ध होती हैं एवं चार (कर्म, चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न होने वाली हैं। बाह्य (धातुएँ) उक्त से विपरीत प्रकार की होती हैं। यों, आन्तरिक एवं बाह्य के भेद के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(१०) संग्रह से—कर्म से उत्पन्न पृथ्वीधातु, कर्म से उत्पन्न अन्य (धातुओं) के साथ संगृहीत होती हैं; क्योंकि उनमें उत्पत्तिगत भेद नहीं होता। वैसे ही, चित्त से उत्पन्न (धातु) चित्त से उत्पन्न (धातुओं) के साथ। यों संग्रह के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(११) प्रत्यय से—पृथ्वीधातु, जो अप् द्वारा संगृहीत, तेज द्वारा पालित, वायु द्वारा प्रतिष्ठित है, तीनों महाभूतों (पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य तीन धातुओं) के आधार के रूप में प्रत्यय होती है। अब्धातु, जो पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, तेज द्वारा पालित, वायु द्वारा स्थिर की गयी है, तीनों महाभूतों के बन्धन के रूप में प्रत्यय होती है। तेजोधातु, जो पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, अप् द्वारा संगृहीत, वायु द्वारा रोकी गयी है, तीनों महाभूतों के परिपाचन के रूप में प्रत्यय होती है। वायुधातु जो पृथ्वी पर प्रतिष्ठित, अप् द्वारा संगृहीत, तैज द्वारा पालित हैं, तीनों महाभूतों के विष्कम्भन के रूप में प्रत्यय होती है। यों, प्रत्यय के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

(१२) चेतना के अभाव से—पृथ्वीधातु यह नहीं जानती कि 'मैं पृथ्वी धातु हूँ' या 'तीनों महाभूतों के आधार के रूप में प्रत्यय हूँ।' अवशिष्ट तीन भी यह नहीं जानतीं—'पृथ्वीधातु हमारे आधार के रूप में प्रत्यय है।' ऐसा ही सभी धातुओं के बारे में है। यों, चेतना के अभाव के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

पच्चयविभागतो ति। धातूनं हि कम्मं, चित्तं, आहारो, उतू ति चत्तारो पच्चया। तत्थ कम्मसमुट्ठानानं कम्मेव पच्चयो होति, न चित्तादयो। चित्तादिसमुट्ठानानं पि चित्तादयो व पच्चया होन्ति, न इतरे। कम्मसमुट्ठानानं च कम्मं जनकपच्चयो होति, सेसानं परियायतो उपनिस्सय-पच्चयो होति। चित्तसमुट्ठानानं चित्तं जनकपच्चयो होति, सेसानं पच्छाजातपच्चयो अत्थिपच्चयो अविगतपच्चयो च। आहारसमुट्ठानानं आहारो जनकपच्चयो होति, सेसानं आहारपच्चयो अत्थिपच्चयो अविगतपच्चयो च। उतुसमुट्ठानानं उतु जनकपच्चयो होति, सेसानं अत्थिपच्चयो अविगतपच्चयो च। कम्मसमुट्ठानं महाभूतं कम्मसमुट्ठानानं पि महाभूतानं पच्चयो होति, चित्तादिसमुट्ठानानं पि। तथा चित्तसमुट्ठानं, आहारसमुट्ठानं। उतुसमुट्ठानं महाभूतं उतुसमुट्ठानानं पि महाभूतानं पच्चयो होति, कम्मादिसमुट्ठानानं पि।

तत्थ कम्मसमुट्ठाना पथवीधातु कम्मसमुट्ठानानं इतरासं सहजात-अञ्ञमञ्ञ-निस्सय-अत्थि-अविगतवसेन चेव पतिट्ठावसेन च पच्चयो होति, न जनकवसेन। इतरेसं तिसन्तति-महाभूतानं निस्सय-अत्थि-अविगतवसेन पच्चयो होति, न पतिट्ठावसेन। आपोधातु चेत्थ इतरासं तिण्णं सहजातादिवसेन चेव आबन्धनवसेन च पच्चयो होति, न जनकवसेन। इतरेसं तिसन्ततिकानं निस्सय-अत्थि-अविगतपच्चयवसेनेव, न आबन्धनवसेन न जनकवसेन। तेजोधातु पेत्थ इतरासं तिण्णं सहजातादिवसेन चेव परिपाचनवसेन च पच्चयो होति, न

---

(१३) प्रत्यय-विभाग से—धातुओं के चार प्रत्यय हैं—कर्म, चित्त, आहार और ऋतु। इनमें, जो कर्म से उत्पन्न हैं, उनका प्रत्यय केवल कर्म ही होता है, चित्त आदि नहीं। जो चित्त आदि से उत्पन्न हैं, उनके प्रत्यय भी केवल चित्त आदि ही होते हैं, दूसरे नहीं। जो कर्म से उत्पन्न हैं, कर्म उनका जनकप्रत्यय[१] होता है, अन्यों का परोक्ष रूप से उपनिश्रयप्रत्यय[१] होता है। जो चित्त से उत्पन्न है, अन्यों का परोक्ष रूप से उपनिश्रयप्रत्यय[१] होता है। जो चित्त से उत्पन्न हैं, चित्त उनका जनकप्रत्यय होता है, शेष का पश्चात् जात (पच्छाजात) प्रत्यय, अस्तिप्रत्यय एवं अविगतप्रत्यय। जो आहार से उत्पन्न हैं, आहार उनका जनकप्रत्यय होता है, शेष का आहारप्रत्यय, अस्तिप्रत्यय एवं अविगतप्रत्यय। जो ऋतु से उत्पन्न हैं, ऋतु उनकी जनकप्रत्यय होती है, अन्यों की अस्तिप्रत्यय एवं अविगतप्रत्यय। कर्म से उत्पन्न महाभूत कर्म से उत्पन्न महाभूतों का भी प्रत्यय होता है, चित्त आदि से उत्पन्नों का भी। वैसे ही चित्त से उत्पन्न के बारे में भी जानना चाहिये। ऋतु से उत्पन्न महाभूत ऋतु से उत्पन्न महाभूतों का भी प्रत्यय होता है, कर्म आदि से उत्पन्नों का भी।

इनमें कर्मोत्पन्न पृथ्वीधातु अन्य कर्मोत्पन्न (धातुओं) की सहजात, अन्योन्य, निश्रय, अस्ति, अविगत के रूप में एवं आधार के रूप में प्रत्यय होती है, न कि जनक के रूप में। अन्य तीन सन्ततियों (चित्त, ऋतु, आहार) से उत्पन्न महाभूतों की निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय होती है, आधार-प्रत्यय नहीं। अब्धातु तीनों (अन्य धातुओं) की सहजात एवं बन्धन के रूप में प्रत्यय होती है, जनक के रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों की निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में ही, न बन्धन के रूप में एवं न जनक के रूप में। तेजोधातु भी अन्य तीनों की सहजात के रूप

१, १. जनक, उपनिश्रय आदि चौबीस प्रत्ययों के लिये द्र०—इसी ग्रन्थ का सत्रहवाँ परिच्छेद।

जनकवसेन। इतरेसं तिसन्ततिकानं निस्सय-अत्थि-अविगतपच्चयवसेनेव, न परिपाचनवसेन न जनकवसेन। वायोधातु पेत्थ इतरासं तिण्णं सहजातादिवसेन चेव वित्थम्भनवसेन च पच्चयो होति, न जनकवसेन। इतरेसं तिसन्ततिकानं निस्सय-अत्थि-अविगतपच्चयवसेनेव, न वित्थम्भनवसेन न जनकवसेन। चित्त-आहार-उतुसमुट्ठान-पथवीधातुआदीसु पि एसेव नयो। (१३)

२३. एवं सहजातादिपच्चयवसप्पवत्तासु च पनेतासु धातूसु—

एकं पटिच्च तिस्सो चतुधा तिस्सो पटिच्च एका च।
द्वे धातुयो पटिच्च द्वे छद्धा सम्पवत्तन्ति॥

पथवीआदीसु हि एकेकं पटिच्च इतरा तिस्सो तिस्सो ति एवं एकं पटिच्च तिस्सो चतुधा सम्पवत्तन्ति। तथा पथवीधातुआदीसु एकेका इतरा तिस्सो पटिच्चा ति एवं तिस्सो पटिच्च एका चतुधा सम्पवत्तति। पुरिमा पन द्वे पटिच्च पच्छिमा, पच्छिमा च द्वे पटिच्च पुरिमा, पठम-ततिया पटिच्च दुतियचतुत्था, दुतियचतुत्था पटिच्च पठमततिया, पठमचतुत्था पटिच्च दुतिय-ततिया, दुतियततिया पटिच्च पठमचतुत्था ति एवं द्वे धातुयो पटिच्च द्वे छधा सम्पवत्तन्ति।

२४. तासु *पथवीधातु अभिक्कम्म-पटिक्कम्मादिकाले* उप्पीळनस्स पच्चयो होति, सा व आपोधातुया अनुगता पतिट्ठापनस्स। पथवीधातुया पन अनुगता आपोधातु अवक्खेपनस्स। वायोधातुया अनुगता तेजोधातु उद्धरणस्स। तेजोधातुया अनुगता वायोधातु अतिहरण-वीति-हरणानं पच्चयो होती ति एवं पच्चयविभागतो मनसिकातब्बा।

में एवं परिपाचन् के रूप में प्रत्यय होती है, जनक के रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों की केवल निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में, न परिपाचन और न ही जनक के रूप में। वायुधातु भी अन्य तीनों की सहजात आदि के रूप में एवं विष्कम्भन के रूप में प्रत्यय होती है, जनक के रूप में नहीं। अन्य तीन सन्ततियों की केवल निश्रय, अस्ति, अविगत प्रत्यय के रूप में ही, न विष्कम्भन के रूप में, न जनक के रूप में। चित्त, आहार एवं ऋतु से उत्पन्न पृथ्वीधातु आदि के विषय में भी यही विधि हैं। (१३)

२३. एवं, यों सहजात आदि प्रत्ययों के बल से प्रवृत्त इन धातुओं में—

एक के प्रत्यय से तीन (धातुएं) चार प्रकार से, तीन के प्रत्यय से एक, दो धातुओं के प्रत्यय से दो (धातुएं) छह प्रकार से प्रवृत्त होती हैं॥

पृथ्वी आदि में से प्रत्येक (धातु) के प्रत्यय से शेष तीन (उत्पन्न होती हैं)। यों एक-एक के प्रत्यय से तीन चार प्रकार से उत्पन्न होती हैं। वैसे ही, पृथ्वीधातु आदि में से प्रत्येक अन्य तीन के प्रत्यय से (उत्पन्न होती हैं)। यों तीन के प्रत्यय से एक, चार प्रकार से प्रवृत्त होती है। पूर्व की दो के प्रत्यय से पश्चात् की दो के प्रत्यय से पूर्व की, पहली तीसरी के प्रत्यय से दूसरी चौथी, दूसरी चौथी के प्रत्यय से पहली तीसरी, पहली चौथी के प्रत्यय से दूसरी तीसरी, दूसरी तीसरी के प्रत्यय से पहली चौथी—यों दो धातुओं के प्रत्यय से दो (धातुएँ) छह प्रकार से प्रवृत्त होती हैं।

२४. उनमें पृथ्वीधातु आगे जाने एवं पीछे लौटने के समय उत्पीड़न (=भार, दबाव) का

२५. एवं वचनत्थादिवसेन मनसि करोन्तस्सा पि हि एकेकेन मुखेन धातुयो पाकटा होन्ति। ता पुनप्पुनं आवज्जयतो मनसिकरोतो वुत्तनयेनेव उपचारसमाधि उप्पज्जति। स्वायं चतुन्नं धातूनं ववत्थापकस्स ञाणस्सानुभावेन उप्पज्जनतो चतुधातुववत्थानं त्वेव सङ्खं गच्छति।

२६. इदं च पन चतुधातुववत्थानमनुयुत्तो भिक्खु सुञ्ञतं अवगाहति, सत्तसञ्ञं समुग्घाटेति। सो सत्तसञ्ञाय समूहतत्ता वाळमिगयक्खरक्खसादिविकप्पं अनावज्जमानो भयभेरवसहो होति, अरतिरतिसहो, न इट्ठानिट्ठेसु उग्घातनिग्घातं पापुणाति। महापञ्ञो च पन होति, अमतपरियोसानो वा सुगतिपरायनो वा ति॥

एवं महानुभावं योगिवरसहस्सकीळितं एतं।
चतुधातुववत्थानं निच्चं सेवेथ मेधावी ति॥

अयं चतुधातुववत्थानस्स भावनानिद्देसो॥

२७. एत्तावता च यं समाधिस्स वित्थारं भावनानयं च दस्सेतुं "को समाधि, केनट्ठेन समाधी" ति आदिना नयेन पञ्हाकम्मं कतं, तत्थ "कथं भावेतब्बो" ति इमस्स पदस्स सब्बप्पकारतो अत्थवण्णना समत्ता होति।

दुविधो येव हयं इध अधिप्पेतो—उपचारसमाधि चेव, अप्पनासमाधि च। तत्थ दससु

प्रत्यय होती है। वही अब्धातु के साथ सम्बद्ध होकर प्रतिष्ठापन का; पृथ्वीधातु के साथ सम्बद्ध होकर अब्धातु अवक्षेपण (नीचे फेंकना या गिरना) का, वायुधातु के साथ सम्बद्ध वायुधातु आगे बढ़ाने, पीछे हटाने का प्रत्यय होती है। यों, प्रत्यय-विभाग के अनुसार मनस्कार करना चाहिये।

२५. यों, शब्दार्थ आदि के अनुसार मनस्कार करने वाले के लिये प्रत्येक शीर्षक के अन्तर्गत (बतलाये गये प्रकार से) धातुएँ प्रकट होती हैं। उनको बारम्बार मन में लाते हुए, मनस्कार करते हुए, उक्त प्रकार से ही उपचारसमाधि उत्पन्न होती है; क्योंकि यह (समाधि) चारों धातुओं का निश्चय करने वाले ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न होती है, अतः उसे भी 'चतुर्धातुव्यवस्थान' ही कहा जाता है।

२६. इस चतुर्धातुव्यवस्थान में लगा हुआ भिक्षु शून्यता की अपरोक्षानुभूति (अवगाहन) करता है, सत्त्वसंज्ञा का नाश कर चुका होता है, अतः जङ्गली जानवरों, यक्ष-राक्षस आदि के विकल्प उसके मन में नहीं आते। वह भय की भयङ्करता को सहने वाला, प्रफुल्लता एवं उदासीनता को सहने वाला (समान भाव से रहने वाला) होता है, इष्ट-अनिष्ट के विषय में वह न खुशी से फूलता है, न हताश होता है। वह महान् प्रज्ञावान् होता है। अन्त में वह या तो निर्वाण प्राप्त करता है, या सुगति प्राप्त करता है।

ऐसे महान् गुणों वाले सहस्रों श्रेष्ठ योगियों द्वारा क्रीड़ा (के समान आनन्दप्रद कर्म के रूप में स्वीकार) किये गये चतुर्धातुव्यवस्थान का मेधावी नित्य अभ्यास (भावना) करे॥

यह चतुर्धातुव्यवस्थानभावना का वर्णन है॥

२७. यहाँ तक, जिस समाधि के विस्तार एवं भावनाविधि को प्रदर्शित करने के लिये—"समाधि क्या है? किस अर्थ में समाधि है?"—आदि प्रकार से जो प्रश्न उपस्थित किये गये थे, उनमें—"कैसे भावना करनी चाहिये?"—इस कथन की सब प्रकार से व्याख्या पूर्ण हुई।

कम्मट्ठानेसु अप्पनापुब्बभागचित्तेसु च एकग्गता **उपचारसमाधि,** अवसेसकम्मट्ठानेसु चित्तेकग्गता **अप्पनासमाधि**। सो दुविधो पि तेसं कम्मट्ठानानं भावितत्ता भावितो होति। तेन वुत्तं[१]—"कथं भावेतब्बो ति इमस्स पदस्स सब्बप्पकारतो अत्थवण्णना समत्ता" ति।

समाधिआनिसंसकथा

२८. यं पन वुत्तं "**समाधिभावनाय को आनिसंसो**" ति, तत्थ दिट्ठधम्मसुख-विहारादिपञ्चविधो समाधिभावनाय आनिसंसो। तथा हि ये अरहन्तो खीणासवा समापज्जित्वा एकग्गचित्ता 'सुखं दिवसं विहरिस्सामा" ति समाधिं भावेन्ति, तेसं अप्पनासमाधिभावना **दिट्ठधम्मसुखविहारानिसंसा** होति। तेनाह भगवा—"**न खो पनेते, चुन्द, अरियस्स विनये सल्लेखा वुच्चन्ति। दिट्ठधम्मसुखविहारा एते अरियस्स विनये वुच्चन्ती**" (म० नि० १/६०) ति। (१)

२९. सेक्खपुथुज्जनानं समापत्तितो वुट्ठाय 'समाहितेन चित्तेन विपस्सिस्सामा' ति भावयतं विपस्सनाय पदट्ठानत्ता अप्पनासमाधिभावना पि सम्बाधे ओकासाधिगमनयेन उपचार-समाधिभावना पि **विपस्सनानिसंसा** होति। तेनाह भगवा—"**समाधिं, भिक्खवे, भावेथ। समाहितो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाती** (सं० नि० २/७५९)" ति। (२)

यहाँ यह समाधि दो प्रकार की अभिप्रेत है—उपचार समाधि एवं अर्पणा समाधि। इनमें दश कर्मस्थानों में एवं अर्पणा के पूर्ववर्त्ती चित्तों में (पायी जाने वाली) एकाग्रता **उपचार समाधि** हैं। शेष कर्मस्थानों में चित्त की एकाग्रता **अर्पणा समाधि है**। दोनों ही प्रकार की वह समाधि उन कर्मस्थानों की भावना करने पर भावित होती हैं। अतएव (ग्रन्थकार द्वारा) कहा गया है—"कैसे भावना करनी चाहिये—मेरे इस कथन की सब प्रकार से व्याख्या पूर्ण हुई।"

समाधि का माहात्म्य (आनृशंस्य)

२८. जो यह कहा गया है—**समाधि भावना का क्या माहात्म्य है?**" (उसका उत्तर है—) समाधि भावना का माहात्म्य 'दृष्टधर्मसुखविहार' आदि पञ्चविध है।

दृष्टधर्मसुखविहार-माहात्म्य—जो अर्हत्, क्षीणास्रव, समापत्तिलाभी होकर, एकाग्रचित्त से 'दिनभर सुख से विहार करूँगा' ऐसा सोचकर समाधि की भावना करते हैं, उनकी अर्पणा समाधि-भावना **दृष्टधर्मसुख-विहार**-माहात्म्य वाली होती है। अत: भगवान् ने कहा है—"चुन्द, आर्य-विनय में ये सल्लेख (तप) नहीं कहे जाते; ये आर्यविनय में दृष्टधर्मसुखविहार कहे जाते हैं।" (म० नि० १/६०)। (१)

२९. **विपश्यना-माहात्म्य**—जब शैक्ष्य एवं पृथग्जन समापत्ति (ध्यान) से उठकर, यह सोचकर भावना करते हैं कि 'समाहित चित्त से विपश्यना करूँगा' तब विपश्यना का आसन्न कारण होने से अर्पणा समाधि भावना भी, एवं 'भीड़-भाड़ में खुले स्थान की प्राप्ति' इस नय के अनुसार उपचार समाधि-भावना भी **विपश्यना** (रूप) **माहात्म्य** वाली होती है। अत: भगवान् ने कहा

---

१. मया ति सेसो।

३०. ये पन अट्ठ समापत्तियो निब्बत्तेत्वा अभिञ्ञापादकं झानं समापज्जित्वा समापत्तियो वुट्ठाय 'एको पि हुत्वा बहुधा होती' ति वुत्तनया अभिञ्ञायो पत्थेन्ता निब्बत्तेन्ति तेसं सति आयतने अभिञ्ञापदट्ठानत्ता अप्पनासमाधिभावना **अभिसञ्ञानिसंसा** होति। तेनाह भगवा— "**सो यस्स यस्स अभिञ्ञासच्छिकरणीयस्स धम्मस्स चित्तं अभिनिन्नामेति अभिञ्ञासच्छिकिरियाय, तत्र तत्रेव सक्खिभब्बतं पापुणाति सति सति आयतने**" (म० नि० ३/१५९) ति। (३)

३१. ये अपरिहीनज्झाना 'ब्रह्मलोके निब्बत्तिस्सामा' ति ब्रह्मलोकूपपत्तिं पत्थेन्ता अपत्थयमाना वा पि पुथुज्जना समाधितो न परिहायन्ति, तेसं भवविसेसावहत्ता अप्पनासमाधिभावना **भवविसेसानिसंसा** होति। तेनाह भगवा—"**पठमं झानं परित्तं भावेत्वा कत्थ उपपज्जन्ति? ब्रह्मपारिसज्जानं देवानं सहब्यतं उपपज्जन्ती**" (अभि० २/५०६) ति आदि। (४)

३२. उपचारसमाधिना पि पन कामावचरसुगतिभवविसेसं आवहति येव।

ये पन अरिया अट्ठसमापत्तियो निब्बत्तेत्वा निरोधसमापत्तिं समापज्जित्वा सत्त दिवसानि अचित्ता हुत्वा "दिट्ठे व धम्मे निरोधं निब्बानं पत्वा सुखं विहरिस्सामा" ति समाधिं भावेन्ति, तेसं अप्पनासमाधिभावना **निरोधानिसंसा** होति। तेनाह—"**सोळसहि ञाणचरियाहि नवहि समाधिचरियाहि वसीभावता पञ्ञा निरोधसमापत्तिया ञाणं**" (खु० नि० ५/४) ति। (५)

है—"भिक्षुओ, समाधि की भावना करो। भिक्षुओ, जो समाहित है वही यथार्थ को जानता है।" (सं० नि० २/७५९)। (२)

३०. अभिज्ञा-माहात्म्य—किन्तु जो आठ समापत्तियों को उत्पन्न करने के बाद अभिज्ञा के कारण स्वरूप ध्यान में लगकर एवं उससे उठकर 'एक होते हुए भी बहुत होता है'—इस प्रकार बतलायी गयी अभिज्ञाओं को इच्छानुसार उत्पन्न करते हैं, उनके लिये अर्पणा-समाधि-भावना (अभिज्ञाओं का लाभ देने वाली अर्थात्) **अभिज्ञा-माहात्म्य** वाली होती है, क्योंकि वह, अभिज्ञाओं की उत्पत्ति का अवसर होने पर, उनका आसन्न कारण होती है। अत: भगवान् ने कहा है—"वह (योगी) अभिज्ञा द्वारा साक्षात्करणीय जिस-जिस धर्म का साक्षात्कार अभिज्ञा द्वारा करना चाहता है, उस उस का, आयतन (=अवसर, अधिकार) होने पर, साक्षात्कार कर लेता है। (म० नि० ३/१५९)। (३)

३१. भवविशेष-माहात्म्य—उन पृथग्जनों को, जिन्होंने चाहे 'ब्रह्मलोक में उत्पन्न होऊँ'—यों ब्रह्मलोक में उत्पन्न होने की कामना की हो या नहीं, किन्तु ध्यान से च्युत न हुए हों, विशेष भव को प्राप्त कराने के कारण अर्पणा समाधिभावना **भवविशेष-माहात्म्य** वाली होती है। अत: भगवान् ने कहा है—"प्रथम ध्यान की सीमित भावना करने के बाद कहाँ उत्पन्न होता है?" (अभि० २/५०६) आदि। (४)

३२. किन्तु उपचार समाधि द्वारा भी कामावचर (लोक में) सुगति के रूप में भवविशेष प्राप्त होता ही है।

निरोधमाहात्म्य—जो आर्य (योगी) आठ समापत्तियों को उत्पन्न करने के बाद निरोध-समापत्ति में समाहित होकर सात दिनों तक चित्तरहित होकर यह सोचकर भावना करता है—'दृष्टधर्म (इसी जन्म) में ही निरोध, निर्वाण को प्राप्त कर सुखपूर्वक विहार करूँगा' उसकी अर्पणा समाधि-

एवमयं दिट्ठधम्मसुखविहारादि पञ्चविधो समाधिभावनाय आनिसंसो।

तस्मा नेकानिसंसम्हि किलेसमलसोधने।
समाधिभावनायोगे नप्पमज्जेय्य पण्डितो ति॥

एत्तावता च "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" ति इमिस्सा गाथाय सीलसमाधिपञ्ञा-मुखेन देसिते विसुद्धिमग्गे **समाधि** पि परिदीपितो होति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
समाधिनिद्देसो नाम एकादसमो परिच्छेदो॥

●●

पठमो सीलनिद्देसो। दुतियो धुतङ्गनिद्देसो। ततियो कम्मट्ठानग्गहणनिद्देसो। चतुत्थो पथवीकसिणनिद्देसो। पञ्चमो सेसकसिणनिद्देसो। छट्ठो असुभनिद्देसो। सत्तमो छअनुस्सति-निद्देसो। अट्ठमो सेसानुस्सतिनिद्देसो। नवमो ब्रह्मविहारनिद्देसो। दसमो आरुप्पनिद्देसो। समाधि (पटिक्कूलसञ्ञा-धातुववत्थानद्वय)-निद्देसो एकादसमो ।

भावना **निरोध-माहात्म्य** वाली होती है। अत: कहा गया है—"सोलह ज्ञानचर्याओं एवं नौ समाधिचर्याओं द्वारा वशिता (=कुशलता) के रूप में प्राप्त प्रज्ञा (ही) निरोधसमापत्ति का ज्ञान है।" (खु० ५/४)। (५)

यों समाधिभावना का यह माहात्म्य दृष्टधर्मसुखविहार आदि पाँच प्रकार का है।

इसलिये अनेक माहात्म्य वाले, क्लेशरूप मल का शोधन करने वाले समाधि-भावना रूप योग में पण्डित कुछ भी प्रमाद न करे॥

यहाँ तक, 'शील-समाधि-प्रज्ञा' शीर्षक से उपदिष्ट विशुद्धिमार्ग में **'सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो'** इस गाथा द्वारा समाधि की भी व्याख्या की गयी॥

साधुजनों के प्रमोद हेतु विरचित
विशुद्धिमार्ग में **समाधिनिर्देश** नामक एकादश परिच्छेद सम्पन्न॥

●●

(इस ग्रन्थ में) प्रथम निर्देश का नाम है—**शीलनिर्देश**, द्वितीय का नाम है—**धुताङ्गनिर्देश**, तृतीय का **कर्मस्थानग्रहणनिर्देश**, चतुर्थ का **पृथ्वीकसिणनिर्देश**, पञ्चम का नाम **शेषकसिण-निर्देश**, षष्ठ का नाम—**अशुभ निर्देश**, सप्तम का **षडनुस्मृतिनिर्देश**, अष्टम का **शेषानुस्मृतिनिर्देश**, नवम का **ब्रह्मविहारनिर्देश**, दशम का **आरूप्यनिर्देश**, एकादश का **समाधिनिर्देश** या **प्रतिकूलसंज्ञा-धातुव्यवस्थानद्वयनिर्देश** नाम है।

१२. इद्धिविधनिद्देसो

द्वादसमो परिच्छेदो

अभिञ्ञाकथा

१. इदानि यासं लोकिकाभिञ्ञानं वसेन अयं समाधिभावना "अभिञ्ञानिसंसा" ति वुत्ता, ता अभिञ्ञा सम्पादेतुं यस्मा पथवीकसिणादीसु अधिगतचतुत्थज्झानेन योगिना योगो कातब्बो। एवं हिस्स सा समाधिभावना अधिगतानिसंसा चेव भविस्सति थिरतरा च, सो अधिगतानिसंसाय थिरतराय समाधिभावनाय समन्नागतो सुखेनेव पञ्ञाभावनं सम्पादेस्सति। तस्मा[१] अभिञ्ञाकथं ताव आरभिस्साम।

भगवता हि अधिगतचतुत्थज्झानसमाधीनं कुलपुत्तानं समाधिभावनानिसंसदस्सनत्थं चेव उत्तरुत्तरिपणीतपणीतधम्मदेसनत्थं च **"सो एवं समाहिते चित्ते परिसुद्धे परियोदाते अनङ्गणे विगतूपक्किलेसे मुदुभूते कम्मनिये ठिते आनेञ्जप्पत्ते इद्धिविधाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो अनेकविहितं इद्धिविधं पच्चनुभोति—एको पि हुत्वा बहुधा होती"** (दी० नि० १/८७) ति आदिना नयेन १. इद्धिविधं, २. दिब्बसोतधातुञाणं, ३. चेतोपरियञाणं, ४. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणं, ५. सत्तानं चुतूपपाते ञाणं ति पञ्च लोकिकाभिञ्ञा वुत्ता।

---

१२. ऋद्धिविधनिर्देश

द्वादश परिच्छेद

अभिज्ञावर्णन

१. (ग्यारहवें परिच्छेद में) लौकिक अभिज्ञाओं के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह समाधि भावना अभिज्ञारूपी माहात्म्य (आनृशंस्य) वाली है; क्योंकि उस अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये पृथवीकसिण आदि में चतुर्थ ध्यान प्राप्त योगी को योग करना चाहिये, तभी उसकी समाधिभावना माहात्म्यसम्पन्न एवं स्थिरतर होगी। और वह योगी माहात्म्यसम्पन्न तथा स्थिरतर समाधि भावना से युक्त होकर प्रज्ञा भावना को सुखपूर्वक ही पूर्ण कर लेगा—इसलिये अब अभिज्ञा का वर्णन प्रारम्भ करेंगे।

भगवान् द्वारा चतुर्थ ध्यान-समाधिप्राप्त कुलपुत्रों की समाधि भावना का माहात्म्य दिखाने के लिये, एवं उत्तरोत्तर श्रेष्ठ धर्म की देशना करने के लिये—

"जब उसका चित्त यों समाहित, परिशुद्ध, प्रभास्वर निर्दोष, क्लेशरहित, मृदु, कर्मण्य, स्थिर एवं अविचल स्थिति को प्राप्त हो चुका होता है, तब (योगी) ऋद्धिविध (अलौकिक चमत्कार) की ओर स्वचित्त को ले जाता है, झुकाता है, ऋद्धि के अनेक प्रकारों का साक्षात्कार करता है, एक होते हुए भी अनेक (रूपों में प्रकट) होता है।" (दी० नि० १/८७)

---

१. **तस्मा** ति। यस्मा समाधिभावनाय आनिसंसलाभो थिरतरता, सुखेनेव च पञ्ञाभावना इज्झति, तस्मा पञ्ञाभावनाय ओकासे सम्पत्ते पि, अभिञ्ञाकथं ताव आरभिस्सामा ति अधिप्पायो।

चित्तस्स चुद्दस परिदमनाकारा

२. तत्थ 'एको पि हुत्वा बहुधा होती' ति आदिकं इद्धिविकुब्बनं कातुकामेन आदिकम्मिकेन योगिना ओदातकसिणपरियन्तेसु अट्ठसु कसिणेसु अट्ठ अट्ठ समापत्तियो निब्बत्तेत्वा—१. कसिणानुलोमतो, २. कसिणपटिलोमतो, ३. कसिणानुलोमपटिलोमतो, ४. झानानुलोमतो, ५. झानपटिलोमतो, ६. झानानुलोमपटिलोमतो, ७. झानुक्कन्तिको, ८. कसिणुक्कन्तिकतो, ९. झानकसिणुक्कन्तिकतो, १०. अङ्गसङ्कन्तितो, ११. आरम्मणसङ्कन्तितो, १२. अङ्गारम्मणसङ्कन्तितो, १३. अङ्गववत्थापनतो, १४. आरम्मणववत्थापनतो—ति इमेहि चुद्दसहि आकारेहि चित्तं परिदमेतब्बं।

३. कतमं पनेत्थ कसिणानुलोमं...पे०...कतमं आरम्मणववत्थापनं ति?

इध भिक्खु पथवीकसिणे झानं समापज्जति, ततो आपोकसिणे ति एवं पटिपाटिया अट्ठसु कसिणेसु सत्तक्खत्तुं पि सहस्सक्खत्तुं पि समापज्जति, इदं **कसिणानुलोमं** नाम। ओदातकसिणतो पन पट्ठाय तथेव पटिलोमक्कमेन समापज्जनं **कसिणपटिलोमं** नाम। पथवीकसिणतो पट्ठाय याव ओदातकसिणं, ओदातकसिणतो पि पट्ठाय याव पथवीकसिणं ति एवं अनुलोमपटिलोमवसेन पुनप्पुनं समापज्जनं **कसिणानुलोमपटिलोमं** नाम। (१-३)

इत्यादि प्रकार से—१. ऋद्धिविध, २. दिव्यश्रोत्रधातुज्ञान, ३. चेत:पर्यायज्ञान, ४. पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान, ५. सत्त्वों की च्युति-उत्पत्ति का ज्ञान—ये पाँच लौकिक अभिज्ञाएँ बतलायी गयी हैं।

चित्तदमन के चतुर्दश प्रकार

२. इनमें, 'एक होकर भी अनेक होता है' आदि (प्रकार से वर्णित ऋद्धि द्वारा) रूपान्तरण (विकुर्वण) करने की इच्छा वाले प्रारम्भिक योगी को अवदातकसिण पर्यन्त आठ कसिणों में आठ समापत्तियाँ उत्पन्न कर इन चौदह प्रकारों से चित्त का दमन यों करना चाहिये—१. कसिणों के अनुलोम से, २. कसिणों के प्रतिलोम से, ३. कसिणों के अनुलोम-प्रतिलोम से, ४. ध्यान के अनुलोम से, ५. ध्यान के प्रतिलोम से, ६. ध्यान के अनुलोम-प्रतिलोम से, ७. ध्यान के अतिक्रमण से, ८. कसिणों के अतिक्रमण से, ९. ध्यान एवं कसिणों के अतिक्रमण से, १०. अङ्गों के अतिक्रमण से, ११. आलम्बन के अतिक्रमण से, १२. अङ्गों एवं आलम्बन के अतिक्रमण से, १३. अङ्गों के व्यवस्थापन से, और १४. आलम्बन के व्यवस्थापन से।

३. यहाँ 'कसिणों के अनुलोम...पूर्ववत्...आलम्बन के व्यवस्थापन से' का क्या अर्थ होता है?

यहाँ कोई भिक्षु पहले पृथ्वीकसिण में ध्यान प्राप्त करता है, तत्पश्चात् अप्-कसिण में। यों क्रम से आठ कसिणों में सौ बार भी, हजार बार भी समाहित होता है। इसे (ही) **'कसिणानुलोम'** कहा जाता है। किन्तु अवदातकसिण से लेकर उसी प्रकार (पृथ्वीकसिण तक) प्रतिलोम क्रम से समाहित होना **'कसिणप्रतिलोम'** है। पृथ्वीकसिण से लेकर अवदातकसिण तक, पुन: अवदातकसिण से लेकर पृथ्वीकसिण तक—यों अनुलोम-प्रतिलोम (क्रम) से बार बार समाधि होना **'कसिणानुलोम-प्रतिलोम'** है। (१/३)

पठमज्झानतो पन पट्ठाय पटिपाटिया याव नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ताव पुनप्पुनं समापज्जनं **झानानुलोमं** नाम। नेवसञ्ञानासञ्ञायतनतो पट्ठाय याव पठमज्झानं ताव पुनप्पुनं समापज्जनं **झानपटिलोमं** नाम। पठमज्झानतो पट्ठाय याव नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनतो पट्ठाय च याव पठमज्झानं ति एवं अनुलोमपटिलोमवसेन पुनप्पुनं समापज्जनं **झानानुलोमपटिलोमं** नाम। (४-६)

पठवीकसिणे पन पठमं झानं समापज्जित्वा तत्थेव ततियं समापज्जति, ततो तदेव उग्घाटेत्वा आकासानञ्चायतनं, ततो आकिञ्चञ्ञायतनं ति एवं कसिणं अनुक्कमित्वा झानस्सेव एकन्तरिकभावेन उक्कमनं **झानुक्कन्तिकं** नाम। एवं आपोकसिणादिमूलिका पि योजना कातब्बा। पठवीकसिणे पठमं झानं समापज्जित्वा पुन तदेव तेजोकसिणे, ततो नीलकसिणे, ततो लोहितकसिणे ति इमिना नयेन झानं अनुक्कमित्वा **कसिणस्सेव** एकन्तरिकभावेन उक्कमनं **कसिणुक्कन्तिकं** नाम। पठवीकसिणे पठमं झानं समापज्जित्वा ततो तेजोकसिणे ततियं, नीलकसिणं उग्घाटेत्वा आकासानञ्चायतनं, लोहितकसिणतो आकिञ्चञ्ञायतनं ति इमिना नयेन झानस्स चेव कसिणस्स च उक्कमनं **झानकसिणुक्कन्तिकं** नाम (७-९)

पठवीकसिणे पन पठमं झानं समापज्जित्वा तत्थेव इतरेसं पि समापज्जनं **अङ्गसङ्कन्तिकं** नाम। पठवीकसिणे पठमं झानं समापज्जित्वा तदेव आपोकसिणे...पे०...तदेव ओदातकसिणे ति एवं सब्बकसिणेसु एकस्सेव झानस्स समापज्जनं **आरम्मणसङ्कन्तिकं** नाम। पठवीकसिणे

प्रथम ध्यान से लेकर क्रमशः नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तक बार बार समाहित होना **ध्यानानुलोम** है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से लेकर प्रथम ध्यान तक बारंबार समाहित होना **ध्यान-प्रतिलोम** है। प्रथम ध्यान से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन तक, पुनः नैवसंज्ञानासंज्ञायतन से लेकर प्रथम ध्यान तक यों अनुलोम-प्रतिलोम (क्रम) से बारंबार समाहित होना **ध्यानानुलोम-प्रतिलोम** है। (४-६)

पृथ्वीकसिण में प्रथम ध्यान प्राप्त कर, उसी में तृतीय प्राप्त करता है। तत्पश्चात् (कसिण को) मिटाकर आकाशानन्त्यायतन तत्पश्चात् आकिञ्चन्यायतन (ध्यान प्राप्त करता है)। यों कसिणों के क्रम का अनुसरण करते हुए, केवल ध्यान का ही एक के बाद एक का अतिक्रमण करना **'ध्यानातिक्रमण'** कहलाता है। आपोकसिण आदि के बारे में भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिये।

पृथ्वीकसिण में प्रथम ध्यान प्राप्त कर, पुनः उसी को तेज:कसिण में पुनः नीलकसिण में, पुनः लोहितकसिण में—इस विधि से ध्यान में परिवर्तन न करते हुए, एक एक कर केवल कसिण का ही अतिक्रमण **कसिणातिक्रमण** कहलाता है। पृथ्वीकसिण में प्रथम ध्यान प्राप्त करने के पश्चात् तेज:कसिण में तृतीय, नीलकसिण को मिटाकर आकाशानन्त्यायतन, लोहितकसिण से आकिञ्चन्यायतन—इस विधि से ध्यान एवं कसिणों का भी अतिक्रमण **ध्यानकसिणातिक्रमण** कहलाता है। (७-९)।

पृथ्वीकसिण में प्रथम ध्यान प्राप्त कर, उसी में अन्य (ध्यान) की भी प्राप्ति **'अङ्ग-समतिक्रमण'** कही जाती है। पृथ्वीकसिण में प्रथम ध्यान प्राप्त करने के पश्चात् उसी को अप्-कसिण में...पूर्ववत्...अवदातकसिण में—यों सब कसिणों में एक ही ध्यान की प्राप्ति **'आलम्बन-समतिक्रमण'** कहलाती है। पृथ्वीकसिण में प्रथमध्यान प्राप्त करने के पश्चात् अप्-कसिण में द्वितीय,

पठमं झानं समापज्जित्वा आपोकसिणे दुतियं, तेजोकसिणे ततियं, वायोकसिणे चतुत्थं, नीलकसिणं उग्घाटेत्वा आकासानञ्चायतनं, पीतकसिणतो विञ्ञाणञ्चायतनं, लोहितकसिणतो आकिञ्चञ्ञायतनं, ओदातकसिणतो नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति एवं एकन्तरिकवसेन अङ्गानं च आरम्मणानं च सङ्कमनं **अङ्गारम्मणसङ्कन्तिकं** नाम। (१०-१२)

पठमं झानं पन पञ्चङ्गिकं ति ववत्थपेत्वा दुतियं तिवङ्गिकं, ततियं दुवङ्गिकं, तथा चतुत्थं आकासानञ्चायतनं...पे०...नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं ति एवं झानङ्गमत्तस्सेव ववत्थापनं **अङ्गववत्थापनं** नाम। तथा इदं पठवीकसिणं ति ववत्थपेत्वा इदं आपोकसिणं...पे०... इदं ओदातकसिणं ति एवं आरम्मणमत्तस्सेव ववत्थापनं **आरम्मणववत्थापनं** नाम। अङ्गारम्मण-ववत्थापनं पि एके इच्छन्ति। **अट्ठकथासु** पन अनागतत्ता अद्धा तं भावनामुखं न होति। (१३-१४)

४. इमेहि पन चुद्दसहि आकारेहि चित्तं अपरिदमेत्वा पुब्बे अभावितभावनो आदिकम्मिको योगावचरो इद्धिविकुब्बनं सम्पादेस्सती ति नेतं ठानं विज्जति। आदिकम्मिकस्स हि कसिणपरिकम्मं पि भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व सक्कोति। कतकसिणपरिकम्मस्स निमित्तुप्पादनं भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व सक्कोति। उप्पन्ने निमित्ते तं वड्ढेत्वा अप्पनाधिगमो भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व सक्कोति। अधिगतप्पनस्स चुद्दसहाकारेहि चित्तपरिदमनं भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व सक्कोति। चुद्दसहाकारेहि परिदमितचित्तस्सा

तेजःकसिण में तृतीय, वायुकसिण में चतुर्थ, नीलकसिण को मिटाकर आकाशानन्त्यायतन, अवदातकसिण से नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—यों एक-एक करके अङ्गों एवं आलम्बनों का (भी) अतिक्रमण '**अङ्गालम्बन-समतिक्रमण**' कहलाता है। (१०-१२)।

'प्रथम ध्यान के पाँच अङ्ग हैं, द्वितीय के तीन, तृतीय के दो, एवं आकाशानन्त्यायतन ...पूर्ववत्...नैवसंज्ञानासंज्ञायतन'—यों ध्यान के अङ्ग मात्र का व्यवस्थापन **अङ्गव्यवस्थापन** कहलाता है। तथा 'यह पृथ्वी है'—यों व्यवस्थापन कर, 'यह अप् कसिण है'...पूर्ववत्...'यह अवदातकसिण है'—यों आलम्बनमात्र का व्यवस्थापन **आलम्बन-व्यवस्थापन** कहलाता है। कोई कोई अङ्गों एवं आलम्बन का भी व्यवस्थापन मानते हैं। किन्तु **अट्ठकथाओं** में वर्णन न होने के कारण, निश्चय ही यह (अङ्गालम्बन-व्यवस्थापन) किसी भावना का एक शीर्षक (=भावनाविशेष) नहीं है। (१३-१४)।

४. यह असम्भव है कि जिस प्रारम्भिक योगी ने इन चौदह प्रकारों से चित्त का दमन नहीं किया, और पूर्व में (समाधि-) भावना का अभ्यास भी नहीं किया, वह ऋद्धि-विकुर्वण[1] कर सके। क्योंकि प्रारम्भिक योगी के लिये तो कसिण-परिकर्म (कसिण-निर्माण आदि प्रारम्भिक क्रियाएँ) भी कठिन है; सौ या हजार में से कोई एक ही साधक (उक्त परिकर्म) कर पाता है। जिसने कसिण-परिकर्म कर लिया है, उसके लिये निमित्त का उत्पाद कठिन है, सौ या हजार में से कोई एक ही कर पाता है। निमित्त उत्पन्न होने पर उसे बढ़ाकर अर्पणा को प्राप्त करना भी कठिन है, सौ या हजार में से कोई एक ही कर पाता है। जिसने अर्पणा प्राप्त कर ली है, उसके

---

१. समाधि के प्रभाव से प्राप्त अलौकिक शक्ति (ऋद्धि) द्वारा अपना या अन्य का रूप-परिवर्तन करना।

पि इद्धिविकुब्बनं नाम भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व सक्कोति। विकुब्बनप्पत्तस्सा पि खिप्पनिसन्तिभावो[१] नाम भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको न खिप्पनिसन्ति होति।

थेरम्बत्थले[२] **महारोहणगुत्तत्थेरस्स** गिलानुपट्ठानं आगतेसु तिंसमत्तेसु इद्धिमन्तसहस्सेसु उपसम्पदाय अट्ठवस्सिको **रक्खितत्थेरो** विय। तस्सानुभावो पठवीकसिणनिद्देसे वुत्तो येव। तं पनस्सानुभावं दिस्वा थेरो आह—"आवुसो, सचे रक्खितो नाभविस्स सब्बे गरहप्पत्ता अस्साम—'नागराजानं रक्खितुं नासक्खिम्हा' ति। तस्मा अत्तना गहेत्वा विचरितब्बं आवुधं नाम मलं सोधेत्वा व गहेत्वा विचरितुं वट्टती' ति। ते थेरस्स ओवादे ठत्वा तिंससहस्सा पि भिक्खू खिप्पनिसन्तिनो अहेसुं।

खिप्पनिसन्तिया पि च सति परस्स पतिट्ठाभावो भारो, सतेसु सहस्सेसु वा एको व होति। गिरिभण्डवाहनपूजाय मारेन अङ्गारवस्से पवत्तिते आकासे पठविं मापेत्वा अङ्गारवस्सपरित्तायको थेरो विय।

५. बलवपुब्बयोगानं पन बुद्ध-पच्चेकबुद्ध-अग्गसावकादीनं विना पि इमिना वुत्तप्पकारेन भावनानुक्कमेन अरहत्तपटिलाभेनेव इदं च इद्धिविकुब्बनं अञ्ञे च पटिसम्भिदादिभेदा गुणा इज्झन्ति।

लिये चौदह प्रकार से चित्त का दमन करना कठिन है, सौ या हजार में से कोई एक ही कर पाता है। जिसने चौदह प्रकार से चित्त का दमन कर लिया है, उसके लिये भी यह ऋद्धिविकुर्वण कठिन है; सौ या हजार में कोई एक ही कर पाता है। जिसे विकुर्वण प्राप्त हो गया है, उसके लिये भी शीघ्रता के साथ सावधानीपूर्वक ध्यान देना या निरीक्षण करना (=खिप्पनिसन्ति= क्षिप्रनिःशान्ति) कठिन है, सौ या हजार में से कोई एक क्षिप्र-निशान्तिक होता है। **स्थविराम्बस्थल**[३] (थेरम्बत्थल) में **महारोहणगुप्त** स्थविर की बीमारी में देखरेख के लिये आये हुए तीन हजार ऋद्धिमानों के बीच उपसम्पदा के आधार पर आठवर्षीय **रक्षित** स्थविर के समान। उनके चमत्कार (आनुभाव) का उल्लेख पहले पृथ्वीकसिणनिर्देश में किया ही जा चुका है।

उनका असाधारण कार्य देखकर स्थविर ने कहा—"आयुष्मन्, यदि रक्षित न होते तो (हम) सबको इस बात के लिये लज्जित होना पड़ता—'हम नागराज की रक्षा नहीं कर सके। इसलिये जैसे योद्धाओं को अपने अस्त्र-शस्त्रों की जंग (लोहकिट्ट) छुड़ाकर ही विचरण करना चाहिये, वैसे ही हमें भी (पूर्णरूप से समर्थ होकर ही) विचरण करना चाहिये।' स्थविर के कथन पर ध्यान देकर वे तीस हजार भिक्षु भी क्षिप्रनिशान्तिक हो गये।

तथा क्षिप्रनिशान्तिक हो जाने पर भी दूसरों का सहायक होना कठिन है। सौ या हजार में से कोई एक ही होता है, गिरिभाण्डवाहन-पूजा के समय मार द्वारा अङ्गार बरसाये जाने पर आकाश में पृथ्वी की रचना कर अङ्गारों की वर्षा से रक्षा करने वाले स्थविर के समान।

---

१. खिप्पं निसन्ति=निसामनं झानचक्खुना पठवीकसिणादिझानारम्मणस्स दस्सनं एतस्सा ति खिप्पनिसन्ति, सीघतरं झानं समापज्जिता, तस्स भावो **खिप्पनिसन्तिभावो**।

२. अम्बतरुनिचितं महामहिन्दत्थेरादीहि सीहलदीपे ओतिण्णट्ठानं **थेरम्बत्थलं**।

३. यह आम्रवन जहाँ सिंहलद्वीप जाते समय महामहेन्द्रस्थविर आदि ठहरे थे।

तस्मा यथा पिळन्धनविकतिं कत्तुकामो सुवण्णकारो अग्गिधमनादीहि सुवण्णं मुदुं कम्मञ्ञं कत्वा व करोति, यथा च भाजनविकतिं कत्तुकामो कुम्भकारो मत्तिकं सुपरिमद्दितं मुदुं कत्वा करोति; एवमेव आदिकम्मिकेन इमेहि चुद्दसहाकारेहि चित्तं परिदमेत्वा छन्दसीस-चित्तसीस-विरियसीस-वीमंसासीससमापज्जनवसेन चेव आवज्जनादिवसीभाववसेन च मुदुं कम्मञ्ञं कत्वा इद्धिविधाय योगो करणीयो। पुब्बहेतुसम्पन्नेन पन कसिणेसु चतुत्थज्झानमत्ते चिण्णवसिना पि कातुं वट्टति। यथा पनेत्थ योगो कातब्बो, तं विधिं दस्सेन्तो भगवा "**सो एवं समाहिते चित्ते**" ति आदिमाह।

६. तत्रायं पाळिनयानुसारेनेव विनिच्छयकथा। तत्थ **सो** ति। सो अधिगतचतुत्थज्झानो योगी। **एवं** ति। चतुत्थज्झानक्कमनिदस्सनमेतं। इमिना पठमज्झानाधिगमादिना कमेन चतुत्थज्झानं पटिलभित्वा ति वुत्तं होति। **समाहिते** ति। इमिना चतुत्थज्झानसमाधिना समाहिते। **चित्ते** ति। रूपावचरचित्ते।

परिसुद्धे ति आदीसु पन उपेक्खासतिपारिसुद्धिभावेन **परिसुद्धे**। परिसुद्धत्ता येव **परियोदाते**। पभस्सरे ति वुत्तं होति। सुखादीनं पच्चयानं घातेन विहतरागादिअङ्गणत्ता **अनङ्गणे**। अनङ्गणत्ता येव **विगतूपक्किलेसे**। अङ्गणेन हि तं चित्तं उपक्किलिस्सति। सुभावितत्ता **मुदुभूते**।

---

५. किन्तु पहले (पूर्व जन्मों में) बहुत अधिक योग-साधना कर चुके बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, अग्रश्रावक आदि को, उक्त प्रकार के इस भावनाक्रम के विना भी, अर्हत्त्व-लाभ के साथ ही यह ऋद्धिविकुर्वण एवं पटिसम्भिदा आदि अन्य गुण भी सिद्ध हो जाते हैं।

अतः जैसे कोई आभूषण बनाने की इच्छा करने वाला स्वर्णकार आग में पिघलाने आदि कर्म द्वारा स्वर्ण को मृदु (लचीला) एवं उपयोग के योग्य बनाता है, एवं जैसे पात्र पकाने की इच्छावाला कुम्भकार मिट्टी को अच्छी तरह मलकर, मुलायम करके (ही ऐसा) करता है; वैसे ही प्रारम्भिक योगी को इन चौदह प्रकारों में चित्त का दमन कर छन्द, चित्त, वीर्य, मीमांसा—इन शीर्षकों (से बतलाये गये गुणों) की प्राप्ति द्वारा एवं चित्त को विषयोन्मुख करने (=आवर्जन) आदि में कुशलताप्राप्ति द्वारा (चित्त को) मृदु एवं कर्मण्य बनाकर ऋद्धिविध-प्राप्तिहेतु योग करना चाहिये। किन्तु जो योगी पूर्व हेतु से सम्पन्न हो, वह कसिणों में चतुर्थ ध्यान मात्र में कुशलता प्राप्त करने से भी (ऐसा) कर सकता है। योग कैसे करना चाहिये?—इसे दरसाते हुए भगवान् ने '**सो एवं समाहिते चित्ते**' आदि (विसु० म० पृ० २६४) कहा है।

६. यहाँ पालिनय के अनुसार अर्थ का निश्चय इस प्रकार है—

इनमें, **सो**—चतुर्थ ध्यान प्राप्त वह योगी। **एवं**—यह चतुर्थ ध्यान के प्राप्ति-क्रम का निदर्शन है। अर्थात् इस प्रथम ध्यान की प्राप्ति आदि के क्रम से चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करके। **समाहिते**—इस चतुर्थ ध्यान समाधि में समापन्न। **चित्ते**—रूपावचर चित्त में।

किन्तु 'परिशुद्ध होने पर' (परिसुद्धे) आदि में—उपेक्षा द्वारा स्मृति की परिशुद्धि के अर्थ में **परिसुद्धे**। परिशुद्ध होने से ही **परियोदाते**, अर्थात् प्रभास्वर। सुख आदि (राग आदि के) प्रत्ययों के नष्ट हो जाने से राग आदि दोषों के (भी) नष्ट हो जाने से **अनङ्गणे**। निर्दोष होने से ही **विगतूपक्किलेसे**। क्योंकि दोष से ही वह चित्त उपक्लिष्ट होता है। सुभावित (सुविकसित) होने से **मृदुभूते**।

वसीभावप्पत्ते ति वुत्तं होति। वसे वत्तमानं हि चित्तं मुदुं ति वुच्चति। मुदुत्ता येव च **कम्मनिये।** कम्मक्खमे, कम्मयोग्गे ति वुत्तं होति।

मुदुं हि चित्तं कम्मनियं होति, सुधन्तमिव सुवण्णं। तं च उभयं पि सुभावितत्ता येवा ति। यथाह—"**नाहं, भिक्खवे, अञ्ञं एकधम्मं पि समनुपस्सामि, यं एवं भावितं बहुलीकतं मुदुं च होति कम्मनियं च, यथयिदं, भिक्खवे, चित्तं**" (अं० नि० १/६) ति।

एतेसु परिसुद्धभावादीसु ठितत्ता **ठिते।** ठितत्ता एव **आनेञ्जप्पत्ते,** अचले निरिञ्जने ति वुत्तं होति। मुदुकम्मञ्ञभावेन वा अत्तनो वसे ठितत्ता **ठिते।** सद्धादीहि परिग्गहितत्ता **आनेञ्जप्पत्ते।** सद्धापरिग्गहितं हि चित्तं अस्सद्धियेन न इञ्जति, विरियपरिग्गहितं कोसज्जेन न इञ्जति, सतिपरिग्गहितं पमादेन न इञ्जति, समाधिपरिग्गहितं उद्धच्चेन न इञ्जति, पञ्ञापरिग्गहितं अविज्जाय न इञ्जति, ओभासगतं किलेसन्धकारेन न इञ्जति—इमेहि छहि धम्मेहि परिग्गहितं आनेञ्जप्पत्तं होति।

एवं अट्ठङ्गसमन्नागतं चित्तं अभिनीहारक्खमं होति अभिञ्ञासच्छिकरणीयानं धम्मानं अभिञ्ञासच्छिकिरियाय।

७. अपरो नयो—चतुत्थज्झानसमाधिना **समाहिते।** नीवरणदूरीभावेन **परिसुद्धे।** वितक्कादिसमतिक्कमेन **परियोदाते।** झानपटिलाभपच्चयानं पापकानं इच्छावचरानं अभावेन **अनङ्गणे।** अभिज्झादीनं चित्तस्स उपक्किलेसानं विगमेन **विगतूपक्किलेसे।** उभयं पि चेतं

अर्थात् वशीभूत। वशीवर्ती चित्त को ही 'मृदु' कहते हैं। एवं मृदु होने से ही **कम्मनिये।** अर्थात् कर्मकरणसमर्थ, कर्म के योग्य।

क्योंकि मृदु चित्त ही कर्मण्य होता है, जैसे कि पिघलाया हुआ सोना। वह दोनों (मृदु एवं कर्मण्य) रूप में भली भाँति भावित होने पर ही होता है। जैसा कि कहा है—"भिक्षुओ! मैं अन्य किसी एक भी धर्म को नहीं देखता हूँ, जो कि यों भावित, वर्धित करने पर इस तरह मृदु एवं कर्मण्य होता हो, जैसा कि, भिक्षुओ! यह चित्त है।" (अ० नि० १/६)।

इन परिशुद्ध भाव आदि में स्थित रहने से—**ठिते।** स्थिर होने से ही—**आनेञ्जप्पत्ते** अर्थात् अचल, निरञ्जन होने पर। अथवा, मृदु एवं कर्मण्य के रूप में अपने वश में होने से—**ठिते।** श्रद्धा आदि के द्वारा परिगृहीत होने से—**आनेञ्जप्पत्ते।** क्योंकि श्रद्धा आदि द्वारा परिगृहीत चित्त अश्रद्धा द्वारा विचलित नहीं होता, वीर्य द्वारा परिगृहीत कौसीद्य (=आलस्य) से, स्मृतिपरिगृहीत चित्त प्रमाद से विचलित नहीं होता, समाधि-परिगृहीत औद्धत्य से और प्रज्ञापरिगृहीत चित्त अविद्या से, अवभास (=प्रभास्वरता) प्राप्त चित्त क्लेशरूपी अन्धकार से विचलित नहीं होता। इन छह धर्मों से परिगृहीत (चित्त) आनेञ्जप्राप्त होता है।

यों (इन) आठ अङ्गों से युक्त चित्त को अभिज्ञा का साक्षात्कार कराये जाने योग्य धर्मों के साक्षात्कार की ओर मोड़ा जा सकता है।

७. (व्याख्या की) अन्य नयविधि यह है—चतुर्थ ध्यान समाधि से **समाहिते।** नीवरणरहित होने से परिसुद्धे। वितर्क आदि का अतिक्रमण करने से **परियोदाते।** ध्यान के लाभ से उत्पन्न पापेच्छा (='मैं ध्यानी हूँ' यों समाज में प्रचार करने एवं प्रशंसा प्राप्त करने की बुरी इच्छा) के अभाव

अनङ्गणसुत्त-वत्थसुत्तानुसारेन (म० नि० १/३३, ४९) वेदितब्बं। वसिप्पत्तिया **मुदुभूते**। इद्धिपादभावूपगमेन **कम्मनिये**। भावनापारिपूरिया पणीतभावूपगमेन **ठिते आनेञ्जप्पत्ते**। यथा आनेञ्जप्पत्तं होति, एवं ठिते ति अत्थो। एवं पि अट्ठङ्गसमन्नागतं चित्तं अभिनीहारक्खमं होति अभिञ्ञासच्छिकरणीयानं धम्मानं अभिञ्ञासच्छिकिरियाय पादकं पदट्ठानभूतं ति।

दसइद्धिकथा

८. **इद्धिविधाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेती** ति। एत्थ इज्झनट्ठेन इद्धि। निप्फत्तिअत्थेन पटिलाभट्ठेन चा ति वुत्तं होति। यं हि निप्फज्जति पटिलब्भति च, तं इज्झती ति वुच्चति। यथाह—"**कामं कामयमानस्स तस्स चेतं समिज्झती**" (सु० नि० १/३८८) ति। तथा "**नेक्खम्मं इज्झती ति इद्धि, पटिहरती ति पाटिहारियं। अरहत्तमग्गो इज्झती ति इद्धि, पटिहरती ति पाटिहारियं**" (खु० ५/४९४) ति।

९. अपरो नयो—इज्झनट्ठेन इद्धि। उपायसम्पदायेतं अधिवचनं। उपायसम्पदा हि इज्झति अधिप्पेतफलप्पसवनतो। यथाह—"**अयं खो चित्तो गहपति सीलवा कल्याणधम्मो, सचे पणिदहिस्सति—'अनागतमद्धानं राजा अस्सं चक्कवती' ति, तस्स खो अयं इज्झिस्सति सीलवतो चेतोपणिधि विसुद्धत्ता**" (सं० नि० ३/१४९९) ति।

१०. अपरो नयो—एताय सत्ता इज्झन्ती ति इद्धि। इज्झन्ती ति इद्धा वुद्धा उक्कंसगता

से **अनङ्गणे**। अभिध्या आदि चित्त के उपक्लेशों के चले जाने से **विगतूपक्किलेसे**। इन दोनों को ही **अनङ्गणसुत्त एवं वत्थसुत्त** के अनुसार (म० नि० १/३३, ४९) जानना चाहिये। वशीभूत होने से **मुदुभूते**। ऋद्धिपाद की अवस्था प्राप्त करने से **कम्मनिये**। भावना की पराकाष्ठा को प्राप्त होने से **आनेञ्जप्पत्ते**। अर्थात् आनेञ्ज प्राप्त होने से यों स्थिर होने पर। इस प्रकार (इस नय से) भी आठ अङ्गों से युक्त चित्त को अभिज्ञा द्वारा साक्षात्कार कराये जाने योग्य धर्मों के साक्षात्कार की ओर मोड़ा जा सकता है। (क्योंकि यह उन धर्मों का) आधार आसन्न कारण है।

दस ऋद्धियाँ

८. **इद्धिविधाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति**—यहाँ, ऋद्धिप्राप्त (=सफल, सिद्ध) होने के अर्थ में ऋद्धि है। अर्थात् निष्पत्ति के अर्थ में, लाभ के अर्थ में। जैसा कि कहा गया है—"**यदि कामना करने वाले को कामना सिद्ध होती है**" (खु० नि०, पृ० ३८८)। एवं—"**नैष्काम्य ऋद्धि प्राप्त करता है, अतः ऋद्धि है। यह (राग को) प्रतिहत (=आहत) करती है, अतः प्रातिहारिक है। (इससे) अर्हत् मार्ग सिद्ध होता है, अतः ऋद्धि है। प्रतिहत करती है अतः प्रातिहारिक है।**" (खु० नि० ५/४९४)।

९. अन्य विधि यह है—ऋद्धि प्राप्त होने के अर्थ में ऋद्धि है। यह उपायसम्पदा का अधिवचन है; क्योंकि उपायसम्पदा अभिप्रेत फल देने से सफल होती है; जैसा कि कहा है—"यह गृहपति चित्त शीलवान्, कल्याणकारी है। यदि वह प्रणिधान (=दृढ़ इच्छा, सङ्कल्प) करता है—'भविष्य में मैं चक्रवर्ती राजा होऊँ' तो उस शीलवान् के चित्त का यह प्रणिधान सिद्ध होता है, विशुद्ध होने से।" (सं० नि० ३/१४९९)।

होन्ती ति वुत्तं होति। सा दसविधा। यथाह—"**कति इद्धियो ति? दस इद्धियो**"। पुन च परं आह—"**कतमा दस इद्धियो? अधिट्ठाना इद्धि, विकुब्बना इद्धि, मनोमया इद्धि, ञाणविप्फारा इद्धि, समाधिविप्फारा इद्धि, अरिया इद्धि, कम्मविपाकजा इद्धि, पुञ्ञवतो इद्धि, विज्जामया इद्धि, तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इज्झनट्ठेन इद्धी**" (खु० ५/४६७) ति।

तत्थ "**पकतिया एको बहुकं आवज्जति, सतं वा सहस्सं वा सतसहस्सं वा आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति, बहुको होमी**" (खु० नि० ५/४७०) ति एवं विभजित्वा दस्सिता इद्धि अधिट्ठानवसेन निप्फन्नत्ता **अधिट्ठाना इद्धि** नाम। (१)

"**सो पकतिवण्णं विजहित्वा कुमारकवण्णं वा दस्सेति नागवण्णं वा ...पे०... विविधं पि सेनाब्यूहं दस्सेती**" (खु० नि० ५/४७३) ति एवं आगता इद्धि पकतिवण्ण-विजहनविकारवसेन पवत्तता **विकुब्बना इद्धि** नाम। (२)

"**इध भिक्खु इमम्हा काया अञ्ञं कायं अभिनिम्मिनाति रूपिं मनोमयं**" (खु० नि० ५/४७३) ति इमिना नयेन आगता इद्धि सरीरब्भन्तरे अञ्ञस्सेव मनोमयस्स सरीरस्स निप्फत्ति-वसेन पवत्तत्ता **मनोमया इद्धि** नाम। (३)

ञाणुप्पत्तितो पन पुब्बे[1] वा पच्छा[2] वा तङ्खणे[3] वा ञाणानुभावनिब्बत्तो विसेसो **ञाणविप्फारा इद्धि** नाम। वुत्तं हेतं—"**अनिच्चानुपस्सनाय निच्चसञ्ञाय पहानट्ठो इज्झती ति**

---

१०. अन्य विधि है—इससे सत्त्व ऋद्धिप्राप्त होते हैं, अतः ऋद्धि हैं। ऋद्ध होते हैं अतः ऋद्धिमान्, वृद्धिमान्, उच्चतम स्तर को प्राप्त करने वाले होते हैं—यह अर्थ है।

वह (ऋद्धि) दस प्रकार की है। जैसा कि कहा है—"कितनी ऋद्धियाँ हैं? दस ऋद्धियाँ हैं।" तत्पश्चात् आगे कहा गया है—"ये कौन सी दस हैं? १. अधिष्ठान..., २. विकुर्वण..., ३. मनोमय..., ४. ज्ञानविस्तार..., ५. समाधिविस्तार..., ६. आर्य..., ७. कर्मविपाकज..., ८. पुण्यवान् की..., ९. विद्यामय और १०. यहाँ-वहाँ सम्यक् प्रयोग के फलस्वरूप ऋद्धन के अर्थ में ऋद्धि" (खु० नि० ५/४६७)।

अधिष्ठान ऋद्धि—इनमें स्वभावतः एक (होकर भी स्वयं को) अनेक, सौ, हजार या लाख भी (मानते हुए) आवर्जन (चित्त का ध्यानोन्मुख) करता है। आवर्जन के पश्चात् अधिष्ठान करता है—'अनेक हो जाऊँ' (खु० नि० ५/४७०)। यों पृथक्तया दर्शित एवं अधिष्ठान-बल से उत्पन्न होने के कारण **अधिष्ठान ऋद्धि** कहलाती है। (१)

विकुर्वण ऋद्धि—"वह स्वाभाविक रूप को त्यागकर स्वयं को कुमार के रूप में या सर्प के रूप में दिखाता है ...पूर्ववत्... अनेकविध सेनाव्यूह के रूप में दिखलाता है" (खु० नि० ५/४७३)—यों आयी हुई ऋद्धि स्वाभाविक वर्ण के त्याग एवं विकार के रूप में प्रवृत्त होने से **विकुर्वण ऋद्धि** कहलाती है। (२)

मनोमय ऋद्धि—"यहाँ भिक्षु इस काय में अन्य काय का, मनोमय रूप का निर्माण करता

---

१. **ञाणुप्पत्तितो पुब्बे वा** ति। अरहत्तमग्गञाणुपत्तितो पुब्बे वा विपस्सनाक्खणे, ततो पि वा पुब्बे अन्तिमभविकस्स पटिसन्धिग्गहणतो पट्ठाय। २. **पच्छा वा**। याव खन्धपरिनिब्बाना।
३. **तङ्खणे वा**। मग्गुप्पत्तिसमये।

ञाणविप्फारा इद्धि....पे०...अरहत्तमग्गेन सब्बकिलेसानं पहानट्ठो इज्झती ति ञाणविप्फारा इद्धि। आयस्मतो बक्कुलस्स ञाणविप्फारा इद्धि। आयस्मतो सङ्किच्चस्स ञाणविप्फारा इद्धि। आयस्मतो भूतपालस्स ञाणविप्फारा इद्धी" (खु० नि० ५/४७४) ति।

तत्थ आयस्मा **बक्कुलो** दहरो व मङ्गलदिवसे नदिया नहापियमानो धातिया पमादेन सोते पतितो। तमेनं मच्छो गिलित्वा बाराणसीतित्थं अगमासि। तत्र तं मच्छबन्धो गहेत्वा सेट्ठिभरियाय विक्किणि। सा मच्छे सिनेहं उपादेत्वा 'अहमेव नं पचिस्सामी' ति फालेन्ती मच्छकुच्छियं सुवण्णबिम्बं विय दारकं दिस्वा 'पुत्तो मे लद्धो' ति सोमनस्सजाता अहोसि। इति मच्छकुच्छियं अरोगभावो आयस्मतो बक्कुलस्स पच्छिमभविकस्स तेन अत्तभावेन पटिलभितब्बअरहत्तमग्गञाणानुभावेन निब्बत्तत्ता ञाणविप्फारा इद्धि नाम। वत्थु पन वित्थारेन कथेतब्बं। (क)

सङ्किच्चत्थेरस्स पन गब्भगतस्सेव माता कालमकासि। तस्मा चितकं आरोपेत्वा सूलेहि विज्झित्वा झापियमानाय दारको सूलकोटिया अक्खिकूटे पहारं लभित्वा सद्दमकासि। ततो 'दारको जीवती' ति ओतारेत्वा कुच्छिं फालेत्वा दारकं अय्यिकाय अदंसु। सो ताय पटिजग्गितो

है" (खु० नि० ५/४७३)—यों आयी हुई ऋद्धि काया के भीतर अन्य ही मनोमय काय की निष्पत्ति के रूप में प्रवृत्त होने से **मनोमय ऋद्धि** कहलाती है। (३)

ज्ञानविस्तार ऋद्धि—ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व अर्हन्मार्ग—ज्ञान की उत्पत्ति के पूर्व या विपश्यनाक्षण में, या उससे भी पूर्व, अन्तिम भविक द्वारा प्रतिसन्धिग्रहण करने के समय से या पश्चात् स्कन्धपरिनिर्वाण के पश्चात् या उसी क्षण मार्गोत्पत्ति के समय में ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न विशिष्टता को **ज्ञानविस्तार ऋद्धि** कहा जाता है। क्योंकि यह कहा गया है—"यह अनित्य की अनुपश्यना द्वारा नित्यसंज्ञा के प्रहाण के रूप में सिद्ध होती है, अतः ज्ञानविस्तारऋद्धि। आयुष्मान् वक्कुल एवं आयुष्मान् सांकृत्य की तथा आयुष्मान् भूतपाल की ज्ञानविस्तारऋद्धि" (खु० ५/४७४)।

इनमें आयुष्मान् **वक्कुल** जब छोटे बालक थे, तभी किसी शुभ दिन नदी में नहलाये जाते समय धात्री (धाय) की असावधानी से प्रवाह में गिर गये। उन्हें किसी मछली ने निगल लिया, वह वाराणसी तीर्थ में चली आयी। उसे किसी मछुआरे ने पकड़ कर सेठ की भार्या को बेंच दिया। उसने उस मछली के प्रति रुचि लेते हुए, 'इसे मैं ही पकाऊँगी'—ऐसा सोचकर जब (उसका) पेट चीरा तो मछली के पेट्ट में स्वर्णबिम्ब के समान (तेजस्वी) शिशु को देखकर 'मुझे पुत्र मिल गया' यों सोचकर प्रसन्न हुई। यों, आयुष्मान् वक्कुल के पिछले जन्म में मछली के पेट में उनका सकुशल रहना 'ज्ञान-विस्तार ऋद्धि' है; क्योंकि वह उस जन्म में उनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले अर्हत्-मार्ग-ज्ञान के प्रभाव से उत्पन्न हैं। कथा विस्तार से कही जानी चाहिये। (क)

सांकृत्य स्थविर जब गर्भस्थ थे, तभी माता कालकवलित हो गयी। जब उसे चिता पर रखकर शूलों से कोंच-कोच कर जलाया जा रहा था, तब शूल की नोंक से आँख पर चोट पहुँचने से (गर्भस्थ) शिशु ने शब्द क़िया। तब 'बच्चा जीवित है' यों सोचकर (लोगों ने शव को चिता पर से) उतारकर, पेट चीरकर बच्चे को उसकी दादी (पितामही) को दे दिया। वह उसके द्वारा पाल-पोस कर बड़ा किया गया एवं उसने प्रव्रजित होकर प्रतिसम्भिदाओं के साथ अर्हत्त्व प्राप्त

बुद्धिमन्वाय पब्बजित्वा सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणि। इति वुत्तनयेनेव दारुचितकाय अरोगभावो आयस्मतो सङ्किच्चस्स ञाणविप्फारा इद्धि नाम। (ख)

भूतपालदारकस्स पन पिता राजगहे दलिद्दमनुस्सो। सो दारूनं अत्थाय सकटेन अटविं गन्त्वा दारुभारं कत्वा सायं नगरद्वारसमीपं पत्तो। अथस्स गोणा युगं ओस्सज्जित्वा नगरं पविसिंसु। सो सकटमूले पुत्तकं निसीदापेत्वा गोणानं अनुपदं गच्छन्तो नगरमेव पाविसि। तस्स अनिक्खन्तस्सेव द्वारं पिहितं। दारकस्स वाळयक्खानुचरिते पि बहिनगरे तियामरत्तिं अरोगभावो वुत्तनयेनेव ञाणविप्फारा इद्धि नाम। वत्थु पन वित्थारेतब्बं। (ग) (४)

समाधितो पुब्बे वा पच्छा वा तङ्खणे वा समथानुभावनिब्बतो विसेसो **समाधिविप्फारा इद्धि**। वुत्तं हेतं—"**पठमज्झानेन नीवरणानं पहानट्ठो इज्झती ति समाधिविप्फारा इद्धि...पे०... नेवसञ्ञानासञ्ञायतनसमापत्तिया आकिञ्चञ्ञायतनसञ्ञाय पहानट्ठो इज्झती ति समाधिविप्फारा इद्धि। आयस्मतो सारिपुत्तस्स समाधिविप्फारा इद्धि। आयस्मतो सञ्जीवस्स, आयस्मतो खाणुकोण्डञ्ञस्स, उत्तराय उपासिकाय, सामावतिया उपासिकाय समाधिविप्फारा इद्धी**" (खु० नि० ५/४७४) ति।

तत्थ यदा आयस्मतो **सारिपुत्तस्स महामोग्गल्लानत्थेरेन** सद्धिं कपोतकन्दरायं[१] विहरतो जुण्हाय रत्तिया नवोरोपितेहि केसेहि[२] अज्झोकासे निसिन्नस्स एको दुट्ठयक्खो सहायकेन यक्खेन

किया। यों उक्त प्रकार से ही लकड़ी की चिता पर सकुशल रहना आयुष्मान् सांकृत्य की ज्ञानविस्तार ऋद्धि है। (ख)

बालक **भूतपाल** का पिता राजगृह का एक दरिद्र व्यक्ति था। वह जङ्गल में लकड़ियों के लिये गाड़ी से गया था। लकड़ियाँ लादकर सायंकाल नगरद्वार के समीप पहुँचा। उसी समय उसके बैल जुए का बन्धन तुड़ाकर नगर में घुस गये। वह भी पुत्र (भूतपाल) को गाड़ी के नीचे बैठाकर, बैलों के पीछे पीछे नगर में प्रविष्ट हुआ। उसके लौटने के पहले ही द्वार बन्द हो गया। जिसके पीछे बलशाली यक्ष घूम रहे थे, ऐसे बालक का भी तीन यामों वाली रात्रिपर्यन्त सकुशल रह जाना—उक्त प्रकार से ही ज्ञानविस्तार ऋद्धि कहलाती है। कथा को विस्तार से कहना चाहिये। (ग) (४)

समाधिविस्तार ऋद्धि—समाधि से पूर्व, पश्चात् या उसी क्षण शमथ के प्रभाव से उत्पन्न वैशिष्ट्य **समाधिविस्तार** ऋद्धि है। क्योंकि कहा है—"यह प्रथम ध्यान द्वारा नीवरणों के प्रहाण के अर्थ में सिद्ध होती है, इसलिये समाधिविस्तार ऋद्धि है ...पूर्ववत्... नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समापत्ति द्वारा आकिञ्चन्यायतन संज्ञा के प्रहाण के अर्थ में सिद्ध होती है, अतः समाधिविस्तार ऋद्धि है। (जैसे) आयुष्मान् सारिपुत्र की समाधि, आयुष्मान् सञ्जीव की, आयुष्मान् स्थाणुकौण्डिन्य की, उत्तरा उपासिका की, श्यामवती उपासिका की समाधि समाधिविस्तार ऋद्धि है।" (खु० नि० ५/४७४)।

इनमें, कुछ ही समय पूर्व मुण्डन करा चुके आयुष्मान् **सारिपुत्र** जब **महामौद्गल्यायन स्थविर** के साथ कपोत-कन्दरा (नामक विहार) में विहार करते हुए चाँदनी रात में खुले स्थान में बैठे

---

१. **कपोतकन्दरायं** ति। एवंनामके अरञ्ञविहारे।

२. **नवोरोपितेहि केसेही** ति। इत्थम्भूतलक्खणे करणवचनं।

वारियमानो पि सीसे पहारं अदासि। यस्स मेघस्स विय गज्जतो सद्दो अहोसि। तथा थेरो तस्स पहरणसमये समापत्तिं अप्पेसि। अथस्स तेन पहारेन न कोचि आबाधो अहोसि। अयं तस्सायस्मतो समाधिविप्फारा इद्धि। वत्थु पन **उदाने** (खु० नि० १/१०८) आगतमेव। (क)

सञ्जीवत्थेरं पन निरोधसमापन्नं कालङ्कतो ति सल्लक्खेत्वा गोपालकादयो तिणकट्ठ-गोमयानि सङ्कड्ढेत्वा अग्गिं अदंसु। थेरस्स चीवरे अंसुमत्तं पि न झायित्थ। अयमस्स अनुपुब्बसमापत्तिवसेन पवत्तसमथानुभावनिब्बत्तत्ता समाधिविप्फारा इद्धि। वत्थु पन **सुत्ते** (म० नि० १/४०७) आगतमेव। (ख)

खाणुकोण्डञ्ञत्थेरो पन पकतिया व समापत्तिबहुलो। सो अञ्ञतरस्मिं अरञ्ञे रत्तिं समापत्तिं अप्पेत्वा निसीदि। पञ्चसता चोरा भण्डकं थेनेत्वा गच्छन्ता 'इदानि अम्हाकं अनुपथं आगच्छन्ता नत्थी'' ति विस्समितुकामा भण्डकं आरोपयमाना ''खाणुको अयं'' ति मञ्ञमाना थेरस्सेव उपरि सब्बभण्डकानि ठपेसुं। तेसं विस्समित्वा गच्छन्तानं पठमं ठपितभण्डकस्स गहणकाले कालपरिच्छेदवसेन थेरो वुट्ठासि। ते थेरस्स चलनाकारं दिस्वा भीता विरविंसु। थेरो—''मा भायित्थ, उपासका, भिक्खु अहं'' ति आह। आगन्त्वा वन्दित्वा थेरगतेन पसादेन पब्बजित्वा सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणिंसु। अयमेत्थ पञ्चहि भण्डकसतेहि अज्झोत्थटस्स थेरस्स आबाधाभावो समाधिविप्फारा इद्धि। (ग)

उत्तरा पन उपासिका पुण्णकसेट्ठिस्स धीता। तस्सा सिरिमा नाम गणिका इस्सापकता

थे, उस समय एक दुष्ट यक्ष ने अपनी साथी यक्ष द्वारा निषिद्ध किये जाने पर भी (स्थविर के) सिर पर प्रहार कर दिया, जिससे मेघगर्जन के समान शब्द हुआ। जब उसने प्रहार किया, स्थविर समापन्न हो चुके थे; अतः उसके प्रहार से उन्हें कोई हानि नहीं हुई। यह उन आयुष्मान् की समाधिविस्तार ऋद्धि थी। कथा तो **उदान** (खु० १/१०८) में आयी ही है। (क)

स्थविर **सञ्जीव** जिस समय निरोधसमापत्ति में (लीन) थे, उन्हें दिवङ्गत समझकर ग्वाला आदि ने घास-फूस, लकड़ी, उपला एकत्र कर आग लगा दी। स्थविर का चीवर रञ्चमात्र भी नहीं जला। पूर्व समापत्ति के बल से प्रवृत्त शमथ के प्रभाव से उत्पन्न यह उनकी समाधिविस्तारऋद्धि थी। कथा तो सूत्र (म० १/४०७) में आयी ही है। (ख)

स्थविर **स्थाणुकौण्डिन्य** स्वभावतः ही समापत्ति-बहुल थे। वह किसी वन में रात्रि के समय समाधिस्थ होकर बैठे थे। पाँच सौ चोरों ने, जो सामान चुराकर जा रहे थे, 'इस समय हमारा पीछा कोई नहीं कर रहा है'—यह सोचकर विश्राम की इच्छा से सामान उतार कर 'यह स्थाणु (लकड़ी का कुन्दा) है—ऐसा सोचकर स्थविर के ऊपर ही सब सामान रख दिया। विश्राम के पश्चात् चलते समय ज्यों ही उन्होंने पहले रखा गया सामान[1] उठाया, (समापत्ति से उठने का) समय हो जाने से स्थविर उठ गये। वे (चोर) स्थविर को हिलता-डुलता देखकर डर गये। स्थविर ने कहा—''मत डरो, उपासको! मैं भिक्षु हूँ।'' (तब चोरों ने) आकर वन्दना की एवं स्थविर (की ऋद्धि को देखकर उन) पर प्रसाद (श्रद्धा) होने से उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की एवं प्रतिसंविदाओं

---

१. एक के ऊपर एक सामान रखा जाने से सर्वप्रथम रखे सामान को उठाने की बारी सबसे अन्त में आती है।

तत्ततेलकटाहं सीसे आसिञ्चि। उत्तरा तङ्खणं येव मेत्तं समापज्जि। तेलं पोक्खरपत्ततो उदकबिन्दु विय विवट्टमानं अगमासि। अयमस्सा समाधिविप्फारा इद्धि। वत्थु पन वित्थारेतब्बं। (घ)

सामावती नाम उदेनस्स रञ्ञो अग्गमहेसी। मागण्डियब्राह्मणो अत्तनो धीताय अग्गमहेसिट्ठानं अत्थयमानो तस्सा वीणाय आसीविसं पक्खिपापेत्वा राजानं आह—"महाराज, सामावती तं मारेतुकामा वीणाय आसीविसं गहेत्वा परिहरती" ति। राजा तं दिस्वा कुपितो—"सामावतिं वधिस्सामी" ति धनुं आरोपेत्वा विसपीतं खुरप्पं सन्नय्हि। सामावती सपरिवारा राजानं मेत्ताय फरि। राजा नेव सरं खिपितुं न आरोपेतुं सक्कोन्तो वेधमानो अट्ठासि। ततो नं देवी आह—"किं, महाराज, किलमसी" ति? "आम किलमामी" ति। "तेन हि धनुं ओरोपेही" ति। सरो रञ्ञो पादमूले येव पति। ततो नं देवी "महाराज, अप्पदुट्ठस्स न पदुस्सितब्बं" ति ओवदि। इति रञ्ञो सरं मुञ्चितुं अविसहनभावो सामावतिया उपासिकाय समाधिविप्फारा इद्धी ति। (ङ) (५)

पटिक्कूलादीसु पटिक्कूलसञ्ञिविहारादिका पन **अरिया इद्धि** नाम। यथाह—"**कतमा अरिया इद्धि? इध भिक्खु सचे आकङ्खति 'पटिक्कूले अप्पटिक्कूलसञ्ञी विहरेय्यं"** ति, **अपटिक्कूलसञ्ञी तत्थ विहरति ...पे०... उपेक्खको तत्थ विहरति सतो सम्पजानो"** (खु० नि० ५/४७५) ति। अयं हि चेतोवसिप्पत्तानं अरियानं येव सम्भवतो अरिया इद्धी ति वुच्चति।

के साथ अर्हत्त्व प्राप्त किया। पाँच सौ सामानों से दबे हुए भी स्थविर का यों सकुशल रहना समाधिविस्तारऋद्धि है। (ग)

उत्तरा उपासिका पुण्यक (नामक) सेठ की पुत्री थी। उससे ईर्ष्या करने वाली सिरिमा नामक वेश्या ने गर्म तैल की कड़ाही उसके सिर पर उड़ेल दी। उत्तरा उसी क्षण मैत्री (-ब्रह्मविहार) में समापन्न हो गयी। वह तैल कमल के पत्ते पर जल की बूँद के समान लुढ़कता हुआ चला गया। यह उसकी समाधिविस्तार ऋद्धि है। कथा विस्तार से कही जानी चाहिये। (घ)

श्यामावती नामक उपासिका राजा उदयन की अग्रमहिषी (पटरानी) थी। अपनी पुत्री के लिये पटरानी का स्थान चाहने वाले मागन्दिय ब्राह्मण ने उस (श्यामावती) की वीणा में विषधर सर्प प्रविष्ट कराकर राजा से कहा—"महाराज! श्यामावती आप की हत्या करने की इच्छा से वीणा में सर्प लिये फिरती है।" राजा ने (वस्तुतः वहाँ) सर्प देखकर, कुपित होकर 'श्यामावती की हत्या कर दूँ'—ऐसा निश्चय कर धनुष् से विष बुझे शर का सन्धान किया। श्यामवती ने सपरिवार राजा के प्रति मैत्री भावना का विस्तार किया। राजा बाण छोड़ने या (उसे धनुष पर से) उतारने में असमर्थ होकर काँपते हुए खड़ा रहा। तब देवी ने उससे कहा—"महाराज! क्या थक गये हैं?" "हाँ, थक गया हूँ।" "तब धनुष् उतार दीजिये।" (उतारते समय) बाण राजा के पैर के पास ही गिर पड़ा। तब देवी ने उससे कहा—"महाराज! द्वेषरहित के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिये।" यों, बाण छोड़ने में राजा की असमर्थता श्यामवती उपासिका की समाधिविस्तार ऋद्धि है। (ङ) (५)

आर्य ऋद्धि —'प्रतिकूल आदि में अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करना' आदि **आर्य ऋद्धि** है। जैसा कि कहा है—"कौन सी आर्य-ऋद्धि है? यहाँ, यदि भिक्षु चाहता है—'प्रतिकूल

एताय हि समन्नागतो खीणासवो भिक्खु पटिक्कूले अनिट्ठे वत्थुस्मिं मेत्ताफरणं वा धातुमनसिकारं वा करोन्तो अपटिक्कूलसञ्ञी विहरति। अपटिक्कूले इट्ठे वत्थुस्मिं असुभफरणं वा अनिच्चं ति मनसिकारं वा करोन्तो पटिक्कूलसञ्ञी विहरति। तथा पटिक्कूलापटिक्कूलेसु तदेव मेत्ताफरणं वा धातुमनसिकारं वा करोन्तो अपटिक्कूलसञ्ञी विहरति। अपटिक्कूल-पटिक्कूलेसु च तदेव असुभफरणं वा अनिच्चं ति मनसिकारं वा करोन्तो पटिक्कूलपटिक्कूलेसु च तदेव असुभफरणं वा अनिच्चं ति मनसिकारं वा करोन्तो पटिक्कूलसञ्ञी विहरति। "चक्खुना रूपं दिस्वा नेव सुमनो होती" ति आदिना नयेन वुत्तं पन छळङ्गुपेक्खं पवत्तयमानो पटिक्कूले च अपटिक्कूले च तदुभयं अभिनिवज्जित्वा उपेक्खको विहरति सतो सम्पजानो।

पटिसम्भिदायं हि "**कथं पटिक्कूले अपटिक्कूलसञ्ञी विहरति? अनिट्ठस्मिं वत्थुस्मिं मेत्ताय वा फरति धातुसो वा उपसंहरती**" (खु० नि० ५/४७५) ति आदिना नयेन अयमेव अत्थो विभत्तो। अयं चेतोवसिप्पत्तानं अरियानं येव सम्भवतो अरिया इद्धी ति वुच्चति। (६)

पक्खीआदीनं पन वेहासगमनादिका **कम्मविपाकजा** इद्धि नाम। यथाह—"**कतमा कम्मविपाकजा इद्धि? सब्बेसं पक्खीनं सब्बेसं देवानं एकच्चानं मनुस्सानं एकच्चानं च विनिपातिकानं अयं कम्मविपाकजा इद्धी**" (खु० नि० ५/३७६) ति। एत्थ हि सब्बेसं पक्खीनं झानं वा विपस्सनं वा विना येव आकासेन गमनं। तथा सब्बेसं देवानं पठमकप्पिकानं

में अप्रतिकूलसंज्ञी होकर विहार करूँ' तो वह उसमें अप्रतिकूल-संज्ञी होकर विहार करता है...स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ, उपेक्षा के साथ उसमें विहार करता है" (खु० नि ५/४७५)। क्योंकि यह चित्त को वश में करने वाले आर्यों में ही सम्भव है, अत: इसे आर्यऋद्धि कहते हैं।

इससे युक्त भिक्षु प्रतिकूल में, अनिष्ट वस्तु में मैत्री का विस्तार या धातुमनस्कार करते हुए अप्रतिकूलसंज्ञी होकर साधना करता है। अथवा अप्रतिकूल, इष्ट वस्तुमें अशुभ (संज्ञा) का विस्तार या 'अनित्य है'—यों मनस्कार करते हुए प्रतिकूलसंज्ञी होकर साधना करता है। तथा प्रतिकूल और अप्रतिकूल में वैसे ही मैत्री-विस्तार या धातुमनस्कार करते हुए अप्रतिकूलसंज्ञी होकर विहार करता है।

"चक्षु से रूप देखकर प्रसन्न नहीं होता"—आदि प्रकार से बतलायी गयी छह अङ्गों वाली उपेक्षा उत्पन्न करते हुए प्रतिकूल एवं अप्रतिकूल दोनों को ही छोड़कर उपेक्षा के साथ, स्मृति एवं सम्प्रजन्य के साथ साधना करता है।

पटिसम्भिदामग्ग में—"कैसे प्रतिकूल में अप्रतिकूल संज्ञी होकर साधना करता है? अनिष्ट वस्तु में मैत्री का विस्तार करता है या उन्हें धातुओं का समूहमात्र मानता है" (खु० नि० ५/४७५)—आदि प्रकार से इसी अर्थ का विस्तार किया गया है। क्योंकि यह चित्त को वश में करने वाले आर्यों (=श्रेष्ठ जनों) में ही सम्भव है, अत: इसे आर्य ऋद्धि कहते हैं। (६)

कर्मविपाकज ऋद्धि—पक्षी आदि का आकाश में उड़ना आदि कर्मविपाकज ऋद्धि है। जैसा कि का है—"कौन-सी कर्मविपाकजऋद्धि है? सभी पक्षियों की, सभी देवताओं की, किन्हीं मनुष्यों की, किन्हीं विनिपातकों (=बुरी योनि में उत्पन्न सत्त्वों) की यह कर्मविपाकज ऋद्धि है" (खु० ५/३७६)। यहाँ, सभी पक्षियों का, विपश्यना के विना ही, आकाश में उड़ना, सभी देवताओं

च एकच्चानं मनुस्सानं। तथा पियङ्करमाता यक्खिनी, उत्तरमाता, फुस्समित्ता, धम्मगुत्ता ति एवमादीनं एकच्चानं विनिपातिकानं आकासेन गमनं कम्मविपाकजा इद्धी ति। (७)

चक्कवत्तिआदीनं वेहासगमनादिका पन **पुञ्ञवतो इद्धि** नाम। यथाह—"**कतमा पुञ्ञवतो इद्धि? राजा चक्कवत्ती वेहासं गच्छति सद्धिं चतुरङ्गिनिया सेनाय अन्तमसो अस्सबन्ध-गोबन्धपुरिसे उपादाय। जोतिकस्स गहपतिस्स पुञ्ञवतो इद्धि। जटिलकस्स गहपतिस्स पुञ्ञवतो इद्धि। पञ्चन्नं महापुञ्ञानं पुञ्ञवतो इद्धी**" (खु० नि० ५/३७६) ति। सङ्खेपतो पन परिपाकं गते पुञ्ञसम्भारे इज्झनकविसेसो पुञ्ञवतो इद्धि।

एत्थ च **जोतिकस्स** गहपतिस्स पथविं भिन्दित्वा मणिपासादो उट्ठहि, चतुसट्ठि च कप्परुक्खा ति अयमस्स पुञ्ञवतो इद्धि। **जटिलकस्स** असीतिहत्थो सुवण्णपब्बतो निब्बत्ति। **घोषितस्स** सत्तसु ठानेसु मारणत्थाय उपक्कमे कते पि अरोगभावो पुञ्ञवतो इद्धि। **मेण्डकस्स** एकसीतमत्ते पदेसे सत्तरतनमयानं मेण्डकानं पातुभावो पुञ्ञवतो इद्धि।

पञ्च **महापुञ्ञा** नाम—मेण्डकसेट्ठी, तस्स भरिया चन्दपदुमसिरि, पुत्तो धनञ्जयसेट्ठी, सुणिसा सुमनदेवी, दासो पुण्णो नामा ति। तेसु सेट्ठिस्स सीसं न्हातस्स आकासं उल्लोकनकाले अड्ढतेळसकोट्ठसहस्सानि आकासतो रत्तसालीनं पूरेन्ति। भरियाय नाळिकोदनमत्तं पि गहेत्वा सकलजम्बुदीपवासिके परिविसमानाय भत्तं न खीयति। पुत्तस्स सहस्सत्थविकं गहेत्वा सकलजम्बुदीपवासिकानं पि देन्तस्स कहापणा न खीयन्ति। सुणिसाय एकं वीहितुम्बं गहेत्वा

एवं प्रथम कल्प के किन्हीं मनुष्यों का, प्रियङ्करमाता यक्षिणी, उत्तरमाता, पुष्यमित्रा, धर्मगुप्ता आदि किन्हीं विनिपातकों का आकाश में उड़ना कर्मविपाकज ऋद्धि है। (७)

पुण्यवान् ऋद्धि—चक्रवर्ती आदि का हवा में उड़कर जाना आदि **पुण्यवान् की ऋद्धि** है। जैसा कि कहा है—"कौन-सी पुण्यवान् की ऋद्धि है? चक्रवर्ती राजा चतुरङ्गिणी सेना के साथ, यहाँ तक कि अश्वपालकों एवं ग्वालों आदि के भी साथ आकाश में उड़ते हुए जाते हैं। (वैसी ही) ज्योतिक गृहपति की, जटिलक गृहपति की, घोषित गृहपति की पुण्यवान् ऋद्धि, मेण्डक गृहपति की पुण्यवान् ऋद्धि पाँच महापुण्यवानों की पुण्यवान् ऋद्धि है।

इनमें, **ज्योतिक** गृहपति का मणिमय प्रासाद पृथ्वी को भेदकर निकला, एवं चौसठ कल्पवृक्ष (भी)। यह उसकी पुण्यवान्-ऋद्धि है। **जटिलक** के (प्रभाव से) अस्सी हाथ का स्वर्ण-पर्वत उत्पन्न हो गया। **घोषित** को सात स्थानों पर मारने का प्रयास किया गया, फिर भी उसका सकुशल रहना पुण्यवान् ऋद्धि है। **मेण्डक** के लिये एक सीत (एक माप) मात्र (सीमा वाले) प्रदेश में सात रत्नों से जटित मेढ़ों (मेष) का प्रकट हो जाना पुण्यवान् ऋद्धि है।

पाँच महापुण्यवानों के नाम है—मेण्डक श्रेष्ठी, उसकी भार्या चन्द्रपद्मश्री, (उसका पुत्र) धनञ्जय श्रेष्ठी, पुत्रवधू सुमन देवी एवं दास पूर्ण। इनमें, सिर पर से स्नान करते समय **श्रेष्ठी** ने जिस समय आकाश की ओर देखा, आकाश से (बरसकर) लाल शालि के धान से साढ़े बारह हजार कोठरियाँ भर गयीं। **भार्या** मात्र एक नालि (एक प्रकार के माप का पात्र) भर भात लेकर समस्त जम्बूद्वीप के निवासियों को परोसती रही, किन्तु भात समाप्त नहीं हुआ। **पुत्र** एक हजार की थैली लेकर समस्त जम्बूद्वीप के निवासियों को देता रहा, किन्तु थैली के कार्षापण समाप्त नहीं

सकलजम्बुदीपवासिकानं पि भाजयमानाय धञ्ञं न खीयति। दासस्स एकेन नङ्गलेन कसतो इतो सत्त इतो सत्ता ति चुद्दस्स मग्गा होन्ति। अयं नेसं पुञ्ञवतो इद्धि। (८)

विज्जाधरादीनं वेहासगमनादिका पन **विज्जामया इद्धि**। यथाह—"**कतमा विज्जामया इद्धि? विज्जाधरा विज्जं परिजपित्वा वेहासं गच्छन्ति, आकासे अन्तलिक्खे हत्थिं पि दस्सेन्ति...पे०...विविधं पि सेनाब्यूहं दस्सेन्ती**" (खु० नि० ५/३७६) ति। (९)

तेन तेन पन सम्मापयोगेन तस्स तस्स कम्मस्स इज्झनं तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इज्झनट्ठेन इद्धि। यथाह—"**नेक्खम्मेन कामच्छन्दस्स पहानट्ठो इज्झती ति तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इज्झनट्ठेन इद्धि** ...पे०... **अरहत्तमग्गेन सब्बकिलेसानं पहानट्ठो इज्झती ति तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इज्झनट्ठेन इद्धी**" (खु० नि० ५/४७७) ति। एत्थ च पटिपत्तिसङ्खातस्सेव सम्मापयोगस्स दीपनवसेन पुरिमपाळिसदिसा व पाळि आगता। **अट्ठकथायं** पन—"सकटब्यूहादिकरणवसेन यं किञ्चि सिप्पकम्मं, यं किञ्चि वेज्जकम्मं, तिण्णं वेदानं उग्गहणं, तिण्णं पिटकानं उग्गहणं, अन्तमसो कसन-वपनादीनि उपादाय तं तं कम्मं कत्वा निब्बत्तविसेसो, तत्थ तत्थ सम्मापयोगपच्चया इज्झनट्ठेन इद्धी" ति आगता। (१०)

इति इमासु दससु इद्धीसु 'इद्धिविधाया' ति इमस्मिं पदे अधिट्ठाना इद्धि येव आगता। इमस्मिं पनत्थे विकुब्बना मनोमया इद्धियो पि इच्छितब्बा एव।

९. **इद्धिविधाया** ति। इद्धिकोट्ठासाय इद्धिविकप्पाय वा। **चित्तं अभिनीहरति**

हुए। **पुत्र-वधू** एक तुम्बीभर जौ लेकर समस्त जम्बूद्वीप के निवासियों में बाँटती रही, किन्तु उसका अनाज समाप्त नहीं हुआ। दास जब एक नङ्गल से खेत जोत रहा था, उस समय इधर उधर सात सात—यों चौदह मार्ग होते गये। यह इनकी पुण्यवान् ऋद्धि है। (८)

विद्यामय ऋद्धि—विद्याधर आदि का आकाश में उड़ना आदि **विद्यामय ऋद्धि** है। जैसा कि कहा है—"कौन सी विद्यामय ऋद्धि है? विद्याधर मन्त्र (विद्या) जपते हुए आकाश में उड़ते हैं, आकाश (शून्य) में अन्तरिक्ष में हाथी भी दिखलाते हैं ...पूर्ववत्... विविध सेना-व्यूह भी दिखलाते हैं" (खु० नि० ५/३७६)। (९)

सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि—उस उस सम्यक् प्रयोग द्वारा उस उस कर्म की सिद्धि, वहाँ वहाँ सम्यक् प्रयोग से उत्पन्न होने से **सिद्ध होने के अर्थ** में ऋद्धि है" (खु० ५/४७७)। एवं यहाँ सम्यक् प्रयोग अर्थात् मार्ग को सूचित करने के लिये, पहले की पालि के समान ही पालि आयी हुई है। किन्तु **अट्ठकथा** में—'शकट (गाड़ी) आदि बनाने जैसा जो कोई भी शिल्प है, जो कोई भी वैद्य कर्म, तीन वेदों को सीखना, तीन पिटकों को सीखना, यहाँ तक कि जोतने-बोने आदि से सम्बद्ध कार्य—उस-उस (कार्य) को करने से जो विशेषता उत्पन्न होती है, वह वहाँ वहाँ सम्यक्प्रयोग से उत्पत्ति के कारण सिद्ध होने के अर्थ में ऋद्धि है"—यों आया हुआ है। (१०)

'ऋद्धिविध के लिये' (इद्धिविधाय) इस पद में इन दस ऋद्धियों में से (वस्तुत:) अधिष्ठानऋद्धि ही आयी है, उसी का संकेत है। किन्तु इस अर्थ में विकुर्वण एवं मनोमयऋद्धि को भी समझना चाहिये।

अभिनिन्नामेती ति। सो भिक्खु वुत्तप्पकारवसेन तस्मिं चित्ते अभिञ्ञापादके इद्धिविधाधिगमत्थाय परिकम्मचित्तं **अभिनीहरति**। कसिणारम्मतो अपनेत्वा इद्धिविधाभिमुखं पेसेति। **अभिनिन्नामेती** ति। अधिगन्तब्बइद्धिपोणं इद्धिपब्भारं करोति।

सो ति। सो एवं कतचित्ताभिनीहारो भिक्खु। **अनेकविहितं** ति। अनेकविधं नानप्पकारकं। **इद्धिविधं** ति। इद्धिकोट्ठासं। **पच्चनुभोती** ति। पच्चनुभवति। फुसति, सच्छिकरोति, पापुणाती ति अत्थो।

१०. इदानिस्स अनेकविहितभावं दस्सेन्तो—"**एको पि हुत्वा**" ति आदिमाह। तत्थ **एको पि हुत्वा** ति। इद्धिकरणतो पुब्बे पकतिया एको पि हुत्वा। **बहुधा होती** ति। बहूनं सन्तिके चङ्कमितुकामो वा सज्झायं वा कत्तुकामो पञ्हं वा **पुच्छितुकामो** हुत्वा सतं पि सहस्सं पि होति।

कथं पनायमेवं होति? इद्धिया चतस्सो भूमियो, चत्तारो पादा, अट्ठ पदानि, सोळस च मूलानि सम्पादेत्वा ञाणेन अधिट्ठहन्तो।

तत्थ **चतस्सो भूमियो** ति। चत्तारि झानानि वेदितब्बानि। वुत्तं हेतं **धम्मसेनापतिना**—"**इद्धिया कतमा चतस्सो भूमियो? विवेकजभूमि पठमं झानं, पीतिसुखभूमि दुतियं झानं, उपेक्खासुखभूमि ततियं झानं, अदुक्खमसुखभूमि चतुत्थं झानं। इद्धिया इमा चतस्सो भूमियो इद्धिलाभाय इद्धिपटिलाभाय इद्धिविकुब्बनाय इद्धिविसविताय इद्धिवसिताय इद्धिवेसारज्जाय संवत्तन्ती**" (खु० नि० ५/४६७) ति। एत्थ च पुरिमानि तीणि झानानि यस्मा पीतिफरणेन च सुखफरणेन च सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमित्वा लहुमुदुकम्मञ्ञकायो

---

९. **इद्धिविधाय**—ऋद्धि के भेदों (भागों) के लिये, या ऋद्धि के विकल्पों के लिये। **चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति**—जब वह चित्त उक्त प्रकार से अभिज्ञा के लिये आधार हो जाता है, तब वह भिक्षु ऋद्धिविध चित्त को ऋद्धिविध की प्राप्ति की तरफ **अभिनीहरति**—ले जाता है। **अभिनिन्नामेति**—प्राप्तव्य ऋद्धि की ओर झुकाता है, नवाता है।

सो-चित्त से यों सङ्कल्प करने वाला भिक्षु। **अनेकविहितं**—अनेकविध, नाना प्रकार के। **इद्धिविधं**—ऋद्धिविध को। **पच्चनुभोति**—प्रत्यनुभव करता है। अर्थात् सम्पर्क में आता है, साक्षात्कार करता है, प्राप्त करता है।

१०. अब इसकी विविधता को दर्शाने के लिये 'एक होकर भी' आदि कहा गया है। वहाँ, **एको पि हुत्वा**—ऋद्धि करने के पूर्व स्वभावतः एक होकर भी **बहुधा होति**—यदि अनेक लोगों के समीप चंक्रमण करना चाहे, पारायण करना चाहे या प्रश्न पूछना चाहे, तो सौ या हजार (रूपों में) भी हो जाता है।

किन्तु ऐसा किस प्रकार होता है? ऋद्धि की चार भूमियों, चार पादों, आठ पदों एवं सोलह मूलों का सम्पादन कर, ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करते हुए।

इनमें, चार **भूमियों** का अर्थ है चार ध्यान; क्योंकि **धर्मसेनापति** द्वारा यह कहा गया है—"ऋद्धि की कौन सी चार भूमियाँ है?" प्रथम ध्यान विवेकज भूमि है, द्वितीय ध्यान प्रीतिसुखभूमि है, तृतीय ध्यान उपेक्षासुखभूमि है, चतुर्थ ध्यान अदुःख-असुख भूमि है। ऋद्धि की ये चार भूमियाँ

हुत्वा इद्धिं पापुणाति, तस्मा इमिना परियायेन इद्धिलाभाय संवत्तनतो सम्भारभूमियो ति वेदितब्बानि। चतुत्थज्झानं पन इद्धिलाभाय पकतिभूमि येव। (१)

चत्तारो पादा ति। चत्तारो इद्धिपादा वेदितब्बा। वुत्तं हेतं—"**इद्धिया कतमे चत्तारो पादा? इध भिक्खु छन्दसमाधिपधानसङ्खारसमन्नागतं इद्धिपादं भावेति, विरिय...पे०...चित्त... वीमंसासमाधिपधानसङ्खारसमन्नागतं इद्धिपादं भावेति। इद्धिया इमे चत्तारो पादा इद्धिलाभाय ...पे०...इद्धिवेसारज्जाय संवत्तन्ती**" (खु० नि० ५/४६८) ति।

एत्थ च छन्दहेतुको छन्दाधिको वा समाधि **छन्दसमाधि**। कत्तुकम्यताछन्दं अधिपतिं करित्वा पटिलद्धसमाधिस्सेतं अधिवचनं। पधानभूता सङ्खारा **पधानसङ्खारा**। चतुकिच्चसाधकस्स सम्मप्पधानविरियस्सेतं अधिवचनं। **समन्नागतं** ति। छन्दसमाधिना च पधानसङ्खारेहि च उपेतं।

इद्धिपादं ति। निप्फत्तिपरियायेन वा इज्झनट्ठेन, इज्झन्ति एताय सत्ता इद्धा वुद्धा उक्कसगता होन्ती ति इमिना वा परियायेन इद्धी ति सङ्खं गतानं अभिञ्ञाचित्तसम्पयुत्तानं छन्दसमाधिपधानसङ्खारानं अधिट्ठानट्ठेन पादभूतं सेसचित्त-चेतसिकरासिं ति अत्थो। वुत्तं हेतं—"**इद्धिपादो ति तथाभूतस्स वेदनाक्खन्धो...पे०...विञ्ञाणक्खन्धो**" (अभि० २/२६५) ति।

ऋद्धिलाभ के लिये, प्रतिलाभ के लिये, विकुर्वण के लिये, ऋद्धि की विशदता के लिये, वश में करने के लिये, इसके वैशारद्य के लिये होती है।" (खु० नि० ५/४६७)।

(यह योगी) प्रीति एवं सुख के विस्तार द्वारा सुखसंज्ञा एवं लघुसंज्ञा (सुख एवं भारहीनता का अनुभव) से ओत-प्रोत होकर लघु, मृदु कर्मण्य काय वाला होकर इसे प्राप्त करता है। इसीलिये पूर्व के तीन ध्यानों को सम्भार (सहायक) भूमि माना जाना चाहिये; क्योंकि वे इसके लाभार्थ इस प्रकार प्रवर्तित होते हैं। किन्तु चतुर्थ ध्यान तो इसके लाभ के लिये स्वाभाविक भूमि ही है। (१)

चार पाद को चार ऋद्धि-पाद समझें; क्योंकि यह कहा गया है—"**ऋद्धि के कौन-से** चार पाद हैं? यहाँ भिक्षु छन्दसमाधिप्रधानसंस्कार से युक्त ऋद्धिपाद की भावना करता है, वीर्य ...पूर्ववत्... चित्त...मीमांसा-समाधिप्रधानसंस्कार से युक्त ऋद्धिपाद की भावना करता है। यों ये चार पाद ऋद्धि-लाभ के लिये ...पूर्ववत्...उसके वैशारद्य के लिये होते हैं।" (खु० नि० ५/४६८)।

इनमें, जिसका हेतु छन्द होता है, या जिसमें छन्द का आधिक्य होता है, वह समाधि **छन्दसमाधि** है। कर्तृकाम्यता=छन्द को प्रधान बनाकर प्राप्त की गयी समाधि का यह अधिवचन है। प्रधानभूत संस्कार=**प्रधान संस्कार**। चार कृत्यों के साधक, सम्यक्प्रधान अर्थात् वीर्य का यह अधिवचन है। **समन्वागत**-छन्दसमाधि से एवं प्रधानसंस्कार से युक्त।

ऋद्धिपाद निष्पत्ति के पर्याय (के रूप) में, सिद्ध होने के अर्थ में या इस अर्थ में कि इसके द्वारा सत्त्व सिद्धि प्राप्त करते हैं, वृद्धि प्राप्त करते हैं, उन्नति करते हैं। ऋद्धि संज्ञा को प्राप्त करने वाले अभिज्ञा चित्त से युक्त, छन्दसमाधिप्रधान संस्कार के अधिष्ठान के रूप में आधारभूत शेष चित्त चैतसिक—यह अर्थ है। क्योंकि कहा गया है—"**ऋद्धिपाद वैसे का वेदना स्कन्ध** ...पूर्ववत्... विज्ञानस्कन्ध है" (अभि० २/२६५)।

अथ वा—पज्जते अनेना ति पादो। पापुणीयती ति अत्थो। इद्धिया पादो **इद्धिपादो**। छन्दादीनमेतं अधिवचनं। यथाह—"**छन्दं चे, भिक्खवे, भिक्खु निस्साय लभति समाधिं, लभति चित्तस्सेकग्गतं, अयं वुच्चति छन्दसमाधि। सो अनुप्पन्नानं पापकानं...पे०...पदहति, इमे वुच्चन्ति पधानसङ्खारा। इति अयं च छन्दो अयं च छन्दसमाधि इमे च पधानसङ्खारा—अयं वुच्चति, भिक्खवे, छन्दसमाधिपधानसङ्खारसमन्नागतो इद्धिपादो**" (सं० नि० ४/२२९) ति। एवं सेसिद्धिपादेसु पि अत्थो वेदितब्बो। (२)

अट्ठ पदानी ति। छन्दादीनि अट्ठ वेदितब्बानि। वुत्तं हेतं—"**इद्धिया कतमानि अट्ठ पदानि? छन्दं चे भिक्खु निस्साय लभति समाधिं, लभति चित्तस्सेकग्गतं, छन्दो न समाधि, समाधि न छन्दो, अञ्ञो छन्दो अञ्ञो समाधि। विरियं चे भिक्खु...चित्तं चे भिक्खु...वीमंसं चे भिक्खु निस्साय लभति समाधिं, लभति चित्तस्सेकग्गतं, वीमंसा न समाधि, समाधि न वीमंसा, अञ्ञा वीमंसा अञ्ञो समाधि। इद्धिया इमानि अट्ठ पदानि इद्धिलाभाय...पे०... इद्धिवेसारज्जाय संवत्तन्ती**" (खु० नि० ५/४६८)। एत्थ हि इद्धिं उप्पादेतुकामताछन्दो समाधिना एकतो नियुत्तो व इद्धिलाभाय संवत्तति। तथा विरियादयो। तस्मा इमानि अट्ठ पदानि वुत्तानी ति वेदितब्बानि। (३)

सोळस मूलानी ति। सोळस हि आकारेहि अनेञ्जता चित्तस्स वेदितब्बा। वुत्तं हेतं—"**इद्धिया कति मूलानि? सोळस मूलानि। १. अनोनतं चित्तं कोसज्जे न इञ्जती ति आनेञ्जं। २. अनुन्नतं चित्तं उद्धच्चे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ३. अनभिनतं चित्तं रागे न इञ्जती ति आनेञ्जं।**

अथवा—इसके द्वारा पहुँचाया जाता है (पद्यते) अतः पाद है। अर्थात् पाया जाता है। ऋद्धि का पाद=ऋद्धिपाद। यह छन्द आदि का अधिवचन है। जैसा कि कहा है—'भिक्षुओ! यदि भिक्षु छन्द के सहारे समाधि का लाभ करता है, चित्त की एकाग्रता का लाभ करता है, तो इसे छन्द-समाधि कहते हैं। वह अनुत्पन्न पापों को...पूर्ववत्...जला देता है। इसे प्रधान संस्कार कहते हैं, यों, यह छन्द, यह छन्दसमाधि एवं ये प्रधानसंस्कार—भिक्षुओ! इसे छन्दसमाधि-प्रधान-संस्कार से समन्वागत ऋद्धिपाद कहते हैं" (सं० नि० ४/२२९)। इसी प्रकार शेष ऋद्धिपादों का अर्थ भी जानना चाहिये। (२)

आठ पद—छन्द आदि आठ (को आठ पद) जानना चाहिये; क्योंकि कहा है—"ऋद्धि के कौन से आठ पद हैं? यदि भिक्षु छन्द के सहारे समाधि का लाभ करता है, चित्त की एकाग्रता का लाभ करता है, तो (छन्द और समाधि को एक ही नहीं समझ लेना चाहिये; क्योंकि उनमें साधन-साध्य का सम्बन्ध है) न छन्द समाधि है, न समाधि ही छन्द है। छन्द अन्य है, समाधि अन्य। ऋद्धि के ये आठ पद ऋद्धि-लाभ के लिये...पूर्ववत्...वैशारद्य के लिये होते हैं" (खु० नि० ५/४६८)। क्योंकि यहाँ वही छन्द, जो ऋद्धि को उत्पन्न करना चाहता है, समाधि के साथ जुड़कर ऋद्धि के लाभ का कारण होता है। वैसे ही वीर्य आदि भी। इसलिये ये आठ पद बतलाये गये हैं, ऐसा जानना चाहिये। (३)

सोलह मूल—चित्त का अविचलित होना सोलह रूपों में जानना चाहिये। क्योंकि कहा है—"ऋद्धि के कितने मूल हैं? सोलह मूल हैं। १. अनवनत (न गिरा हुआ) चित्त कौसीद्य

४. अनपनतं चित्तं ब्यापादे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ५. अनिस्सितं चित्तं दिट्ठिया न इञ्जती ति आनेञ्जं।६. अप्पटिबद्धं चित्तं छन्दरागे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ७. विप्पमुत्तं चित्तं कामरागे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ८. विसंयुत्तं चित्तं किलेसे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ९. विमरियादीकतं चित्तं किलेसमरियादे न इञ्जती ति आनेञ्जं। १०. एकत्तगतं चित्तं नानत्तकिलेसे न इञ्जती ति आनेञ्जं। ११. सद्धाय परिग्गहितं चित्तं अस्सद्धिये न इञ्जती ति आनेञ्जं। १२. विरियेन परिग्गहितं चित्तं कोसज्जे न इञ्जती ति आनेञ्जं। १३. सतिया परिग्गहितं चित्तं पमादे न इञ्जती ति आनेञ्जं। १४. समाधिना परिग्गहितं चित्तं उद्धच्चे न इञ्जती ति आनेञ्जं। १५. पञ्ञाय परिग्गहितं चित्तं अविज्जाय न इञ्जती ति आनेञ्जं। १६. ओभासगतं चित्तं अविज्जन्धकारे न इञ्जती ति आनेञ्जं। इद्धिया इमानि सोळस मूलानि इद्धिलाभाय...पे०...इद्धिवेसारज्जाय संवत्तन्ती" (खु० ५/४६८) ति।

कामं च एस अत्थो "एवं समाहिते चित्ते" ति आदिना पि सिद्धो येव, पठमज्झानादीनं पन इद्धिया भूमि-पाद-पद-मूलभावदस्सनत्थं पुन वुत्तो। पुरिमो च सुत्तेसु आगतनयो, अयं **पटिसम्भिदायं**। इति उभयत्थ असम्मोहत्थं पि पुन वुत्तो। (४)

ञाणेन अधिट्ठहन्तो ति। स्वायमेते इद्धिया भूमि-पाद-पद-मूलभूते धम्मे सम्पादेत्वा अभिञ्ञापादकं झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय सचे सतं इच्छति, 'सतं होमि सतं होमी' ति परिकम्मं

से विचलित नहीं होता, इसलिये अविचलित होता है। २. अनुन्नत चित्त औद्धत्य से विचलित नहीं होता, अतः अविचलित होता है। ३. अनभिनत (न खिंचा हुआ) चित्त राग से विचलित नहीं होता, अतः अविचलित होता है। ४. वितृष्णारहित चित्त व्यापाद से विचलित नहीं होता...। ५. अनिःसृत (स्वतन्त्र) चित्त (मिथ्या) दृष्टि से विचलित नहीं होता...। ६. अप्रतिबद्धचित्त छन्दराग से विचलित नहीं होता। ७. मुक्तचित्त कामराग से विचलित नहीं होता, अतः अविचलित होता है। ८. (क्लेश आदि से) विसंयुक्तचित्त क्लेश से विचलित नहीं होता...९. अमर्यादित (असीमित) चित्त क्लेशमर्यादा से विचलित नहीं होता...। १०. किसी एक (आलम्बन) में लगा हुआ चित्त अनेक क्लेशों से विचलित नहीं होता...। ११. श्रद्धा द्वारा परिगृहीत चित्त अश्रद्धा से विचलित नहीं होता...। ११. श्रद्धा द्वारा परिगृहीत चित्त अश्रद्धा से विचलित नहीं होता...। १२. वीर्य द्वारा परिगृहीत चित्त आलस्य से विचलित नहीं होता...। १३. स्मृति द्वारा परिगृहीत चित्त प्रमाद से विचलित नहीं होता...। १४.. समाधि परिगृहीत चित्त अविद्या से विचलित नहीं होता...। १५. प्रज्ञा द्वारा परिगृहीत चित्त अविद्या से विचलित नहीं होता...। १६. प्रभास्वर चित्त अविद्या रूपी अन्धकार से विचलित नहीं होता, अतः अविचलित होता है। ऋद्धि के ये सोलह मूल ऋद्धि-लाभ के लिये...पूर्ववत्...ऋद्धि वैशारद्य के लिये होते हैं।" (खु० नि० ५/४६८)।

यद्यपि यह अर्थ "एवं समाहिते चित्ते" आदि द्वारा भी सिद्ध ही हैं, तथापि यह दिखाने के लिये कि प्रथम ध्यान आदि ऋद्धि के भूमि-पाद-पद-मूल है, पुनः यहाँ कहा गया है। पहला सूत्रों में आया हुआ है, और यह **प्रतिसम्भिदा** (पटिसम्भिदा) में। अतः दोनों अर्थों के बीच भ्रम न हो, इसलिये पुनः कहा गया है। (४)

ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करते हुए—वह योगी ऋद्धि के भूमि-पाद-पद-मूल—इन धर्मों का सम्पादन करके, अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान में समापन्न होकर, पुनः उठकर यदि सौ (रूपों) की

कत्वा पुन अभिञ्ञापादकं झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय अधिट्ठाति, अधिट्ठानचित्तेन सहेव सतं होति। सहस्सादीसु पि एसेव नयो। सचे एवं न इज्झति, पुन पुरिकम्मं कत्वा दुतियं पि समापज्जित्वा वुट्ठाय अधिट्ठातब्बं। **संयुत्तट्ठकथायं** हि "एकवारं द्वेवारं समापज्जितुं वट्टती" ति वुत्तं।

तत्थ पादकज्झानचित्तं निमित्तारम्मणं, परिकम्मचित्तानि सतारम्मणानि वा सहस्सारम्मणानि वा। तानि च खो वण्णवसेन, नो पण्णत्तिवसेन। अधिट्ठानचित्तं पि तथेव सतारम्मणं वा सहस्सारम्मणं वा। तं पुब्बे वुत्तं अप्पनाचित्तमिव गोत्रभुअनन्तरं एकमेव उप्पज्जति रूपावचरचतुत्थज्झानिकं। (५)

बहुभावपाटिहारियं

११. यं पि **पटिसम्भिदायं** वुत्तं—"**पकतिया एको बहुकं आवज्जति सतं वा सहस्सं वा सतसहस्सं वा, आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति—'बहुको होमी' ति, बहुको होति, यथा आयस्मा चूळपन्थको**" (खु० नि० ५/४७०) ति। तत्रा पि 'आवज्जती' ति परिकम्मवसेनेव वुत्तं। "आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाती" ति अभिञ्ञाञाणवसेन वुत्तं। तस्मा बहुकं आवज्जति, ततो तेसं पि परिकम्मचित्तानं अवसाने समापज्जति, समापत्तितो वुट्ठहित्वा पुन 'बहुको होमी' ति आवज्जित्वा ततो परं पवत्तानं तिण्णं चतुन्नं वा पुब्बभागचित्तानं अनन्तरा उप्पन्नेन

इच्छा करता है, तो 'सौ हो जाऊँ' यह परिकर्म करता है। पुनः अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान में समापन्न होने के बाद उठकर अधिष्ठान करता है। अधिष्ठान चित्त के साथ ही (=अधिष्ठान करते ही) सौ हो जाता है। हजार में भी यही विधि है। यदि इस प्रकार सफलता न मिले, तो पुनः परिकर्म करके दुबारा भी समापन्न होने के बाद उठकर अधिष्ठान करना चाहिये। **संयुक्त अट्ठकथा** में (कहा गया है)—"एक बार, दो बार समापन्न होना उचित है।"

यहाँ, आधारभूत (=पादक) ध्यान (से संयुक्त) चित्त का आलम्बन निमित्त होता है, किन्तु परिकर्म चित्तों के सौ आलम्बन या हजार आलम्बन होते हैं। एवं वे (सौ या हजार आलम्बन) वर्ण के रूप में न कि प्रज्ञप्ति के रूप में (अनेक) होते हैं। इसी प्रकार अधिष्ठान चित्त भी सौ आलम्बनों या हजार आलम्बनों वाला होता है। वह पूर्वोक्त अर्पणा-चित्त के समान, गोत्रभू के पश्चात् एक ही उत्पन्न होता है, जो रूपावचर चतुर्थ ध्यान वाला होता है। (५)

बहुभाव-प्रातिहार्य

११. यह जो **पटिसम्भिदा** में कहा गया है—"स्वभावतः एक (होकर भी) वह (स्वयं का) बहुत के रूप में, सौ या हजार के रूप में आवर्जन करता है, आवर्जन के पश्चात् ध्यान द्वारा अधिष्ठान करता है—'बहुत हो जाऊँ' (वह योगी) आयुष्मान् चूलपन्थक के समान बहुत हो जाता है" (खु० नि० ५/४७०)—वहाँ भी 'आवर्जन' का अर्थ 'परिकर्म' है। "आवर्जन के पश्चात् ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है"—यह अभिज्ञा-ज्ञान के अर्थ में उक्त है। अतः बहुत का आवर्जन करता है, तत्पश्चात् उन परिकर्म-चित्तों के अन्तिम (चित्त) से समापन्न होता है, समापत्ति से उठकर 'बहुत हो जाऊँ'—यों आवर्जन करता है। तत्पश्चात् वह अभिज्ञाज्ञान से सम्बन्धित एक (चित्त) के द्वारा अधिष्ठान करता है, जो (चित्त) के उत्पन्न तीन या चार परिकर्मचित्तों के बाद उत्पन्न हुआ होता

सन्निट्ठापनवसेन अधिट्ठानं ति लद्धनामेन एकेनेव अभिञ्ञाञाणेन अधिट्ठाती ति एवमेत्थ अत्थो दट्ठब्बो।

१२. यं पन वुत्तं—**यथा आयस्मा चूळपन्थको** ति। तं बहुधाभावस्स कायसक्खि-दस्सनत्थं वुत्तं। तं पन वत्थुना दीपेतब्बं। ते किर द्वे भातरो पन्थे जातत्ता पन्थका ति नामं लभिंसु। तेसं जेट्ठो महापन्थको। सो पब्बजित्वा सह पटिसम्भिदाहि अरहत्तं पापुणि। अरहा हुत्वा चूळपन्थकं पब्बाजेत्वा—

"पदुमं यथा कोकनदं सुगन्धं पातो सिया फुल्लमवीतगन्धं।
अङ्गीरसं पस्स विरोचमानं तपन्तमादिच्चमिवन्तलिक्खे॥"

(अं० नि० २/६११)

ति इमं गाथं अदासि। सो तं चतूहि मासेहि पगुणं कातुं नासक्खि। अथ नं थेरो "अभब्बो त्वं सासने ति" विहारतो नीहरि।

तस्मिं च काले थेरो भत्तुद्देसको होति। जीवको थेरं उपसङ्कमित्वा 'स्वे, भन्ते, भगवता सद्धिं पञ्च भिक्खुसतानि गहेत्वा अम्हाकं गेहे भिक्खं गण्हत्था' ति आह। थेरो पि 'ठपेत्वा चूळपन्थकं सेसानं अधिवासेमी' ति अधिवासेसि।

चूळपन्थको द्वारकोट्ठके ठत्वा रोदति। भगवा दिब्बचक्खुना दिस्वा तं उपसङ्कमित्वा "कस्मा रोदसी?" ति आह। सो तं पवत्तिं आचिक्खि।

है, एवं जिसकी 'अधिष्ठान' संज्ञा इसलिये है; क्योंकि यह निश्चय करता है—"यहाँ यह अर्थ समझना चाहिये।

१२. एव जो कहा गया है—'यथा आयुष्मन् चूड़पन्थक'—वह अनेक स्थितियों के (एक) शरीरी उदाहरण को बतलाने के लिये कहा गया है। उसे कथा द्वारा स्पष्ट करना चाहिये।

कहते हैं कि पन्थ (रास्ते) में उत्पन्न होने से उन दोनों भाइयों का नाम 'पन्थक' पड़ा। उनमें से बड़ा (भाई) महापन्थक कहलाया उसने प्रव्रज्या ग्रहणकर प्रतिसम्भिदाओं के साथ अर्हत्त्व प्राप्त किया। अर्हत् होकर उसने चूलपन्थक को भी प्रव्रजित कर यह गाथा प्रदान की—

"जैसे कोकनद नामक (रक्त) पद्म प्रातः खिलकर अत्यन्त सुगन्धित होता है, वैसे ही (शरीर एवं गुणों की सुगन्ध से) सुगन्धित, आकाश में तपते हुए चमकते हुए अङ्गीरस[1] को देखो"॥ (अं० नि० २/६११)।

वह इस गाथा को चार महीनों में (भी) नहीं सीख सका। तब स्थविर ने उसे यह कहते हुए कि 'तुम शासन के लिये अयोग्य हो', उसे विहार से निकाल दिया।

उस समय स्थविर (महापन्थक) भोजन-प्रबन्धक (गृहपति आदि दानियों द्वारा सङ्घ को दिये गये भोजन के निमन्त्रण का स्वीकार करने वाले) थे। जीवक ने स्थविर के पास आकर कहा—"भन्ते! कल भगवान् के साथ पाँच सौ भिक्षुओं को लेकर हमारे घर भिक्षा ग्रहण करें।" स्थविर ने भी—"चूड़पन्थक को छोड़कर शेष के लिये अनुमोदन करता हूँ"—यों अनुमोदन किया।

---

१. भगवान् बुद्ध के अनेक विशेषणों में से एक। अर्थ है—प्रभास्वर अङ्गों वाले।

भगवा "न सज्झायं कातुं असक्कोन्तो मम सासने अभब्बो नाम होति, मा सोचि, भिक्खू" ति तं बाहायं गहेत्वा विहारं पविसित्वा इद्धिया पिलोतिकखण्डं अभिनिम्मिनित्वा अदासि—"हन्द भिक्खु, इमं परिमज्जन्तो 'रजोहरणं' 'रजोहरणं' ति पुनप्पुनं सज्झायं करोही" ति। तस्स तथा करोतो तं काळवण्णं अहोसि। सो "परिसुद्धं वत्थं, नत्थेत्थ दोसो, अत्तभावस्स पनायं दोसो" ति सञ्ञं पटिलभित्वा पञ्चसु खन्धेसु ञाणं ओतारेत्वा विपस्सनं वड्ढेत्वा अनुलोमगोत्रभुसमीपं पापेसि। अथस्स भगवा ओभासगाथा अभासि—

"रागो रजो न च पन रेणु वुच्चति रागस्सेतं अधिवचनं रजो ति।
एतं रजं विप्पजहित्वा पण्डिता विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने॥
दोसो रजो न च पन रेणु वुच्चति दोसस्सेतं अधिवचनं रजो ति।
एतं रजं विप्पजहित्वा पण्डिता विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने॥
मोहो रजो न च पन रेणु वुच्चति मोहस्सेतं अधिवचनं रजो ति।
एतं रजं विप्पजहित्वा पण्डिता विहरन्ति ते विगतरजस्स सासने॥" ति

(खु० नि० ४:१/४४४)

तस्स गाथापरियोसाने चतुपटिसम्भिदाछळभिञ्ञापरिवारा नव लोकुत्तरधम्मा हत्थगता व अहेसुं।

सत्था दुतियदिवसे जीवकस्स गेहं अगमासि सद्धिं भिक्खुसङ्घेन। अथ दक्खिणोद-

---

चूड़पन्थक द्वार पर खड़ा होकर रो रहा था। भगवान् ने दिव्यचक्षु से देख, उसके पास आकर कहा—किसलिये रोते हो?" उसने वह सब बात बतला दी। भगवान् ने "पारायण न करने वाला भिक्षु मेरे शासन में अयोग्य नहीं होता, अतः शोक मत करो"—यों कहकर उसे बाँह से पकड़कर विहार में प्रवेश कराया एवं ऋद्धि द्वारा कपड़े के टुकड़े को निर्मित कर, यह कहकर दिया—"भिक्षु, इसे रगड़ते हुए 'रजोहरण' (धूल का दूर होना), 'रजोहरण' यों बार बार बोलते रहो।" जब उसने वैसा किया, तब वह टुकड़ा काले रंग का हो गया। वह समझ गया कि वस्त्र तो परिशुद्ध है, इसमें कोई दोष नहीं है, यह तो अपना ही दोष है।" तत्पश्चात् पाँचों स्कन्धों का ज्ञान प्राप्त कर, विपश्यना को बढ़ाकर अनुलोम ज्ञान एवं गोत्रभू ज्ञान के समीप पहुँच गया। तब भगवान् ने (सत्य को) प्रकाशित करने वाली गाथी कही—

("बुद्ध-शासन में) राग ही रज (धूल) है, रेणु को रज नहीं कहा जाता। 'रज'—यह राग का ही अधिवचन है। पण्डितजन इसी रज को छोड़कर विगतरज (बुद्ध) के शासन में साधना करते हैं।

"द्वेष ही रज है, रेणु को रज नहीं कहा जाता। 'रज'—यह द्वेष का ही अधिवचन है। वे पण्डित इसी रज को छोड़कर विगतरज के शासन में विहार करते हैं।

"मोह ही रज है, रेणु को रज नहीं कहा जाता। 'रज'—यह मोह का ही अधिवचन है। पण्डितजन इसी रज को छोड़कर विगतरज के शासन में विहार करते हैं।" (खु०नि० ४:१/४४४)

"उनकी (यह) गाथा समाप्त होते ही (चूड़पन्थक को) चार प्रतिसम्भिदाओं, छह अभिज्ञाओं के साथ नौ लोकोत्तर धर्म हस्तगत हो गये।

कावसाने यागुया दिय्यमानाय हत्थेन पत्तं पिदहि। जीवको "किं, भन्ते" ति पुच्छि। "विहारे एको भिक्खु अत्थी" ति। सो पुरिसं पेसेसि—"गच्छ, अय्यं गहेत्वा सीघं एही" ति। विहारतो निक्खन्ते पन भगवति,

"सहस्सक्खत्तुमत्तानं निम्मिनित्वान पन्थको।
निसीदम्बवने रम्मे याव कालप्पवेदना" ति॥ (खु० २/४२३)

अथ सो पुरिसो गन्त्वा कासावेहि एकपज्जोतं आरामं दिस्वा आगन्त्वा "भिक्खूहि भरितो, भन्ते, आरामो, नाहं जानामि कतमो सो अय्यो" ति आह। ततो नं भगवा आह—"गच्छ तत्थ पठमं पस्ससि, तं चीवरकण्णे गहेत्वा 'सत्था तं आमन्तेती' ति वत्वा आनेही" ति। सो तं गन्त्वा थेरस्सेव चीवरकण्णे अग्गहेसि। तावदेव सब्बे पि निम्मिता अन्तरधायिंसु। थेरो "गच्छ त्वं" ति तं उय्योजेत्वा मुखधोवनादिसरीरकिच्चं निट्ठपेत्वा पठमतरं गन्त्वा पत्तासने निसीदि। इदं सन्धाय वुत्तं—"**यथा आयस्मा चूळपन्थको**" ति।

१३. तत्र ये ते बहू निम्मिता ते अनियमेत्वा निम्मितत्ता इद्धिमता सदिसा व होन्ति। ठान-निसज्जादीसु वा भासित-तुण्हीभावादीसु वा यं यं इद्धिमा करोति, तं तदेव करोन्ति। सचे पन नानावण्णे कातुकामो होति, केचि पठमवये, केचि मज्झिमवये, केचि पच्छिमवये, तथा दीघकेसे, उपड्ढमुण्डे, मुण्डे, मिस्सकेसे, उपड्ढरत्तचीवरे, पण्डुकचीवरे, पदभाण-धम्मकथा-

---

शास्ता दूसरे दिन भिक्षुसङ्घ के साथ जीवक के घर गये। दक्षिणोदक (दान देते समय सङ्कल्प के लिये हाथ में लेकर गिराया जाने वाला जल) के बाद जब यवागू दिया जाने लगा, तब (भगवान् ने) पात्र को हाथ से ढँक दिया। जीवक ने पूछा—"क्यों, भन्ते!" "विहार में एक भिक्षु (बाकी रह गया) है।" उसने (किसी) पुरुष को भेजा—"आर्य को लेकर शीघ्र आओ।"

किन्तु भगवान् के विहार से निकल जाने पर—(ऋद्धि द्वारा) स्वयं को हजार रूपों में निर्मित कर, चूड़पन्थक कहे गये समय तक रम्य आम्रवन में बैठे रहे॥

उस पुरुष ने आकर मात्र काषाय (वस्त्रों की आभा) से ही प्रकाशित विहार को देखा एवं लौटकर कहा—"भन्ते, विहार तो भिक्षुओं से भरा है। मैं नहीं जानता कि वह आर्य कौन-से हैं।" तब भगवान् ने उससे कहा—"जाओ, जिसे पहले-पहल देखो, उसके चीवर के छोर को पकड़कर 'आपको शास्ता बुला रहे हैं' कह कर ले आओ।" उसने जाकर स्थविर के ही चीवर को पकड़ लिया। उसी समय सभी निर्मित (रूप) अन्तर्हित हो गये। स्थविर ने 'तुम जाओ' यों कहकर उसे भेज दिया एवं मुख-प्रक्षालन आदि शारीरिक कृत्य निपटा कर (दूत की अपेक्षा) पहले ही पहुँच कर बिछाये आसन पर बैठ गये। इसी के सन्दर्भ में कहा गया है—"जैसे आयुष्मान् चूड़पन्थक।"

१३. इनमें, जो अनेक (रूप) निर्मित होते हैं, वे नियम ('ये ऐसे ही हों'—इस विचार) के अनुसार निर्मित न किये जाने पर, ऋद्धिमान् (निर्माता) के सदृश ही होते हैं। खड़ा होना, बैठना आदि या चुप रहना-बोलना आदि जो-जो ऋद्धिमान् करता है, उसे वैसा-वैसा ही करते हैं। किन्तु (योगी) नाना रूपों का निर्माण करना चाहता है—किसी को प्रथम वय में, किसी को मध्य वय में, किसी को पश्चिम (ढलती) वय में, वैसे ही यदि लम्बे बाल, आधे कटे बाल, मुण्डित, मिश्रित

सरभञ्ञ-पञ्हपुच्छन-पञ्हविस्सज्जन-रजनपचन-चीवरसिब्बन-धोवनादीनि करोन्ते अपरे पि वा नानप्पकारके कातुकामो होति, तेन पादकज्झानतो वुट्ठाय "एत्तका भिक्खू पठमवया होन्तू" ति आदिना नयेन परिकम्मं कत्वा पुन समापज्जित्वा वुट्ठाय अधिट्ठातब्बं। अधिट्ठानचित्तेन सद्धिं इच्छितिच्छितप्पकारा येव होन्ती ति।

बहुभावपाटिहारियं

१४. एस नयो **बहुधा पि हुत्वा एको होती** ति आदिसु।

अयं पन विसेसो—इमिना भिक्खुना एवं बहुभावं निम्मिनित्वा पुन "एको व हुत्वा चङ्कमिस्सामि, सज्झायं करिस्सामि, पञ्हं पुच्छिस्सामी" ति चिन्तेत्वा वा, "अयं विहारो अप्पभिक्खुको, सचे केचि आगमिस्सन्ति, 'कुतो इमे एत्तका एकसदिसा भिक्खू, अद्धा थेरस्स एस आनुभावो' ति मं जानिस्सन्ती" ति अप्पिच्छताय वा अन्तरा व "एको होमी" ति इच्छन्तेन पादकज्झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय "एको होमी" ति परिकम्मं कत्वा पुन समापज्जित्वा वुट्ठाय "एको होमी" ति अधिट्ठातब्बं। अधिट्ठानचित्तेन सद्धिं येव एको होति। एवं अकरोन्तो पन यथापरिच्छिन्नकालवसेन सयमेव एको होति।

आविभावपाटिहारियं

१५. **आविभावं तिरोभावं** ति। एत्थ आविभावं करोति तिरोभावं करोती ति अयमत्थो। इममेव हि सन्धाय **पटिसम्भिदायं** वुत्तं—"**आविभावं ति केनचि अनावटं होति अप्पटिच्छन्नं विवटं पाकटं। तिरोभावं ति केनचि आवटं होति पटिच्छन्नं पिहितं पटिकुज्जितं** (खु० नि०

केश, आधे लाल चीवर या पीले चीवर वालों को, या पद-पाठी, धर्मकथाकार, सस्वर पढ़ने वालों, प्रश्न पूछने-उत्तर देने वालों को; रँगने, पकाने, चीवर सीने-धोने आदि कार्य करने वालों को या दूसरे भी नाना प्रकार (के रूपों) को निर्मित करना चाहता है—तो उसे आधारभूत ध्यान से उठकर, 'इतने भिक्षु प्रथम वय के हों'—आदि प्रकार से परिकर्म करके, पुनः समापन्न होने के बाद उठकर अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान करते ही यथाभीष्ट प्रकार के ही रूप निर्मित होते हैं।

बहुभाव-प्रातिहार्य

१४. '**बहुत होकर भी एक होता है**' आदि में भी यही विधि है।

किन्तु विशेषता यह है—यदि यह भिक्षु यों अनेक रूपों का निर्माण करने के बाद यह सोचकर कि 'एक ही रहकर चंक्रमण करूँगा, पारायण करूँगा, प्रश्न पूछूँगा', अथवा अल्पेच्छता के कारण यह सोचकर कि "यह विहार थोड़े-से भिक्षुओं वाला है, यदि कोई लोग आयेंगे तो—'ये पूर्णतः एक जैसे भिक्षु कहाँ से आ गये, निश्चय ही यह स्थविर का चमत्कार है'—ऐसा सोचकर मुझे ऋद्धिमान् मानेंगे"—एक होना चाहता है, तो उसे परिकर्म करने के पश्चात् पुनः समापन्न होकर एवं उठकर 'एक हो जाऊँ'—यों अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान करते ही एक हो जाता है। यदि ऐसा नहीं करता है तो कालक्रमानुसार अपने आप ही एक हो जाता है।

आविर्भाव-प्रातिहार्य

१५. **आविभावं तिरोभावं**—इसका अर्थ यह है—आविर्भाव करता है, तिरोहित करता है। इसी सन्दर्भ में **पटिसम्भिदामग्ग** में कहा गया है—**आविर्भाव** अर्थात् किसी से भी अनावृत,

५/४७०) ति। तत्रायं इद्धिमा आविभावं कातुकामो अन्धकारं वा आलोकं करोति, पटिच्छन्नं वा विवटं, अनापाथं वा आपाथं करोति।

कथं? अयं हि यथा पटिच्छन्नो पि दूरे ठितो पि वा दिस्सति, एवं अत्तानं वा परं वा कातुकामो पादकज्झानतो वुट्ठाय 'इदं अन्धकारट्ठानं आलोकजातं होतू' ति वा, 'इदं परिच्छन्नं विवटं होतू' ति वा, 'इदं अनापाथं आपाथं होतू' ति वा आवज्जित्वा परिकम्मं कत्वा वुत्तनयेनेव अधिट्ठाति, सह अधिट्ठाना यथाधिट्ठितमेव होति, परे दूरे ठिता पि पस्सन्ति, सयं हि पस्सितुकामो पस्सति।

१६. एतं पन पाटिहारियं केन कतपुब्बं ति? भगवता। चूळसुभद्दाय निमन्तितो विस्सकम्मुना निम्मितेहि पञ्चहि कूटागारसतेहि सावत्थितो सत्तयोजनब्भन्तरं साकेतं गच्छन्तो, यथा साकेतनगरवासिनो सावत्थिवासिके सावत्थिवासिनो साकेतवासिके पस्सन्ति, एवं अधिट्ठासि, नगरमज्झे च ओतरित्वा पथविं द्विधा भिन्दित्वा याव अवीचिं आकासं च द्विधा वियूहित्वा याव ब्रह्मलोकं दस्सेसि। (१)

देवोरोहणेनापि च अयमत्थो विभावेतब्बो।

भगवा किर यमकप्राटिहारियं कत्वा चतुरासीतिपाणसहस्सानि बन्धना मोचेत्वा, 'अतीता बुद्धा यमकपाटिहारियावसाने कुहिं गता?' ति आवज्जित्वा 'तावतिंसभवनं गता' ति

अप्रतिच्छन्न, विवृत, प्रकट होता है। **तिरोभाव**—किसी से भी आवृत्त, प्रतिच्छन्न, ढँका हुआ होता है" (खु० नि० ५/४७०)।

यहाँ, आविर्भाव करने का अभिलाषी ऋद्धिमान् अन्धकार को प्रकाश में बदल देता है, या प्रतिच्छन्न को विवृत, अदृश्य को दृश्य बना देता है।

कैसे? यदि यह (योगी) ढँके हुए को या दूरस्थ को स्वयं के लिये या अन्य के लिये प्रत्यक्ष करना चाहता है, तो आधार-भूत ध्यान से उठकर 'यह अन्धकारमय स्थान प्रकाशमान हो जाय', या 'यह जो ढँका हुआ है, खुल जाय', या 'यह जो अदृश्य है, दृश्यमान हो जाय'—यों विचार (आवर्जन) कर, परिकर्म कर, उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करता है। अधिष्ठान करते ही वह अधिष्ठान के अनुसार ही हो जाता है। अन्य लोग दूरस्थ (दृष्टिपथ से दूर) को भी देखते हैं, यदि स्वयं भी देखना चाहे तो देखता है।

१६. यह प्रातिहार्य सर्वप्रथम किसके द्वारा किया गया था? भगवान् के द्वारा।

चूड़सुभद्रा (=अनाथपिण्डक श्रेष्ठी की पुत्री) द्वारा निमन्त्रित (भगवान् ने) विश्वकर्मा द्वारा निर्मित पाँच सौ कूटागारों (ऊँचे शिखरवाले प्रासाद) द्वारा श्रावस्ती से साकेत के बीच सात योजन तक जाते समय ऐसा अधिष्ठाम किया कि जिससे साकेतनगरवासी श्रावस्तीनिवासियों को एवं श्रावस्तीनिवासी साकेतनिवासियों को देखें। एवं नगर के बीच उतरकर पृथ्वी को दो भागों में विभक्त कर अवीचि नरक तक, तथा आकाश को दो भागों में बाँटकर ब्रह्मलोक तक दिखलाया। (१)

देवारोहण-कथा द्वारा भी यह अर्थ स्पष्ट किया जाना चाहिये।

कहते हैं कि भगवान् ने यमकप्रातिहार्य करके चौरासी हजार प्राणियों को बन्धन से छुड़ाया एवं विचार किया—"अतीत काल के बुद्ध यमकप्रातिहार्य के बाद कहाँ गये? उन्होंने (दिव्यचक्षु

अद्दस। अथेकेन पादेन पथवीतलं अक्कमित्वा दुतियं युगन्धरपब्बते पतिट्ठापेत्वा पुन पुरिमपादं उद्धरित्वा सिनेरुमत्थकं अक्कमित्वा तत्थ पण्डुकम्बलसिलातले वस्सं उपगन्त्वा सन्निपतितानं दससहस्सचक्कवाळदेवतानं आदितो पट्ठाय अभिधम्मकथं आरभि। भिक्खाचारवेलाय निम्मितबुद्धं मापेसि। सो धम्मं देसेति। (२)

भगवा नागलतादन्तकट्ठं खादित्वा अनोतत्तदहे मुखं धोवित्वा उत्तरकुरूसु पिण्डपातं गहेत्वा अनोतत्तदहे परिभुञ्जति। सारिपुत्तत्थेरो तत्थ गन्त्वा भगवन्तं वन्दति। भगवा 'अज्ज एत्तकं धम्मं देसेसिं' ति थेरस्स नयं देति। एवं तयो मासे अब्बोच्छिन्नं अभिधम्मकथं कथेसि। तं सुत्वा असीतिकोटिदेवतानं धम्माभिसमयो अहोसि। (३)

यमकपाटिहारे सन्निपतिता पि द्वादसयोजना परिसा 'भगवन्तं पस्सित्वा व गमिस्सामा' ति खन्धावारं बन्धित्वा अट्ठासि। तं चूळअनाथपिण्डिकसेट्ठी येव सब्बपच्चयेहि उपट्ठासि। मनुस्सा 'कुहिं भगवा?' ति जाननत्थाय अनुरुद्धत्थेरं याचिंसु। थेरो आलोकं वड्ढेत्वा अद्दस दिब्बेन चक्खुना तत्थ वस्सूपगतं भगवन्तं दिस्वा आरोचेसि।

ते भगवतो वन्दनत्थाय महामोग्गल्लानत्थेरं याचिंसु। थेरो परिसमज्झे येव महापथविं निम्मुज्जित्वा सिनेरुपब्बतं निब्बिज्झित्वा तथागतपादमूले भगवतो पादे वन्दमानो व उम्मुज्जित्वा भगवन्तं एतदवोच—"जम्बुदीपवासिनो, भन्ते, 'भगवतो पादे वन्दित्वा पस्सित्वा व

से) देखा—'त्रायस्त्रिंश भवन गये।' तब एक चरण को पृथ्वी पर एवं दूसरे को युगन्धर पर्वत पर प्रतिष्ठित किया। पुनः अगला चरण उठाकर सुमेरु के शिखर पर रखा, वहाँ पाण्डुकम्बल शिला पर वर्षावास करते हुए, दस हजार चक्रवालों (लोकों) से आये देवताओं को अभिधर्म का आदि से उपदेश देना आरम्भ किया। भिक्षाटन के समय, निर्मित बुद्ध को बनाया। वह (निर्मित बुद्ध ही) उपदेश देते थे। (२)

भगवान् नागलता (ताम्बूल) की दातौन कर, अनवतप्तह्रद (मानसरोवर) में मुख धोकर, उत्तरकुरु में भिक्षा ग्रहण कर अनवतप्तह्रद पर (आकर) भोजन करते थे। सारिपुत्र स्थविर वहाँ जाकर भगवान् की वन्दना किया करते थे। भगवान् 'आज इतने धर्म की देशना की'—यों स्थविर को (देशना की) विधि बतलाते थे। यों, तीन महीने तक निरन्तर देशना की थी। उसे सुनकर अस्सी करोड़ देवताओं को धर्म का वास्तविक अर्थबोध हुआ। (३)

यमक-प्रातिहार्य के समय एकत्र हुई बारह योजन (तक फैली हुई) परिषद् भी 'भगवान् को देखकर ही जायेंगे'—यों (निश्चयकर) स्कन्धावार (तम्बू) बाँधकर टिकी हुई थी। उसकी सभी आवश्यकताओं को चूड़ अनाथपिण्डिक श्रेष्ठी (=अनाथपिण्डक के अनुज) ही पूरा कर रहे थे। मनुष्यों ने 'भगवान् कहाँ हैं' यह जानने के लिये अनुरुद्ध स्थविर से याचना की। स्थविर ने प्रकाश (ज्ञान की परिधि) बढ़ाकर दिव्यचक्षु से देखा। वहाँ वर्षावास कर रहे भगवान् को देखकर बतलाया।

उन (मनुष्यों) ने भगवान् की वन्दना करने के लिये महामौद्गल्यायन स्थविर से प्रार्थना की। परिषद् के मध्य से ही स्थविर पृथ्वी में प्रवेश कर गये। सुमेरु पर्वत को भेदकर, तथागत के चरणों के पास, 'भगवान् की चरण-वन्दना करते हुए ही, निकलकर ऊपर आये एवं भगवान् से यह कहा—"भन्ते! जम्बूद्वीप के निवासी कहते हैं कि भगवान् के चरणों की वन्दना करके

गमिस्सामा' ति वदन्ती" ति। भगवा आह—"कुहिं पन ते, मोग्गलान, जेट्ठभाता धम्मसेनापती" ति? "सङ्कस्सनगरे, भन्ते" ति। "मोग्गल्लान, मं दट्ठुकामा स्वे सङ्कस्सनगरं आगच्छन्तु, अहं स्वे महापवारणपुण्णमासि-उपोसथदिवसे सङ्कस्सनगरे ओतरिस्सामी" ति।

"साधु, भन्ते" ति थेरो दसबलं वन्दित्वा आगतमग्गेनेव ओरुय्ह मनुस्सानं सन्तिकं सम्पापुणि। गमनागमनकाले च यथा नं मनुस्सा पस्सन्ति, एवं अधिट्ठासि। इदं तावेत्थ महामोग्गल्लानत्थेरो आविभावपाटिहारियं अकासि। सो 'एवं आगतो' तं पवत्तिं आरोचेत्वा, "दूरं ति सञ्ञं अकत्वा कतपातरासा व निक्खमथा" ति आह।

भगवा सक्कस्स देवरञ्ञो आरोचेसि—"महाराज, स्वे मनुस्सलोकं गच्छामी" ति। देवराजा विस्सकम्मं आणापेसि—"तात, स्वे भगवा मनुस्सलोकं गन्तुकामो, तिस्सो सोपानपन्तियो मापेहि—एकं कनकमयं, एकं रजतमयं, एकं मणिमयं" ति। सो तथा अकासि।

भगवा दुतियदिवसे सिनेरुमुद्धनि ठत्वा पुरत्थिमलोकधातुं ओलोकेसि, अनेकानि चक्कवाळसहस्सानि विवटानि हुत्वा एकङ्गणं विय पकासिंसु। यथा च पुरत्थिमेन, एवं पच्छिमेन पि उत्तरेन पि दक्खिणेन पि सब्बं विवटमद्दस। हेट्ठा पि याव अवीचि, उपरि याव अकनिट्ठभवनं, ताव अद्दस्स। तं दिवसं किर लोकविवरणं[१] नाम अहोसि। मनुस्सा पि देवे पस्सन्ति, देवा पि मनुस्से। तत्थ नेव मनुस्सा उद्धं उल्लोकेन्ति, न देवा अधो ओलोकेन्ति, सब्बे सम्मुखा व अञ्ञमञ्ञं पस्सन्ति।

भगवा मज्झे मणिमयेन सोपानेन ओतरति, छकामावचरदेवा वामपस्से कनकमयेन,

---

ही जायेंगे।" भगवान् ने पूछा—"परन्तु, मौद्गल्यायन! तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता धर्मसेनापति कहाँ हैं?" "भन्ते! सांकाश्य नगर में।" "मौद्गल्यायन! मेरे दर्शनार्थी कल सांकाश्य नगर में आवें, मैं कल महाप्रवारणा की पूर्णिमा (को होने वाले) उपोसथ के दिन सांकाश्य नगर में उतरूँगा।"

"बहुत अच्छा, भन्ते!" यों कहकर स्थविर ने दशबल की वन्दना की एवं जिस मार्ग से आये थे उसी से पुनः लौटकर मनुष्यों के समीप पहुँचे। (उन्होंने) ऐसा अधिष्ठान किया कि मनुष्य उन्हें आते जाते हुए देखें। यहाँ, महामौद्गल्यायन स्थविर ने यह आविर्भाव प्रातिहार्य किया था। इस प्रकार आये हुए उन्होंने वह (सब वृत्तान्त) बतलाकर कहा—दूरी का विचार न कर, जलपान (प्रातःकालीन आहार) करके चल दें। (४)

भगवान् ने देवराज शक्र से कहा—"महाराज कल मनुष्य-लोक जाऊँगा।" देवराज ने विश्वकर्मा को आज्ञा दी—तात! भगवान् कल मनुष्य-लोक जाना चाहते हैं। तीन सोपान-पंक्तियाँ निर्मित करो, एक स्वर्णमय, एक रजतमय और एक मणिमय।" उसने वैसा ही किया।

भगवान् ने दूसरे दिन सुमेरु पर्वत के शिखर पर खड़े होकर पूर्वी लोकधातु की ओर देखा। (देखते ही) हजारों चक्रवाल विवृत (स्पष्ट) होकर एक आंगन के रूप में प्रकाशित हो उठे। जैसे पूर्व में, वैसे पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में भी सर्वत्र स्पष्ट दिखलायी दिया। नीचे अवीचि तथा ऊपर ब्रह्मलोक तक दिखलायी दिया। उस दिन को 'लोकविवरण' कहा गया; (क्योंकि) मनुष्य भी देवों

---

१. अनेकसतसहस्ससङ्कस्स ओकासलोकस्स तन्निवासिसत्तलोकस्स च विवटभावकरणं पाटिहारियं **लोकविवरणं** नाम।

सुद्धावासा च महाब्रह्मा च दक्खिणपस्से रजतमयेन। देवराजा पत्तचीवरं अग्गहेसि, महाब्रह्मा तियोजनिकं सेतच्छत्तं, सुयामो बालवीजनिं, पञ्चसिखो गन्धब्बपुत्तो तिगावुतमत्तं वेळुवपण्डुवीणं गहेत्वा तथागतस्स पूजं करोन्तो ओतरति। तं दिवसं दिस्वा बुद्धभावाय पिहं अनुप्पादेत्वा ठितसत्तो नाम नत्थि। इदमेत्थ भगवा आविभावपाटिहारियं अकासि। (४)

अपि च—तम्बपण्णिदीपे तळङ्गरवासी धम्मदिन्नत्थेरो पि तिस्समहाविहारे चेतियङ्गणम्हि निसीदित्वा "**तीहि, भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो भिक्खु अपण्णक-पटिपदं पटिपन्नो होती**" (अं० नि० १/१०६) ति **अपण्णकसुत्तं कथेन्तो** हेट्ठामुखं वीजनिं अकासि याव अवीचितो एकङ्गणं अहोसि, ततो उपरिमुखं अकासि याव ब्रह्मलोका एकङ्गणं अहोसि। थेरो निरयभयेन तज्जेत्वा सग्गसुखेन च पलोभेत्वा धम्मं देसेसि। केचि सोतापन्ना अहेसुं, केचि सकदागामी, अनागामी, अरहन्तो ति। (५)

१७. तिरोभावं कातुकामो पन आलोकं वा अन्धकारं करोति, अपटिच्छन्नं वा पटिच्छन्नं, आपाथं वा अनापाथं करोति। कथं? अयं हि यथा अपटिच्छन्नो पि समीपे ठितो पि वा न दिस्सति, एवं अत्तानं वा परं वा कत्तुकामो पादकज्झानतो वुट्ठाय 'इदं आलोकट्ठानं अन्धकारं होतू' ति वा, 'इदं अपटिच्छन्नं पटिच्छन्नं होतू' ति वा, 'इदं आपाथं अनापाथं होतू' ति वा आवज्जित्वा परिकम्मं कत्वा वुत्तनयेनेव अधिट्ठाति, सह अधिट्ठानचित्तेन यथाधिट्ठितमेव होति, परे समीपे ठिता पि न पस्सन्ति, सयं पि अपस्सितुकामो न पस्सति।

को देखते थे और देव मनुष्यों को। उस समय न तो मनुष्य ऊपर देखते थे, न देवता नीचे। सब जैसे सम्मुख खड़े हों—इस तरह एक-दूसरे को देखते थे।

भगवान् बीचवाले मणिमय सोपान (सीढ़ी) से नीचे उतर रहे थे, छह कामावचर देवता बायीं ओर के स्वर्णमय से, शुद्धावास एवं महाब्रह्मा दाहिनी ओर के रजतमय से। देवराज पात्र-चीवर लिये हुए थे। महाब्रह्मा तीन योजन (परिधि) वाला श्वेतछत्र, सुयाम चंवर, गन्धर्वपुत्र पञ्चशिख तीन गव्यूति लम्बी वेणुव नामक पाण्डु (रंग की) वीणा लेकर तथागत की पूजा करते हुए उतर रहे थे। उस दिन भगवान् को देखने के बाद ऐसा कोई सत्त्व नहीं रह गया था, जिसे बुद्ध बनने का अभिलाष उत्पन्न न हुआ हो। यहाँ भगवान् ने यह आविर्भाव-प्रातिहार्य किया था। (४)

और भी—ताम्बपर्णी द्वीप में तलङ्गरवासी धम्मदिन्न स्थविर ने भी तिष्य महाविहार के चैत्य के आँगन में बैठकर "भिक्षुओ, तीन बातों से युक्त भिक्षु अपर्णक (अविरुद्ध=अनुकूल) मार्ग पर चलने वाला होता है"—यों **अपर्णक सूत्र** का पाठ करते हुए पंखे को नीचे की ओर किया, तो अवीचि तक एक आँगन (जैसा) हो गया। तत्पश्चात् (पंखे को) ऊपर की ओर किया, तो ब्रह्मलोक तक एक आँगन हो गया। स्थविर ने (श्रोताओं में) नरक के प्रति भय एवं स्वर्ग के प्रति प्रलोभन उत्पन्न करते हुए धर्म की देशना की। तब कुछ लोग स्रोतआपन्न हुए, कुछ सकृदागामी, कुछ अनागामी एवं कुछ अर्हत्। (५)

१७. किन्तु तिरोभाव करने की इच्छा वाला (योगी) प्रकाश को अन्धकार में बदल देता है, अप्रतिच्छन्न को प्रतिच्छन्न या दृश्य को अदृश्य कर देता है। कैसे? यदि वह स्वयं या दूसरे के लिये ऐसा करना चाहता है जिससे कि अप्रतिच्छन्न भी समीप स्थित भी दिखायी न दे, तो

१८. एवं पन पाटिहारियं केन कतपुब्बं ति? भगवता। भगवा हि यसं कुलपुत्तं समीपे निसिन्नं येव, यथा पिता न पस्सति, एवमकासि। तथा वीसयोजनसतं महाकप्पिनस्स पच्चुग्गमनं कत्वा तं अनागामिफले, अमच्चसहस्सं चस्स सोतापत्तिफले पतिट्ठपेत्वा तस्स अनुमग्गं आगता सहस्सित्थिपरिवारा अनोजादेवी आगन्त्वा समीपे निसिन्ना पि यथा सपरिसं राजानं न पस्सति तथा कत्वा, 'अपि, भन्ते, राजानं पस्सथा' ति? वुत्ते 'किं पन ते राजानं गवेसितुं वरं, उदाहु अत्तानं' ति? 'अत्तानं, भन्ते' ति वत्वा निसिन्नाय तस्सा तथा धम्मं देसेसि, यथा इत्थिसहस्सेन सा सद्धिं सोतापत्तिफले पतिट्ठासि, अमच्चा अनागामिफले, राजा अरहत्ते ति। (१)

अपि च, तम्बिपण्णिदीपं आगतदिवसे यथा अत्तना सद्धिं आगते अवसेसे राजा न पस्सति, एवं करोन्तेन महिन्दत्थेरेनापि इदं कतमेव। (२)

१९. अपि च—सब्बं पि पाकटपाटिहारियं आविभावं नाम, अपाकटपाटिहारियं तिरोभावं नाम। तत्थ **पाकटपाटिहारिये** इद्धि पि पञ्ञायति, इद्धिमा पि। तं यमकपाटिहारियेन दीपेतब्बं। तत्र हि "**इध तथागतो यमकपाटिहारियं करोति असाधारणं सावकेहि,**

आधारभूत ध्यान से उठकर 'यह प्रकाशित स्थान अन्धकारमय' या 'यह अप्रतिच्छन्न प्रतिच्छन्न' या 'यह दृश्य अदृश्य हो जाय'—यों विचार (आवर्जन), परिकर्म कर, उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करता है।

अधिष्ठान करते ही, अधिष्ठान के अनुसार ही हो जाता है। दूसरे लोग पास में खड़े होने पर नहीं देखते हैं, स्वयं भी यदि न देखना चाहता है तो नहीं देखता है।

१८. ऐसा प्रातिहार्य पहले किसके द्वारा किया गया था? भगवान् के द्वारा। भगवान् ने ऐसा (प्रातिहार्य) किया कि यश कुलपुत्र पास ही बैठा था, किन्तु (उसके) पिता ने नहीं देखा।[1] इसके अतिरिक्त—महाकप्पिन (नामक राजा) से मिलने के लिये दो हजार योजन तक जाकर, उसे अनागामी फल में एवं उसके एक हजार मन्त्रियों को स्रोतआपत्ति फल में प्रतिष्ठित किया। तत्पश्चात्, उसके पीछे पीछे एक हजार स्त्रियों के साथ अनोजा देवी आकर पास ही बैठी, परन्तु (भगवान् ने) ऐसा किया कि जिससे परिषद् के साथ राजा (उन स्त्रियों को) दिखायी नहीं दिये। "भन्ते! क्या राजा को देखा है?"—यों पूछे जाने पर कहा—"आप के लये राजा को खोजना अच्छा है या अपने आपको?" "अपने आपको, भन्ते!"—यह कहकर बैठी हुई उस (देवी) को इस प्रकार धर्म का उपदेश दिया जिससे कि हजार स्त्रियों के साथ वह स्रोतआपत्ति फल में प्रतिष्ठित हुई, (जबकि उसी समय) अमात्य अनागामी फल में, राजा अर्हत्त्व में।[2] (१)

इसके अतिरिक्त, यह (प्रातिहार्य) महेन्द्र स्थविर द्वारा ताम्रपर्णी द्वीप में पहुँचने वाले दिन किया गया था, जिससे कि उनके साथ आये हुए शेष लोगों को राजा ने नहीं देखा। (२)

१९. इसके अतिरिक्त, सभी प्रकट (करने वाले) प्रातिहार्य आविर्भाव कहलाते हैं, एवं अप्रकट (करने वाले) प्रातिहार्य तिरोभाव कहलाते हैं। इनमें **प्रकट प्रातिहार्य** में **ऋद्धि** भी ज्ञात रहती है, ऋद्धिमान् भी। इसे यमक प्रातिहार्य (के उदाहरण) से स्पष्ट करना चाहिये; क्योंकि वहाँ

---

१. द्र०—महावग्ग (वि० पि०) १/६।

२. द्र० अङ्गु० अट्ठ०, १/३२२, धम्म० अट्ठ०, २/१२४।

उपरिमकायतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, हेट्ठिमकायतो उदकधारा पवत्तती" (खु० नि० ५/१३८) ति एवं पञ्ञायित्थ। **अपाकटपारिहारिये** इद्धि येव पञ्ञायति, न इद्धिमा। तं **महकसुत्तेन** (सं० नि० ३/२५८) **ब्रह्मनिकन्तनिकसुत्तेन** (म० नि० १/३९९) च दीपेतब्बं। तत्र हि आयस्मतो च महकस्स, भगवतो च इद्धि येव पञ्ञायित्थ, न इद्धिमा।

यथाह—"**एकमन्तं निसिन्नो खो चित्तो गहपति आयस्मन्तं महकं एतदवोच—'साधु मे, भन्ते, अय्यो महको उत्तरिमनुस्सधम्मा इद्धिपाटिहारियं दस्सेतू' ति। 'तेन हि त्वं, गहपति, आळिन्दे उत्तरासङ्गं पञ्ञापेत्वा तिणकलापं ओकासेही' ति। 'एवं भन्ते' ति खो चित्तो गहपति आयस्मतो महकस्स पटिस्सुत्वा आळिन्दे उत्तराङ्गं पञ्ञापेत्वा तिणकलापं ओकासेसि। अथ खो आयस्मा महको विहारं पविसित्वा तथारूपं इद्धाभिसङ्खारं अभिसङ्खासि, यथा ताळच्छिग्गळेन चं अग्गळन्तरिकाय च अच्चि निक्खमित्वा तिणानि झापेसि उत्तरासङ्गं न झापेसि**" (सं० नि० ३/१४८२)। (१)

यथा चाह—"**अथ ख्वाहं, भिक्खवे, तथारूपं इद्धाभिसङ्खारं अभिसङ्खासिं, एत्तावता ब्रह्मा च ब्रह्मपरिसा च ब्रह्मपारिसज्जा च सद्दं च मे सोस्सन्ति, न च मं दक्खन्ती" ति अन्तरहितो इमं गाथं अभासिं**—

भवे वाहं भयं दिस्वा, भवं च विभवेसिनं।
भवं नाभिवदिं किञ्चि, नन्दिं च न उपादियिं" ति॥ (२)

(म० नि० १/४५७)

(यमक प्रातिहार्य में)—"यहाँ तथागत यमकप्रातिहार्य करते हैं, जो श्रावकों के लिये असाधारण है। (तथागत की) काया के ऊपरी भाग से अग्नि की लपटें निकलती हैं तो काया के निचले भाग से जल की धारा निकलती है" (खु० नि० ५/१३८)—यों दोनों ही ज्ञात हुए थे।

अप्रकट प्रातिहार्य में ऋद्धि ही ज्ञात होती है, ऋद्धिमान् नहीं। इसे **महकसुत्त** (सं० नि० ३/२५८) एवं **ब्रह्मनिकन्तक सुत्त** (म० नि० १/३९६) द्वारा स्पष्ट करना चाहिये।

जैसा कि कहा गया है—"एक ओर बैठे हुए चित्त गृहपति ने आयुष्मान् महक से कहा—'अच्छा हो, यदि, भन्ते आर्य महक! आप अलौकिक ऋद्धि प्रातिहार्य को दिखलायें।' "यदि ऐसा है तो, गृहपति! तुम बरामदे में उत्तरासङ्ग बिछाकर, तृण का ढेर बिखेर दो।" चित्त गृहपति ने 'अच्छा भन्ते!"—यों आयुष्मान् महक को उत्तर देकर बरामदे में उत्तरासङ्ग विछा कर तृण का ढेर बिखेर दिया। तब आयुष्मान् महक ने विहार में प्रवेश कर ऐसा ऋद्धि प्रयोग किया जिससे कि ताले एवं अर्गला के छेद से निकल कर अग्नि की लपट ने समग्र तृणों को जला दिया, परन्तु उत्तरासङ्ग को नहीं जलाया।" (सं० नि० ३/१४८२) (१)

एवं, जैसा कि कहा है—"भन्ते! तब मैंने वैसे ऋद्धि-प्रयोग किया जिससे कि ब्रह्मा, ब्रह्म-परिषद् एवं ब्रह्म-सभासद मेरे शब्दों को सुन सकें, किन्तु मुझे देख न सकें। यों अन्तर्हित होकर मैंने यह गाथा कही—

'मैंने भव (=संसार) में भय, एवं वैभव के अभिलाषियों को संसार में देखा तथा भव का किञ्चित् भी समर्थन नहीं किया, न ही तृष्णा (=नन्दी) से सम्पृक्त हुआ॥" (म०नि० १/४५७)

तिरोकुड्डगमनादिकं पाटिहारियं

२०. **तिरोकुड्डं तिरोपाकारं तिरोपब्बतं असज्जमानो गच्छति, सेय्यथापि आकासे** ति। एत्थ '**तिरोकुड्डं**' ति। परकुड्डं। कुड्डस्स परभागं ति वुत्तं होति। एस नयो इतरेसु। **कुड्डो** ति च गेहभित्तिया एवं अधिवचनं। **पाकारो** ति गेह-विहार-गामादीनं परिक्खेपपाकारो। **पब्बतो** ति पंसुपब्बतो वा, पासाणपब्बतो वा। **असज्जमानो** ति अलग्गमानो। **सेय्यथापि आकासे** ति। आकासे विय।

एवं गन्तुकामेन पन आकासकसिणं समापज्जित्वा वुट्ठाय कुड्डं वा पाकारं वा सिनेरुचक्कवाळेसु पि अञ्ञतरं पब्बतं वा आवज्जित्वा कतपरिकम्मेन 'आकासो होतू' ति अधिट्ठातब्बो, आकासो येव होति। अधो ओतरितुकामस्स, उद्धं वा आरोहितुकामस्स सुसिरो होति, विनिविज्झित्वा गन्तुकामस्स छिद्दो। सो तत्थ असज्जमानो गच्छति।

२१. **तिपिटकचूळाभयत्थेरो** पनेत्थाह—"आकासकसिणसमापज्जनं, आवुसो, किमत्थियं? किं हत्थि-अस्सादीनि अभिनिम्मिनितुकामो हत्थि-अस्सादिकसिणानि समापज्जति? ननु यत्थ कत्थचि कसिणे परिकम्मं कत्वा अट्ठ समापत्तिवसीभावो येव पमाणं, यं यं इच्छति तं तदेव होती" ति? भिक्खू आहंसु—"पाळिया, भन्ते, आकासकसिणं येव आगतं, तस्मा अवस्समेतं वत्तब्बमेतं" ति।

तत्रायं पालि—"**पकतिया आकासकसिणसमापत्तिया लाभी होति, तिरोकुड्डं**

'दीवार के आरपार गमन' आदि प्रातिहार्य

२०. **तिरोकुड्डं तिरोपाकारं तिरोपब्बतं असज्जमानो गच्छति, सेय्यथापि आकासे**—यहाँ, **तिरोकुड्डं**—दीवार के आर-पार। अर्थात् दीवार के उस ओर। यही विधि अन्यों में (भी) है। **कुड्डो**—यह घर की भित्ति (दीवार) का पर्याय है। **पाकारो** (प्राकार)—घर, विहार, गाँव आदि की चारदीवारी। **पब्बतो**—मिट्टी का पर्वत या पाषाण का पर्वत। **असज्जमानो**—न लगते हुए। **सेय्यथापि आकासे**—जैसे आकाश में।

यों, गमनाभिलाषी को आकाशकसिण में समापन्न होने के पश्चात् उठकर दीवार, प्राकार अथवा सुमेरु या चक्रवालों (लोकों) में से किसी पर्वत का विचार कर, परिकर्म करके, ('यह दीवार आदि) आकाश (खाली स्थान) हो जाय'—यों अधिष्ठान करना चाहिये। (ऐसा करते ही) आकाश ही हो जाता है। नीचे उतरना या ऊपर चढ़ना चाहने वाले के लिये खोखला (बीच में खाली) होता है। भेद कर जाना चाहने वाले के लिये छिद्र होता है। वह उसमें न सटता हुआ चला जाता है।

२१. किन्तु, **त्रिपिटकधर चूळाभयस्थविर** ने इस प्रसङ्ग में कहा—"आयुष्मन्, आकाशकसिण में समापन्न होने का क्या लाभ है? क्या हाथी-घोड़े आदि का निर्माण करने का अभिलाषी हाथी-घोड़े आदि कसिणों में समापन्न होता है? क्या ऐसा नहीं है कि किसी भी कसिण में परिकर्म कर आठ समापत्तियों में निपुणता प्राप्त करना ही पर्याप्त है, इसी से जो जो चाहता है, वह वह ही होता है?" भिक्षुओं ने कहा—"भन्ते! पालि में आकाशकसिण ही आया हुआ है, अतः इसे अवश्य कहना चाहिये।"

तिरोपाकारं तिरोपब्बत्तं आवज्जति, आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति—'आकासो होतू' ति, आकासो होति, तिरोकुड्डं तिरोपाकारं तिरोपब्बतं असज्जमानो गच्छति। यथा पकतिया मनुस्सा अनिद्धिमन्तो केनचि अनावटे अपरिक्खते असज्जमाना गच्छन्ति; एवमेव सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो तिरोकुड्डं तिरोपाकारं तिरोपब्बतं असज्जमानो गच्छति, सेय्यथापि आकासे" (खु० नि० ५/४७०) ति।

२२. सचे पनस्स भिक्खुनो अधिट्ठहित्वा गच्छन्तस्स अन्तरा पब्बतो वा रुक्खो वा उट्ठेति, किं पुन समापज्जित्वा अधिट्ठातब्बं ति? दोसो नत्थि। पुन समापज्जित्वा अधिट्ठानं हि उपज्झायस्स सन्तिके निस्सयगहणसदिसं होति। इमिना च पन भिक्खुना 'आकासो होतू' ति अधिट्ठत्ता आकासो होति येव। पुरिमाधिट्ठानबलेनेव चस्स अन्तरा अञ्ञो पब्बतो वा रुक्खो वा उतुमयो उट्ठहिस्सती ति अट्ठानमेवेतं। अञ्ञेन इद्धिमता निम्मिते पन पठमनिम्मानं बलवं होति। इतरेन तस्स उद्धं वा अधो वा गन्तब्बं।

२३. **पथविया पि उमुज्जनिमुज्जं** ति। एत्थ **उम्मुज्जं** ति उट्ठानं वुच्चति, **निमुज्जं** ति संसीदनं। उम्मुज्जं च निमुज्जं च **उम्मुज्जनिमुज्जं**। एवं कातुकामेन आपोकसिणं समापज्जित्वा उट्ठाय 'एत्तके ठाने उदकं होतू' ति परिच्छिन्दित्वा परिकम्मं कत्वा वुत्तनयेनेव अधिट्ठातब्बं।

वह पालि इस प्रकार है—"स्वभावत: आकाशकसिण समापत्ति का लाभी होता है, दीवार, प्राकार या पर्वत के आर पार का आवर्जन (विचार) करता है। आवर्जन के पश्चात् अधिष्ठान करता है कि 'आकाश हो जाय', तो आकाश हो जाता है। दीवार प्राकार या पर्वत के आर पार (उनसे) न सटता हुआ जाता है। जैसे ऋद्धि से रहित मनुष्य स्वभावत: किसी खुले या न घिरे हुए स्थान में बिना सटे हुए जाते हैं; वैसे ही चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् दीवार, प्राकार या पर्वत के आर पार सटते हुए जाता है, जैसे आकाश में।" (खु० ५/४७०)

२२. यदि भिक्षु अधिष्ठान करने के पश्चात् जब जाने लगे, तब बीच में पर्वत या वृक्ष उठ आयें, तो क्या पुन: समापन्न होने के बाद अधिष्ठान करना चाहिये? (ऐसा करने में) दोष नहीं है; क्योंकि पुन: समापन्न होकर अधिष्ठान करना उपाध्याय के समीप नि:श्रय ग्रहण के समान होता है।[1] इस भिक्षु के द्वारा भी 'आकाश हो जाय'—यों अधिष्ठान किये जाने पर आकाश होता ही है, एवं पहले किये गये अधिष्ठान के बल से यह असम्भव ही है कि ऋतु से उत्पन्न कोई अन्य पर्वत या वृक्ष उसके बीच में आ जाय। किन्तु यदि ये (पर्वत आदि) किसी दूसरे ऋद्धिमान् द्वारा पहले से ही निर्मित किये जा चुके हों, तो वे बलवान् होते हैं (अत: वे रहते ही हैं)। अन्य (योगी) को उसके ऊपर या नीचे से होकर जाना चाहिये।

२३. **पथविया पि उम्मुज्जनिमुज्जं**—यहाँ उन्मज्जन 'उतारने' को एवं निमज्जन 'डूबने' को कहा गया है। उन्मज्जन एवं निमज्जन—उन्मज्जन-निमज्जन। ऐसा करने के अभिलाषी को अप्-कसिण आदि में समापन्न होने के बाद उठकर 'इतना स्थान जल हो जाय'—यों सीमा निर्धारित

---

१. "भन्ते! आप मेरे आचार्य हो, मैं आयुष्मान् के आश्रय से रहूँगा"—यों आचार्य के समीप निश्रय ग्रहण करना होता है। यद्यपि उपाध्याय के समीप यों निश्रय ग्रहण करने की अनिवार्यता तो नहीं है, तथापि ऐसा करने में दोष भी नहीं है।

सह अधिट्ठानेन यथा परिच्छिन्ने ठाने पथवी उदकमेव होति। सो तत्थ उम्मुज्जनिमुज्जं करोति। तत्रायं पाळि—

"**पकतिया आपोकसिणसमापत्तिया लाभी होति। पथविं आवज्जति। आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति—'उदकं होतू' ति, उदकं होति। सो पथविया उम्मुज्जनिमुज्जं करोति। यथा मनुस्सा पकतिया अनिद्धिमन्तो उदके उम्मुज्जनिमुज्जं करोन्ति; एवमेव सो इद्धिमा चेतो-वसिप्पत्तो पथविया उम्मुज्जनिमुज्जं करोति, सेय्यथा पि उदके**" (खु० नि० ५/४७०) ति।

न केवलं च उम्मुज्जनिमुज्जमेव, न्हान-पान-मुखधोवन-भण्डकधोवनादीसु यं यं इच्छति, तं तं कराति। न केवलं च उदकमेव, सप्पितेलमधुफाणितादीसु पि यं यं इच्छति, तं तं 'इदञ्चिदं च एत्तकं होतू' ति आवज्जित्वा परिकम्मं कत्वा अधिट्ठहन्तस्स यथाधिट्ठितमेव होति। उद्धरित्वा भाजनगतं करोन्तस्स सप्पि सप्पिमेव होति। तेलादीनि तेलादीनि येव। उदकं उदकमेव। सो तत्थ तेमितुकामो व तेमेति, न तेमितुकामो न तेमेति। तस्सेव च सा पथवी उदकं होति, सेसजनस्स पथवी येव। तत्थ मनुस्सा पत्तिका पि गच्छन्ति, यानादीहि पि गच्छन्ति, कसिकम्मादीनि पि करोन्ति येव। सचे पनायं तेसं पि 'उदकं होतू' ति इच्छति, होति येव। परिच्छिन्नकालं पन अतिक्कमित्वा यं पकतिया घट-तळाकादीसु उदकं, तं ठपेत्वा अवसेसं परिच्छिन्नट्ठानं पथवी येव होति।

कर, परिकर्म करके उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान करते ही, परिसीमित स्थान तक की पृथ्वी जल हो जाती है। वह उसमें डूबता उतराता है। (इस विषय में) पालि यह है—

"स्वभावत: ही अप्-कसिण में समापत्ति का लाभ करता है। पृथ्वी का आवर्जन करता है। विचार करने के बाद ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है—'जल हो जाय', तो जल ही हो जाता है। वह पृथ्वी में डूबता-उतराता है। जैसे ऋद्धिरहित मनुष्य स्वभावत: ही जल में डूबते-उतराते हैं, वैसे ही चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् पृथ्वी में उसी प्रकार डूबता उतराता है, जैसे जल में।" (खु० नि० ५/४७०)।

एवं न केवल डूबना-उतराना, अपितु स्नान, पान, मुखप्रक्षालन, पात्र धोना आदि में से जो जो चाहता है, वह वह करता है। एवं न केवल जल अपितु घी, तेल, मधु, राब आदि से भी जो जो चाहे उसे उसे 'यह यह यहाँ तक हो जाय'—यों आवर्जन कर, परिकर्म कर अधिष्ठान करने वाले के लिये अधिष्ठान के अनुसार ही होता है। उठा कर पात्र में रखने वाले (योगी) के लिये घी (नैसर्गिक) घी (के समान) ही होता है, तैल आदि (भी) तैल आदि ही। जल जल ही। यदि वह उससे सिक्त (भीगा) होना चाहता है तो होता है, नहीं सिक्त होना चाहता है तो नहीं होता। (किन्तु) केवल उसी के लिये वह पृथ्वी जल होती है, अन्य लोगों के लिये पृथ्वी ही रहती है। वहाँ मनुष्य पैदल भी जाते हैं, वाहन आदि से भी जाते हैं, खेती आदि भी करते ही हैं। किन्तु यदि उनके लिये भी 'जल हो जाय' यों चाहता है, तो होता ही है। किन्तु निश्चित समय के पश्चात् जो नैसर्गिक रूप से घट, सरोवर आदि में जल हो, उसे छोड़कर शेष जो (योगी द्वारा) परिसीमित स्थान हो, वह पृथ्वी ही हो जाता है।

२४. **उदके पि अभिज्जमाने** ति। एत्थ यं उदकं अक्कमित्वा संसीदति, तं भिज्जमानं ति वुच्चति। विपरीतं **अभिज्जमानं**। एवं गन्तुकामेन पन पथवीकसिणं समापज्जित्वा वुट्ठाय 'एत्तके ठाने उदकं पथवी होतू' ति परिच्छिन्दित्वा परिकम्मं कत्वा वुनयेनेव अधिट्ठातब्बं। सह अधिट्ठानेन यथा परिच्छिन्नट्ठाने उदकं पथवी येव होति। सो तत्थ गच्छति। तत्रायं **पाळि**—

"**पकतिया पथवीकसिणसमापत्तिया लाभी होति। उदकं आवज्जति। आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति—'पथवी होतू' ति, पथवी होति। सो अभिज्जमाने उदके गच्छति। यथा मनुस्सा पकतिया अनिद्धिमन्तो अभिज्जमानाय पथविया गच्छन्ति, एवमेव सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो अभिज्जमाने उदके गच्छति, सेय्यथा पि पथवियं**" (खु० नि० ५/४७१) ति।

न केवलं च गच्छति, यं यं इरियापथं इच्छति, तं तं करोति। न केवलं च पथविमेव करोति, मणिसुवण्णपब्बतरुक्खादीसु पि यं यं इच्छति, तं तं वुत्तनयेनेव आवज्जित्वा अधिट्ठाति यथाधिट्ठितमेव होति। तस्सेव च तं उदकं पथवी होति, सेसजनस्स उदकमेव। मच्छकच्छपा च उदककाकादयो च यथारुचि विचरन्ति। सचे पनायं अञ्ञेसं पि मनुस्सानं तं पथविं कातुं इच्छति, करोति येव। परिच्छिन्नकालातिक्कमे पन उदकमेव होति।

आकासगमनादिकं पाटिहारियं

२५. **पल्लङ्केन कमती** ति। पल्लङ्केन गच्छति। **पक्खी सकुणो** ति पक्खेहि युत्तसकुणो। एवं कातुकामेन पन पथवीकसिणं समापज्जित्वा वुट्ठाय सचे निसिन्नो गन्तुं इच्छति, पल्लङ्कप्पमाणं

---

२४. **उदके पि अभिज्जमाने**—यहाँ, जिस जल पर चलते समय डूब जाता है, उसे **भिद्यमान** कहा जाता है। विपरीत को **अभिद्यमान**। यों जाने के अभिलाषी को चाहिये कि पृथ्वीकसिण में समापन्न होने के पश्चात् उठकर 'इतने स्थान तक जल पृथ्वी हो जाय'—यों सीमा निर्धारित कर, परिकर्म करने के बाद उक्त विधि से ही अधिष्ठान करे। अधिष्ठान करते ही उस सीमा तक का जल पृथ्वी ही हो जाता है। वह उस पर जाता है। यहाँ यह **पालि** है—

"स्वभाव से ही पृथ्वीकसिणसमापत्ति का लाभी होता है। जल का आवर्जन करता है। आवर्जन करके ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है—'पृथ्वी हो', तो पृथ्वी हो जाता है। वह अभिद्यमान जल (अर्थात् वह जल जो पृथ्वी के समान ठोस हो गया है) पर जाता है। जैसे ऋद्धि से रहित मनुष्य स्वभाव से ही अभिद्यमान पृथ्वी पर चलते हैं; वैसे ही चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् अभिद्यमान जल पर चलता है, जैसे पृथ्वी पर।" (खु० नि० ५/४७१)।

न केवल जाता है, अपितु जिस-जिस ईर्यापथ को चाहता है, उसे उसे करता है। एवं न केवल पृथ्वी ही बनाता है, अपितु मणि, स्वर्ण, पर्वत, वृक्ष आदि में से भी जिसे जिसे चाहता है, उस उस का उक्त प्रकार से ही आवर्जन करके अधिष्ठान करता है; तो जैसे अधिष्ठान किया था वैसा ही होता है। एवं वह जल केवल उसी के लिये पृथ्वी होता है, शेष जनों के लिये जल ही रहता है। (उसमें) मछली, कछुआ, उदककाक (जलमुर्गी) आदि इच्छानुसार विचरते हैं। किन्तु यदि अन्य मनुष्यों के लिये भी (जल को) पृथ्वी बनाना चाहे, तो बनाता ही है। फिर भी, निश्चित समय (जितने समय तक प्रातिहार्य का प्रभाव रह सकता है, उतने समय) के पश्चात् जल ही हो जाता है।

ठानं परिच्छिन्दित्वा परिकम्मं कत्वा वुत्तनयेनेव अधिट्ठातब्बं। सचे निपन्नो गन्तुकामो होति मञ्चप्पमाणं, सचे पदसा गन्तुकामो होति मग्गप्पमाणं ति एवं यथानुरूपं ठानं परिच्छिन्दित्वा वुत्तनयेनेव 'पथवी होतू' ति अधिट्ठातब्बं, सह अधिट्ठानेन पथवी येव होति। तत्रायं **पाळि—**

''आकासे पि पल्लङ्केन कमति, सेय्यथापि पक्खीसकुणो ति, पकतिया पथवीकसिण-समापत्तिया लाभी होति, आकासं आवज्जति, आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति 'पथवी होतू' ति, पथवी होति। सो आकासे अन्तलिक्खे चङ्कमति पि तिट्ठति पि निसीदति पि सेय्यं पि कप्पेति। यथा मनुस्सा पकतिया अनिद्धिमन्तो पथवियं चङ्कमन्ति पि...पे०...सेय्यं पि कप्पेन्ति; एवमेव सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो आकासे अन्तलिक्खे चङ्कमति पि...पे०...सेय्यं पि कप्पेती'' (खु० नि० ५/४७१) ति।

२६. आकासे गन्तुकामेन च भिक्खुना दिब्बचक्खुलाभिना पि भवितब्बं। कस्मा? अन्तरे उतुसमुट्ठाना वा पब्बतरुक्खादयो होन्ति, नागसुपण्णादयो वा उसूयन्ता मापेन्ति, तेसं दस्सनत्थं। ते पन दिस्वा किं कातब्बं ति? पादकज्झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय 'आकासो होतू' ति परिकम्मं कत्वा अधिट्ठातब्बं।

२७. थेरो[1] पनाह—''समापत्तिसमापज्जनं आवुसो, किमत्थियं? ननु समाहितमेवस्स चित्तं? तेन यं यं ठानं 'आकासो होतू' ति अधिट्ठाति, आकासो येव होती'' ति। किञ्चापि एवमाह, अथ खो तिरोकुड्डपाटिहारिये वुत्तनयेनेव पटिपज्जितब्बं।

आकाशगमन आदि प्रतिहार्य

२५. **पल्लङ्केन कमति**—पद्मासन (=पालथी) लगाये हुए जाता है। **पक्खी सकुणो—** पंखों से युक्त शकुन (पक्षी)। ऐसा करने के अभिलाषी को पृथ्वीकसिण में समापन्न होकर उठने के पश्चात् यदि बैठे बैठे जाने की इच्छा हो तो पद्मासन लगाने पर स्थान की सीमा निर्धारित कर, परिकर्म करके उक्त प्रकार से ही अधिष्ठान करना चाहिये। यदि सोते हुए जाना चाहे तो चारपाई भर की, यदि पैदल जाना चाहे तो मार्ग भर (स्थान की सीमा निर्धारित करना चाहिये)। यों, उपयुक्त स्थान की सीमा निर्धारित कर, उक्त प्रकार से ही 'पृथ्वी हो जाय'—ऐसा अधिष्ठान करना चाहिये। अधिष्ठान करते ही (आकाश) पृथ्वी हो जाता है। यहाँ यह **पालि** है—

''आकाश में भी स्वस्तिकासन लगाये हुए जाता है, जैसे कि पंखों वाला पक्षी। स्वभावतः पृथ्वीकसिण समापत्ति का लाभी होता है। आकाश का आवर्जन करता है। आवर्जन करने के बाद ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है—'पृथ्वी हो जाय', तो पृथ्वी हो जाता है। वह आकाश में, अन्तरिक्ष में चलता फिरता भी है, खड़ा भी होता है, बैठता भी है, सोता भी है। जैसे ऋद्धिरहित मनुष्य स्वभावतः पृथ्वी पर घूमते फिरते भी हैं ...पूर्ववत्... सोते भी हैं; वैसे ही चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् आकाश में, अन्तरिक्ष में घूमता फिरता भी है ...पूर्ववत्... सोता भी है।'' (खु० ५/४७१)।

२६. आकाश में जाने के अभिलाषी भिक्षु को दिव्यचक्षु का लाभी भी होना चाहिये। क्यों? बीच में ऋतु से समुत्थित जो पर्वत, वृक्ष आदि होते हैं, या नाग, गरुड़ आदि जिन्हें ईर्ष्यावश बना

१. थेरो ति। पुब्बं वुत्तो **तिपिटकचूळाभयत्थेरो**।

२८. अपि च ओकासे ओरोहणत्थं पि इमिना दिब्बचक्खुलाभिना भवितब्बं। अयं हि सचे अनोकासे न्हानतित्थे वा गामद्वारे वा ओरोहति, महाजनस्स पाकटो होति। तस्मा दिब्बचक्खुना पस्सित्वा अनोकासं वज्जेत्वा ओकासे ओतरती ति।

२९. "**इमे पि चन्दिमसुरिये एवं महिद्धिके एवं महानुभावे पाणिना परामसति परिमज्जती**" (दी० नि० १/६९) ति एत्थ चन्दिमसुरियानं द्वाचत्तालीसयोजनसहस्सस्स उपरि चरणेन महिद्धिकता, तीसु दीपेसु एकक्खणे आलोककरणेन महानुभावता वेदितब्बा। एवं उपरिचरणआलोककरणेहि वा **महिद्धिके** तेनेव महिद्धिकत्तेन **महानुभावे**। **परामसती** ति। परिग्गण्हति, एकदेसे वा छुपति। **परिमज्जती** ति। समन्ततो आदासतलं विय परिमज्जति।

अयं पनस्स इद्धि अभिञ्ञापादकज्झानवसेनेव इज्झति, नत्थेत्थ कसिणसमापत्ति-नियमो। वुत्तं हेतं **पटिसम्भिदायं**—

"**इमे चन्दिमसुरिये ...पे०...परिमज्जती ति। इध सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो चन्दिमसुरिये**

देते हैं, उन्हें देखने के लिये। उन्हें देखने पर क्या करना चाहिये? आधारभूत ध्यान में समापन्न होकर उठने के पश्चात् 'आकाश हो जाय'—यों परिकर्म करके अधिष्ठान करना चाहिये। (अधिष्ठान के साथ ही आकाश हो जाता है।)

२७. किन्तु स्थविर (पूर्वोक्त त्रिपिटकधर चूड़ाभय स्थविर) ने कहा है—"आयुष्मन्, समापत्ति में समापन्न होकर (=ध्यानावस्थित होना) किसलिये? क्या उसका चित्त समाहित नहीं है? उस (समाहित चित्त) से जिस जिस स्थान के बारे में 'आकाश हो जाय'—यों अधिष्ठान करता है, आकाश ही होता है।"

यद्यपि ऐसा कहा है, तथापि दीवार के आर पार (गमन आदि प्रातिहार्य में बतलायी गयी विधि के अनुसार ही (इस प्रसङ्ग में भी वही अर्थ) समझना चाहिये। अर्थात्, उपाध्याय के समीप निश्रयग्रहण के समान ही। इसमें भी दोष नहीं है।

२८. इसके अतिरिक्त, एकान्त में अवरोहण (=उतरने) के लिये भी उसे दिव्य चक्षुष्मान् होना चाहिये। क्योंकि यदि वह जनसङ्कुल स्थान में (जैसे) घाट पर या ग्राम के द्वार पर उतरता है, तो जनसमुदाय के समक्ष (उसकी ऋद्धि) प्रकट हो जाती है (एवं सच्चे योगी को लोकप्रियता से दूर रहना चाहिये)। इसलिये दिव्यचक्षु से देखकर जनसङ्कुल स्थान को छोड़कर एकान्त में उतरता है।

२९. "**इमे पि चन्दिमसुरिये एवम्महिद्धिके एवम्महानुभावे पाणिना परामसति, परिमज्जति**" (दी० नि० १/६९)—यहाँ बयालीस हजार योजन की ऊँचाई पर गतिशील होने में चन्द्रमा एवं सूर्य की महत्ता (महार्धिता), एवं तीनों द्वीपों को एक ही क्षण में प्रकाशित करने में उनकी महानुभावता जाननी चाहिये। अथवा, ऊँचाई पर गति करने एवं प्रकाश करने के कारण **महिद्धिके**, एवं उसी महाऋद्धि के कारण **महानुभावे**। **परामसति**—ग्रहण करता है, या एक भाग का स्पर्श करता है। **परिमज्जति**—चारों ओर से, दर्पण की सतह के समान छूता (या रगड़ता) है।

किन्तु उसकी यह ऋद्धि अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान के बल से ही सिद्ध होती है। यहाँ कसिणसमापत्ति का नियम नहीं है; क्योंकि **पटिसम्भिदामग्ग** में यह कहा गया है—

आवज्जति, आवज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति हत्थपासे होतू ति, हत्थपासे होति। सो निसिन्नको वा निपन्नको वा चन्दिमसुरिये पाणिना आमसति परामसति परिमज्जति। यथा मनुस्सा पकतिया अनिद्धिमन्तो किञ्चदेव रूपगतं हत्थपासे आमसन्ति परामसन्ति परिमज्जन्ति, एवमेव सो इद्धिमा ...पे०... परिमज्जती" (खु० नि० ५/४७१) ति।

स्वायं यदि इच्छति गन्त्वा परामसितुं, गन्त्वा परामसति। यदि पन इधेव निसिन्नको वा निपन्नको वा परामसितुकामो होति, हत्थपासे होतू ति अधिट्ठाति, अधिट्ठानबलेन वण्टा मुत्ततालफलं विय आगन्त्वा हत्थपासे ठिते वा परामसति, हत्थं वा वड्ढेत्वा। वड्ढेन्तस्स पन किं उपादिण्णकं वड्ढति, अनुपादिण्णकं ति? उपादिण्णकं निस्साय अनुपादिण्णकं वड्ढति।

३०. तत्थ **तिपिटकचूळनागत्थेरो** आह—किं पनावुसो, उपादिण्णकं खुद्दकं पि महन्तं न होति? ननु यदा भिक्खु तालच्छिद्दादीहि निक्खमति, तदा उपादिण्णकं खुद्दकं होति। यदा महन्तं अत्तभावं करोति, तदा महन्तं होति, **महामोग्गलानत्थेरस्स** विया ति।

नन्दोपनन्दनागदमनपाटिहारियकथा

३१. एकस्मिं किर समये अनाथपिण्डिको गहपति भगवतो धम्मदेसनं सुत्वा "स्वे, भन्ते, पञ्चहि भिक्खुसतेहि सद्धिं अम्हाकं गेहे भिक्खं गण्हथा" ति निमन्तेत्वा पक्कामि। भगवा अधिवासेत्वा तं दिवसावसेसं रत्तिभागं च वीतिनामेत्वा पच्चूससमये दससहस्सिलोकधातुं ओलोकेसि। अथस्स नन्दोपनन्दो नाम नागराजा ञाणमुखे आपाथं आगच्छि।

"इन चन्द्रमा-सूर्य को ...पूर्ववत्... रगड़ता है। यहाँ, चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् चन्द्रमा सूर्य का आवर्जन करता है। आवर्जन के बाद ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है—'हाथ की पहुँच में हो, तो हाथ की पहुँच में होता है। वह बैठे बैठे या लेटे लेटे चन्द्र एवं सूर्य को हाथ से छूता है, सम्पर्क करता है, रगड़ता है। जैसे ऋद्धि से रहित मनुष्य स्वभावतः हाथ की पकड़ में आने वाली किसी भौतिक वस्तु को छूते हैं, सम्पर्क करते हैं, रगड़ते हैं; वैसे ही वह ऋद्धिमान् ...पूर्ववत्...रगड़ता है।" (खु० नि० ५/४७१)।

यदि वह स्वयं जाकर छूना चाहता है, तो जाकर छूता है। किन्तु यदि यहीं बैठे बैठे या लेटे लेटे छूना चाहता है तो अधिष्ठान करता है कि हाथ की पहुँच में आ जाय। अधिष्ठान के बल से डाल से टूटे हुए ताड़ के फल के समान आकर हाथ में स्थित हो जाने पर छूता है या हाथ को बढ़ाकर (छूता है)। किन्तु क्या बढ़ाने वाले का उपादिन्नक (कर्मोपार्जित रूपी हाथ) बढ़ता है या अनुपादिन्नक? उपादिन्नक के आधार से अनुपादिन्नक बढ़ता है।

३०. यहाँ **त्रिपिटकधर चूळनागस्थविर** ने कहा—"किन्तु आयुष्मान्, क्या उपादिन्नक क्षुद्र भी और विशाल (भी) नहीं होता? क्या जब भिक्षु ताले के छिद्र आदि से निकलता है, तब उपादिन्नक क्षुद्र नहीं होता, एवं जब स्वयं को विशाल बनाता है, तब **महामौद्गल्यायन** स्थविर के समान विशाल नहीं हो जाता!"

नन्दोपनन्दनागदमन प्रातिहार्य

३१. एक समय अनाथपिण्डक गृहपति ने भगवान् की धर्मदेशना सुनकर—'भन्ते, कल पाँच सौ भिक्षुओं के साथ हमारे घर भिक्षा ग्रहण करें'—यों निमन्त्रित कर प्रस्थान किया। भगवान्

भगवा "अयं नागराजा मय्हं ञाणमुखे आपाथं आगच्छि, अत्थि नु खो अस्स उपनिस्सयो?" ति आवज्जेन्तो "अयं मिच्छादिट्ठिको तीसु रतनेसु अप्पसन्नो" ति दिस्वा "को नु खो इमं मिच्छादिट्ठितो विवेचेय्या?" ति आवज्जेन्तो **महामोग्गल्लानत्थेरं** अद्दस।

३२. ततो पभाताय रत्तिया सरीरपटिजग्गनं कत्वा आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि— "आनन्द, पञ्चन्नं भिक्खुसतानं आरोचेहि—तथागतो देवचारिकं गच्छती" ति।

तं दिवसं च नन्दोपनन्दस्स आपानभूमिं[1] सज्जयिंसु। सो दिब्बरतनपल्लङ्के दिब्बेन सेतच्छत्तेन धारियमानेन तिविधनाटकेहि चेव नागपरिसाय च परिवुतो दिब्बभाजनेसु उपट्ठापितं अन्नपानविधिं ओलोकयमानो निसिन्नो होति। अथ भगवा यथा नागराजा पस्सति, तथा कत्वा तस्स वितानमत्थकेनेव पञ्चहि भिक्खुसतेहि सद्धिं तावतिंसदेवलोकाभिमुखो पायासि।

३३. तेन खो पन समयेन नन्दोपनन्दस्स नागराजस्स एवरूपं पापकं दिट्ठिगतं उप्पन्नं होति—"इमे हि नाम मुण्डका समणका अम्हाकं उपरूपरिभवनेन देवानं तावतिंसानं भवनं पविसन्ति पि निक्खमन्ति पि, न दानि इतो पट्ठाय इमेसं अम्हाकं मत्थके पादपंसुं ओकिरन्तानं गन्तुं दस्सामी" ति। उट्ठाय सिनेरुपादं गन्त्वा तं अत्तभावं विजहित्वा सत्तक्खत्तुं भोगेहि परिक्खिपित्वा उपरि फणं कत्वा तावतिंसभवनं अवकुज्जेन फणेन गहेत्वा अदस्सनं गमेसि।

ने स्वीकार किया। उस दिन का शेष भाग एवं रात्रि व्यतीत कर, उष:काल में दस सहस्र लोकधातु का अवलोकन किया। तब नन्दोपनन्द नामक नागों (सर्पों) का राजा उनके ज्ञान की परिधि में आया। भगवान् ने—'यह नागराज मेरे ज्ञान की परिधि में आया है, क्या इसका उपनिश्रय (आध्यात्मिक उन्नति की सम्भावना) है?'—यों आवर्जन करते हुए देखा कि यह मिथ्या दृष्टि वाला एव तीनों रत्नों के प्रति अप्रसन्न हैं। तब 'इसे मिथ्यादृष्टि से कौन छुड़ा सकता है?'—यह विचार करते हुए **महामौद्गल्यायन** स्थविर को (समर्थ) देखा।

३२. जब रात्रि प्रभात में बदल गयी, तब उन्होंने शारीरिक कृत्य पूर्ण कर आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया—"आनन्द, पाँच सौ भिक्षुओं को सूचित करो कि तथागत चारिका के लिये देवलोक जा रहे हैं।"

उधर, उस दिन नन्दोपनन्द का भोजनागार सजाया गया था। वह दिव्यरत्नजटित पर्यङ्क (=आसन) पर दिव्य श्वेत छत्र लगाये हुए, त्रिविध नर्तकियों एवं नागपरिषद् द्वारा घिरा हुआ, दिव्य पात्रों में रखे हुए अनेकविध भोज्य पेय का अवलोकन करते हुए बैठा था। भगवान् उसके वितान (=चँदोवे) के ऊपर से ही पाँच सौ भिक्षुओं के साथ त्रायस्त्रिंश देवलोक के लिये इस प्रकार गये जिससे कि नागराज देख सके।

३३. उस समय नन्दोपनन्द नागराज में ऐसी कुत्सित दृष्टि (भावना) उत्पन्न हुई—'मुण्डक श्रमणक हमारे भवन के ऊपर ही ऊपर से त्रायस्त्रिंश भवन में प्रवेश भी कर रहे हैं, निकल भी रहे हैं। अब से हमारे मस्तक पर पैरों की धूल बिखेरते हुए इन्हें जाने नहीं दूँगा।' वह उठा और सुमेरु पर्वत के पादस्थल में जाकर उसने अपना वह रूप त्यागकर (उस पर्वत को) कुण्डली से

---

१. **आपानभूमिं** ति। यत्थ सो निसिन्नो भोजनकिच्चं करोति, तं परिवेसनट्ठानं।

३४. अथ खो आयस्मा रट्ठपालो भगवन्तं एतदवोच—"पुब्बे, भन्ते, इमस्मिं पदेसे ठितो सिनेरु पस्सामि, सिनेरुपरिभण्डं पस्सामि, तावतिंसं पस्सामि, वेजयन्तं पस्सामि, वेजयन्तस्स पासादस्स उपरि धजं पस्सामि। को नु खो, भन्ते, हेतु, को पच्चयो, यं एतरहि नेव सिनेरुं पस्सामि...पे०...न वेजयन्तस्स पासादस्स उपरि धजं पस्सामी" ति? "अयं, रट्ठपाल, नन्दोपनन्दो नाम नागराजा तुम्हाकं कुपितो सिनेरुं सत्तक्खत्तुं भोगेहि परिक्खिपित्वा उपरि फणेन पटिच्छादेत्वा अन्धकारं कत्वा ठितो" ति। "दमेमि नं, भन्ते" ति। न भगवा अनुजानि। अथ खो आयस्मा **भद्दियो**, आयस्मा **राहुलो** ति अनुक्कमेन सब्बे पि भिक्खू उट्ठहिंसु। न भगवा अनुजानि।

३५. अवसाने **महामोग्गलानत्थेरो**—"अहं, भन्ते, दमेमि नं" ति आह। "दमेहि, मोग्गल्लाना" ति भगवा अनुजानि। थेरो अत्तभावं विजहित्वा महन्तं नागराजवण्णं अभिनिम्मिनित्वा नन्दोपनन्दं चुद्दसक्खत्तुं भोगेहि परिक्खिपित्वा तस्स फणमत्थके अत्तनो फणं ठपेत्वा सिनेरुना सद्धिं अभिनिप्पीलेसि। नागराजा पधूमायि। थेरो पि "न तुय्हं येव सरीरे धूमो अत्थि, मय्हं पि अत्थी" ति पधूमायि। नागराजस्स धूमो थेरं न बाधति, थेरस्स पन धूमो नागराजानं बाधति। ततो नागराजा पज्जलि। थेरो पि "न तुय्हं येव सरीरे अग्गि अत्थि, मय्हं पि अत्थी" ति पज्जलि। नागराजस्स तेजो थेरं न बाधति, थेरस्स पन तेजो नागराजानं बाधति।

सात बार लपेट कर फन को ऊपर उठाया एवं त्रायस्त्रिंश भवन को फन से जकड़ कर झुकाते हुए अदृश्य कर दिया।

३४. तब आयुष्मान् **राष्ट्रपाल** ने भगवान् से यह कहा—"भन्ते! पहले तो मैं इस स्थान पर स्थित सुमेरु को देखता था, सुमेरु की मेखला को देखता था, त्रायस्त्रिंश को देखता था, वैजयन्त को देखता था, उस पर लगी ध्वजा को देखता था। भन्ते! अब कौन हेतु है, कौन सा प्रत्यय है, जिससे अब न तो सुमेरु को देख रहा हूँ, ...पूर्ववत्... न वैजयन्त प्रासाद के ऊपर ध्वजा देख रहा हूँ?"

"राष्ट्रपाल! यह नन्दोपनन्द नागराज है, जिसने तुम पर कुपित होकर सुमेरु को कुण्डली से सात बार लपेट कर ऊपर की ओर फण से ढँककर अन्धकार कर दिया है।"

"भन्ते! इसका दमन करूँगा।"

भगवान् ने अनुमति नहीं दी। तब आयुष्मान् **भद्रिय**, आयुष्मान् **राहुल**—यों क्रम से सभी भिक्षु उठे। भगवान् ने अनुमति नहीं दी।

३५. अन्त में **महामौद्गल्यायन** स्थविर ने कहा—"भन्ते! मैं इसका दमन करूँगा।" "दमन करो, मौद्गल्यायन"—यों भगवान् ने अनुमति दे दी। स्थविर ने अपना रूप त्यागकर विशाल नागराज का रूप धारण किया, एवं नन्दोपनन्द को कुण्डली से चौदह बार लपेट कर, उसके फण के ऊपर अपना फन रखकर, सिनेरु के साथ ही साथ दबाने लगे। नागराज धुँआ छोड़ने लगा। स्थविर भी "तुम्हारे ही शरीर में धुआँ नहीं है, मुझमें भी है"—यों कहते हुए धुआँ छोड़ने लगे। नागराज के धुएँ से स्थविर को कष्ट नहीं होता था, किन्तु स्थविर के धुएँ से नागराज को कष्ट होता था। तब नागराज जलने लगा। स्थविर भी—'तुम्हारे ही शरीर में अग्नि नहीं है, मुझमें भी

नागराजा "अयं मं सिनेरुना अभिनिप्पीळेत्वा धूमायति चेव पज्जलति चा" ति चिन्तेत्वा "भो, त्वं कोसी?" ति पटिपुच्छि। "अहं खो, नन्द, मोग्गल्लानो" ति। "भन्ते, अत्तनो भिक्खुभावेन तिट्ठाही" ति।

३६. थेरो तं अत्तभावं विजहित्वा तस्स दक्खिणकण्णसोतेन पविसित्वा वामकण्णसोतेन निक्खमि, वामकण्णसोतेन पविसित्वा दक्खिणकण्णसोतेन निक्खमि, तथा दक्खिणनासासोतेन पविसित्वा वामनासासोतेन निक्खमि, वामनासासोतेन पविसित्वा दक्षिणनासासोतेन निक्खमि। ततो नागराजा मुखं विवरि। थेरो मुखेन पविसित्वा अन्तो कुच्छियं पाचीनेन च पच्छिमेन च चङ्कमति।

भगवा "मोग्गल्लान, मनसिकरोहि महिद्धिको एस नागो" ति आह। थेरो "मय्हं खो, भन्ते, चत्तारो इद्धिपादा भाविता बहुलीकता यानीकता वत्थुकता अनुट्ठिता परिचिता सुसमारद्धा। तिट्ठतु, भन्ते, नन्दोपनन्दो, अहं नन्दोपनन्दसदिसानं नागराजानं सतं पि सहस्सं पि दमेय्यं" ति आह।

३७. नागराजा चिन्तेसि—"पविसन्तो ताव मे न दिट्ठो, निक्खमनकाले दानि नं दाठन्तरे पक्खिपित्वा सङ्खादिस्सामी" ति चिन्तेत्वा "निक्खम, भन्ते, मा मं अन्तोकुच्छियं अपरापरं चङ्कमन्तो बाधयित्था" ति आह। थेरो निक्खमित्वा बहि अट्ठासि। नागराजा "अयं सो" ति दिस्वा नासावातं विस्सज्जि। थेरो चतुत्थं झानं समापज्जि। लोमकूपं पि स वातो चालेतुं

है'—यों कहते हुए जलने लगे। नागराज का तेज स्थविर को कष्ट नहीं देता था, किन्तु स्थविर का तेज नागराज को कष्ट देने लगा।

नागराज ने—'यह मुझे सुमेरु के साथ दबाते हुए धुँआ छोड़ता है, एवं जलता भी है'—यों चिन्तित होते हुए पूछा—"अरे, तुम कौन हो?"

"नन्द! मैं मौद्गल्यायन हूँ।" "भन्ते! अपने भिक्षु-रूप में आइये।"

३६. स्थविर ने वह (नाग) रूप त्याग कर वे (नन्द के) दाहिने कर्ण-छिद्र से प्रवेश कर बायें कर्ण-छिद्र से निकले, बायें कर्ण-छिद्र से प्रवेश कर दाहिने कर्ण-छिद्र से निकले, एवं दाहिने नासिका-छिद्र से प्रवेश कर बायें नासिका-छिद्र से निकले, बायें नासिका-छिद्र से प्रवेश कर दाहिने नासिका-छिद्र से निकले। तब नागराज ने मुख फैला दिया। स्थविर मुख से प्रवेश कर, उदर के भीतर पूर्व-पश्चिम घूमने लगे।

भगवान् ने कहा—"मौद्गल्यायन, सावधान! यह नाग महाऋद्धिमान् है। स्थविर ने कहा—"भन्ते, मैंने चार ऋद्धिपादों की भावना की है, अभ्यास किया है, यान (=साधन) बनाया है, आधार बनाया है, अनुष्ठान किया है, परिचित किया है एवं भलीभाँति ग्रहण किया है। भन्ते, यह नन्दोपनन्द है तो रहा करे, मैं नन्दोपनन्द जैसे सौ हजार नागराजों का भी दमन कर सकता हूँ!"

३७. नागराज ने सोचा—"प्रवेश करते समय तो मैंने देखा नहीं, अब निकलते समय इसे जबड़ों के बीच पकड़कर खा जाऊँगा। यों सोचकर कहा—"भन्ते! बाहर आइये, मेरे उदर में ऊपर नीचे घूमकर कष्ट मत दीजिये।" स्थविर निकलकर बाहर खड़े हुए। नागराज 'यही है'—यों देखकर फुफकारा। स्थविर चतुर्थ ध्यान में समापन्न हो गये। वह वायु उनका रोम भी हिला नहीं पायी।

नासक्खि। 'अवसेसा भिक्खू किर आदितो पट्ठाय सब्बपाटिहारियानि कातुं सक्कुणेय्युं, इमं पन ठानं पत्वा एवं खिप्पनिसन्तिनो हुत्वा समापज्जितुं न सक्खिस्सन्ती' ति तेसं भगवा नागराजदमनं नानुजानि।

३८. नागराजा "अहं इमस्स समणस्स नासावातेन लोमकूपं पि चालेतुं नासक्खि, महिद्धिको समणो" ति चिन्तेसि। थेरो अत्तभावं विजहित्वा सुपण्णरूपं अभिनिम्मिनित्वा सुपण्णवातं दस्सेन्तो नागराजानं अनुबन्धि। नागराजा तं अत्तभावं विजहित्वा माणवकवण्णं अभिनिम्मित्वा "भन्ते, तुम्हाकं सरणं गच्छामी" ति वदन्तो थेरस्स पादे वन्दि। थेरो "सत्था, नन्द आगतो, एहि गमिस्सामा" ति नागराजानं दमयित्वा निब्बिसं कत्वा गहेत्वा भगवतो सन्तिकं अगमासि।

नागराजा भगवन्तं वन्दित्वा "भन्ते, तुम्हाकं सरणं गच्छामी" ति आह। भगवा "सुखी होहि, नागराजा" ति वत्वा भिक्खुसङ्घपरिवुतो अनाथपिण्डिकस्स निवेसनं अगमासि।

३९. अनाथपिण्डिको—"किं, भन्ते, अतिदिवा आगतत्था" ति आह। "मोग्गल्लानस्स च नन्दोपनन्दस्स च सङ्गामो अहोसी" ति। "कस्स, भन्ते, जयो, कस्स पराजयो" ति? "मोग्गल्लानस्स जयो, नन्दस्स पराजयो" ति। अनाथपिण्डिको "अधिवासेतु मे, भन्ते, भगवा सत्ताहं एकपटिपाटिया[१] भत्तं, सत्ताहं थेरस्स सक्कारं करिस्सामी" ति वत्वा सत्ताहं बुद्धपमुखानं पञ्चन्नं भिक्खुसतानं महासक्कारं अकासि।

'शेष भिक्षु आरम्भ से लेकर सभी प्रातिहार्य कर सकते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति आने पर क्षिप्रनिशान्तिक होकर समापन्न नहीं हो सकते'—यह सोचकर भगवान् ने उन्हें नागराज के दमन की अनुमति नहीं दी थी।

३८. नागराज ने सोचा—'मैं फुफकार से इस श्रमण का बाल भी बांका नहीं कर सका), यह महाऋद्धिमान् श्रमण है।' स्थविर ने अपना वह रूप त्यागकर गरुड़ का रूप धारण कर लिया एवं गरुड़-वायु (पंखों की फड़फड़ाहट से उत्पन्न तीव्र वायु) का प्रदर्शन करते हुए नागराज को जकड़ लिया। नागराज ने अपना रूप त्याग कर माणवक का रूप धारण किया एवं 'भन्ते; आप की शरण में आया हूँ'—यों कहते हुए स्थविर की चरण-वन्दना की। स्थविर ने कहा—"नन्द, शास्ता पधारे हैं। आओ चलें", एवं नागराज को दमित कर, विषहीन कर, (अपने साथ) लेकर भगवान् के पास आये।

नागराज ने भगवान् की वन्दना कर कहा—"भन्ते! आपकी शरण में जाता हूँ।" भगवान् ने कहा—"सुखी हो, नागराज!"। तब भिक्षुसंघ से घिरे हुए, अनाथपिण्डक के निवास पर आये।

३९. अनाथपिण्डक ने पूछा—"भन्ते, विलम्ब से क्यों आये हैं?"

"मौद्गल्यायन स्थविर एवं नन्दोपनन्द के बीच संग्राम हो रहा था।"

"भन्ते कौन जीता, कौन हारा?"

"मौद्गल्यायन जीते, नन्द हारा।"

अनाथपिण्डक ने कहा—"भन्ते! सप्ताह भर के लिये भगवान् निरन्तर मेरा भोजन स्वीकार

---

१. **एकपटिपाटिया** ति। एकाय पटिपाटिया, निरन्तरं ति अत्थो।

इति इमं इमस्मिं नन्दोपनन्ददमने कतं महन्तं अत्तभावं सन्धायेतं वुत्तं—"यदा महन्तं अत्तभावं करोति, तदा महन्तं होति, महामोग्गल्लानत्थेरस्स विया" ति। एवं वुत्ते पि भिक्खू 'उपादिण्णकं निस्साय अनुपादिण्णकमेव वड्ढती' ति आहंसु। अयमेव चेत्थ युत्ति।

४०. सो एवं कत्वा न केवलं चन्दिमसुरिये परामसति। सचे इच्छति पादकथलिकं कत्वा पादे ठपेति, पीठं कत्वा निसीदति, मञ्चं कत्वा निपज्जति, अपस्सेनफलकं कत्वा अपस्सयति। यथा च एको, एवं अपरो पि। अनेकेसु पि हि भिक्खुसतसहस्सेसु एवं करोन्तेसु तेसं च एकमेकस्स तथेव इज्झति। चन्दिमसुरियानं च गमनं पि आलोककरणं पि तथेव होति। यथा हि पातिसहस्सेसु उदकपूरेसु सब्बपातीसु च चन्दमण्डलानि दिस्सन्ति। पाकतिकमेव चन्दस्स गमनं आलोककरणं च होति। तथूपममेतं पाटिहारियं।

ब्रह्मलोकगमनादिकं पाटिहारियं

४१. याव **ब्रह्मलोका पी** ति। ब्रह्मलोकं पि परिच्छेदं कत्वा। **कायेन वसं वत्तेती** ति। तत्थ ब्रह्मलोके कायेन अत्तनो वसं वत्तेति। तस्सत्थो पाळिं अनुगन्त्वा वेदितब्बो। अयं हेत्थ पाळि[1]—

"याव ब्रह्मलोका पि कायेन वसं वत्तेती ति। सचे सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो ब्रह्मलोकं गन्तुकामो होति, दूरे पि सन्तिके अधिट्ठाति—सन्तिके होतू ति, सन्तिके होति। सन्तिके पि दूरे अधिट्ठाति—दूरे होतू ति, दूरे होति। बहुकं पि थोकं अधिट्ठाति—थोकं होतू ति, थोकं

करें। स्थविर का सप्ताहपर्यन्त सत्कार करूँगा।" एवं एक सप्ताह तक उसने बुद्धप्रमुख पाँच सौ भिक्षुओं का महासत्कार किया।

यों इस (प्रसङ्ग) में निर्मित विशालरूप के विषय में ही कहा गया है—"जब रूप को विशाल बनाता है, तब वह महामौद्गल्यायन स्थविर के समान विशाल होता है।" यों उक्त होने पर भी भिक्षुओं ने कहा था कि उपादिन्नक के आश्रय से अनुपादिन्नक ही बढ़ता है एवं यहाँ यही युक्ति है।

४०. ऐसा करके वह न केवल चन्द्र-सूर्य को छूता है, अपितु यदि चाहता है तो पादासन (पाँव रखने के लिये रचित चौकी या पाँवपोश) बनाकर पाँव रखता है, बैठने की चौकी बनाकर बैठता है, चारपाई बनाकर सोता है, गावतकिया (=मसनद) बनाकर, टेककर आराम करता है। एवं एक (योगी) जिस प्रकार (करता है), उसी प्रकार दूसरा भी। क्योंकि हजारों भिक्षु भी यदि ऐसा करते हैं तो उनमें से प्रत्येक को वैसे ही सिद्ध होता है। चन्द्र-सूर्य का गमन भी प्रकाश करना भी वैसा ही होता है। जैसे कि यदि जल से भरी हजार थालियाँ हों, तो सभी थालियों में चन्द्रमण्डल दिखायी देते हैं। (उन सबमें) स्वभावतः ही चन्द्रमा का गतिशील होना, चमकना आदि दृष्टिगत होता है। यह प्रातिहार्य वैसा ही है।

ब्रह्मलोकगमनादि प्रातिहार्य

४१. जहाँ तक कि **ब्रह्मलोका पि**—ब्रह्मलोक तक भी। **कायेन वसं वत्तति** वहाँ ब्रह्मलोक में काय द्वारा स्वयं को वश में करता है। इसका अर्थ **पालि** के अनुसार समझना चाहिये। यहाँ

---

१. **पाळी** ति। पटिसम्भिदामग्गपालि।

होति। थोकं पि बहुकं अधिट्ठाति—बहुकं होतू ति, बहुकं होति। दिब्बेन चक्खुना तस्स ब्रह्मुनो रूपं पस्सति। दिब्बाय सोतधातुया तस्स ब्रह्मुनो सद्दं सुणाति। चेतोपरियञाणेन तस्स ब्रह्मुनो चित्तं पजानाति। सचे सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो दिस्समानेन कायेन ब्रह्मलोकं गन्तुकामो होति, कायवसेन चित्तं परिणामेति, कायवसेन चित्तं अधिट्ठाति। कायवसेन चित्तं परिणामेत्वा कायवसेन चित्तं अधिट्ठहित्वा सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमित्वा दिस्समानेन कायेन ब्रह्मलोकं गच्छति। सचे सो इद्धिमा चेतोवसिप्पत्तो अदिस्समानेन कायेन ब्रह्मलोकं गन्तुकामो होति, चित्तवसेन कायं परिणामेति, चित्तवसेन कायं अधिट्ठाति। चित्तवसेन कायं परिणामेत्वा, चित्तवसेन कायं अधिट्ठहित्वा सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमित्वा अदिस्समानेन कायेन ब्रह्मलोकं गच्छति। सो तस्स ब्रह्मुनो पुरतो रूपं अभिनिम्मिनाति मनोमयं सब्बङ्गपच्चङ्गिं अहीनिन्द्रियं। सचे सो इद्धिमा चङ्कमति, निम्मितो पि तत्थ चङ्कमति। सचे सो इद्धिमा तिट्ठति... निसीदति... सेय्यं कप्पेति, निम्मितो पि तत्थ सेय्यं कप्पेति। सचे सो इद्धिमा धूमायति... पज्जलति... धम्मं भासति... पञ्हं पुच्छति... पञ्हं पुट्ठो विस्सज्जेति, निम्मितो पि तत्थ पञ्हं पुट्ठो विस्सज्जेति। सचे सो इद्धिमा तेन ब्रह्मुना सद्धिं सन्तिट्ठति, सल्लपति, साकच्छं समापज्जति,

---

यह पालि (पटिसम्भिदामग्ग पालि) है—"ब्रह्मलोक तक भी काया द्वारा वश प्राप्त करता है। चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् यदि ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो (ब्रह्मलोक) दूर होने पर भी समीप के लिये अधिष्ठान करता है—'समीप हो जाय' तो समीप हो जाता है। (इसी प्रकार किसी के) पास होने पर दूर होने के लिये अधिष्ठान करता है—'दूर हो जाय, तो दूर हो जाता है। बहुत होने पर भी अल्प के लिये अधिष्ठान करता है—'अल्प (थोड़ा) हो जाय' तो अल्प हो जाता है। अल्प होने पर भी बहुत के लिये अधिष्ठान करता है—'बहुत हो जाय' तो बहुत हो जाता है।

दिव्यचक्षु से उस ब्रह्मा का रूप देखता है, दिव्य श्रोत्र से उस ब्रह्मा का शब्द सुनता है। चेत:पर्याय ज्ञान से उस ब्रह्मा के चित्त को जानता है। यदि चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् दृश्यमान काया से ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो काया के रूप में चित्त को परिणत करता है, अधिष्ठान करता है कि चित्त काया के रूप में (रूपी दृश्यमान) हो जाय। काया के रूप में चित्त को बदलकर, काय के रूप में चित्त का अधिष्ठान कर, सुखसंज्ञा[१] एवं लघुसंज्ञा[१] को प्राप्त करता है, एवं दृश्यमान काय से ब्रह्मलोक जाता है।

"यदि चित्त को वश में कर चुका वह ऋद्धिमान् अदृश्यमान काया से ब्रह्मलोक जाना चाहता है, तो काया को चित्त के रूप में बदल देता है, अधिष्ठान करता है कि काया चित्त के रूप में (अरूपी) हो जाय। चित्त के रूप में काया को परिणत कर, चित्त के रूप में काया का अधिष्ठान कर, सुखसंज्ञा एवं लघुसंज्ञा प्राप्त कर, अदृश्यमान काया से ब्रह्मलोक जाता है। वह उस ब्रह्मा के समक्ष मनोमय रूप निर्मित करता है, जिसमें सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग होते हैं, जिसमें किसी इन्द्रिय की कमी नहीं होती। यदि वह ऋद्धिमान् चंक्रमण करता है, तो निर्मित भी वहाँ चक्रमण करता है। यदि वह ऋद्धिमान् खड़ा होता... बैठता... सोता है, तो निर्मित भी वहाँ सोता है। यदि वह ऋद्धिमान् धुँआता है, जलता है... धर्मप्रवचन करता है... प्रश्न पूछता है... उत्तर देता है तो

१, १. सुखसंज्ञा एवं लघुसंज्ञा के विस्तृत अर्थ के लिये द्रष्टव्य इसी प्रकरण का आगे पृ० ३११।

निम्मितो पि तत्थ तेन ब्रह्मुना सिद्धिं सन्तिट्ठति, सल्लपति, साकच्छं समापज्जति। यं यदेव हि सो इद्धिमा करोति, तं तदेव निम्मितो करोती" (खु० नि० ५/४७२) ति।

तत्थ **दूरे पि सन्तिके अधिट्ठाती** ति। पादकज्झानतो वुट्ठाय दूरे देवलोकं वा ब्रह्मलोकं वा आवज्जति—सन्तिके होतू ति। आवज्जित्वा परिकम्मं कत्वा पुन समापज्जित्वा ञाणेन अधिट्ठाति—सन्तिके होतू ति, सन्तिके होति। एस नयो सेसपदेसु पि।

४२. तत्थ को दूरं गहेत्वा सन्तिकं अकासी ति? **भगवा**। भगवा हि यमकपाटिहारियावसाने देवलोकं गच्छन्तो युगन्धरं च सिनेरुं च सन्तिके कत्वा पथवीतलतो एकं पादं युगन्धरे पतिट्ठपेत्वा दुतियं सिनेरुमत्थके ठपेसि। (१)

अञ्ञो को अकासि? **महामोग्गल्लानत्थेरो**। थेरो हि सावत्थितो भत्तकिच्चं कत्वा निक्खन्तं द्वादसयोजनिकं परिसं तिंसयोजनं सङ्कस्सनगरमग्गं सङ्खिपित्वा तं खणं येव सम्पापेसि। (२)

अपि च—तम्बपण्णिदीपे **चूळसमुद्दत्थेरो** पि अकासि। दुब्भिक्खसमये किर थेरस्स सन्तिकं पातो व सत्त भिक्खुसतानि आगमंसु। थेरो "महाभिक्खुसङ्घो, कुहिं भिक्खाचारो भविस्सती" ति चिन्तेन्तो सकलतम्बपण्णिदीपे अदिस्वा "परतीरे पाटलिपुत्ते भविस्सती" ति दिस्वा भिक्खू पत्तचीवरं गाहापेत्वा "एथावुसो, भिक्खाचारं गमिस्सामा" ति पथविं सङ्खिपित्वा पाटलिपुत्तं गतो। भिक्खू "कतरं, भन्ते, इमं नगरं" ति पुच्छिंसु। "पाटलिपुत्तं, आवुसो" ति। "पाटलिपुत्तं नाम दूरे, भन्ते" ति? "आवुसो, महल्लकत्थेरा नाम दूरे पि गहेत्वा सन्तिके

निर्मित भी वहाँ उत्तर देता है, यदि वह ऋद्धिमान् ब्रह्मा के समीप खड़ा होता है, वार्तालाप (संलाप) करता है, विचारों का आदान प्रदान करता है; तो निर्मित भी वहाँ उस ब्रह्मा के समीप खड़ा होता है, वार्तालाप करता है, विचारों का आदान-प्रदान करता है" (खु० नि० ५/४७२)।

इनमें, **दूरे पि सन्तिके अधिट्ठाति**—आधारभूत ध्यान से उठकर सुदूरवर्ती देवलोक का या ब्रह्मलोक का आवर्जन करता है—'समीप हो जाय'। आवर्जन के पश्चात् परिकर्म करके, पुनः समापन्न होकर ज्ञान द्वारा अधिष्ठान करता है—'समीप हो जाय', तो समीप हो जाता है। शेष पदों में भी यही नय है।

४२. दूर को समीप किसने किया? भगवान् ने। यमकप्रातिहार्य (दिखलाने) के बाद देवलोक जाते समय भगवान् ने युगन्धर एवं सुमेरु को आस पास किया एवं पृथ्वीतल से एक पैर (उठाकर) युगन्धर पर रखकर दूसरे को सुमेरु के शिखर पर रखा। (१)

अन्य किसने किया? मौद्गल्यायन स्थविर ने। क्योंकि स्थविर ने भोजन करके श्रावस्ती से निकल कर बारह योजन (विस्तृत) परिषद् को, सांकाश्यनगर तक जाने वाले तीस योजन के मार्ग को संक्षिप्त कर, उसी क्षण (सांकाश्य में) पहुँचा दिया। (२)

इसके अतिरिक्त, ताम्रपर्णी द्वीप में चूड़समुद्र स्थविर ने भी किया। कहते हैं कि अकाल के समय स्थविर के पास प्रातः ही सात सौ भिक्षु आ पहुँचे। स्थविर ने 'बहुत विशाल भिक्षुसंघ है, भिक्षाटन कहाँ होगा?'—यों चिन्ता करते हुए समस्त ताम्रपर्णी द्वीप में (उपयुक्त स्थान) न देखकर, एवं 'उस पार पाटलिपुत्र में होगा' यों (सम्भावना) देखकर, भिक्षुओं को पात्र-चीवर ग्रहण करवा

करोन्ती'' ति। ''महासमुद्दो कुहिं, भन्ते'' ति? ''ननु, आवुसो, अन्तरा एकं नीलमातिकं[1] अतिक्कमित्वा आगतत्था'' ति? ''आम भन्ते, महासमुद्दो पन महन्तो'' ति। ''आवुसो, महल्लकत्थेरा नाम महन्तं पि खुद्दकं करोन्ती'' ति। (३)

यथा चायं, एवं **तिस्सदत्तत्थेरो** पि सायन्हसमये न्हायित्वा कतुत्तरासङ्गो ''महाबोधिं वन्दिस्सामी'' ति चित्ते उप्पन्ने सन्तिके अकासि[2]। (४)

सन्तिकं पन गहेत्वा को दूरमकासी ति? **भगवा**। भगवा हि अत्तनो च अङ्गुलिमालस्स च अन्तरं सन्तिकं पि दूरमकासी ति।

४३. अथ को बहुकं थोकं अकासी ति? **महाकस्सपत्थेरो**। राजगहे किर नक्खत्तदिवसे[3] पञ्चसता कुमारियो चन्दपूवे[4] गहेत्वा नक्खत्तकीळनत्थाय गच्छन्तियो भगवन्तं दिस्वा किञ्चि नादंसु। पच्छतो आगच्छन्तं पन थेरं दिस्वा ''अम्हाकं थेरो एति, पूवं दस्सामा'' ति सब्बा पूवे गहेत्वा थेरं उपसङ्कमिंसु। थेरो पत्तं नीहरित्वा सब्बं एकपत्तपूरमत्तमकासि। भगवा थेरं आगमयमानो पुरतो निसीदि। थेरो आहरित्वा भगवतो अदासि।

कर कहा—''आयुष्मन्, आओ, भिक्षाटन के लिये चलें'', एवं पृथ्वी को संक्षिप्त कर पाटलिपुत्र पहुँचे। भिक्षुओं ने पूछा—''भन्ते, यह कौन-सा नगर है?''

''आयुष्मन्! पाटलिपुत्र है।'' ''भन्ते! पाटलिपुत्र तो दूर है?''

''आयुष्मन्! वयोवृद्ध स्थविर दूर को भी पास कर देते हैं।''

''भन्ते! महासमुद्र कहाँ रह गया?''

''आयुष्मन्! बीच में एक नीले जल वाली नाली को पार करके नहीं आये हो?''

''हाँ, भन्ते! किन्तु महासमुद्र तो बहुत बड़ा होता है?''

''आयुष्मन्, वयोवृद्ध स्थविर बड़े को भी छोटा कर देते हैं।'' (३)

एवं इसी प्रकार **तिष्यदन्त** स्थविर ने भी जब सन्ध्या के समय स्नान करके उत्तरासङ्ग ओढ़ा, तब 'महाबोधि की वन्दना करूँ'—ऐसी इच्छा उत्पन्न होने पर (महाबोधि को) समीप कर लिया। (४)

समीप को दूर किसने किया? भगवान् ने। भगवान् ने स्वयं अङ्गुलिमाल के बीच की समीपता को दूरी में बदल दिया।

४३. बहुत को थोड़ा किसने किया? महाकश्यप स्थविर ने। राजगृह में किसी उत्सव के दिन पाँच सौ कुमारियाँ चन्द्रमण्डल के समान गोल गोल पुओं को लेकर उत्सव मनाने के लिये जा रही थीं। भगवान् को देखकर (भी) सम्भवतः उन्हें न पहचानने के कारण कुछ नहीं दिया। किन्तु पीछे से स्थविर को आते देखकर—'हमारे स्थविर आ रहे हैं'—यों सोचकर सब पुओं को लेकर स्थविर के पास पहुँचीं। स्थविर ने (भिक्षा पाने के लिये) भिक्षापात्र निकाला एवं सब (पुओं)

---

१. **नीलमातिकं** ति। नीलवण्णोदकमातिकं।

२. **सन्तिके आकासी** ति। तथा चित्तुप्पत्तिसमनन्तरमेव पथविं, समुद्दं च संखिपित्वा महाबोधिसन्तिके अकासि।

३. **नक्खत्तदिवसे** ति। महदिवसे।

४. **चन्दपूवे** ति। चन्दसदिसे चण्दमण्डलाकारे पूवे।

४४. **इल्लीससेट्ठिवत्थुस्मिं** पन महामोग्गल्लानत्थेरो थोकं बहुकमकासि, **काकवलिय-वत्थुस्मिं च भगवा**। महाकस्सपत्थेरो किर सत्ताहं समापत्तिया वीतिनामेत्वा दलिद्दसङ्गहं करोन्तो काकवलियस्स नाम दुग्गतमनुस्सस्स घरद्वारे अट्ठासि। तस्स जाया थेरं दिस्वा पतिनो पक्कं अलोणम्बिलयागुं पत्ते आकिरि। थेरो तं गहेत्वा भगवतो हत्थे ठपेसि। भगवा महाभिक्खुसङ्घस्स पहोनकं कत्वा अधिट्ठासि। एकपत्तेन आभता सब्बेसं पहोसि। काकवलियो पि सत्तमे दिवसे सेट्ठिट्ठानं अलत्था ति।

न केवलं च थोकस्स बहुकरणं, मधुरं अमधुरं, अमधुरं मधुरं ति आदीसु पि यं यं इच्छति, सब्बं इद्धिमतो इज्झति। तथा हि महाअनुळत्थेरो नाम सम्बहुले भिक्खू पिण्डाय चरित्वा सुक्खभत्तमेव लभित्वा गङ्गातीरे[१] निसीदित्वा परिभुञ्जमाने दिस्वा गङ्गाय उदकं सप्पिमण्डं ति अधिट्ठहित्वा सामणेरानं सञ्ञं अदासि। ते थालकेहि आहरित्वा भिक्खुसङ्घस्स अदंसु। सब्बे मधुरेन सप्पिमण्डेन भुञ्जिंसू ति।

४५. **दिब्बेन चक्खुना** ति। इधेव ठितो आलोकं वड्ढेत्वा **तस्स ब्रह्मुनो रूपं पस्सति**। इधेव च ठितो तस्स भासतो **सद्दं सुणाति, चित्तं पजानाति। कायवसेन चित्तं परिणामेती** ति। करजकायस्स[२] वसेन चित्तं परिणामेति, पादकज्झानचित्तं गहेत्वा काये आरोपेति। कायानुगतिकं करोति दन्धगमनं। कायगमनं हि दन्धं होति। **सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमतो** ति

को केवल एक पात्र में आने योग्य कर दिया। भगवान् स्थविर की राह देखते हुए आगे बैठे थे। स्थविर ने लाकर भगवान् को दिया। (५)

४४. **इल्लीक सेठ की कथा** में महामौद्गल्यायन स्थविर ने थोड़े को बहुत किया, एवं **काकवलिय की कथा** में भगवान् ने। महाकाश्यप स्थविर एक सप्ताह समापत्ति में बिताकर, दरिद्रों का उपकार करते हुए काकवलिय नामक दरिद्र व्यक्ति के गृह-द्वार पर उपस्थित हुए। उसकी पत्नी ने स्थविर को देखकर पति के लिये पकायी गयी विना नमक की खट्टी यवागू को पात्र में डाल दिया। स्थविर ने उसे लेकर भगवान् के हाथ में दिया। भगवान् ने अधिष्ठान किया कि 'यह (यवागू) भिक्षुओं के महासंघ के लिये पर्याप्त हो'। तब वह एक पात्र यवागू ही सब के लिये पर्याप्त हुई। काकवलिय ने भी (स्वपुण्य-प्रभाव से) सातवें दिन श्रेष्ठी का स्थान प्राप्त किया। (६)

४४. एवं न केवल थोड़े को बहुत करना, अपितु मधुर को अमधुर या अमधुर को मधुर आदि में से भी जो जो चाहता है, वह सब ऋद्धिमान् के लिये सिद्ध होता है; क्योंकि जब बहुत से भिक्षु भिक्षा में केवल रूखा सूखा भात पाकर गङ्गा के किनारे बैठकर भोजन कर रहे थे, उस समय उन्हें देखकर महाअनुल स्थविर ने गङ्गा के जल में घी का अधिष्ठान किया एवं श्रामणेरों को संकेत किया। सभी ने मधुर (=सुस्वादु) घी के साथ भोजन किया। (७)

४५. **दिब्बेन चक्खुना**—यहीं रहते हुए आलोक (=दृष्टि की परिधि) बढ़ाकर **तस्स ब्रह्मुनो रूपं पस्सति**। एवं यहीं रहते हुए उसके द्वारा कथित **सद्दं सुणाति चित्तं पजानाति। कायवसेन चित्तं परिणामेति**—करज (कर्मज, चार महाभूतों द्वारा निर्मित रूपी) काया के रूप में चित्त को परिणत करता है। आधारभूत ध्यान (से सम्प्रयुक्त) चित्त को काया पर आरोपित करता है। (चित्त

---

१. **गङ्गातीरे** ति। तम्बपण्णिदीपे गङ्गानदिया तीरे। २. **करजकायस्सा** ति। चातुमहाभूतिकरूपकायस्स।

पादकज्झानारम्मणेन इद्धिचित्तेन सहजातं सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमति, पविसति, फस्सेति, सम्पापुणाति। सुखसञ्ञा नाम उपेक्खासम्पयुत्तसञ्ञा। उपेक्खा हि सन्तं सुखं ति वुत्ता। सा येव च सञ्ञा नीवरणेहि चेव वितक्कादीहि पच्चनीकेहि च विमुत्तत्ता लहुसञ्ञा ति वेदितब्बा। तं ओक्कन्तस्स पनस्स करजकायो पि तूलपिचु विय सल्लहुको होति। सो एवं वातुक्खित्ततूलपिचुना विय सल्लहुकेन दिस्समानेन कायेन ब्रह्मलोकं गच्छति। एवं गच्छन्तो च सचे इच्छति, पथवीकसिणवसेन आकासे मग्गं निम्मिनित्वा पदसा गच्छति। सचे इच्छति वायोकसिणवसेन वायुं अधिट्ठहित्वा तूलपिचु विय वायुना गच्छति। अपि च गन्तुकामता एव एत्थ पमाणं। सति हि गन्तुकामताय एवं कतचित्ताधिट्ठानो अधिट्ठानवेगुक्खित्तो व सो इस्सासखित्तसरो विय दिस्समानो गच्छति।

४६. **चित्तवसेन कायं परिणामेती** ति। कायं गहेत्वा चित्ते आरोपेति। चित्तानुगतिकं करोति सीघगमनं। चित्तगमनं हि सीघं होति। **सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमती** ति। रूपकायारम्मणेन इद्धिचित्तेन सहजातं सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमती ति। सेसं वुत्तनयेनेव वेदितब्बं। इदं पन चित्तगमनमेव होति।

एवं अदिस्समानेन कायेन गच्छन्तो पनायं किं तस्स अधिट्ठानचित्तस्स उप्पादक्खणे

को) काया के अनुरूप मन्दगामी बनाता है, क्योंकि काया का गमन (गति) मन्द होता है। **सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमतो**—पादक ध्यान को आलम्बन बनाने वाले ऋद्धिचित्त के साथ उत्पन्न होने वाली सुखसंज्ञा एवं लघुसंज्ञा को प्राप्त करता है (उसमें) प्रवेश करता है, स्पर्श करता है, (वहाँ तक) पहुँचता है। **सुखसंज्ञा** का तात्पर्य है उपेक्षा से सम्प्रयुक्त संज्ञा, क्योंकि उपेक्षा को शान्त और सुख कहा गया है। नीवरणों एवं वितर्क आदि विपरीत धर्मों से विमुक्त होने के कारण उसी संज्ञा को **लघुसंज्ञा** समझना चाहिये। उसे प्राप्त करने वाले का करज काय भी रूई के टुकड़े के समान हल्का होता है। वह हवा में उड़ाये गये रूई के टुकड़ा के समान भारहीन दिखलायी देने वाली काया से ब्रह्मलोक जाता है। यों जाते समय यदि चाहता है तो पृथ्वीकसिण द्वारा आकाश में मार्ग का निर्माण कर पैदल जाता है। यदि चाहता है तो वायुकसिण द्वारा वायु का अधिष्ठान कर, रूई के टुकड़े के समान उड़ता हुआ जाता है। फिर भी, यहाँ जाने की इच्छा होना भी प्रमाण है। यदि जाने की इच्छा होती है, तो चित्त द्वारा यों अधिष्ठान करने वाला (योगी) अधिष्ठान के वेग से प्रक्षिप्त-सा धनु, से छोड़े गये बाण के समान, दिखलायी पड़ता हुआ जाता है।

४६. चित्तवसेन कायं परिणामेति—काय को चित्त पर आरोपित करता है। चित्त के अनुरूप, (काय को भी) शीघ्रगामी बनाता है; क्योंकि चित्त का गमन शीघ्र होता है। **सुखसञ्ञं च लहुसञ्ञं च ओक्कमति**—रूपकाय को आलम्बन बनाने वाले ऋद्धिचित्त के साथ उत्पन्न होने वाली सुखसंज्ञा एवं लघुसंज्ञा तक पहुँचता है। शेष को उक्त प्रकार से ही जानना चाहिये। किन्तु यहाँ गमन केवल चित्त का ही होता है।

किन्तु यों अदृश्य काया से जाते समय, क्या अपने अधिष्ठान चित्त के उत्पादक्षण में जाता

---

१. **थेरो** ति। अट्ठकथाचरियानं अन्तरे एको थेरो।

गच्छति, उदाहु ठितिक्खणे, भङ्गक्खणे वा? ति वुत्ते "तीसु पि खणेसु गच्छती" ति थेरो[१] आह। किं पन सो सयं गच्छति निमित्तं पेसेती ति? यथारुचि करोति। इध पनस्स सयं गमनमेव आगतं।

४७. **मनोमयं** ति। अधिट्ठानमनेन निम्मितत्ता मनोमयं। **अहीनिन्द्रियं** ति। इदं चक्खु-सोतादीनं सण्ठानवसेन वुत्तं। निम्मितरूपे पन पसादो नाम नत्थि। **सचे इद्धिमा चङ्कमति निम्मितो पि तत्थ चङ्कमती** ति आदि सब्बं सावकनिम्मितं सन्धाय वुत्तं। बुद्धनिम्मितो पन यं यं भगवा करोति, तं तं पि करोति। भगवतो रुचिवसेन अञ्ञं पि करोती ति।

१. अधिट्ठाना इद्धि

४८. एत्थ च यं सो इद्धिमा इधेव ठितो दिब्बेन चक्खुना रूपं पस्सति, दिब्बाय सोतधातुया सद्दं सुणाति, चेतोपरियञाणेन चित्तं पजानाति, न एत्तावता कायेन वसं वत्तेति। यं पि सो इधेव ठितो तेन ब्रह्मुना सद्धिं सन्तिट्ठति सल्लपति साकच्छं समापज्जति, एत्तावता पि न कायेन वसं वत्तेति। यं पिस्स दूरे पि सन्तिके अधिट्ठाती ति आदिकं अधिट्ठानं, एत्तावता पि न कायेन वसं वत्तेति। यं पि सो दिस्समानेन वा अदिस्समानेन वा कायेन ब्रह्मलोकं गच्छति, एत्तावता पि न कायेन वसं वत्तेति। यं च खो 'सो तस्स ब्रह्मुनो पुरतो रूपं अभिनिम्मिनाती' ति आदिना नयेन वुत्तविधानं आपज्जति, एत्तावता **कायेन वसं वत्तेति** नाम। सेसं पनेत्थ कायेन वसं वत्तनाय पुब्बभागदस्सनत्थं वुत्तं ति। अयं ताव **अधिट्ठाना इद्धि।**

है, या स्थितिक्षण में अथवा भङ्गक्षण में? यों पूछे जाने पर (अट्ठकथा के आचार्यों में से एक) स्थविर ने कहा—'तीनों क्षणों में जाता है', किन्तु क्या वह स्वयं जाता है या निर्मित को भेजता है? यथारुचि करता है। किन्तु इस प्रसङ्ग में तो उसका स्वयं गमन ही आया हुआ है।

४७. **मनोमयं**—अधिष्ठान करने वाले मन (चित्त?) द्वारा निर्मित होने से मनोमय। **अहीनिन्द्रियं**—यह चक्षु, श्रोत्र आदि की आकृति के विषय में कहा गया है। किन्तु निर्मित में (इन इन्द्रियों की बाह्य स्थूल आकृति मात्र होती है), प्रसाद[१] (=ग्रहणशक्ति) नहीं होता। **सचे इद्धिमा चङ्कमति, निम्मितो पि तत्थ चङ्कमति**—यह सभी श्रावकों द्वारा निर्मित (रूपों) के विषय में कहा गया है। किन्तु (जो) बुद्ध द्वारा निर्मित (होता है वह) जो जो भगवान् करते हैं, वह वह भी करता है। भगवान् की इच्छानुसार अन्य (कार्य) भी करता है।

१. अधिष्ठान ऋद्धि

४८. एवं यहाँ जो ऋद्धिमान् 'यहीं रहकर दिव्यचक्षु से रूप देखता है, दिव्य श्रोत्रधातु से शब्द सुनता है, चेत:पर्याय ज्ञान से (अन्य के) चित्त को जानता है'—इन सबसे वह काया को वश में नहीं करता। एवं जो 'यहीं रहकर उस ब्रह्म के समीप खड़ा होता है, वार्तालाप करता है, विचारों का आदान-प्रदान करता है'—इन सबसे भी वह काया को वश में नहीं करता एवं जो उसका 'जो दूर है वह भी समीप हो जाय' आदि अधिष्ठान है—इन सबसे भी काया को वश में नहीं करता। अपितु यह जो 'वह उस ब्रह्मा के समीप रूप का निर्माण करता है' आदि प्रकार

---

१. चक्षु:प्रसाद आदि पाँच प्रसाद होते हैं।

२. विकुब्बना इद्धि

४९. **विकुब्बनाय** पन मनोमयाय च इदं नानाकरणं। विकुब्बनं ताव करोन्तेन "**सो पकतिवण्णं विजहित्वा कुमारकवण्णं वा दस्सेति, नागवण्णं वा दस्सेति, सुपण्णवण्णं वा दस्सेति, असुरवण्णं वा दस्सेति, इन्दवण्णं वा दस्सेति, देववण्णं वा दस्सेति, ब्रह्मवण्णं वा दस्सेति, समुद्दवण्णं वा दस्सेति, पब्बतवण्णं वा दस्सेति, सीहवण्णं वा दस्सति, ब्यग्घवण्णं वा दस्सेति, दीपिवण्णं वा दस्सेति, हत्थिं पि दस्सेति, अस्सं पि दस्सेति, रथं पि दस्सेति, पत्तिं पि दस्सेति, विविधं पि सेनाब्यूहं दस्सेती**" (खु० नि० ५/४७३) ति एवं वुत्तेसु कुमारकवण्णादीसु यं यं आकङ्खति, तं तं अधिट्ठातब्बं।

अधिट्ठहन्तेन च पथवीकसिणादीसु अञ्ञतरारम्मणतो अभिञ्ञापादकज्झानतो वुट्ठाय अत्तनो कुमारकवण्णो आवज्जितब्बो। आवज्जित्वा परिकम्मावसाने पुन समापज्जित्वा वुट्ठाय 'एवरूपो नाम कुमारको होमी' ति अधिट्ठातब्बं। सह अधिट्ठानचित्तेन कुमारको होति, देवदत्तो विय। एस नयो सब्बत्थ। '**हत्थिं पि दस्सती**' ति आदि पनेत्थ बहिद्धा पि हत्थिआदिदस्सनवसेन वुत्तं। तत्थ 'हत्थी होमी' ति अनधिट्ठहित्वा 'हत्थी होतू' ति अधिट्ठातब्बं। अस्सादीसु पि एसेव नयो ति। अयं **विकुब्बना** इद्धि।

३. मनोमया इद्धि

५२. मनोमयं कातुकामो पन पादकज्झानतो वुट्ठाय कायं ताव आवज्जित्वा वुत्तनयेनेव, 'सुसिरो होतू' ति अधिट्ठाति, सुसिरो होति। अथस्स अब्भन्तरे अञ्ञं कायं आवज्जित्वा

से उक्त विधान को सम्पन्न करता है, तभी वह काया को वश में किया हुआ होता है। यहाँ शेष जो कुछ कहा गया है, वह काया को वश में करने के पूर्व की स्थिति का निर्देश करने के लिये है। यह **अधिष्ठान ऋद्धि** है।

२. विकुर्वण ऋद्धि

४९. विकुर्वण एवं मनोमय में यह अन्तर है—विकुर्वण करने वाले को यों बतलाये गये कुमार आदि रूपों में से जिसे जिसे चाहे, उस उस का अधिष्ठान करना चाहिये—

"वह प्राकृतिक रूप को छोड़कर कुमार का रूप दिखलाता है, नाग, गरुड़, असुर, इन्द्र, देव, ब्रह्मा, समुद्र, पर्वत, सिंह, व्याघ्र, एवं चीते का रूप दिखलाता है, हाथी, घोड़ा, रथ या पैदल सेना भी दिखलाता है और विविध सेना-व्यूह भी दिखलाता है।" (खु० नि० ५/४७३)।

तथा अधिष्ठान करने वाले को पृथ्वीकसिण आदि में से किसी एक को आलम्बन बनाने वाले, अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान से उठकर स्वयं का कुमार के रूप में आवर्जन करना चाहिये। आवर्जन के बाद परिकर्म करके, पुनः समापन्न होकर उठने पर यों अधिष्ठान करना चाहिये—'इस प्रकार का कुमार हो जाऊँ।' अधिष्ठान-चित्त के साथ ही, कुमार हो जाता है। यही नय (विधि) सर्वत्र है। किन्तु यहाँ 'हाथी भी दिखलाता है' आदि बाहर से भी (=स्वयं को उस रूप में न बदल कर भी) हाथी आदि के प्रदर्शन के बारे में कहा गया है। वहाँ, 'हाथी हो जाऊँ'—यों अधिष्ठान न कर 'हाथी हो जाय'—यों अधिष्ठान करना चाहिये। अश्व आदि में भी यही नय है। यह **विकुर्वण ऋद्धि** है।

परिकम्मं कत्वा वुत्तनयेनेव अधिट्ठाति—'तस्स अब्भन्तरे अञ्ञो कायो होतू' ति। सो तं मुञ्जम्हा ईसिकं विय, कोसिया असिं विय, करण्डाय अहिं विय च अब्बाहति[1]। तेन वुत्तं—"इध **भिक्खु इमम्हा काया अञ्ञं कायं अभिनिम्मिनाति रूपिं मनोमयं सब्बङ्गपच्चङ्गिं अहीनिन्द्रियं। सेय्यथापि पुरिसो मुञ्जम्हा ईसिकं पबाहेय्य, तस्स एवमस्स—अयं मुञ्जो अयं ईसिका, अञ्ञो मुञ्जो अञ्ञा ईसिका, मुञ्जम्हा त्वेव ईसिका पवाळ्हा**" (खु० नि० ५/३७३) ति आदि। एत्थ च यथा ईसिकादयो मुञ्जादीहि सदिसा होन्ति, एवं मनोमयरूपं इद्धिमता सदिसमेव होती ति दस्सनत्थं एता उपमा वुत्ता ति। अयं **मनोमया इद्धि**॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
इद्धिविधनिद्देसो नाम द्वादसमो परिच्छेदो॥

●●

---

३. मनोमय ऋद्धि

५०. **मनोमय ऋद्धि** करने का अभिलाषी जब आधारभूत ध्यान से उठकर काय का आवर्जन करता है एवं उक्त प्रकार से ही 'खोखला (रिक्त) हो जाय'—यों अधिष्ठान करता है, तब खोखला हो जाता है। तब उस (खोखली काया) के भीतर अन्य काया का आवर्जन कर परिकर्म करके, उक्त विधि से ही अधिष्ठान करता है—'उसके भीतर अन्य काया हो जाय'। वह उसे मूँज से सींक के समान, कोष से तलवार के समान, एवं पिटारी से साँप के समान बाहर निकालता है। इसलिये कहा गया है—"यहाँ भिक्षु इस काया से दूसरे का निर्माण करता है, जो रूपी, मनोमय, सर्वाङ्गपूर्ण एवं अहीनेन्द्रिय होती है। जैसे कोई पुरुष मूँज से घास को खींचकर बाहर निकाले एवं उसे ऐसा लगे—'यह मूँज है, यह घास है, यहाँ मूँज अन्य है, घास अन्य, मूँज से ही घास निकाली गयी है" (खु० ५/३४३)। आदि (वैसे ही यहाँ भी हैं) यहाँ, जैसे मूँज आदि घास (सींक) आदि के समान होते हैं, इसे प्रदर्शित करने के लिये यह उपमा दी गयी है। यह **मनोमय ऋद्धि** है॥

यों, साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ में
ऋद्धिविधनिर्देश नामक द्वादश परिच्छेद सम्पन्न॥

●●

---

१. **अब्बाहति** ति। उद्धरति।

१३. अभिञ्ञानिद्देसो

तेरसमो परिच्छेदो

१. दिब्बसोतधातुकथा

१. इदानि दिब्बसोतधातुया निद्देसक्कमो अनुप्पत्तो। एत्थ ततो परासु च तीसु अभिञ्ञासु "**सो एवं समाहिते चित्ते**"[१] (दी० नि० १/८७) ति आदीनं अत्थो वुत्तनयेनेव वेदितब्बो। सब्बत्थ पन विसेसमत्तमेव वण्णयिस्साम।

तत्र **दिब्बाय सोतधातुया** ति। एत्थ दिब्बसदिसत्ता दिब्बा। देवानं हि सुचरितकम्म-निब्बत्ता पित्तसेम्हरुहिरादीहि अपलिबद्धा उपक्किलेसविमुत्तताय दूरे पि आरम्मणं सम्पटिच्छन-समत्था दिब्बपसादसोतधातु होति। अयं चापि इमस्स भिक्खुनो विरियभावनाबलनिब्बत्ता ञाणसोतधातु तादिसा येवा ति दिब्बसदिसत्ता दिब्बा। अपि च दिब्बविहारवसेन पटिलद्धत्ता अत्तना च दिब्बविहारसन्निस्सितत्ता पि दिब्बा। सवनट्ठेन निज्जीवट्ठेन च सोतधातु। सोतधातु-किच्चकरणेन च सोतधातु विया ति पि सोतधातु। ताय दिब्बाय सोतधातुया।

---

१३. अभिज्ञानिर्देश

त्रयोदश परिच्छेद

दिव्यश्रोत्रधातु

१. अब दिव्य श्रोत्रधातु के निर्देश का क्रम प्राप्त हुआ है। यहाँ अन्य अवशिष्ट तीन अभिज्ञाओं के विषय में भी, "**सो एवं समाहिते चित्ते**"[१] (दी० नि० १/६९) आदि का अर्थ उक्त नय से ही जानना चाहिये। उन सब में जो अन्तर है, यहाँ हम केवल उसी का वर्णन करेंगे।

वहाँ (उक्त पालि में) **दिब्बाय सोतधातुया**—यहाँ दिव्य (दैवीय) के समान होने से दिव्य है। कारण यह है कि देवताओं की श्रोत्रधातु दिव्य प्रसाद (=ग्रहणशक्ति) वाली होती है; क्योंकि सत्कर्म से उत्पन्न होने के कारण वह पित्त, श्लेष्मा, रुधिर आदि (से उत्पन्न) बाधाओं से रहित एवं उपक्लेशों से विमुक्त होती है। अत: दूरवर्ती आलम्बन को भी ग्रहण कर सकती है। एवं इस भिक्षु की ज्ञान-श्रोत्रधातु (ज्ञान में निहित श्रोत्रधातु) भी वीर्यभावना के बल से उत्पन्न होने से वैसी ही होती है, अत: दिव्य के समान होने से दिव्य है। इसके अतिरिक्त, दिव्य विहार द्वारा प्राप्त होने से एवं दिव्य विहार पर स्वयं भी आश्रित होने से दिव्य है। श्रवण के अर्थ में एवं

---

१. सम्पूर्ण पालि यह है : "**सो एवं समाहिते चित्ते परिसुद्धे परियोदाते अनङ्गणे विगतूपक्किलेसे मुदुभूते कम्मनिये ठिते आनेञ्जप्पत्ते दिब्बाय सोतधातुया चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो दिब्बाय सोतधातुया विसुद्धाय अतिक्कन्तमानुसिकाय उभो सद्दे सुणाति—दिब्बे च मानुसे च, ये दूरे सन्तिके च।**" "**सो एवं समाहिते चित्ते ...पूर्ववत्... आनेञ्जपत्ते...अभिनिन्नामेति**"। यह सभी पाँच अभिज्ञाओं के बारे में समान रूप से कहा गया है, एवं इन पदों पर पहले विचार हो चुका है, अत: इस परिच्छेद में केवल विशेष का वर्णन करेंगे—यह ग्रन्थकार का आशय है।

२. **विसुद्धाया** ति। परिसुद्धाय, निरुपक्किलेसाय। **अतिक्कन्तमानुसिकाया** ति मनुस्सूपचारं अतिक्कमित्वा सद्दसवनेन मानुसिकं मंससोतधातुं अतिक्कन्ताय, वीतिवत्तित्वा ठिताय।

उभो सद्दे सुणाती ति। द्वे सद्दे सुणाति। कतमे द्वे? दिब्बे च, मानुसे च। देवानं च मनुस्सानं च सद्दे ति वुत्तं होति। एतेन पदेसपरियादानं वेदितब्बं। **ये दूरे सन्तिके चा** ति। ये सद्दा दूरे परचक्कवाळे पि, ये च सन्तिके अन्तमसो सदेहसन्निस्सितपाणकसद्दा पि, ते सुणाती ति वुत्तं होति। एतेन निप्पदेसपरियादानं वेदितब्बं।

३. कथं पनायं उप्पादेतब्बा ति? तेन भिक्खुना अभिञ्ञापादकज्झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय परिकम्मसमाधिचित्तेन पठमतरं पकतिसोतपथे दूरे ओळारिको अरञ्ञे सीहादीनं सद्दो आवज्जितब्बो। विहारे गण्डिसद्दो, भेरिसद्दो, सङ्खसद्दो, सामणेरदहरभिक्खूनं सब्बत्थामेन सज्झायन्तानं सज्झायनसद्दो, पकतिकथं कथेन्तानं "किं भन्ते, किं आवुसो" ति आदिसद्दो, सकुणसद्दो, वातसद्दो, पदसद्दो, पक्कुथितउदकस्स चिच्चिटायनसद्दो, आतपे सुस्समानतालपण्णसद्दो, कुन्थकिपिल्लिकादिसद्दो ति एवं सब्बोळारिकतो पभुति यथाक्कमेन सुखुमसद्द आवज्जितब्बा।

तेन पुरत्थिमाय दिसाय सद्दानं सद्दनिमित्तं मनसिकातब्बं। पच्छिमाय, उत्तराय,

---

निर्जीव (=नैरात्म्य) होने के अर्थ में (क्रमशः) श्रोत्र (एवं) धातु है। श्रोत्रधातु का कृत्य करने से एवं श्रोत्रधातु के समान होने से भी श्रोत्रधातु है। उस **दिव्य श्रोत्रधातु** से।

२. **विसुद्धाय**—परिशुद्ध से, उपक्लेशों से रहित से। (विशुद्ध-यह श्रोत्रधातु का विशेषण है।) **अतिक्कन्तमानुसिकाय**—मनुष्यों के क्षेत्र (उपचार) का अतिक्रमण करते हुए शब्द श्रवण करने से, जिसने मानुषिक (मांसनिर्मित) श्रोत्रधातु का अतिक्रमण कर दिया है, उससे। (अर्थात्) जो परे (दूर) होकर स्थित है, उससे।

उभो सद्दे सुणाति—दोनों (प्रकार के) शब्दों को सुनता है। कौन से दो? दिव्य एवं मानवीय। अर्थात् देवताओं और मनुष्यों के शब्दों को। इसके द्वारा क्षेत्रविशेष (प्रदेश) का ग्रहण समझना चाहिये। **ये दूरे सन्तिके च**—अर्थात् जो शब्द दूर, दूसरे चक्रवालों भी में हों, एवं जो समीप हो, यहाँ तक कि अपने शरीर में आश्रय लिये हुए जीवों के भी शब्द उन्हें सुनता है। इस (कथन) से समग्र का ग्रहण समझना चाहिये।

३. किन्तु इसे उत्पन्न कैसे करना चाहिये? उस भिक्षु को अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान में समापन्न होने के पश्चात् उठकर, परिकर्म समाधिचित्त द्वारा, सर्वप्रथम प्राकृतिक श्रोत्र की परिधि में आने वाले दूर के स्थल शब्दों का आवर्जन करना चाहिये; (जैसे) वन में सिंह आदि का शब्द, विहार में घण्टे का शब्द, भेरी का, शङ्ख का, श्रामणेर (नवयुवक) भिक्षुओं के एक साथ पाठ करते समय पाठ का, शब्द एवं साधारण वार्तालाप के शब्द जैसे 'क्या है, भन्ते', क्या है, आयुष्मन् आदि, वायु का शब्द, पदचाप, उबलते पानी के खदखदाने का शब्द, धूप में सूखते हुए ताड़ के पत्ते का (खड़खड़), एवं चींटी आदि के शब्द। यों, पूरी तरह स्थूल (शब्दों) से आरम्भ कर, क्रमशः सूक्ष्म शब्दों का आवर्जन करना चाहिये।

उसे पूर्व दिशा के शब्दों, शब्द के संकेतों (निमित्तों) पर ध्यान देना चाहिये। पश्चिम, उत्तर,

दक्खिणाय, हेट्ठिमाय, उपरिमाय दिसाय, पुरत्थिमाय अनुदिसाय, पच्छिमाय... उत्तराय... दक्खिणाय अनुदिसाय सद्दानं सद्दनिमित्तं मनसिकातब्बं। ओळारिकानं पि सुखुमानं पि सद्दानं सद्दनिमित्तं मनसिकातब्बं। तस्स ते सद्दा पाकतिकचित्तस्सा पि पाकटा होन्ति। परिकम्म-समाधिचित्तस्स पन अतिविय पाकटा।

४. तस्सेवं सद्दनिमित्तं मनसिकरोतो, 'इदानि दिब्बसोतधातु उप्पज्जिस्सती' ति तेसु सद्देसु अञ्ञतरं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उप्पज्जति। तस्मिं निरुद्धे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति, येसं पुरिमानि तीणि चत्तारि वा परिकम्म-उपचारानुलोमगोत्रभुनामकानि कामावचरानि, चतुत्थं पञ्चमं वा अप्पनाचित्तं रूपावचरं चतुत्थज्झानिकं।

तत्थ यं येन अप्पनाचित्तेन सद्धिं उप्पन्नं ञाणं, अयं दिब्बसोतधातू ति वेदितब्बा। ततो परं तस्मिं सोते पतितो होति। तं थामजातं करोन्तेन—'एत्थन्तरे सद्दं सुणामी' ति एकङ्गुलमत्तं परिच्छिन्दित्वा वड्ढेतब्बं। ततो द्वङ्गुल-चतुरङ्गुल-अट्ठङ्गुल-विदत्थि-रतन-अन्तोगब्भ-पमुख-पासाद-परिवेण-सङ्घाराम-गोचरगाम-जनपदादिवसेन याव चक्कवाळं, ततो वा भिय्यो पि परिच्छिन्दित्वा परिच्छिन्दित्वा पि सद्दे पुन पादकज्झानं असमापज्जित्वा पि अभिञ्ञाञाणेन सुणाति येव। एवं सुणन्तो च सचे पि याव ब्रह्मलोका सङ्खभेरिपणवादिसद्देहि एककोलाहलं होति, पाटियेक्कं ववत्थपेतुकामताय सति 'अयं सङ्खसद्दो', 'अयं भेरिसद्दो' ति ववत्थपेतुं सक्कोति येवा ति। दिब्बसोतधातुकथा निट्ठिता॥

दक्षिण, नीचली (अधः), ऊपरी दिशा, पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण दिशा की उपदिशा के शब्दों, शब्द-निमित्तों पर ध्यान देना चाहिये। स्थूल एवं सूक्ष्म—दोनों ही प्रकार के शब्दों एवं शब्दनिमित्तों पर ध्यान देना चाहिये। उसके वे शब्द साधारण (प्राकृतिक) चित्त को भी स्पष्ट प्रतीत होते हैं, परिकर्म समाधिचित्त के लिये तो अत्यधिक प्रकट।

४. जब वह (साधक) शब्द-निमित्त पर यों ध्यान देता है, तब 'इस समय दिव्य श्रोत्रधातु उत्पन्न होगी'—ऐसा (विचार आने पर) उन शब्दों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है। उसके निरुद्ध होने पर चार या पाँच जवनचित्त जवन करते हैं। इनमें पूर्व के तीन या चार परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू नामक कामावचर (भूमि के चित्त होते हैं), तथा चौथा पाँचवाँ अर्पणाचित्त चतुर्थ ध्यान वाला होता है।

इनमें, उस अर्पणाचित्त के साथ जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे दिव्यश्रोत्रधातु समझना चाहिये। उसके पश्चात् (दिव्य श्रोत्रधातु) उस (ज्ञान) श्रोत्र में समा जाता है। उसे सबल बनाने के अभिलाषुक को 'इस (परिधि) के भीतर के शब्द सुनूँ'—यों पहले एक अङ्गुल की सीमा निर्धारित कर, (शक्ति को) बढ़ाना चाहिये। तब दो अङ्गुल, चार अङ्गुल, आठ अङ्गुल, एक बालिश्त, एक हाथ, कमरे का भीतरी भाग, बरामदा, प्रासाद, चारदीवारी, सङ्घाराम, भिक्षाटन के लिये चुना गया ग्राम एवं जनपद आदि के अनुसार (क्रमशः) बढ़ाना चाहिये।

यों अभिज्ञा को प्राप्त कर चुका वह (योगी) आधारभूत ध्यान के आलम्बन द्वारा स्पृष्ट क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले शब्दों को अभिज्ञा-ज्ञान से सुनता ही है, फिर भले ही वह पुनः आधारभूत ध्यान में समापन्न न हुआ हो। यों सुनते समय यदि ब्रह्मलोक तक भी शङ्ख, भेरी, नगाड़े आदि

२. चेतोपरियञाणकथा

५. चेतोपरियञाणकथाय—**चेतापरियञाणाया**[१] ति। एत्थ परियाती ति परियं। परिच्छिन्दती ति अत्थो। **चेतसो** परियं चेतोपरियं। चेतोपरियं च तं ञाणं चा ति चेतोपरियञाणं। तदत्थाया ति वुत्तं होति। **परसत्तानं** ति। अत्तानं ठपेत्वा सेससत्तानं। **परपुग्गलानं** ति। इदं पि इमिना एकत्थमेव। वेनेय्यवसेन पन देसनाविलासेन च ब्यञ्जननानत्तं कतं। **चेतसो चेतो** ति। अत्तनो चित्तेन तेसं चित्तं। **परिच्च पजानाती** ति। परिच्छिन्दित्वा सरागादिवसेन नानप्पकारतो जानाति।

६. कथं पनेतं ञाणं उप्पादेतब्बं ति? एतं हि दिब्बचक्खुवसेन इज्झति। तं एतस्स परिकम्मं। तस्मा तेन भिक्खुना आलोकं वड्ढेत्वा दिब्बेन चक्खुना परस्स हदयरूपं निस्साय वत्तमानस्स लोहितस्स वण्णं पस्सित्वा चित्तं परियेसितब्बं। यदा हि सोमनस्सचित्तं वत्तति, तदा रत्तं निग्रोधपक्कसदिसं होति। यदा दोमनस्सचित्तं वत्तति, तदा काळकं जम्बुपक्कसदिसं। यदा उपेक्खाचित्तं वत्तति, तदा पसन्नतिलतेलसदिसं।

तस्मा तेन 'इदं रूपं सोमनस्सिन्द्रियसमुट्ठानं', 'इदं दोमनस्सिन्द्रियसमुट्ठानं', 'इदं

के शब्दों से मिला-जुड़ा कोलाहल हो रहा हो, तो प्रत्येक का पृथक् निश्चय करने की इच्छा होने पर 'यह शङ्ख का शब्द है', 'यह भेरी का शब्द है'—यों निश्चय भी करता है।

दिव्यश्रोत्रधातु का वर्णन सम्पन्न॥

चेत:पर्यायज्ञान

५. चेत:पर्यायज्ञान के वर्णन में, **चेतोपरियञाणाय**[१]—यहाँ, (सराग आदि के रूप में) पर्याय (निश्चय, वर्गीकरण) करता है, अत: पर्याय है। अर्थात् परिच्छेद (सीमा-निर्धारण) करता है। चित्त का पर्याय=चेत:पर्याय। वह चेत:पर्याय है एवं ज्ञान है, अत: चेत:पर्यायज्ञान है। उसके लिये यह कहा गया है। **परसत्तानं**—स्वयं के अतिरिक्त शेष सत्त्वों का। **परपुग्गलानं**—इसका भी वही अर्थ है। किन्तु विनेयजनों के अनुसार एवं देशना की रोचकता के लिये शब्दों का नानात्व किया गया है। **चेतसा चेतो**—अपने चित्त से उनके चित्त को। **परिच्च पजानाति**—परिच्छेद कर, 'सराग' आदि (भेद) के अनुसार, नाना प्रकार से जानता है।

६. किन्तु इस ज्ञान को कैसे उत्पन्न करना चाहिये? यह दिव्यचक्षु द्वारा सिद्ध होता है, जो इसका परिकर्म है। इसलिये उस भिक्षु को आलोक बढ़ाकर दिव्यचक्षु द्वारा दूसरे के हृत्पिण्ड के सहारे वर्तमान रक्त का रंग देखकर, चित्त का ज्ञान करना चाहिये; क्योंकि जब सौमनस्य (से युक्त) चित्त होता है, तब रक्त लाल, पके बरगद (के फल) के रंग का होता है। जब दौर्मनस्य-युक्त चित्त होता है, तब पके हुए काले जामुन फल के समान। जब उपेक्षा-चित्त होता है, तब तिल के शुद्ध तैल के समान।

इसलिये उसे 'यह रूप सौमनस्येन्द्रिय से उत्पन्न है', 'यह दौर्मनस्येन्द्रिय से उत्पन्न है'—

---

१. "**चेतोपरियञाणाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो परसत्तानं परपुग्गलानं चेतसा चेतो परिच्च पजानाति, सरागं वा चित्तं...वीतरागं वा चित्तं ...पे०... अविमुत्तं वा चित्तं अविमुत्तं चित्तं ति पजानाति**"—दी० नि० १/८८।

उपेक्खिन्द्रियसमुट्ठानं' ति परस्स हदयलोहितवण्णं पस्सित्वा चित्तं परियेसन्तेन चेतोपरियञाणं थामगतं कातब्बं।

एवं थामगते हि तस्मिं अनुक्कमेन सब्बं पि कामावचरचित्तं रूपावचरारूपावचरचित्तं च पजानाति, चित्ता चित्तमेव सङ्कमन्तो विना पि हदयरूपदस्सेन। वुत्तं पि चेतं **अट्ठकथायं**— "आरुप्पे परस्स चित्तं जानितुकामो कस्स हदयरूपं पस्सति, कस्सिन्द्रियविकारं ओलोकेती ति? न कस्सचि। इद्धिमतो विसयो एस यदिदं यत्थ कत्थचि चित्तं आवज्जन्तो सोळसप्पभेदं चित्तं जानाति। अकताभिनिवेसस्स पन वसेन अयं कथा" ति।

७. **सरागं वा चित्तं** ति आदीसु पन अट्ठविधं लोभसहगतं चित्तं **सरागं चित्तं** ति वेदितब्बं। अवसेसं चतुभूमकं कुसलाब्याकतं चित्तं **वीतरागं**। द्वे दोमनस्सचित्तानि, द्वे विचिकिच्छुद्धच्चचित्तानी ति इमानि पन चत्तारि चित्तानि इमस्मिं दुके सङ्गहं न गच्छन्ति। केचि पन थेरा तानि पि सङ्गण्हन्ति। दुविधं पन दोमनस्सचित्तं **सदोसं चित्तं** नाम। सब्बं पि चतुभूमकं कुसलाब्याकतं **वीतदोसं**। सेसानि दसाकुसलचित्तानि इमस्मिं दुके सङ्गहं न गच्छन्ति। केचि पन थेरा तानि पि सङ्गण्हन्ति।

८. **समोहं वीतमोहं** ति। एत्थ पन पाटिपुग्गलिकनयेन[1] विचिकिच्छुद्धच्चसहगतद्वयमेव

इस प्रकार दूसरे के हृदय के रक्त का रंग देखकर, चित्त का पता लगाते हुए चेतःपर्यायज्ञान को दृढ़ करना चाहिये।

उस ज्ञान के यों दृढ़ होने पर, क्रम से सभी कामावचर चित्तों एवं रूपावचर चित्तों को जानता है, चित्त से चित्त की ओर बढ़ते हुए, हृत्पिण्ड को देखे विना ही। एवं **अट्ठकथा में** यह कहा भी है—यह "आरूप्य में दूसरे के चित्त को जानने का अभिलाषी किसके हृत्पिण्ड (=हृदयरूप[2]) को देखता है? किसी के नहीं। यह ऋद्धिमान् का विषय है जो कि यह जिस किसी चित्त का विचार करते हुए, सोलह प्रकार के चित्त को जानता है। किन्तु (हृदय रूप में वर्तमान रक्त के सहारे परचित्तज्ञान का) यह वर्णन उनके लिये है जिन्होंने अभिनिवेश[3] नहीं किया है।

७. **सरागं वा चित्तं** आदि में आठ प्रकार के लोभसहगत चित्त को **सराग चित्त** जानना चाहिये। शेष चातुर्भूमिक कुशल एवं अव्याकृत चित्त को **वीतराग**। दो दौर्मनस्य चित्त एवं दो विचिकित्सा एवं औद्धत्यचित्त—ये चार चित्त इस द्विक में संगृहीत नहीं हैं। किन्तु कुछ स्थविर उनका भी संग्रह करते हैं। दो प्रकार के दौर्मनस्य चित्त को **सदोष चित्त** कहते हैं। सभी चतुर्भूमिक कुशल एवं अव्याकृत को **वीतदोष**। शेष दस कुशल चित्त इस द्विक में संगृहीत नहीं है। परन्तु कुछ स्थविर उन्हें भी संगृहीत करते हैं।

---

१. **पाटिपुग्गलिकनयेना** ति। आवेणिकनयेन।

२. पृथ्वी आदि भूतों से बना हुआ भौतिक हृदय। यह 'हृदय वस्तु' का नहीं, अपितु हृदय की मांसपेशी का सूचक है।

३. यहाँ इस शब्द का असाधारण प्रयोग किया गया है। प्रसङ्ग के अनुसार इसका अर्थ 'अभ्यास करना' अधिक उपयुक्त होगा।

समोहं। मोहस्स पन सब्बाकुसलेसु सम्भवतो द्वादसविधं पि अकुसलचित्तं समोहं चित्तं ति वेदितब्बं। अवसेसं **वीतमोहं**।

थीनमिद्धानुगतं पन **सङ्खित्तं**, उद्धच्चानुगतं **विक्खित्तं**। रूपावचरारूपावचरं **महग्गतं**, अवसेसं **अमहग्गतं**। सब्बं पि तेभूमकं **सउत्तरं**, लोकुत्तरं **अनुत्तरं**। उपचारप्पत्तं अप्पनाप्पत्तं च **समाहितं**, उभयमप्पत्तं **असमाहितं**। तदङ्गविक्खम्भन-समुच्छेद-पटिप्पस्सद्धि-निस्सरण-विमुत्तिप्पत्तं **विमुत्तं**। पञ्चविधं पि एतं विमुत्तिमप्पत्तं **अविमुत्तं** ति वेदितब्बं। इति चेतोपरियञाणलाभी भिक्खु सब्बप्पकारं पि इदं सरागं वा चित्तं...पे०...अविमुत्तं वा चित्तं अविमुत्तं चित्तं ति पजानाती ति॥

चेतोपरियञाणकथा निट्ठिता॥

३. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणकथा

९. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणकथाय **पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाया** (दी० नि० १/८९) ति। पुब्बेनिवासानुस्सतिम्हि यं ञाणं, तदत्थाय। पुब्बेनिवासो ति। पुब्बे अतीतजातीसु निवुत्थक्खन्धा। **निवुत्था** ति। अज्झावुत्था, अनुभूता, अत्तनो सन्ताने उप्पज्जित्वा निरुद्धा। निवुत्थधम्मा वा। **निवुत्था** ति। गोचरनिवासेन निवुत्था, अत्तनो विञ्ञाणेन विञ्ञाता परिच्छिन्ना। परविञ्ञाण-विञ्ञाता पि वा छिन्नवटुमकानुस्सरणादीसु, ते बुद्धानं येव लब्भन्ति।

---

८. **समोहं वीतमोहं**—यहाँ 'प्रातिपौद्गलिक नय' के अनुसार (अर्थात् विशेष रूप से तो) विचिकित्साहगत एवं औद्धत्यसहगत (चित्त) ही **समोह** हैं; किन्तु क्योंकि सभी अकुशलों में मोह होता है, अतः बारह प्रकार के अकुशल चित्त को 'समोह चित्त' समझना चाहिये। अवशेष को **वीतमोह**।

स्त्यान-मृद्ध से युक्त चित्त **संक्षिप्त** (सङ्कुचित) है, औद्धत्य से युक्त **विक्षिप्त**। रूपावचर एवं अरूपावचर **महद्गत**, शेष **अमहद्गत**। सभी त्रैभूमिक **सोत्तर**, एवं लोकोत्तर **अनुत्तर** हैं। उपचारप्राप्त एवं अर्पणा-प्राप्त **समाहित** है, दोनों को अप्राप्त **असमाहित**। तदङ्ग, विष्कम्भन, समुच्छेद, प्रतिप्रश्रब्धि, निःसरण नामक पाँच प्रकार की विमुक्ति को प्राप्त करने वाला **विमुक्त** है। इन पाँचों प्रकार की विमुक्तियाँ प्राप्त न करने वाले को **अविमुक्त** समझना चाहिये। यों, चेतःपर्याय ज्ञान का लाभी भिक्षु सभी प्रकार के इस सराग...पूर्ववत्....या अविमुक्त चित्त को अविमुक्त चित्त के रूप में जानता है॥

चेतःपर्यायज्ञान का वर्णन सम्पन्न॥

पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान

९. पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान के वर्णन में, **पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाय**[1] (दी० नि० १/८९)—पूर्वनिवास की स्मृतिविषयक जो ज्ञान है, उसके लिये। पूर्वनिवास—पूर्व में अतीत जन्मों में निवास किये गये (जिसे गये) स्कन्ध। **निवसित** (निवास किये गये, 'निवुत्था') का अर्थ है अधिवासित, अनुभूत, अपनी सन्तान में उत्पन्न होकर निरुद्ध। अथवा, निवास किये गये धर्म।

---

१. पालि यह है : "**पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति। सो अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति, सेय्यथीदं—एकम्पि जातिं...पे०...इति साकारं सउद्देसं अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति।**"

पुब्बेनिवासानुस्सती ति। याय सतिया पुब्बेनिवासं अनुस्सरति, सा पुब्बेनिवासानुस्सति। **ञाणं** ति। ताय सतिया सम्पयुत्तञाणं। एवमिमस्स पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणस्स अत्थाय पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणाय। एतस्स ञाणस्स अधिगमाय, पत्तिया ति वुत्तं होति।

१०. **अनेकविहितं** ति। अनेकविधं, अनेकेहि वा पकारेहि पवत्तितं। संवण्णितं ति अत्थो। **पुब्बेनिवासं** ति। समनन्तरातीतं भवं आदिं कत्वा तत्थ निवुत्थसन्तानं। **अनुस्सरती** ति। खन्धपटिपाटिवसेन चुतिपटिसन्धिवसेन वा अनुगन्त्वा अनुगन्त्वा सरति। इमं हि पुब्बेनिवासं छ जना अनुस्सरन्ति—तित्थिया, पकतिसावका, असीति महासावका, अग्गसावका, पच्चेकबुद्धा, बुद्धा ति।

११. तत्थ **तित्थिया** चत्तालीसं येव कप्पे अनुस्सरन्ति, न ततो परं। कस्मा? दुब्बलपञ्ञत्ता। तेसं हि नामरूपपरिच्छेदविरहितत्ता दुब्बला पञ्ञा होति। **पकतिसावका** कप्पसतं पि कप्पसहस्सं पि अनुस्सरन्ति येव, बलवपञ्ञत्ता। **असीति महासावका** सतसहस्सकप्पे अनुस्सरन्ति। **द्वे अग्गसावका** एकं असङ्ख्येय्यं सतसहस्सं च। **पच्चेकबुद्धा** द्वे असङ्ख्येय्यानि सतसहस्सं च। एत्तको हि एतेसं अभिनीहारो। **बुद्धानं** पन परिच्छेदो नाम नत्थि।

१२. तित्थिया च खन्धपटिपाटिमेव सरन्ति, पटिपाटिं मुञ्चित्वा चुतिपटिसन्धिवसेन

निवसित—गोचर-निवास के रूप में निवसित, अपने विज्ञान द्वारा विज्ञात, परिमित। अथवा, जिनके लिये संसार-चक्र छिन्न हो चुका है, उनमें परविज्ञान से भी विज्ञात। वे बुद्धों को ही प्राप्त होते हैं। **पुब्बेनिवासानुस्सति**—जिस स्मृति द्वारा पूर्व के निवास का अनुस्मरण करता है; वह पूर्वनिवासानुस्मृति है। **ञाण**—उस स्मृति से सम्प्रयुक्त ज्ञान। यों, इस पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान के लिये...। अर्थात् इस ज्ञान के अधिगम, प्राप्ति के लिये।

१०. **अनेकविहितं**—अनेकविध, या अनेक प्रकार से प्रवर्तित **संवर्णित** (सम्यक् रूप से, विस्तारपूर्वक वर्णित)—यह अर्थ है। **पुब्बेनिवासं**—इस जन्म के ठीक पूर्ववर्ती जन्म से लेकर, उसके पहले यहाँ वहाँ निवास करने वाली सन्तति। **अनुस्सरति**—स्कन्ध क्रम के अनुसार या च्युति एवं प्रतिसन्धि के अनुसार (काल की दृष्टि से) पीछे जा जाकर स्मरण करता है। इस पूर्वनिवास का छह प्रकार के योगी जन अनुस्मरण करते हैं—तीर्थिक, प्रकृतिश्रावक[१], महाश्रावक, अग्रश्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बुद्ध।

११. इनमें **तीर्थिक** चालीस कल्पों का ही अनुस्मरण करते हैं, उसके पूर्व का नहीं। क्यों? प्रज्ञा दुर्बल होने से। क्योंकि नामरूप-निश्चय से रहित होने से उनकी प्रज्ञा दुर्बल होती है। **प्रकृतिश्रावक**—सौ कल्प या हजार कल्प का भी अनुस्मरण करते हैं, प्रज्ञा के बलवान् होने से। **अस्सी महाश्रावक**—एक लाख कल्प का अनुस्मरण करते हैं। **दो अग्रश्रावक** (स्थविर सारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन)। एक असंख्येय लाख कल्प का। **प्रत्येकबुद्ध** दो असंख्येय लाख कल्प का। इनका अभिनीहार (मन को पीछे ले जाना) इतने तक ही होता है। किन्तु **बुद्धों** के लिये कोई सीमा नहीं है।

१२. तथा तीर्थिक स्कन्ध-क्रम का ही अनुस्मरण करते हैं। उनमें (इस) क्रम को छोड़कर

---

१. अग्रश्रावकों एवं महाश्रावकों के अतिरिक्त शेष सभी श्रावक।

सरितुं न सक्कोन्ति। तेसं हि अन्धानं विय इच्छितपदेसोक्कमनं नत्थि। यथा पन अन्धा यट्ठिं अमुञ्चित्वा व गच्छन्ति, एवं ते खन्धानं पटिपाटिं अमुञ्चित्वा व सरन्ति। पकतिसावका खन्धपटिपाटिया पि अनुस्सरन्ति, चुतिपटिसन्धिवसेन पि सङ्कमन्ति। तथा असीति महासावका। द्विन्नं पन अग्गसावकानं खन्धपटिपाटिकिच्चं नत्थि। एकस्स अत्तभावस्स चुतिं दिस्वा पटिसन्धिं पस्सन्ति, पुन अपरस्स चुतिं दिस्वा पटिसन्धिं ति एवं चुतिपटिसन्धिवसेनेव सङ्कमन्ता गच्छन्ति। तथा पच्चेकबुद्धा।

१३. बुद्धानं पन नेव खन्धपटिपाटिकिच्चं, न चुतिपटिसन्धिवसेन सङ्कमनकिच्चं अत्थि। तेसं हि अनेकासु कप्पकोटीसु हेट्ठा वा उपरि वा यं यं ठानं इच्छन्ति, तं तं पाकटमेव होति। तस्मा अनेका पि कप्पकोटियो पेय्यालपाळिं विय सङ्खिपित्वा यं यं इच्छन्ति, तत्र तत्रेव ओक्कमन्ता सीहोक्कन्तवसेन गच्छन्ति। एवं गच्छन्तानं च नेसं ञाणं यथा नाम कतवालवेध-परिचयस्स सरभङ्गसदिसस्स धनुग्गहस्स खित्तो सरो अन्तरा रुक्खलतादीसु असज्जमानो लक्खे येव पतति, न सज्जति न विरज्झति, एवं अन्तरन्तरासु जातीसु न सज्जति न विरज्झति, असज्जमानं अविरज्झमानं इच्छितिच्छितट्ठानं येव गण्हाति।

१४. इमेसु च पन पुब्बेनिवासं अनुस्सरणसत्तेसु तित्थियानं पुब्बेनिवासदस्सनं खज्जुपनकप्पभासदिसं[1] हुत्वा उपट्ठाति। पकतिसावकानं दीपप्पभासदिसं, महासावकानं

(केवल) च्युति एवं प्रतिसन्धि के अनुसार अनुस्मरण करने की क्षमता नहीं होती। अन्धों के समान वे अभीष्ट स्थान पर (मन को) नहीं (ले) जा पाते, वैसे ही वे स्कन्धों के क्रम को न छोड़ते हुए ही स्मरण करते हैं। प्रकृतिश्रावक स्कन्धक्रम का भी अनुस्मरण करते हैं। एवं च्युति-प्रतिसन्धि के अनुसार भी आगे बढ़ते हैं। वैसे ही अस्सी महाश्रावक भी। किन्तु दो महाश्रावकों को स्कन्ध-क्रम की अपेक्षा नहीं होती। एक व्यक्ति (=आत्मभाव) की च्युति देखकर वे (उसकी) प्रतिसन्धि देख लेते हैं, पुनः दूसरे की प्रतिसन्धि देखकर च्युति की। यों, च्युति एवं प्रतिसन्धि के अनुसार आगे बढ़ते जाते हैं। वैसे ही प्रत्येकबुद्ध भी।

१३. किन्तु बुद्धों के न तो स्कन्ध-क्रम की अपेक्षा होती है, न च्युतिप्रतिसन्धि के अनुसार संक्रमण की। क्योंकि अनेक कोटि कल्पों में से, ऊपर या नीचे जिस जिस स्थान को वे चाहते हैं, उनके लिये वह वह प्रकट ही होता है। अतः अनेक कोटि कल्पों को 'पेय्याल पालि' के समान संक्षिप्त कर, जहाँ जहाँ चाहते हैं वहाँ-वहाँ सिंह के समान छलाँग (लम्बी कूद) लगाते हुए (मन को ले) जाते हैं। जैसे केश का वेध सीख चुका, शरभङ्ग (बौद्ध साहित्य में प्रसिद्ध एक धनुर्धर) के समान धनुर्धारी द्वारा छोड़ा बाण बीच में आये वृक्ष, लता आदि में न लगकर लक्ष्य पर ही गिरता है, न तो लक्ष्य से चूकता है, न विचलित होता है; वैसे ही यों जानने वालों का ज्ञान मध्यवर्ती जन्मों के विषय में न तो चूकता है, न विचलित होता है। न चूकते हुए, न विचलित होते हुए, अभीष्ट स्थान का ही ग्रहण करता है।

१४. पूर्वनिवास का अनुस्मरण करने वाले इन सत्त्वों में, तीर्थिकों का पूर्वनिवास-दर्शन खद्योत (जुगनू) के प्रकाश के समान उपस्थित होता है। प्रकृतिश्रावकों का दीपक के प्रकाश के

---

१. **खज्जुपनकप्पभासदिसं** ति। खज्जोतोभाससमं।

उक्कापभासदिसं, अग्गसावकानं ओसधितारकप्पभासदिसं, पच्चेकबुद्धानं चन्दप्पभासदिसं, बुद्धानं रस्मिसहस्सपतिमण्डितसरदसुरियमण्डलसदिसं हुत्वा उपट्ठाति।

१५. तित्थियानं च पुब्बेनिवासानुस्सरणं अन्धानं यट्ठिकोटिगमनं[१] विय होति। पकतिसावकानं दण्डकसेतुगमनं[२] विय। महासावकानं जङ्घसेतुगमनं[३] विय। अग्गसावकानं सकटसेतुगमनं[४] विय। पच्चेकबुद्धानं महाजङ्घमग्गगमनं[५] विय। बुद्धानं महासकटमग्गगमनं[६] विय।

इमस्मिं पन अधिकारे[७] सावकानं पुब्बेनिवासानुस्सरणं अधिप्पेतं। तेन वुत्तं—"**अनुस्सरती** ति खन्धपटिपाटिवसेन चुतिपटिसन्धिवसेन वा अनुगन्त्वा अनुगन्त्वा सरती" ति।

१६. तस्मा एवं अनुस्सरितुकामेन आदिकम्मिकेन भिक्खुना पच्छाभत्तं पिण्डपात-पटिक्कन्तेन रहोगतेन पटिसल्लीनेन पटिपाटिया चत्तारि झानानि समापज्जित्वा अभिञ्ञापादक-

---

समान, महाश्रावकों का उल्का (मशाल) के प्रकाश के समान, अग्रश्रावकों का शुक्र तारे के प्रकाश के समान, प्रत्येकबुद्धों का चन्द्रमा के प्रकाश के समान, बुद्धों का सहस्र रश्मियों से प्रतिमण्डित, शरत्कालीन सूर्यमण्डल के समान उपस्थित होता है।

१५. एवं तीर्थिकों का पूर्वनिवासानुस्मरण (स्कन्धक्रम को न छोड़ने के कारण) लाठी की नोक के सहारे अन्धों के गमन के समान होता है। प्रकृतिश्रावकों का (एक ही) डण्डे से बनाये गये पुल द्वारा गमन के समान। महाश्रावकों का पैदल चलने योग्य पुल से जाने के समान। अग्रश्रावकों का उस पुल द्वारा गमन के समान, जिस पर बैलगाड़ी चल सकती हो। प्रत्येकबुद्धों का ऐसे पुल द्वारा गमन के समान, जिस पर बहुत लोग पैदल चल सकते हों। बुद्धों का ऐसे पुल द्वारा गमन के समान, जिस पर बहुत सी बैलगाड़ियाँ चल सकती हों।

किन्तु इस अधिकार में[८] श्रावकों का ही पूर्वनिवासानुस्मरण अभिप्रेत है। इसलिये कहा गया है—"अनुस्मरण करता है, अर्थात् स्कन्ध-क्रम के अनुसार या च्युति-प्रतिसन्धि के अनुसार अनुस्मरण करता है।"

१६. अत: इस प्रकार अनुस्मरण के अभिलाषी आदिकर्मिक भिक्षु को भोजन के पश्चात्,

---

१. **यट्ठिकोटिगमनं विय**। खन्धपटिपाटिया अमुञ्चन्तो।

२. कुन्नदीनं अतिक्कमनाय एकेनेव रुक्खदण्डेन कतसङ्कमो **दण्डकसेतु**।

३. चतूहि, पञ्चहि वा जनेहि गन्तुं सक्कुणेय्यो फलके अत्थरित्वा आणियो कोट्टेत्वा कतसङ्कमो **जङ्घसेतु**। जङ्घसत्थस्स गमनयोग्गो सङ्कमो जङ्घसेतु-जङ्घमग्गो विय।

४. सकटस्स गमनयोग्गो सङ्कमो **सकटसेतु** सकटमग्गो विय।

५. महता जङ्घसत्थेन गन्तब्बमग्गो **महाजङ्घमग्गो**।

६. बहूहि वीसाय वा तिंसाय वा सकटेहि एकज्झं गन्तब्बमग्गो **महासकटमग्गो**।

७. **इमस्मिं पन अधिकारे** ति। "चित्तं पञ्ञं च भावयं" (सं० नि० १/२५) ति चित्तसीसेन सावकस्स निद्दिट्ठसमाधिभावनाधिकारे।

८. "चित्तं पञ्ञं च भावयं" (सं० नि० १/२५) में श्रावकों के लिये चित्त शीर्षक से निर्दिष्ट 'समाधिभावना' नामक अधिकार में।

चतुत्थज्झानतो वुट्ठाय सब्बपच्छिमा निसज्जा आवज्जितब्बा। ततो आसनपञ्ञापनं, सेनासनप्पवेसनं, पत्तचीवरपटिसामनं, भोजनकालो, गामतो आगमनकालो, गामे पिण्डाय चरितकालो, गामं पिण्डाय पविट्ठकालो, विहारतो निक्खमनकालो, चेतियङ्गण-बोधियङ्गण-वन्दनकालो, पत्तधोवनकालो, पत्तपटिग्गहणकालो, पत्तपटिग्गहणतो याव मुखधोवना कतकिच्चं, पच्चूसकाले कतकिच्चं, पच्छिमयामे कतकिच्चं, पठमयामे कतकिच्चं ति एवं पटिलोमक्कमेन सकलं रत्तिन्दिवं कतकिच्चं आवज्जितब्बं। एत्तकं पन पकतिचित्तस्सापि पाकटं होति। परिकम्मसमाधिचित्तस्स पन अतिपाकटमेव।

१७. सचे पनेत्थ किञ्चि न पाकटं होति, पुन पादकज्झानं समापज्जित्वा वुट्ठाय आवज्जितब्बं। एत्तकेन दीपे जलिते विय पाकटं होति। एवं पटिलोमक्कमेनेव दुतियदिवसे पि, ततिय-चतुत्थ-पञ्चमदिवसे पि, दसाहे पि, अड्ढमासे पि, मासे पि, याव संवच्छरा पि कतकिच्चं आवज्जितब्बं।

एतेनेव उपायेन दस्स वस्सानि, वीसति वस्सानी ति, याव इमस्मिं भवे अत्तनो पटिसन्धि, ताव आवज्जन्तेन पुरिमभवे चुतिक्खणे पवत्तितनामरूपं आवज्जितब्बं। पहोति हि पण्डितो भिक्खु पठमवारेनेव पटिसन्धिं उग्घाटेत्वा चुतिक्खणे नामरूपं आरम्मणं कातुं।

१८. यस्मा पन पुरिमभवे नामरूपं असेसं निरुद्धं अञ्ञं उप्पन्नं, तस्मा तं ठानं आहुन्दरिकं[१] अन्धतममिव[२] होति दुद्दसं दुप्पञ्ञेन। तेनापि "न सक्कोमहं पटिसन्धिं उग्घाटेत्वा

पिण्डपात से अवकाश पाकर, एकान्त में जाकर क्रम से चार ध्यानों में समापन्न होना चाहिये। तब अभिज्ञा के आधारभूत चतुर्थ ध्यान से उठकर, बैठने के काय का, जो अभी अभी किया गया है, आवर्जन करना चाहिये। तत्पश्चात् आसन बिछाना, शयनासन में प्रवेश, पात्र-चीवर उठाकर रखना, भोजन, ग्राम से लौटने, ग्राम में भिक्षार्थ चारिका, ग्राम में भिक्षार्थ प्रवेश, विहार से निकलने, चैत्य के आँगन एवं बोधि के आँगन की वन्दना, पात्र धोने एवं पात्र उठाने का समय, पात्र उठाने से लेकर मुखप्रक्षालन, उष:काल में किया गया कार्य, मध्याह्न में किया गया कार्य, दिन के पूर्व भाग में किया गया कार्य—यों प्रतिलोम-क्रम से रात-दिन के सभी कार्यों का आवर्जन करना चाहिये। वैसे तो यह (सब कार्य स्मरण करने पर) प्रकृतिचित्त के लिये भी प्रकट होता है, किन्तु समाधि में परिकर्म करने वाले चित्त के लिये अत्यधिक प्रकट होता है।

१७. किन्तु यदि इनमें से कोई स्पष्ट न हो, तो पुन: आधारभूत ध्यान में समापन्न होकर उठने के बाद आवर्जन करना चाहिये। इतना करने से प्रज्वलित दीपक के समान प्रकट होता है। यों, प्रतिलोम क्रम से दूसरे दिन, तीसरे, चौथे, पाँचवे, दस दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष के भीतर-भीतर भी किये गये कार्यों का आवर्जन करना चाहिये।

इसी उपाय से दस वर्ष, बीस वर्ष, एवं इस भव में अपनी प्रतिसन्धि से लेकर (वर्तमान समय तक) आवर्जन करने वाले को चाहिये कि पूर्वभव में च्युति के क्षण में जो नामरूप प्रवर्तित

---

१. **आहुन्दरिकं** ति। अही च उन्दूरा च अञ्ञमञ्ञं पस्सितुं न सक्कोन्ति, तादिसं।

२. **अन्धतमं** ति। गाळ्हान्धकारतिमिसा।

चुतिक्खणे पवत्तितनामरूपं आरम्मणं कातुं" ति धुरनिक्खेपो न कातब्बो। तदेव पन पादकज्झानं पुनप्पुनं समापज्जितब्बं। ततो च वुट्ठाय वुट्ठाय तं ठानं आवज्जितब्बं।

१९. एवं करोन्तो हि, सेय्यथापि नाम बलवा पुरिसो कूटागारकण्णिकत्थाय महारुक्खं छिन्दन्तो साखापलासछेदनमत्तेनेव फरसुधाराय विपन्नाय महारुक्खं छिन्दितुं असक्कोन्तो पि धुरनिक्खेपं अकत्वा व कम्मारसालं गन्त्वा तिखिणं फरसुं कारापेत्वा पुन आगन्त्वा छिन्देय्य, पुन विपन्नाय च पुन पि तथेव कारेत्वा छिन्देय्य, सो एवं छिन्दन्तो छिन्नस्स छिन्नस्स पुन छेतब्बाभावतो अच्छिन्नस्स च छेदनतो न चिरस्सेव महारुक्खं पातेय्य; एवमेवं पादकज्झाना वुट्ठाय पुब्बे आवज्जितं अनावज्जित्वा पटिसन्धिमेव आवज्जन्तो न चिरस्सेव पटिसन्धिं उग्घाटेत्वा चुतिक्खणे पवत्तितनामरूपं आरम्मणं करेय्या ति।

कट्ठफालक-केसोहारकादीहि पि अयमत्थो दीपेतब्बो।

२०. तत्थ पच्छिमनिसज्जतो पभुति याव पटिसन्धितो आरम्मणं कत्वा पवत्तं ञाणं पुब्बेनिवासञाणं नाम न होति। तं पन परिकम्मसमाधिञाणं नाम होति। अतीतंसञाणं ति पि

था, उसका आवर्जन करे। पण्डित भिक्षु पहली बार में ही प्रतिसन्धि (रूपी ज्ञानावरण) हटाकर, (उसके पूर्ववर्ती) च्युतिक्षण के नाम-रूप को आलम्बन बनाने में समर्थ होता है।

१८. क्योंकि पूर्वभव में नाम-रूप का अशेष निरोध हो जाता है, एवं अन्य ही (नाम-रूप) उत्पन्न होता है, अतः वह स्थान (=कालखण्ड) ऐसे गहन अन्धकार के समान होता है, जहाँ हाथ को हाथ न सूझता हो।[1] वह दुष्प्रज्ञ के लिये दुर्दर्श होता है तथापि 'मैं प्रतिसन्धि को दूर हटाकर च्युतिक्षण में प्रवर्तित नाम-रूप को आलम्बन नहीं बना सकूँगा'—यह सोचकर पराजय नहीं मान लेनी चाहिये, अपितु उसी आधारभूत ध्यान में पुनः पुनः समापन्न होने के पश्चात् उससे उठ उठकर उस स्थान का आवर्जन करना चाहिये।

१९. जैसे कोई बलवान् पुरुष कुटिया छाने के लिये किसी विशाल वृक्ष को काटते समय, उस विशाल वृक्ष को न काट सकें; क्योंकि उसके फरसे की धार डालियों पत्तों को काटते काटते भोंथरी हो चुकी हो, फिर भी वह हार न मानते हुए लोहार के यहाँ जाकर फरसे की धार तेज कराकर फिर से आकर काटे। पुनः भोंथरी होने पर पुनः तेज कराकर काटे। उसके ऐसा करने पर जल्दी ही वह विशाल वृक्ष गिर पड़े; क्योंकि जितना जितना पहले काट चुका था, उसे तो पुनः काटना नहीं था, जितना नहीं काटा था केवल उसे ही काटना था। इसी प्रकार, ऐसा करने वाला (योगी) आधारभूत ध्यान से उठकर, पूर्व में जिसका आवर्जन हो चुका उसका आवर्जन न करते हुए एवं प्रतिसन्धिमात्र का ही आवर्जन करते हुए, शीघ्र ही प्रतिसन्धि को उघाड़ कर, च्युतिक्षण में प्रवर्तित नाम-रूप को आलम्बन बना लेता है।

लकड़हारे, नाई आदि (की उपमाओं के) द्वारा भी इस अर्थ का स्पष्टीकरण होना चाहिये।

२०. इनमें, सबसे अन्त में बैठने (का जो कार्य था उस) के समय से लेकर प्रतिसन्धि

---

१. 'आहुन्दरिकं'' का अर्थ कतिपय विद्वानों के अनुसार संकीर्ण या अगम्य स्थान वाला है, जो अन्धतम के विशेषण के रूप में आया है। कुछ के अनुसार 'आहुन्दरिकं' का अर्थ है, 'जैसे सर्प एवं मूषक एक-दूसरे को नहीं देख पाते, वैसा।' दोनों का तात्पर्य निविड़ अन्धकार से ही है।

एके वदन्ति। तं रूपावचरं सन्धाय न युज्जति। यदा पनस्स भिक्खुनो पटिसन्धिं अतिक्कम्म चुतिक्खणे पवत्तितनामरूपं आरम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जनं उपज्जति, तस्मिं च निरुद्धे तदेवारम्मणं कत्वा चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति। येसं पुब्बे वुत्तनयेनेव पुरिमानि परिकम्मादिनामकानि कामावचरानि होन्ति, पच्छिमं रूपावचरं चतुत्थज्झानिकं अप्पनाचित्तं, तदास्स यं तेन चित्तेन सह ञाणं उप्पज्जति, इदं **पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणं** नाम। तेन ञाणेन सम्पयुत्ताय सतिया "**अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरति। सेय्यथीदं—एकं पि जातिं, द्वे पि जातियो ...पे०... इति साकारं सउद्देसं अनेकविहितं पुब्बेनिवासं अनुस्सरती**" (दी० नि० १/ ८९) ति।

२१. तत्थ **एकं पि जातिं** ति। एकं पि पटिसन्धिमूलं चुतिपरियोसानं एकभवपरियापन्नं खन्धसन्तानं। एस नयो **द्वे पि जातियो** ति आदीसु पि। **अनेके पि संवट्टकप्पे** ति आदीसु पन परिहायमानो कप्पो संवट्टकप्पो, वड्ढमानो विवट्टकप्पो ति वेदितब्बो।

तत्थ संवट्टेन संवट्टट्ठायी गहितो होति, तम्मूलकत्ता। विवट्टेन च विवट्टट्ठायी। एवं हि सति यानि तानि "**चत्तारीमानि, भिक्खवे, कप्पस्स असङ्ख्येय्यानि। कतमानि चत्तारि? संवट्टो, संवट्टट्ठायी, विवट्टो, विवट्टट्ठायी**" (अं० नि० २/१९६) ति वुत्तानि, तानि परिग्गहितानि होन्ति।

तत्थ तयो संवट्टा—आपोसंवट्टो, तेजोसंवट्टो, वायोसंवट्टो ति। तिस्सो संवट्टसीमा[१]—आभस्सरा, सुभकिण्हा, वेहप्फला ति।

यदा कप्पो तेजेन संवट्टति, आभस्सरतो हेट्ठा अग्गिना डय्हति यदा आपेन संवट्टति,

---

तक को आलम्बन बनाकर प्रवृत्त हुए ज्ञान को पूर्वनिवासज्ञान नहीं कहा जाता। उसे 'परिकर्म समाधिज्ञान' कहते हैं (जो कि पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान के लिये प्रारम्भिक तैयारी मात्र है)। कोई कोई उसे अतीत-संज्ञान भी कहते हैं। किन्तु इसकी सङ्गति रूपावचर के साथ नहीं होती। जब इस भिक्षु द्वारा प्रतिसन्धि का अतिक्रमण कर च्युतिक्षण में प्रवर्तित नाम-रूप को आलम्बन बनाने पर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होता है, तब उसके निरुद्ध होने पर चार या पाँच जवन (चित्त) जवन करते हैं। जिनमें, पूर्वोक्त प्रकार से ही, पहले वाले परिकर्म आदि कामावचर होता है, बाद वाला रूपावचर चतुर्थ ध्यान वाला अर्पणा चित्त होता है। उस चित्त के साथ उसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान' कहते हैं। उस ज्ञान से सम्प्रयुक्त स्मृति से "पूर्वनिवास का अनुस्मरण करता है। जैसे—एक जन्म का भी, दूसरे जन्म का भी, यों विस्तार के साथ एवं उद्देश्य के साथ अनेक प्रकार के पूर्वनिवास का अनुस्मरण करता है।" (दी० नि० १/८९)।

२१. इनमें **एकं पि जातिं**—जो प्रतिसन्धि से आरम्भ होता है एवं च्युति से समाप्त होता है, उस एक भव (जन्म) तक चलने वाले क्षण-सन्तान को भी। **द्वे पि जातियो** आदि में भी यही नय है। **अनेके पि संवट्टकप्पे** आदि में विनाश की ओर बढ़ते हुए कल्प को संवर्तकल्प एवं वृद्धि को प्राप्त होने वाले कल्प को विवर्तकल्प समझना चाहिये।

इनमें संवर्त से संवर्तस्थायी का (भी) ग्रहण होता है, उसका मूल होने से एवं वितर्क से विवर्तस्थायी का (भी)। ऐसा होने से, जो इस प्रकार बतलाये गये हैं उनका भी ग्रहण होता

---

१. **संवट्टसीमा** ति। संवट्टमरियादा।

सुभकिण्हतो हेट्ठा उदकेन विलीयति। यदा वायुना संवट्टति, वेहप्फलतो हेट्ठा वातेन विद्धंसति। वित्थारतो पन सदा पि एकं बुद्धक्खेत्तं विनस्सति।

२२. **बुद्धखेत्तं** नाम तिविधं होति—जातिखेत्तं, आणाखेत्तं, विसयखेत्तं च। तत्थ (१) जातिखेत्तं दससहस्सचक्कवाळपरियन्तं होति। यं तथागतस्स पटिसन्धिग्गहणादीसु कम्पति। (२) आणाखेत्तं कोटिसतसहस्सचक्कवाळपरियन्तं, यत्थ रतनसुत्तं (खु० नि० १/६), खन्ध-परित्तं (अं० नि० २/१००), धजग्गपरित्तं (सं० नि० १/३५१), आटानाटियपरित्तं (दी० नि० ३/७४८), मोरपरित्तं (खु० नि० ३:१/३६) ति इमेसं परित्तानं आनुभावो वत्तति। (३) विसयखेत्तं अनन्तमपरिमाणं। यं "यावता वा पन आकङ्खेय्या" ति वुत्तं। यत्थ यं यं तथागतो आकङ्खति, तं तं जानाति। एवमेतेसु तीसु बुद्धखेत्तेसु एकं आणाखेतं विनस्सति। तस्मिं पन विनस्सन्ते जातिखेत्तं पि विनट्ठमेव होति। विनस्सन्तं च एकतो व विनस्सति, सण्ठहन्तं पि एकतो व सण्ठहति।

तस्सेवं विनासो च सण्ठहनं च वेदितब्बं—

२३. यस्मिं हि समये कप्पो अग्गिना नस्सति, आदितो व कप्पविनासकमहामेघो वुट्ठहित्वा कोटिसतसहस्सचक्कवाळे एकं महावस्सं वस्सति। मनुस्सा तुट्ठहट्ठा सब्बबीजानि

है—"भिक्षुओ, चार असंख्येय कल्प हैं। कौन से चार? संवर्त, संवर्तस्थायी, विवर्त, विवर्तस्थायी।" (अं० नि० २/१९६)।

संवर्त (प्रलय)—इनमें, संवर्त तीन हैं—अप्-संवर्त, तेजःसंवर्त, वायु-संवर्त। संवर्त की तीन सीमाएँ हैं—आभास्वर, शुभकृष्ण, वृहत्फल।

जब अग्नि द्वारा कल्प का संवर्त (=प्रलय) होता है, तब आभास्वर से नीचे (का क्षेत्र) अग्नि से दग्ध हो जाता है। जब अप् द्वारा संवर्त होता है, तब शुभकृष्ण से नीचे जल में विलीन हो जाता है। जब वायु द्वारा संवर्त होता है, तब वृहत्फल से नीचे का वायु द्वारा विध्वस्त हो जाता है। विस्तार (=चौड़ाई) की दृष्टि से सर्वदा ही एक बुद्धक्षेत्र विनष्ट होता है।

२२. **बुद्धक्षेत्र** त्रिविध होता है—१. जातिक्षेत्र, १. आज्ञाक्षेत्र एवं ३. विषयक्षेत्र। इनमें, (१) जातिक्षेत्र दस हजार चक्रवाल पर्यन्त होता है, जो तथागत के प्रतिसन्धि-ग्रहण आदि के समय कम्पित होता है। (२) आज्ञा-क्षेत्र दस खरब चक्रवाल पर्यन्त होता है, जहाँ **रतन-सुत्त** (खु० नि० १/६), **खन्धपरित्त** (अं० नि० २/१००), **धजग्गपरित्त** (सं० नि० १/३५१), **आटानाटियपरित्त** (दी० नि० ३/७४८), **मोर परित्त** (खु० नि० ३ : १/३६)—ये परित्राण (=परित्त) प्रभावी होते हैं। (३) विषय-क्षेत्र अनन्त, असीम है। जिसके विषय में 'अथवा जहाँ तक आकांक्षा हो' आदि कहा गया है। जहाँ तथागत जिसे जिसे चाहते हैं, उसे उसे जानते हैं। यों, इन तीन बुद्धक्षेत्रों में से एक आज्ञाक्षेत्र (संवर्त में) विनष्ट होता है। उसके विनष्ट होने पर जातिक्षेत्र भी विनष्ट हो ही जाता है। एवं विनष्ट होते समय उसके साथ विनष्ट होता है, तथा पुनर्निर्माण के समय उसी के साथ पुनर्निर्मित होता है।

उस (आज्ञाक्षेत्र एवं जातिक्षेत्र) के विनाश एवं पुनर्निर्माण को यों जानना चाहिये—

२३. जिस समय कल्प अग्नि से नष्ट होता है, कल्प का विनाश करने वाले महामेघ उमड़-

नीहरित्वा वपन्ति। सस्सेसु पन गोखायितकमत्तेसु जातेसु गद्रभरवं रवन्तो एकबिन्दुं पि न वस्सति। तदा पच्छिन्नं पच्छिन्नमेव वस्सं होति। इदं सन्धाय हि भगवता—"**होति खो सो, भिक्खवे, समयो यं बहूनि वस्सानि बहूनि वस्ससतानि बहूनि वस्ससतानि बहूनि वस्सहस्सानि बहूनि वस्ससतसहस्सानि देवो न वस्सती**" (अं० ३/२३०) ति वुत्तं। वस्सूपजीविनो सत्ता कालं कत्वा ब्रह्मलोके निब्बत्तन्ति, पुप्फफलूपजीविनियो च देवता। एवं दीघे अद्धाने वीतिवत्ते तत्थ तत्थ उदकं परिक्खयं गच्छति। अथानुपुब्बेन मच्छकच्छपा पि कालं कत्वा ब्रह्मलोके निब्बत्तन्ति, नेरयिकसत्ता पि। तत्थ नेरयिका सत्तमसुरियपातुभावे विनस्सन्ती ति एके।

२४. झानं विना नत्थि ब्रह्मलोके निब्बत्ति, एतेसं च केचि दुब्भिक्खपीळिता, केचि अभब्बा झानाधिगमाय, ते कथं तत्थ निब्बत्तन्ती ति? देवलोके पटिलद्धज्झानवसेन। तदा हि "वस्तसतसहस्सस्सच्चयेन कप्पुट्ठानं भविस्सती" ति लोकब्यूहा[1] नाम कामावचरदेवा मुत्तसिरा विकिण्णकेसा रुदम्मुखा अस्सूनि हत्थेहि पुञ्छमाना रत्तवत्थनिवत्था अतिविय विरूपवेस-धारिनो हुत्वा मनुस्सपथे विचरन्ता एवं आरोचेन्ति—"मारिसा[2], इतो वस्ससतसहस्सस्स अच्चयेन कप्पवुट्ठानं भविस्सति, अयं लोको विनस्सिस्सति, महासमुद्दो पि उस्सुस्सिस्सति,

---

कर पहले जब घनघोर वर्षा करते हैं, तब मनुष्य प्रसन्न होकर खेतों बीज ले बो देते हैं। किन्तु जब फसल केवल इतनी उगी होती है कि उसे गायें चर सकें तो, गधों के समान चीखते रहने पर भी[3], एक बूँद भी पानी नहीं बरसता। इसी के विषय में भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, ऐसा भी समय आता है जब अनेक वर्ष, अनेक सौ वर्ष, अनेक हजार वर्ष भी दैव (मेघ) नहीं बरसता है" (अं० नि० २/२३०)। वर्षा पर जीवन यापन करने वाले सत्त्व एवं पुष्प-फल पर जीवित रहने वाले देवता मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते हैं। यों बहुत समय बीतने पर जहाँ तहाँ का (इकट्ठा) जल सूख जाता है। तब क्रमशः मछली, कछुए भी मरकर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते हैं, नारकीय सत्त्व भी। उनमें से कुछ नारकीय (प्राणी) सातवें सूर्य के उदित होने पर विनष्ट हो जाते हैं।

२४. (यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि) ध्यान के बिना ब्रह्मलोक में उत्पत्ति नहीं होती, एवं इनमें से कुछ दुर्भिक्ष से पीड़ित होते हैं, कुछ ध्यान की प्राप्ति के अयोग्य होते हैं। वे वहाँ कैसे उत्पन्न होते हैं? देवलोक में प्राप्त ध्यान के बल से। (जब प्रलय समीप होता है) उस समय "लाख वर्ष बीतने पर कल्प का नाश होगा"—यह जानकर लोकव्यूह[4] नामक कामावचर देवता नंगे सिर, केश बिखरे हुए, रुआँसा मुख बनाये, आँसुओं को हाथ से पोंछते, लाल वस्त्र पहने, अत्यधिक विरूप वेश धारण किये, मनुष्यों के रास्ते में घूमते हुए यों कहते हैं—"मार्ष[5], अब से लाख वर्ष बीतने पर कल्प का नाश होगा। यह लोक नष्ट होगा, महासमुद्र भी सूख जायगा

---

१. लोकं ब्यूहेन्ति सम्पिण्डेन्ती ति **लोकब्यूहा**।
२. **मारिसा** ति। देवानं पियसमुदाचारो।
३. अनावृष्टि के समय खेतों में 'गधों का लोटना' एक मुहावरा है। अथवा, 'गद्रभरवं रवन्तो' का सम्बन्ध 'महामेघ' से जोड़कर यह अर्थ भी लगाया जा सकता है—'गर्दभ-स्वर के समान व्यर्थ गर्जन-तर्जन करते हुए।
४. वे लोक का व्यूहन करते हैं, अर्थात् भयभीत, त्रस्त मनुष्य उनके पास एकत्र होते हैं, अतः वे 'लोकव्यूह' कहलाते हैं।
५. देवताओं के बीच प्रयुक्त एक प्रिय सम्बोधन।

अयं च महापथवी सिनेरु च पब्बतराजा उद्दय्हिस्सन्ति विनस्सिस्सन्ति। याव ब्रह्मलोका लोकविनासो भविस्सति। मेत्तं, मारिसा, भावेथ, करुणं...मुदितं...उपेक्खं, मारिसा, भावेथ, मातरं उपट्ठहथ, पितरं उपट्ठहथ, कुले जेट्ठापचायिनो होथा'' ति।

२५. तेसं वचनं सुत्वा येभुय्येन मनुस्सा च भुम्मदेवता च संवेगजाता अञ्ञमञ्ञं मुदुचित्ता हुत्वा मेत्तादीनि पुञ्ञानि करित्वा देवलोके निब्बत्तन्ति। तत्थ **दिब्बसुधाभोजनं** भुञ्जित्वा वायोकसिणे परिकम्मं कत्वा झानं पटिलभन्ति। तदञ्ञे पन अपरापरियवेदनीयेन कम्मेन देवलोके निब्बत्तन्ति। अपरापरियवेदनीयकम्मरहितो हि संसारे संसरमानो सत्तो नाम नत्थि। ते पि तत्थ तथेव झानं पटिलभन्ति। एवं देवलोके पटिलद्धज्झानवसेन सब्बे ब्रह्मलोके निब्बत्तन्ती ति।

२६. वस्सूपच्छेदतो पन उद्धं दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन दुतियो सुरियो पातुभवति। वुत्तं पि चेतं भगवता—''**होति खो सो, भिक्खवे, समयो'' ति** (अं० नि० ३/२९२) **सत्तसुरियं**[1] वित्थारेतब्बं। पातुभूते च पन तस्मिं नेव रत्तिपरिच्छेदो, न दिवापरिच्छेदो पञ्ञायति। एको सुरियो उट्ठेति, एको अत्थं गच्छति, अविच्छिन्नसुरियसन्तापो व लोको होति। यथा च पकतिसुरिये सुरियदेवपुत्तो होति, एवं कप्पविनासकसुरिये नत्थि। तत्थ पकतिसुरिये वत्तमाने

एवं विशाल पृथ्वी तथा पर्वतराज सुमेरु भी समाप्त हो जाँयगें, विनष्ट हो जाँयगें। ब्रह्मलोक तक का विनाश होगा। अतः, मार्ष! मैत्री की भावना करो। मार्ष, करुणा... मुदिता... उपेक्षा की भावना करो, माता-पिता की सेवा करो तथा कुल के बड़े-बूढ़ों का सत्कार करने वाले बनो।''

२५. उनके वचन सुनकर अधिकतर मनुष्यों एवं भूमि पर रहने वाले देवताओं में संवेग उत्पन्न होता है एवं वे मृदुचित्त से मैत्री आदि पुण्य करके देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ दिव्य अमृत का भोजन कर, वायु कसिण में परिकर्म कर, ध्यान का लाभ करते हैं। उनके अतिरिक्त (कुछ सत्त्व) अपरापरवेदनीय कर्म[2] द्वारा देवलोक में उत्पन्न होते हैं। संसार में संसरण करने वाला ऐसा कोई सत्त्व नहीं है जो अपरापरवेदनीय कर्म से रहित हो। वे भी वहीं वहीं ध्यान का लाभ करते हैं। इस प्रकार देवलोक में प्राप्त ध्यान के बल से वे सभी ब्रह्मलोक में उत्पन्न होते हैं।

२६. वर्षा बन्द होने के बाद बहुत समय बीतने पर द्वितीय सूर्य निकलता है। भगवान् ने यह कहा भी है—''भिक्षुओ, एक समय वह होता है'' (अं० नि० ३/२९२)—यहाँ **सत्तसुरिय**[3] नामक सूत्र को विस्तार से बतलाना चाहिये। उसका प्रादुर्भाव होने पर न तो रात की सीमा, न दिन की सीमा का पता चलता है। एक सूर्य उदित होता है, दूसरा अस्त होता है। लोक में निरन्तर सूर्य का ताप बना रहता है। जैसे प्राकृतिक सूर्य देवपुत्र होता है, वैसा कल्पविनाशक सूर्य नहीं होता। वहाँ (आकाश में) प्राकृतिक सूर्य के रहते हुए बादल भी, धूमशिखा (कोहरा) भी गतिशील रहते हैं। कल्पविनाशक सूर्य के वर्तमान रहने पर आकाश धुएँ एवं बादलों से रहित, दर्पणमण्डल

---

१. **सत्तसुरियं** ति। सत्तसुरियपातुभवसुत्तं। (अं० नि० ३ : ७-२))

२. द्र० विसु० (१९वाँ परिच्छेद)।

३. सात सूर्यों के प्रादुर्भाव का वर्णन करने वाला सूत्र।

आकासे वलाहका पि धूमसिखा पि चरन्ति। कप्पनिवासकसुरिये वत्तमाने विगतधूमवलाहकं आदासमण्डलं विय निम्मलं नभं होति, ठपेत्वा पञ्च महानदियो[१] सेसकुन्नदीआदीसु उदकं सुस्सति।

ततो पि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन ततियो सुरियो पातुभवति, यस्स पातुभावा महानदियो पि सुस्सन्ति।

ततो पि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन चतुत्थो सुरियो पातुभवति, यस्स पातुभावा हिमवति महानदीनं पभवा—सीहपपातो, हंसपातनो, कण्णमुण्डको, रथकारदहो, अनोत्तदहो, छद्दन्तदहो, कुणालदहो ति इमे **सत्त महासरा** सुस्सन्ति।

ततो पि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन पञ्चमो सुरियो पातुभवति, यस्स पातुभावा अनुपुब्येन महासमुद्दे अङ्गुलिपब्बतेमनमत्तं पि उदकं न सण्ठाति।

ततो पि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन छट्ठो सुरियो पातुभवति, यस्स पातुभावा सकलचक्कवाळं एकधूमं होति, परियादिण्णसिनेहं[२] धूमेन। यथा चिदं, एवं कोटिसतसहस्सचक्कवाळानि पि।

२७. ततो पि दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन सत्तमो सुरियो पातुभवति, यस्स पातुभावा सकलचक्कवाळं एकजालं होति सद्धिं कोटिसतसहस्सचक्कवाळेहि। योजनसतिकादिभेदानि सिनेरुकूटानि पि पलुज्जित्वा आकासे येव अन्तरधायन्ति। सा अग्गिजाला उट्ठहित्वा चातुमहाराजिके गण्हाति। तत्थ कनकविमान-रतनविमान-मणिविमानानि झापेत्वा तावतिंस-

---

के समान निर्मल होता है। पाँच महानदियों[१] को छोड़कर, शेष छोटी नदियों का जल सूख जाता है।

उसके भी बहुत समय बाद तृतीय सूर्य का प्रादुर्भाव होता है, जिसके प्रादुर्भाव से महानदियाँ भी सूख जाती हैं।

उसके भी बहुत समय बाद चतुर्थ सूर्य का प्रादुर्भाव होता है, जिसके प्रादुर्भाव से हिमालय से निकलने वाली महानदियों के स्रोत—सिंहप्रपात, हंसपातन, कर्णमुण्डक, रथकार ह्रद, अनवतप्त ह्रद, षड्दन्त ह्रद एवं कुणालह्रद—ये **सात महासर** सूख जाते हैं।

उसके भी बहुत समय बाद पञ्चम सूर्य का प्रादुर्भाव होता है, जिसके प्रादुर्भाव से धीरे-धीरे (जल सूखने से) महासमुद्र में अँगुलि का पोर गीला करने के लिये भी जल नहीं रह जाता।

उसके भी बहुत सय बाद षष्ठ सूर्य का प्रादुर्भाव होता है, जिसके प्रादुर्भाव से समस्त चक्रवाल वाष्प (भाप) मात्र रह जाता है; क्योंकि इसकी नमी वाष्प में बदल जाती है। एवं जैसे यह, वैसे ही दस खरब चक्रवाल भी।

२७. उसके भी बहुत समय बाद सप्तम सूर्य का प्रादुर्भाव होता है, जिसके प्रादुर्भाव से समस्त चक्रवाल दस खरब चक्रवालों के साथ अग्नि की ज्वाला में बदल जाता है। सौ योजन वाले सुमेरु के शिखर भी टूट-टूटकर आकाश में ही अन्तर्हित हो जाते हैं। वह अग्निज्वाला (लपट)

---

१. गङ्गा, यमुना, सरभू, अचिरवती, मही ति इमा पञ्च महानदियो।

२. **परियादिन्नसिनेहं** ति। परिक्खीणसिनेहं।

भवनं गण्हाति। एतेनेव उपायेन याव पठमज्झानभूमिं गण्हाति। तत्थ तयो पि ब्रह्मलोके झापेत्वा आभस्सरे आहच्च तिट्ठति। सा याव अणुमत्तं पि सङ्खारगतं अत्थि, ताव न निब्बायति। सब्बसङ्खारपरिपक्खया पन सप्पितेलझापनग्गिसिखा विय छारिकं पि अनवसेसेत्वा निब्बायति। हेट्ठाआकासेन सह उपरि आकासो एको होति महन्धकारो।

२८. अथ दीघस्स अद्धुनो अच्चयेन महामेघो उट्ठहित्वा पठमं सुखुमं सुखुमं वस्सति। अनुपुब्बेन कुमुदनाळ-यट्ठि-मुसल-तालक्खन्धादिप्पमाणाहि धाराहि वस्सन्तो कोटिसत-सहस्सचक्कवाळेसु सब्बं दड्ढट्ठानं पूरेत्वा अन्तरधायति। तं उदकं हेट्ठा च तिरियं च वातो समुट्ठहित्वा घनं करोति परिवटुमं[१] पदुमिनिपत्ते उदकबिन्दुसदिसं। कथं ताव महन्तं उदकरासिं घनं करोती ति चे? विवरसम्पदानतो। तं हिस्स तम्हि तम्हि विवरं देति।

तं एवं वातेन सम्पिण्डियमानं घनं करियमानं परिक्खयमानं अनुपुब्बेन हेट्ठा ओतरति। ओतिण्णे ओतिण्णे उदके ब्रह्मलोकट्ठाने ब्रह्मलोका, उपरिचतुकामावचरदेवलोकट्ठाने च देवलोका पातुभवन्ति।

२९. पुरिमपठविट्ठानं ओतिण्णे पन बलववाता उपपज्जन्ति। ते तं पिहितद्वारे धमकरणे ठितउदकमिव निरुस्सासं कत्वा रुम्भन्ति। मधुरोदकं परिक्खयं गच्छमानं उपरि रसपठविं समुट्ठापेति। सा वण्णसम्पन्ना चेव होति गन्धरससम्पन्ना च निरुदकपायासस्स उपरि पटलं विय।

उठकर चातुर्महाराज (नामक देवों के क्षेत्र) में फैल जाती है। वहाँ कनकविमान, रत्नविमान, मणिविमान आदि को जलाकर त्रायस्त्रिंश भवन को पकड़ लेती है इसी प्रकार प्रथम ध्यान-भूमि तक फैलती है। वहाँ तीनों ब्रह्मलोकों को जलाकर आभास्वर में आकर रुकती है। जब तक अणुमात्र भी संस्कारगत (=संस्कृत) धर्म शेष रहता है, वह नहीं बुझती। सब संस्कारों के नष्ट हो जाने पर, घी या तैल से जलने वाली अग्निशिखा के समान, भस्म (राख) भी न छोड़ते हुए बुझ जाती है। निचले आकाश के साथ ऊपरी आकाश में एक साथ घोर अन्धकार छा जाता है।

विवर्तकल्प (सृष्टि)

२८. उसके भी बहुत समय बाद महामेघ उमड़कर पहले तो धीरे धीरे बरसते हैं। फिर क्रमशः कमलनाल, यष्टि (=लाठी), मूसल, ताड़ के स्कन्ध (=कुन्दे) के आकार की धाराएँ बरसाते हुए दस खरब चक्रवालों के दग्ध स्थानों को भरते हुए अन्तर्हित हो जाते हैं।

वायु उस जल को नीचे से एवं चारों ओर से उठाते हुए घनीभूत एवं गोलाकार बनाती हैं, कमलिनी पत्र पर जल की बूँद के समान। यदि पूछा जाय कि उस महान् जलराशि को कैसे घनीभूत करती है? (तो उत्तर है) कि (बीच-बीच में) विवर (खोखला) करने से। क्योंकि वह इसमें जहाँ तहाँ विवर कर देती है।

वायु द्वारा यों पिण्डीभूत, घनीभूत एवं (परिमाण में) कम किया गया वह (जल) क्रमशः नीचे उतरता है। नीचे उतरने पर ब्रह्मलोक के स्थान पर ब्रह्मलोक का एवं ऊपर चार कामावचर देवलोकों के स्थान पर देवलोकों का प्रादुर्भाव होता है।

२९. जहाँ पहले पृथ्वी थी, उस स्थान पर (जल के) उतरने पर तेज हवाएँ चलने लगती

---

१. **परिवटुमं** ति। वट्टभावेन परिच्छिन्नं।

३०. तदा च आभस्सरब्रह्मलोके पठमतराभिनिब्बत्ता सत्ता आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा ततो चवित्वा इधूपपज्जन्ति। ते होन्ति सयम्पभा अन्तलिक्खचरा। ते **अग्गञ्ञसुत्ते** (दी० नि० ३/६५६) वुत्तनयेन तं रसपथविं सायित्वा तण्हाभिभूता आलुप्पकारकं[१] परिभुञ्जितुं उपक्कमन्ति। अथ नेसं सयम्पभा अन्तरधायति, अन्धकारो होति। ते अन्धकारं दिस्वा भायन्ति।

३१. ततो नेसं भयं नासेत्वा सूरभावं जनयन्तं परिपुण्णपण्णासयोजनं **सुरियमण्डलं** पातुभवति। ते तं दिस्वा "आलोकं पटिलभिम्हा" ति हट्ठतुट्ठा हुत्वा "अम्हाकं भीतानं भयं नासेत्वा सूरभावं जनयन्तो उट्ठितो, तस्मा सुरियो होतू" ति सुरियो त्वेवस्स नामं करोन्ति। अथ सुरिये दिवसं आलोकं कत्वा अत्थङ्गते, "यं पि आलोकं लभिम्हा, सो पि नो नट्ठो" ति पुन भीता होन्ति। तेसं एवं होति "साधु वतस्स सचे अञ्ञं आलोकं लभेय्यामा" ति।

तेसं चित्तं ञत्वा विय एकूनपण्णासयोजनं **चन्दमण्डलं** पातुभवति। ते तं दिस्वा भिय्योसो मत्ताय हट्ठतुट्ठा हुत्वा "अम्हाकं छन्दं ञत्वा विय उट्ठितो, तस्मा चन्दो होतू" ति चन्दो त्वेवस्स नामं करोन्ति।

एवं चन्दिमसुरियेसु पातुभूतेसु नक्खत्तानि तारकरूपानि पातुभवन्ति। ततो पभुति रत्तिन्दिवा पञ्ञायन्ति, अनुक्कमेन मासद्धमास-उतु-संवच्छरा।

हैं। वे उसे बन्द मुख वाले 'धर्मकरण' (पानी छानने का पात्र) में स्थित जल के समान, चारों ओर से बन्दकर, रोके रहती है। जब स्वच्छ जल का प्रयोग होने लगता है, तो ऊपर की 'रस-पृथ्वी' (=ह्यूमस) उत्पन्न होती है। वह जलरहित पायस (=खीर) की ऊपरी सतह के समान, गन्ध एवं रसमयी होती है।

३०. तब वे सत्त्व जिनका आभास्वर में या ब्रह्मलोक में पुनर्जन्म हुआ था, आयुःक्षय या पुण्यक्षय के फलस्वरूप वहाँ से च्युत होकर यहाँ (पृथ्वी पर) उत्पन्न होते हैं। वे स्वयम्प्रभ एवं आकाशचारी होते हैं। **अग्गञ्ञसुत्त** (दी० नि० ३/६५६) में कथित प्रकार से ही, वे रस पृथ्वी का स्वाद लेकर तृष्णा से अभिभूत हो जाते हैं; एवं ग्रास-ग्रास करके (उसे) खाने का उपक्रम करते हैं। तब उनकी स्वयं-प्रभा अन्तर्हित हो जाती है, अन्धकार हो जाता है। वे अन्धकार को देखकर डर जाते हैं।

३१. तब इस भय का नाश एवं शूरता उत्पन्न करते हुए पूरे पचास मण्डल तक विस्तृत सूर्यमण्डल प्रादुर्भूत होता है। वे उस देखकर 'प्रकाश मिला'—यों मुदित होते हैं एवं 'हम भीतों के भय का नाश एवं शूरता उत्पन्न करते हुए उदित हुआ, अतः सूर्य (के रूप में प्रसिद्ध) हों'—यों 'सूर्य' नाम देते हैं। तब दिन में प्रकाश करने के बाद सूर्य के अस्त हो जाने पर 'जो प्रकाश मिला था वह भी नष्ट हो गया'—यों पुनः डर जाते हैं। उन्हें ऐसा लगता है—'अच्छा हो यदि दूसरा प्रकाश मिल जाय।'

मानों उनके चित्त (की बात) जानते हुए, उनचास योजन विस्तृत चन्द्रमण्डल प्रादुर्भूत होता है। वे उसे देखकर पहले से भी अधिक प्रसन्न होकर हमारे छन्द (=अभिलाष) को जानता हुआ-सा यह उदित होता है, अतः 'चन्द्र हो'—यों उसे चन्द्र नाम देते हैं।

---

१. **आलुप्पकारकं** ति। आलोपं कत्वा कत्वा ति वदन्ति। आलुप्पनं=विलोपं कत्वा ति अत्थो।

चन्दिमसुरियानं पन पातुभूतदिवसे येव सिनेरु-चक्कवाळ-हिमवन्तपब्बता पातुभवन्ति। ते च खो अपुब्बं अचरिमं फग्गुणपुण्णमदिवसे येव पातुभवन्ति। कथं? यथा नाम कङ्गुभत्ते पच्चमाने एकप्पहारेनेव पुप्फुळकानि उट्ठहन्ति। एके पदेसा थूपथूपा होन्ति, एके निन्ननिन्ना, एके समसमा। एवमेवं थूपथूपट्ठाने पब्बाता होन्ति, निन्ननिन्नट्ठाने समुद्दा, समसमट्ठाने दीपा ति।

३२. अथ तेसं सत्तानं रसपठविं परिभुञ्जन्तानं कमेन एकच्चे वण्णवन्तो, एकच्चे दुब्बण्णा होन्ति। तत्थ वण्णवन्तो दुब्बण्णे अतिमञ्ञन्ति। तेसं अतिमानपच्चया सा पि **रसपथवी** अन्तरधायति, **भूमिपप्पटको** पातुभवति। अथ नेसं तेनेव नयेन सो पि अन्तरधायति, **पदालता**[1] पातुभवति। तेनेव नयेन सा पि अन्तरधायति। अकट्ठपाको **सालि** पातुभवति, अकणो अथुसो सुद्धो सुगन्धो तण्डुलप्फलो।

३३. ततो नेसं भाजनानि उप्पज्जन्ति। ते सालिं भाजने ठपेत्वा पासाणपिट्ठिया ठपेन्ति। सयमेव जालसिखा उट्ठहित्वा तं पचति। सो होति ओदनो सुमनजातिपुप्फसदिसो, न तस्स सूपेन वा ब्यञ्जनेन वा करणीयं अत्थि। यं यं रसं भुञ्जितुकामा होन्ति, तं तं रसो व होति।

तेसं तं ओळारिकं आहारं आहरयतं ततो पभुति मुत्तकरीसं सञ्जायति। अथ नेसं तस्स निक्खमनत्थाय वणमुखानि पभिज्जन्ति, पुरिसस्स पुरिसभावो इत्थिया पि इत्थिभावो पातुभवति।

यों चन्द्रमा एवं सूर्य के प्रादुर्भाव के बाद नक्षत्रों[2] के समूह प्रादुर्भूत होते हैं। उस समय से रात और दिन का पता चलता है, एवं क्रमशः मास, पक्ष, ऋतु एवं संवत्सर का भी।

चन्द्रमा एवं सूर्य का जिस दिन प्रादुर्भाव होता है, उसी दिन सुमेरु, चक्रवाल एवं हिमवान् पर्वत प्रादुर्भूत होते हैं। एवं वे ठीक फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन ही प्रादुर्भूत होते हैं। न उसके पहले, न पीछे। कैसे? जैसे जब कोदों (=कङ्गु) का भात पकाया जाता है, तब एक ही साथ बुलबुले उठते हैं। तब कोई कोई (भू-) भाग उठे हुए होते हैं, एवं नीचे-नीचे के भागों में समुद्र तथा समतल भागों में द्वीप।

३२. रस-पृथ्वी का आहार करने वाले उन सत्त्वों में से कुछ रूपवान् तो कुछ कुरूप हो जाते हैं। इनमें, रूपवान् सत्त्व कुरूपों का अनादर करते हैं। उनके अतिमान के कारण रसपृथ्वी (ह्यूमस) भी अन्तर्धान हो जाती है एवं पपड़ी जैसी (कठोर) भूमि का प्रादुर्भाव होता है। बाद में उनके उसी प्रकार (के आचार-विचार) से वह भी अन्तर्धान होती है एवं पादलता[3] प्रादुर्भूत होती है। समय पाकर वैसे ही वह भी अन्तर्हित हो जाती है। विना जोते-बोये तैयार होने वाला शालि प्रादुर्भूत होता है, जो कण (खुद्दा) रहित, भूसी रहित, शुद्ध एवं सुगन्धित तण्डुल-फल (=चावल) होता है।

३३. तब उनके लिये, पात्रों का प्रादुर्भाव होता है। वे शालि को पात्र में भरकर उसे पाषाणपिण्ड पर रखते हैं। लपट स्वयं ही उठकर उसे पकाती है। वह भात चमेली के फूलों के

---

१. **पदालता** ति। एवंनामिका लताजाति। **बदालता** ति पि पाठो।

२. अश्विनी, भरणी, रोहिणी आदि सत्ताइस नक्षत्र माने गये हैं। निद्देस में इनकी संख्या अट्ठाईस मानी गयी है।

३. एक प्रकार की लता।

३४. तत्र सुदं इत्थी पुरिसं, पुरिसो च इत्थिं अतिवेलं उपनिज्झायति। तेसं अतिवेलं उपनिज्झायनपच्चया कामपरिळाहो उप्पज्जति। ततो मेथुनधम्मं पटिसेवन्ति।

ते असद्धम्मपटिसेवनपच्चया विञ्ञूहि गरहियमाना विहेठियमाना तस्स असद्धम्मस्स पटिच्छादनहेतु अगारानि करोन्ति। ते अगारं अज्झावसमाना अनुक्कमेन अञ्ञतरस्स अलसजातिकस्स सत्तस्स दिट्ठानुगतिं आपज्जन्ता सन्निधिं करोन्ति। ततो पभुति कणो पि थुसो पि तण्डुलं परियोनन्धति, लायितट्ठानं पि न पटिविरूहति।

३५. ते सन्निपतित्वा अनुत्थुनन्ति[१]—"पापका वत, भो, धम्मा सत्तेसु पातुभूता, मयं हि पुब्बे मनोमया अहुम्हा" (दी० नि० ३/६६१) ति **अग्गञ्ञसुत्ते** वुत्तनयेन वित्थारेतब्बं।

ततो मरियादं ठपेन्ति। अथ अञ्ञतरो सत्तो अञ्ञस्स भागं अदिन्नं आदियति। तं द्विक्खत्तुं परिभासेत्वा ततियवारे पाणिलेड्डुदण्डेहि पहरन्ति। ते एवं अदिन्नादानगरहमुसावाद-दण्डादानेसु उप्पन्नेसु सन्निपतित्वा चिन्तयन्ति—"यं नून मयं एकं सत्तं सम्मन्नेय्याम, यो नो सम्मा खीयितब्बं खीयेय्य, गरहितब्बं गरहेय्य, पब्बाजेतब्बं पब्बाजेय्य, मयं पनस्स सालीनं भागं अनुप्पदस्सामा" (दी० नि० ३/६६२) ति।

एवं कतसन्निट्ठानेसु पन सत्तेसु इमस्मिं ताव कप्पे अयमेव भगवा बोधिसत्तभूतो तेन

समान होता है, उसे सूप या व्यञ्जन की अपेक्षा नहीं होती। वे (कटु, मधुर आदि) जिस रस का भोजन करना चाहते हैं, वही रस (उसमें प्राप्त) होता है।

जब से वे उस ठोस आहार का सेवन करना आरम्भ करते हैं, तब से मल-मूत्र उत्पन्न होता है। उनके निस्तारण के लिये उनमें 'व्रणमुख' (मलद्वार) आदि फट निकलते हैं। इसके बाद पुरुष का पुरुषत्व एवं स्त्री का स्त्रीत्व प्रादुर्भूत होता है।

३४. तब स्त्री पुरुष को एवं पुरुष स्त्री को अपलक देखते हैं। अपलक देखने के कारण उन को कामज्वर उत्पन्न होता है। तब वे मैथुन कर्म का सेवन करते हैं। (इस) असद्धर्म का सेवन करने से विद्वानों द्वारा निन्दित होकर, उपेक्षित होकर, उस असद्धर्म को छिपाने के लिये वे घर बनाते हैं। वे इस घर में रहते हुए, क्रमशः किसी आलसी को देखकर (अन्न का) संग्रह करने लगते हैं। उस समय वे कनी (=कण) भी, भूसी भी, चावल को ढँकने लगते हैं, तब जहाँ से फसल काट ली जाती है, वहाँ अपने आप फिर नहीं उगती।

३५. वे एकत्र होकर विलाप करते हैं—"अरे, सत्त्वों में पाप-धर्म आ गये हैं। पहले हम लोग मनोमय थे" (दी० ३/६६१) इस प्रकरण को **अग्गञ्ञसुत्त** द्वारा विस्तार से समझाना चाहिये।

तब सीमा (मेंड़) बाँधते हैं। कोई व्यक्ति किसी दूसरे का भाग चुराने लगता है। एक-दो बार गाली-गलौज करने के बाद (न मानने पर) तीसरी बार वे ढेले-डण्डे से मारते हैं। इस प्रकार चोरी, निन्दा, लठमारी आदि आरम्भ हो जाने पर एकत्र होकर चिन्ता करते हैं—"कैसा रहेगा यदि हम किसी एक व्यक्ति को चुने, जो हमारे हित में वस्तुतः दण्डनीय को दण्ड दे, निन्दनीय को निन्दा एवं निर्वासन योग्य को निर्वासित करे? हम (बदले में) उसे शालि का भाग देते रहेंगे।" (दी० नि० ३/६६२)।

---

१. **अनुत्थुनन्ती** ति। अनुसोचन्ति।

समयेन तेसु सत्तेसु अभिरूपतरो च दस्सनीयतरो च महेसक्खतरो च बुद्धिसम्पन्नो पटिबलो निग्गहपग्गहं कातुं। ते तं उपसङ्कमित्वा याचित्वा सम्मन्निंसु। सो तेन महाजनेन सम्मतो ति **महासम्मतो,** खेत्तानं अधिपती ति **खत्तियो,** धम्मेन समेन परे रञ्जेती ति **राजा** ति तीहि नामेहि पञ्ञायित्थ। यं हि लोके अच्छरियट्ठानं, बोधिसत्तो व तत्थ आदिपुरिसो ति। एवं बोधिसत्तं आदिं कत्वा खत्तियमण्डले सण्ठिते अनुपुब्बेन ब्राह्मणादयो पि वण्णा सण्ठहिंसु।

३६. तत्थ कप्पविनासकमहामेघतो याव जालुपच्छेदो, इदमेकमसङ्ख्येय्यं **संवट्टो** ति वुच्चति। कप्पविनासकजालुपच्छेदतो याव कोटिसतसहस्सचक्कवाळपरिपूरको सम्पत्तिमहामेघो, इदं दुतियमसङ्ख्येय्यं **संवट्टट्ठायी** ति वुच्चति। सम्पत्तिमहामेघतो याव चन्दिमसुरियपातुभावो इदं ततियमसङ्ख्येय्यं **विवट्टो** ति वुच्चति। चन्दिमसुरियपातुभावतो याव पुन कप्पविनासकमहामेघो, इदं चतुत्थमसङ्ख्येय्यं **विवट्टट्ठायी** ति वुच्चति। इमानि चत्तारि असङ्ख्येय्यानि एको महाकप्पो होति। एवं ताव अग्गिना विनासो च सण्ठहनं च वेदितब्बं। (१)

३७. यस्मिं पन समये कप्पो उदकेन नस्सति, आदितो व कप्पविनासकमहामेघो उट्ठहित्वा ति पुब्बे वुत्तनयेनेव वित्थारेतब्बं।

अयं पन विसेसो—यथा तत्थ दुतियसुरियो, एवमिध कप्पविनासको खारुदकमहामेघो वुट्ठाति। सो आदितो सुखुमं सुखुमं वस्सन्तो अनुक्कमेन महाधाराहि कोटिसतसहस्सचक्कवाळानं

उसी कल्प में जब सत्त्वों ने ऐसा निश्चय किया था, यही भगवान् बोधिसत्त्व के रूप में (उत्पन्न हुए थे), जो कि उस समय के सत्त्वों में सुन्दरतम, सर्वाधिक दर्शनीय, सर्वाधिक आदरणीय, बुद्धिमान् एवं संयमी थे। उन (मनुष्यों) ने उनके पास जाकर याचना की एवं उन्हें चुना। वे उन महाजनों के द्वारा सम्मति प्राप्त होने से **महासम्मत,** क्षेत्रों (=खेतों) के स्वामी होने से **क्षत्रिय,** धर्म द्वारा समान रूप से सबका रञ्जन करने से **राजा**—यों तीन नामों से जाने गये। क्योंकि लोक में जो कोई भी आश्चर्यजनक स्थान (साधारण मनुष्य के लिये दुर्विज्ञेय कालखण्ड) होता है, बोधिसत्त्व ही उसके आदिपुरुष होते हैं। यों, बोधिसत्त्व के नेतृत्व में क्षत्रियसमूह के संगठित होने पर, क्रम से ब्राह्मण आदि वर्ण भी संगठित हुए।

३६. कल्प का विनाश करने वाले मेघ से लेकर ज्वाला के बुझने तक इस एक असंख्येय को **संवर्त** कहते हैं। कल्पविनाशक ज्वाला के बुझने से लेकर दस खरब चक्रवालों को परिपूर्ण करने वाले, पुनर्जीवन (सम्पत्ति) देने वाले महामेघ तक—इस द्वितीय असंख्येय को **संवर्तस्थायी** कहते हैं। पुनर्जीवनदायी महामेघ से लेकर चन्द्रमा-सूर्य के प्रादुर्भाव तक—इस तृतीय असंख्येय को **संवर्त** कहते हैं। चन्द्र-सूर्य के प्रादुर्भाव से लेकर पुनः कल्प-विनाशक महामेघ तक—इस चतुर्थ असंख्येय को **विवर्तस्थायी** कहते हैं। इन चार असंख्येयों को मिलाकर एक **महाकल्प** होता है। यों अग्नि द्वारा विनाश एवं पुनः सृष्टि को जानना चाहिये। (१)

३७. किन्तु जिस समय कल्प अग्नि द्वारा विनष्ट होता है, उस समय 'आरम्भ में ही कल्पविनाशक मेघ उमड़कर'—यों पूर्वोक्त प्रकार से ही विस्तार से बतलाना चाहिये।

अन्तर यह है—जैसे वहाँ द्वितीय सूर्य, वैसे यहाँ कल्पविनाशक एवं खारे पानी वाला महामेघ

पूरेन्तो वस्सति। खारुदकेन फुट्ठफुट्ठा पथवीपब्बतादयो विलीयन्ति, उदकं समन्ततो वातेहि धारियति। पथवितो याव दुतियज्झानभूमिं उदकं गण्हाति। तत्थ तयो पि ब्रह्मलोके विलीयापेत्वा सुभकिण्हे आहच्च तिट्ठति। तं याव अणुमत्तं पि सङ्खारगतं अत्थि, ताव न वूपसम्मति। उदकानुगतं पन सब्बसङ्खारगतं अभिभवित्वा सहसा वूपसम्मति, अन्तरधानं गच्छति। हेट्ठा-आकासेन सह उपरिआकासो एको होति महन्धकारो ति' सब्बं वुत्तसदिसं। केवलं पनिध आभस्सरब्रह्मलोकं आदिं कत्वा लोको पातुभवति। सुभकिण्हतो च चवित्वा आभस्सरट्ठानादीसु सत्ता निब्बत्तन्ति।

३८. तत्थ कप्पविनासकमहामेघतो याव कप्पविनासकुदकूपच्छेदो, इदमेकं असङ्ख्येय्यं। उदकूपच्छेदतो याव सम्पत्तिमहामेघो, इदं दुतियं असङ्ख्येय्यं। सम्पत्तिमहामेघतो... पे०...इमानि चत्तारि असङ्ख्येय्यानि एको महाकप्पो होति। एवं उदकेन विनासो च सण्ठहनं च वेदितब्बं। (२)

३९. यस्मि समये कप्पो वातेन विनस्सति, आदितो व कप्पविनासकमहामेघो उट्ठहित्वा ति पुब्बे वुत्तनयेनेव वित्थारेतब्बं।

अयं पन विसेसो—यथा तत्थ दुतियसुरियो, एवमिध कप्पविनासनत्थं वातो समुट्ठाति। सो पठमं थूलरजं उट्ठापेति। ततो सण्हरजं, सुखुमवालिकं, थूलवालिकं, सक्खरपासाणादयो ति याव कूटागारमत्ते पासाणे विसमट्ठाने ठितमहारुक्खे च उट्ठापेति। ते पथवितो नभमुग्गता न च पुन पतन्ति, तत्थेव चुण्णविचुण्णा हुत्वा अभावं गच्छन्ति।

उठता है। वह पहले धीरे धीरे बरसता है, फिर क्रमशः महाधाराओं से दस खरब चक्रवालों को भरता हुआ बरसता है। जहाँ जहाँ खारे जल से सम्पर्क होता है, वहाँ वहाँ पृथ्वी, पर्वत आदि विलीन हो जाते हैं। चारों ओर से जल वायु द्वारा धारण किया जाता है। पृथ्वी से लेकर द्वितीय ध्यान-भूमि तक जल छा जाता है। वहाँ तीनों ही ब्रह्मलोकों को विलीन करता हुआ, शुभकृत्स्न में आकर रुकता है। जब तक अणुमात्र भी संस्कार शेष रहते हैं, तब तक वह शान्त नहीं होता। जल में डूबे हुए सभी संस्कारों को अभिभूत कर, सहसा शान्त हो जाता है, अन्तर्हित हो जाता है। निचले आकाश के साथ ऊपरी आकाश में एक साथ महाअन्धकार हो जाता है—यों, सब पहले के समान है। किन्तु केवल (यह अन्तर है कि) यहाँ लोक का प्रादुर्भाव ब्रह्मलोक से होता है, एवं शुभकृष्ण से च्युत होकर आभास्वर आदि स्थानों में सत्त्व उत्पन्न होते हैं।

३८. यहाँ, कल्पविनाशक मेघ से लेकर कल्पविनाशक जल के नाश तक—यह एक **असंख्येय** है। जल के नाश से लेकर पुनर्जीवनदायी महामेघ तक—यह एक असंख्येय है। पुनर्जीवनदायी महामेघ से...पूर्व...इन चार असंख्येयों को मिलाकर एक महाकल्प होता है। यों, जल द्वारा विनाश एवं पुनः सृष्टि को समझना चाहिये। (२)

३९. जिस समय वायु से कल्प विनष्ट होता है, 'आरम्भ में ही कल्पविनाश मेघ उठकर'—यों पूर्वोक्त प्रकार से ही विस्तार करना चाहिये।

अन्तर यह है—जैसे वहाँ द्वितीय सूर्य, वैसे यहाँ कल्पविनाश के लिये वायु चलती है। वह पहले स्थूल रज को उड़ाती है, फिर सूक्ष्म रज, सूक्ष्म बालू, स्थूल बालू, कङ्कड़-पत्थर—

४०. अथानुक्कमेन हेट्ठा महापठविया वातो समुट्ठहित्वा पठविं परिवत्तेत्वा उद्धं मूलं कत्वा आकासे खिपति। योजनसतप्पमाणा पि पठविप्पदेसा द्वियोजन-तियोजन-चतुयोजन-पञ्चयोजनसतप्पमाणा पि भिज्जित्वा वातवेगेन खित्ता आकासे येव चुण्णविचुण्णा हुत्वा अभावं गच्छन्ति। चक्कवाळपब्बतं पि सिनेरुपब्बतं पि वातो उक्खिपित्वा आकासे खिपति। ते अञ्ञमञ्ञं अभिहन्त्वा[1] चुण्णविचुण्णा हुत्वा विनस्सन्ति। एतेनेव उपायेन भुम्मट्ठकविमानानि च आकासट्ठकविमानानि च विनासेन्तो छ कामावचरदेवलोके विनासेत्वा कोटिसतसहस्स-चक्कवाळानि विनासेति। तत्थ चक्कवाळा चक्कवाळेहि हिमवन्ता हिमवन्तेहि सिनेरू सिनेरूहि अञ्ञमञ्ञं समागन्त्वा[2] चुण्णविचुण्णा हुत्वा विनस्सन्ति।

पठवितो याव ततियज्झानभूमिं वातो गण्हाति। तत्थ तयो ब्रह्मलोके विनासेत्वा वेहप्फलं आहच्च तिट्ठति। एवं सब्बसङ्खारगतं विनासेत्वा सयं पि विनस्सति। हेट्ठाआकासेन सह उपरिआकासो एको होति महन्धकारो ति सब्बं वुत्तसदिसं। इध पन सुभकिण्हब्रह्मलोकं आदिं कत्वा लोको पातुभवति। वेहप्फलतो च चवित्वा सुभकिण्हट्ठानादीसु सत्ता निब्बत्तन्ति।

तत्थ कप्पविनासकमहामेघतो याव कप्पविनासकवातूपच्छेदो, इदमेकं असङ्ख्येय्यं। वातूपच्छेदतो याव सम्पत्तिमहामेघो, इदं दुतियं असङ्ख्येय्यं...पे०...इमानि चत्तारि असङ्ख्येय्यानि एको महाकप्पो होति। एवं वातेन विनासो च सण्ठहनं च वेदितब्बं। (३)

यों कूटागार (दुमंजिले भवन) जितने विशाल पत्थर, एवं ऊबड़-खाबड़ स्थान में स्थित विशाल वृक्ष को भी उड़ा ले जाती है। वे पृथ्वी से आकाश में उठ जाने पर पुनः गिरते नहीं, अपितु वहीं चूर चूर होकर नष्ट हो जाते हैं।

४०. तब क्रमशः नीचे महापृथ्वी से उठने वाली वायु पृथ्वी को उलटकर मूल (=निचले) भाग को ऊपर करके आकाश में फेंक देती है। सौ योजन विस्तृत भूभाग भी, दो-तीन-चार-पाँच योजन विस्तृत भी, तोड़कर वायुवेग से फेंक दिये जाते हैं एवं आकाश में ही चूर चूर होकर नष्ट हो जाते हैं। चक्रवाल पर्वत को एवं सुमेरु पर्वत को भी वायु उड़ाकर आकाश में फेंक देती है। वे एक-दूसरे से टकराकर, चूर-चूर होकर नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार भूमि के आठ एवं आकाश के आठ विमानों को विनष्ट करते हुए, कामावचर (भूमि के) छह देवलोकों का विनाश कर, दस खरब चक्रवालों का विनाश करती है। चक्रवाल चक्रवालों से, हिमालय हिमालयों से, सुमेरु सुमेरुओं से टकराकर, चूर-चर होकर नष्ट हो जाते हैं।

वायु पृथ्वी से लेकर तृतीय ध्यानभूमि तक फैल जाती है। वहाँ तीन ब्रह्मलोकों का विनाश कर, बृहत्फल पर आकर रुकती है। य्रों, सभी संस्कृत धर्मों का विनाश कर स्वयं भी विनष्ट हो जाती है। निचले आकाश से ऊपरी आकाश तक, सर्वत्र निविड़ अन्धकार छा जाता है—यह सब (पूर्व में) उक्त क्रे समान है। किन्तु यहाँ लोक का प्रादुर्भाव शुभकृत्स्न लोक से आरम्भ होता है। एवं सत्त्व बृहत्फल से च्युत होकर शुभकृत्स्न आदि स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

यहाँ कल्पविनाशक मेघ से लेकर कल्पविनाशक वायु के नाश तक—यह एक असंख्येय है। वायु के नाश से लेकर पुनर्जीवनदायी महामेघ तक—यह द्वितीय असंख्येय है ...पूर्ववत्... इन

---

१. **अभिहन्त्वा** ति। घट्टेत्वा।　　२. **समागन्त्वा** ति। घट्टेत्वा।

४१. किं कारणा एवं लोको विनस्सति? अकुसलमूलकारणा। अकुसलमूलेसु हि उस्सन्नेसु एवं लोको विनस्सति। सो च खो रागे उस्सन्नतरे अग्गिना विनस्सति। दोसे उस्सन्नतरे उदकेन विनस्सति। केचि पन दोसे उस्सन्नतरे अग्गिना, रागे उस्सन्नतरे उदकेना ति वदन्ति। मोहे उस्सन्नतरे वातेन विनस्सति।

एवं विनस्सन्तो पि च निरन्तरमेव सत्तवारे अग्गिना विनस्सति, अट्ठमे वारे उदकेन, पुन सत्त वारे अग्गिना, अट्ठमे वारे उदकेना ति एवं अट्ठमे अट्ठमे वारे विनस्सन्तो सत्तक्खत्तुं उदकेन विनस्सित्वा पुन सत्तवारे अग्गिना नस्सति। एतावता तेसट्ठि कप्पा अतीता होन्ति। एत्थन्तरे उदकेन नस्सनवारं सम्पत्तं पि पटिबाहित्वा लद्धोकासो वातो परिपुण्णचतुसट्ठिकप्पायुके सुभकिण्हे विद्धंसेन्तो लोकं विनासेति।

४२. पुब्बेनिवासं अनुस्सरन्तो पि च कप्पानुस्सरणको भिक्खु एतेसु कप्पेसु अनेके पि संवट्टकप्पे, अनेके पि विवट्टकप्पे, अनेके पि संवट्टविवट्टकप्पे अनुस्सरति।

कथं? "**अमुत्रासिं**" (दी० नि० १/९०) ति आदिना नयेन।

तत्थ **अमुत्रासिं** ति। अमुम्हि संवट्टकप्पे अहं अमुम्हि भवे वा योनिया वा गतिया वा विञ्ञाणट्ठितिया वा सत्तावासे वा सत्तनिकाये वा आसिं।

एवंनामो ति। तिस्सो वा, फुस्सो वा। **एवंगोत्तो** ति कच्चानो वा कस्सपो, वा। इदमस्स

चार असंख्येयों को मिलाकर एक महाकल्प होता है। यों, वायु द्वारा विनाश एवं पुनः सृष्टि को जानना चाहिये। (३)

४१. लोक का इस प्रकार विनाश किस कारण से होता है? (तीन) अकुशल मूलों के कारण से। राग के अति आधिक्य से वह (लोक) अग्नि द्वारा विनष्ट होता है। द्वेष के अति आधिक्य से जल द्वारा विनष्ट होता है। किन्तु कुछ लोग 'द्वेष के अधिक बढ़ने से अग्नि द्वारा एवं राग के अधिक बढ़ने से जल द्वारा'—ऐसा कहते हैं। मोह के अधिक बढ़ने से वायु द्वारा विनष्ट होता है।

यों विनष्ट होते समय, निरन्तर सात बार अग्नि द्वारा विनष्ट होता है एवं आठवीं बार जल द्वारा। पुनः सात बार अग्नि द्वारा एवं आठवीं बार जल द्वारा। एवं इस प्रकार जब वह सात बार अग्नि द्वारा एव आठवीं बार जल द्वारा विनष्ट हो चुका होता है, तो वह पुनः सात बार अग्नि द्वारा विनष्ट होता है। इतना होते होते तिरसठ कल्प बीत जाते हैं। इस बीच वायु जल द्वारा विनाश का क्रम तोड़ने का अवसर पा जाती है एवं (इस बार) वह पूरे चौसठ कल्प की आयु वाले शुभकृत्स्न का विध्वंस करते हुए लोक का विनाश करती है।

४२. कल्पों का अनुस्मरण करने वाला भिक्षु, पूर्वनिवास का अनुस्मरण करते समय भी, इन कल्पों में अनेक संवर्तकल्पों का, अनेक विवर्तकल्पों का एवं अनेक संवर्त-विवर्तकल्पों का अनुस्मरण करता है।

कैसे? "**वहाँ था**" (दी० नि० १/९०) आदि प्रकार से। इनमें, **अमुत्रासिं** अमुक संवर्तकल्प में, अमुक भव, योनि, गति, विज्ञानस्थिति, सत्त्वावास या सत्त्वनिकाय में था।

एवंनामो—तिष्य या पुष्य। **एवंगोत्तो**—कात्यायन या काश्यप। यह पूर्वजन्म के अपने

अतीतभवे अत्तनो नामगोत्तानुस्सरणवसेन वुत्तं। सचे पन तस्मिं काले अत्तनो वण्णसम्पत्तिं वा लूखपणीतजीविकभावं वा सुखदुक्खबहुलतं वा अप्पायुकदीघायुकभावं वा अनुस्सरितुकामो होति, तं पि अनुस्सरति येव। तेनाह—"**एवंवण्णो...पे०...एवमायुपरियन्तो**" ति।

४३. तत्थ **एवंवण्णो** ति। ओदातो वा, सामो वा। **एवमाहारो** ति। सालिमंसोदनाहारो वा, पवत्तफलभोजनो वा। **एवं सुखदुक्खपटिसंवेदी** ति। अनेकप्पकारेन कायिकचेतसिकानं सामिसनिरामिसादिप्पभेदानं वा सुखदुक्खानं पटिसंवेदी। **एवमायुपरियन्तो** ति। एवं वस्ससत-परिमाणायुपरियन्तो वा चतुरासीतिकप्पसहस्सायुपरियन्तो वा।

सो ततो चुतो अमुत्र उदपादिं ति। सो अहं ततो भवतो योनितो गतितो विञ्ञाण-ट्ठितितो सत्तावासतो सत्तनिकायतो वा चुतो पुन अमुकस्मिं नाम भवे योनिया गतिया विञ्ञाणट्ठितिया सत्तावासे सत्तनिकाये वा उदपादिं। **तत्रापासिं** ति। अथ तत्रापि भवे योनिया गतिया विञ्ञाणट्ठितिया सत्तावासे सत्तनिकाये वा पुन अहोसिं। **एवंनामो** ति आदि। वुत्तनयमेव।

४४. अपि च—यस्मा, '**अमुत्रासिं**' ति इदं अनुपुब्बेन आरोहन्तस्स यावदिच्छिकं अनुस्सरणं, 'सो ततो चुतो' ति पटिनिब्बत्तन्तस्स पच्चवेक्खणं, तस्मा 'इधूपपन्नो' ति इमिस्सा इधूपपत्तिया अनन्तरमेवस्स उपपत्तिट्ठानं सन्धाय, **अमुत्र उदपादिं** ति इदं वुत्तं ति **वेदितब्बं**। 'तत्रापासिं' ति एवमादि पनस्स तत्र इमिस्सा उपपत्तिया अनन्तरे उपपत्तिट्ठाने नामगोत्तादीनं अनुस्सरणदस्सनत्थं वुत्तं। **सो ततो चुतो इधूपपन्नो** ति। स्वाहं ततो अनन्तरूपपत्तिट्ठानतो चुतो इध असुकस्मिं नाम खत्तियकुले वा ब्राह्मणकुले वा निब्बत्तो ति।

नाम एवं गोत्र का अनुस्मरण करने के विषय में कहा गया है। यदि उस समय के अपने रंग रूप, निर्धनता-सम्पन्नता, सुख-दुःख के आधिक्य का या अल्पायु अथवा दीर्घायु होने का अनुस्मरण करता है; इस लिये कहा गया है—"इस वर्ण का...पूर्ववत्...इतनी आयुवाला था।"

४३. यहाँ, **एवंवण्णो**—गोरा या काला। **एवमाहारो**—शालि के भात एव मांस का आहार करने वाला या (पककर स्वयं ही) गिरे हुए फलों का आहार करने वाला। **एवंसुखदुक्खपटि-संवेदी**—अनेक प्रकार के कायिक वाचिक या सामिष निरामिष के प्रभेदों वाले सुख दुःख का प्रतिसंवेदी। (पाँच काम गुणों से युक्त सुख वेदना या दुःख वेदना को सामिष एवं तद्विपरीत को निरामिष कहा जाता है।) **एवमायुपरियन्तो**—सौ वर्ष की आयु वाला या चौरासी हजार कल्प की आयु वाला। **सो ततो चुतो अमुत्र उदपादिं**—वह मैं उस भव, योनि, गति, विज्ञानस्थिति, सत्त्वावास या सत्त्वनिकाय से च्युत होकर पुनः अमुक भव, योनि, गति, विज्ञानस्थिति, सत्त्वावास या सत्त्वनिकाय में उत्पन्न हुआ। **एवंनामो**—उक्त प्रकार से ही।

४४. इसके अतिरिक्त, क्योंकि 'अमुत्रासिं' (वहाँ था)—यह क्रम से ऊपर की ओर (स्मृति को ले) जाने वाले का यथेच्छ अनुस्मरण है, एवं '**सो ततो चुतो**' (वह मैं वहाँ से च्युत होकर)—यह प्रतिनिवृत्त होने वाले का अनुस्मरण है, अतः जानना चाहिये कि 'इधूपपन्नो' (यहाँ उत्पन्न हुआ)—यों इसकी यहाँ उत्पत्ति (बतलाने) के बाद, उसकी उत्पत्ति के स्थान को लक्ष्य करके '**अमुत्र उदपादिं**' (वहाँ उत्पन्न हुआ)—ऐसा कहा गया है। '**तत्रापासिं**' (वहाँ पुनः उत्पन्न हुआ था)—आदि को इसकी वहाँ इस उत्पत्ति के बाद (पुनः) उत्पन्न होने के स्थान में नाम-गोत्र आदि

इती ति। एवं। **साकारं सउद्देसं** ति। नामगोत्तवसेन सउद्देसं। वण्णादिवसेन साकारं। नामगोत्तेन हि सत्तो—'तिस्सो', 'कस्सपो' ति उद्दिसियति। वण्णादीहि—सामो, ओदातो ति नानत्ततो पञ्ञायति। तस्मा नामगोत्तं उद्देसो, इतरे आकारा। **अनेकविहितं पुब्बेनिवासमनुस्सरती** ति। इदं उत्तानत्थमेवा ति॥

पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणकथा॥

चुतूपपातञाणकथा

४५. सत्तानं चुतूपातञाणकथाय—**चुतूपपातञाणाय** (दी० नि० १/९१) ति। चुतिया च उपपाते च ञाणाय। येन ञाणेन सत्तानं चुति च उपपातो च ञायति, तदत्थं। दिब्बचक्खुञाणत्थं ति वुत्तं होति। **चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेती** ति। परिकम्मचित्तं अभिनीहरति चेव अभिनिन्नामेति च। **सो** ति। सो कतचित्ताभिनीहारो भिक्खु।

दिब्बेना ति आदीसु पन—दिब्बसदिसत्ता दिब्बं। देवतानं हि सुचरितकम्मनिब्बत्तं पित्तसेम्हरुहिरादीहि अपलिबुद्धं उपक्किलेसविमुत्तताय दूरे पि आरम्मणपटिच्छनसमत्थं दिब्बं पसादचक्खु होति। इदं चापि विरियभावनाबलनिब्बत्तं ञाणचक्खु तादिसमेवा ति दिब्बसदिसत्ता दिब्बं। दिब्बविहारवसेन पटिलद्धत्ता अत्तना च दिब्बविहारसन्निस्सितत्ता पि दिब्बं। आलोकपरिग्गहेन महाजुतिकत्ता पि दिब्बं। तिरोकुड्डादिरूपदस्सनेन महागतिकत्ता पि दिब्बं। तं सब्बं सद्दसत्थानुसारेन दिब्बं।

के अनुस्मरण को दिखलाने के लिये कहा गया है। **सो ततो चुतो इधूपपन्नो**—वह मैं उस अनन्त रूप-सम्पत्ति वाले स्थान से च्युत होकर इस अमुक नाम वाले क्षत्रिय या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ।

इति—इस प्रकार। **साकारं सउद्देसं**—नाम-गोत्र के अनुसार **सोद्देश्य**। वर्ण आदि के अनुसार **साकार**। क्योंकि नाम-गोत्र के अनुसार ही सत्त्व 'तिष्य' या 'कश्यप' कहा जाता है। वर्ण आदि के द्वारा गोरा-काला आदि विभिन्नता जानी जाती है। अतः नाम-गोत्र उद्देश्य है, शेष आकार हैं। **अनेकविहितं पुब्बेनिवासमनुस्सरति**—इसका अर्थ स्पष्ट ही है॥

पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान का वर्णन सम्पन्न॥

च्युत्युत्पादज्ञान

४५. सत्त्वों की च्युति एवं उत्पाद के वर्णन में, **चुतूपपातञाणाय** (दी० नि० १/९१) च्युति एवं उत्पाद विषयक ज्ञान के लिये। जिस ज्ञान द्वारा सत्त्व, च्युति एवं उत्पाद को जानते हैं, उसके लिये। अर्थात् दिव्यचक्षु ज्ञान के लिये। **चित्तं अभिनीहरति, अभिनिन्नामेति**—उसकी ओर परिकर्मचित्त को ले जाता, झुकाता है। **सो**—चित्त को उस ओर ले जाने वाला वह भिक्षु।

दिब्बेन आदि में, दिव्य के समान होने से दिव्य। क्योंकि देवताओं का दिव्य चक्षुःप्रसाद सत्कर्म से उत्पन्न, पित्त कफ रुधिर आदि के विघ्नों से रहित, उपक्लेशों से विमुक्त होने से दूरस्थ आलम्बन का भी ग्रहण करने में समर्थ होता है। वीर्य-भावना के बल से उत्पन्न यह ज्ञानचक्षु भी वैसा ही होता है। अतः दिव्य के समान होने से दिव्य है। दिव्यविहार के कारण प्राप्त होने से एवं दिव्यविहार पर स्वयं भी आश्रित होने से दिव्य है। आलोक का ग्रहण करने से,

४६. दस्सनट्ठेन चक्खु, चक्खुकिच्चकरणेन च चक्खुमिवा ति पि चक्खु। चुतूपपात-दस्सनेन दिट्ठिविसुद्धिहेतुत्ता विसुद्धं।

यो हि चुतिमत्तमेव पस्सति, न उपपातं सो उच्छेददिट्ठिं गण्हाति। यो उपपातमत्तमेव पस्सति न चुतिं, सो नवसत्तपातुभावदिट्ठिं गण्हाति। यो पन तदुभयं पस्सति, सो यस्मा दुविधं पि तं दिट्ठिगतं अतिवत्तति, तस्मास्स तं दस्सनं दिट्ठिविसुद्धिहेतु होति। उभयं पि चेतं बुद्धपुत्ता पस्सन्ति। तेन वुत्तं—'चुतूपपातदस्सनेन दिट्ठिविसुद्धिहेतुत्ता विसुद्धं' ति।

४७. मनुस्सूपचारं अतिक्कमित्वा रूपदस्सनेन अतिक्कन्तमानुसकं। मानुसकं वा मंसचक्खुं अतिक्कन्तत्ता अतिक्कन्तमानुसकं ति वेदितब्बं। तेन **दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्तमानुसकेन। सत्ते पस्सती** ति मनुस्सा मंसचक्खुना विय सत्ते ओलोकेति।

४८. **चवमाने उप्पज्जमाने** ति। एत्थ, चुतिक्खणे उपपत्तिक्खणे वा दिब्बचक्खुना दट्ठुं न सक्का, ये पन आसन्नचुतिका इदानि चविस्सन्ति ते चवमाना, ये च गहितपटिसन्धिका सम्पति निब्बत्ता व ते उप्पज्जमाना ति अधिप्पेता। ते एवरूपे चवमाने उप्पज्जमाने च पस्सतीति दस्सेति।

४९. **हीने** ति। मोहनिस्सन्दयुत्तत्ता हीनानं जातिकुलभोगादीनं वसेन हीळिते ओहीळिते उञ्ञाते अवञ्ञाते। **पणीते** ति। अमोहनिस्सन्दयुत्तत्ता तब्बिपरीते। **सुवण्णे** ति। अदोस-

---

महाज्योति:सम्पन्न या दीवार के आर-पार आदि के रूप का दर्शन या महान् गति करने वाला होने से भी दिव्य है। उस सबको **शब्दशास्त्र** (व्याकरण) के अनुसार जानना चाहिये।

४६. दर्शन के अर्थ में चक्षु है, एवं चक्षु का कृत्य करने में चक्षु के समान है, इसलिये भी चक्षु है। च्युति एवं उत्पाद दर्शन के कारण, दृष्टि की विशुद्धि का हेतु होने से विशुद्ध है।

क्योंकि जो च्युतिमात्र को देखता है, उत्पाद को नहीं, वह उच्छेददृष्टि का ग्रहण करता है। जो उत्पादमात्र को देखता है, च्युति को नहीं, वह 'नवीन सत्त्व का प्रादुर्भाव होता है'—यह दृष्टि ग्रहण करता है। किन्तु दोनों को ही देखने वाला; क्योंकि दोनों ही दृष्टियों का अतिक्रमण करता है, अत: उसका वह दर्शन दृष्टिविशुद्धि का हेतु होता है। एवं यह दोनों ही बुद्ध के पुत्र (श्रावक) देखते हैं। अत: कहा गया है—"च्युति एवं उत्पाद-दर्शन के कारण दृष्टिविशुद्धि का हेतु है, अत: विशुद्ध है"।

४७. मनुष्य के उपचार (=गोचर, पहुँच) का अतिक्रमण करते हुए, रूप का दर्शन करने से अतिमानवीय है। अथवा, मानवीय मांस-चक्षुओं का अतिक्रमण करने से अतिमानवीय है, ऐसा जानना चाहिये। उस **दिब्बेन चक्खुना विसुद्धेन अतिक्कन्तमानुसकेन सत्ते पस्सति**—जैसे मनुष्य मांस चक्षुओं से (देखते हैं), वैसे सत्त्वों को देखता है।

४८. चवमाने, उप्पज्जमाने—यहाँ, च्युति-क्षण को या उत्पत्ति क्षण को दिव्य चक्षु द्वारा देखा नहीं जा सकता। (वस्तुत:) च्युत होने वाले (च्यवमान) से अभिप्राय है उनका जो मरणासन्न हैं, अभी अभी ही च्युत होंगे, एवं उत्पद्यमान से उनका, जो प्रतिसन्धि ग्रहण किये हुए, अभी-अभी उत्पन्न हैं। उन्हें इस प्रकार च्युत होते एवं उत्पन्न होते देखता है—यह दिखलाया गया है।

४९. **हीने**—मोह के फल (निष्यन्द) से युक्त होने से, हीन जाति, कुल, भोग आदि के कारण जिनकी निन्दा होती है, जिनसे घृणा की जाती है, नीचा देखा जाता है, अवज्ञा की जाती

निस्सन्दयुत्तत्ता इट्ठकन्तमनापवण्णयुते। **दुब्बण्णे** ति। दोसनिस्सन्दयुत्तत्ता अनिट्ठाकन्त-अमनापवण्णयुत्ते। अनभिरूपे, विरूपे ति पि अत्थो। **सुगते** ति। सुगतिगते। अलोभनिस्सन्द-युत्तत्ता वा अड्ढे महद्धने। **दुग्गते** ति। दुग्गतिगते। लोभनिस्सन्दयुत्तत्ता वा दलिद्दे अप्पन्नपाने।

५०. **यथाकम्मूपगे** ति। यं यं कम्मं उपचितं तेन तेन उपगते। तत्थ पुरिमेहि चवमाने ति आदीहि दिब्बचक्खुकिच्चं वुत्तं, इमिना पन पदेन यथा कम्मूपगञाणकिच्चं।

तस्स च ञाणस्स अयमुप्पत्तिक्कमो—इध भिक्खु हेट्ठा निरयाभिमुखं आलोकं वड्ढेत्वा नेरयिके सत्ते पस्सति महादुक्खमनुभवमाने। तं दस्सनं दिब्बचक्खुकिच्चमेव। सो एवं मनसि करोति—'किं नु खो कम्मं कत्वा इमे सत्ता एतं दुक्खं अनुभवन्ती' ति? अथस्स 'इदं नाम कत्वा' ति तङ्कम्मारम्मणं ञाणं उप्पज्जति। तथा उपरि देवलोकाभिमुखं आलोकं वड्ढेत्वा नन्दनवन-मिस्सकवन-फारुसकवनादिसु सत्ते पस्सति महासम्पत्तिं अनुभवमाने। तं पि दस्सनं दिब्बचक्खुकिच्चमेव। सो एवं मनसिकरोति—'किं नु, खो, कम्मं कत्वा इमे सत्ता एतं सम्पत्तिं अनुभवन्ती' ति? अथस्स, इदं नाम कत्वा ति तङ्कम्मारम्मणं ञाणं उप्पज्जति। इदं यथाकम्मू-पगञाणं नाम।

इमस्स विसुं परिकम्मं नाम नत्थि। यथा चिमस्स, एवं अनागतंसञाणस्सापि। दिब्बचक्खुपादकानेव हि इमानि दिब्बचक्खुना सहेव इज्झन्ति।

है, उन्हें। **पणीते**—अमोह-निष्यन्द से युक्त होने के कारण तद्विपरीत को। **सुवण्णे**—अद्वेष-निष्यन्द से युक्त होने से इष्ट, कान्त, मनाप (लुभावने) वर्ण से युक्तों को। **दुब्बण्णे**-द्वेष-निष्यन्द से युक्त होने से अनिष्ट, अकान्त, अमनाप वर्ण से युक्तों को। अर्थात् कुरूपों, विरूपों को। **सुगते**—सुगतिप्राप्त को। अथवा, अलोभ-निष्यन्द से युक्त होने से धनाढ्यों, महाधनिकों को। **दुग्गते**—दुर्गति प्राप्त को। अथवा, लोभ-निष्यन्द से युक्त होने से दरिद्र, अल्प अन्न-पान वालों को।

५०. **यथाकम्मूपगे**—जिस जिस कर्म का उपार्जन किया है, उस उसके अनुसार अवस्था को प्राप्त होने वालों को। इनमें, पहले के 'च्युत होते हुए' आदि द्वारा (योगी के) दिव्य चक्षु का कृत्य बतलाया गया है, किन्तु इस पद द्वारा कर्मानुसार प्राप्त ज्ञान के कृत्य को।

और उस ज्ञान का उत्पत्तिक्रम यह है—यहाँ भिक्षु नीचे नरक की ओर आलोक बढ़ाकर महादुःख का अनुभव करने वाले नारकीय सत्त्वों को देखता है। वह दर्शन दिव्यचक्षु का ही कृत्य है। वह यों विचार करता है—'कौन कर्म करके ये सत्त्व इस दुःख का अनुभव करते हैं?' तब उसे "इसे करके"—यों उस कर्म को आलम्बन बनाने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। वैसे ही ऊपर देवलोक की ओर आलोक बढ़ाकर नन्दनवन, मिश्रकवन, पारुषकवन आदि में महासम्पत्ति का अनुभव करने वाले सत्त्वों को देखता है। उसे भी देखना दिव्यचक्षु का ही कार्य है। वह यों विचार करता है—'कौन कर्म करके ये सत्त्व इस सम्पत्ति का अनुभव कर रहे हैं? तब उसे 'इसे करके'—यों उस कर्म को आलम्बन बनाने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। इसे 'यथाकर्मोपग ज्ञान' कहते हैं।

इसके लिये कोई विशेष परिकर्म नहीं करना होता। एवं जैसे इसका, वैसे ही अनागत संज्ञान का भी; क्योंक दिव्य चक्षु पर आधृत (ये ज्ञान) दिव्यचक्षु के साथ ही सिद्ध हो जाते हैं।

५१. **कायदुच्चरितेन** आदि में—क्लेश द्वारा कलुषित होने से जो बुरा चरित्र है, वह दुश्चरित्र

५१. **कायदुच्चरितेना** ति आदिसु—दुट्ठु चरितं, दुट्ठं वा चरितं किलेसपूतिकत्ता ति दुच्चरितं। कायेन दुच्चरितं, कायतो वा उप्पन्नं दुच्चरितं ति कायदुच्चरितं। इतरेसु पि एसेव नयो। **समन्नागता** ति। समङ्गीभूता।

अरियानं उपवादुका ति। बुद्ध-पच्चेकबुद्ध-सावकानं अरियानं अन्तमसो गिहिसोतापन्नानं पि अनत्थकामा हुत्वा अन्तिमवत्थुना वा गुणपरिधंसनेन वा उपवादका। अक्कोसका, गरहका ति वुत्तं होति।

तत्थ, 'नत्थि इमेसं समणधम्मो, अस्समणा एते' ति वदन्तो अन्तिमवत्थुना उपवदति। 'नत्थि इमेसं झानं वा विमोक्खो वा मग्गो वा फलं वा' ति आदीनि वदन्तो गुणपरिधंसनवसेन उपवदती ति वेदितब्बो। सो च जानं वा उपवदेय्य अजानं वा, उभयथा पि अरियूपवादी व होति। भारियं कम्मं आनन्तरियसदिसं सग्गावरणं च मग्गावरणं च, सतेकिच्छं पन होति।

तस्स आविभावत्थं इदं वत्थु वेदितब्बं—

५२. अञ्ञतरस्मिं किर गामे एको थेरो च दहरभिक्खु च पिण्डाय चरन्ति। ते पठमघरे येव उलुङ्कमत्तं[1] उण्हयागुं लभिंसु। थेरस्स च कुच्छिवातो रुज्जति। सो चिन्तेसि—'अयं यागु मय्हं सप्पाया, याव न सीतला होति, ताव नं पिबामी' ति मनुस्सेहि उम्मारत्थाय आहटे दारुखण्डे निसीदित्वा पिवि। इतरो तं जिगुच्छन्तो 'अतिखुदाभिभूतो महल्लको अम्हाकं लज्जितब्बकं अकासी' ति आह। थेरो गामे चरित्वा विहारं गन्त्वा दहरभिक्खुं आह—"अत्थि

कायदुश्चरित्र है। अन्यों में भी यही नय है। **समन्नागतत्ता**—युक्त होने से।

अरियानं उपवादका—आर्यों अर्थात् बुद्ध या श्रावकों का, यहाँ तक कि गृहस्थ स्रोतआपन्नों का भी अनर्थ चाहते हुए, उन पर अन्तिम वस्तु (=पाराजिक) का या गुणों के विनष्ट होने का आरोप लगाने वाले। अर्थात् कोसने वाले, निन्दा करने वाले।

यहाँ, 'इनमें श्रमण धर्म नहीं है, ये श्रमण नहीं है'—यों कहने वाला अन्तिम वस्तु का आरोप लगाता है। 'इनमें ध्यान, विमोक्ष, मार्ग या फल नहीं है'—आदि कहने वाला गुण के नष्ट होने का आरोप लगाता है—यह जानना चाहिये। एवं वह चाहे जानबूझकर (ऐसा अपशब्द) कहे या अनजाने में, आर्यों का अपवाद तो होता ही है। यह आनन्तर्य (मातृवधादि) के समान महापाप है, स्वर्ग का आवरण (=अवरोधक) एवं मार्ग का आवरण है। किन्तु उसका प्रतिकार क्षमायाच्ञा से सम्भव है।

इसे स्पष्ट करने के लिये इस कथा को जानना चाहिये—

५२. किसी ग्राम में एक स्थविर एवं एक तरुण भिक्षु भिक्षाटन कर रहे थे। उन्हें पहले घर से ही कछुल (दर्वी) भर गर्म यवागु मिली। स्थविर के उदर में वायु का प्रकोप हुआ था। उसने सोचा—'यह यवागु मेरे लिये लाभप्रद होगी, ठंढी होने के पहले ही पी लूँ', एवं उसने मनुष्यों द्वारा ड्योढ़ी के लिये लाये गये लकड़ी के टुकड़े पर बैठकर पी लिया। दूसरे ने उससे जुगुप्सा करते हुए कहा—"अत्यधिक भूख से पीड़ित इस वृद्ध ने हमारे लिये लज्जाजनक (कार्य)

---

१. उळुङ्कमत्तं ति। महाकटच्छुमत्तं।

ते, आवुसो, इमस्मिं सासने पतिट्ठा" ति? "आम, भन्ते, सोतापन्नो अहं" ति। "तेन हावुसो, उपरिमग्गत्थाय मा वायामं अकासि, खीणासवो तया उपवदितो" ति। सो तं खमापेसि। तेनस्स तं कम्मं पाकतिकं अहोसि।

तस्मा यो अञ्ञो पि अरियं उपवदति, तेन गन्त्वा सचे अत्तना वुड्ढतरो होति, उक्कुटिकं निसीदित्वा "अहं आयस्मन्तं इदं चिदं च अवचं, तं मे खमाही" ति खमापेतब्बो। सचे नवकतरो होति, वन्दित्वा उक्कुटिकं निसीदित्वा अञ्जलिं पग्गहेत्वा "अहं, भन्ते, तुम्हे इदं चिदं च अवचं, तं मे खमथा" ति खमापेतब्बो। सचे दिसापक्कन्तो होति, सयं वा गन्त्वा सद्धिविहारिकादिके वा पेसेत्वा खमापेतब्बो।

सचे च नापि गन्तुं, न पेसेतुं सक्का होति, ये तस्मिं विहारे भिक्खू वस्सन्ति, तेसं सन्तिकं गन्त्वा—सचे नवकतरा होन्ति उक्कुटिकं निसीदित्वा, सचे वुड्ढतरा, वुड्ढे वुत्तनयेनेव पटिपज्जित्वा, "अहं, भन्ते, असुकं नाम आयस्मन्तं इदं चिदं च अवचं, खमतु मे सो आयस्मा" ति वत्वा खमापेतब्बं। सम्मुखा अखमन्ते पि एतदेव कत्तब्बं।

सचे एकचारिकभिक्खु होति, नेवस्स वसनट्ठानं, न गतट्ठानं पञ्ञायति, एकस्स पण्डितस्स भिक्खुनो सन्तिकं गन्त्वा "अहं, भन्ते, असुकं नाम आयस्मन्तं इदं चिदं च अवचं, तं मे अनुस्सरतो विप्पटिसारो होति, किं करोमी?" ति वत्तब्बं। सो वक्खति—"तुम्हे मा

किया।" स्थविर ने ग्राम में चारिका करने के बाद विहार में लौटकर तरुण भिक्षु से कहा—"आयुष्मन्, तुम्हारी इस शासन में क्या प्रतिष्ठा है?" "हाँ, भन्ते, मैं स्रोतआपन्न हूँ।" तब तो, आयुष्मन्, ऊपरी मार्गों के लिये प्रयास मत करो; तुमने क्षीणास्रव को बुरा-भला कहा है।" उसने उनसे क्षमा माँगी। इससे उसका कर्म पहले जैसा ही हो गया।

अत: यदि कोई अन्य भी ऐसा हो जिसने (किसी) आर्य को अपशब्द कहा हो, तो उसे जाकर, यदि वह स्वयं बड़ा हो तो उकड़ू बैठकर "मैंने आयुष्मान् को ऐसा-ऐसा अपशब्द कहा, इसके लिये मुझे क्षमा करें"—यों क्षमा करा लेना चाहिये। यदि (वह स्वयं) छोटा हो, तो प्रणाम करके उकड़ू बैठकर एवं हाथ जोड़कर—"भन्ते! मैंने आपको ऐसा ऐसा अपशब्द कहा, कृपया मुझे क्षमा करें"—यों क्षमा करा लेना चाहिये। यदि (जिसे अपशब्द कहा था वह), बाहर गया हो, तो स्वयं जाकर या विहार में अपने साथ रहने वाले किसी को भेजकर क्षमा करना चाहिये।

किन्तु यदि न तो (स्वयं) जा सके एव न (किसी को) भेज सके, तो जो भिक्षु उस विहार में रहते हों, उनके पास जाकर, यदि छोटे हैं तो उकड़ू बैठकर एवं यदि अपने से बड़े हों तो वृद्धों के लिये बतलाये गये प्रकार से अभिवादन करते हुए—"भन्ते, मैंने अमुक नाम के आयुष्मान् को ऐसा ऐसा अपशब्द कहा। वह आयुष्मान् मुझे क्षमा करें"—यों कहकर क्षमा करा लेना चाहिये। सामने जाने में असमर्थ होने पर भी ऐसा ही करना चाहिये।

यदि अकेले विचरण करने वाला भिक्षु हो जिसके न तो रहने के तथा न ही जाने के स्थान का पता चलता हो, तो किसी पण्डित भिक्षु के पास जाकर यों कहना चाहिये—"भन्ते, मैंने अमुक नाम वाले आयुष्मान् को ऐसा ऐसा अपशब्द कहा। उसे स्मरण करके मुझे पश्चात्ताप हो रहा है, क्या करूँ?" वह कहेगा—"आप चिन्ता न करें, स्थविर आपको क्षमा कर रहे हैं।

चिन्तयित्थ, थेरो तुम्हाकं खमति, चित्तं वूपसमेथा" ति। तेना पि अरियस्स गतदिसाभिमुखेन अञ्जलिं पग्गहेत्वा "खमतू" ति वत्तब्बं।

सचे सो परिनिब्बुतो होति, परिनिब्बतमञ्चट्ठानं[1] गन्त्वा यावसिवथिकं गन्त्वा पि खमापेतब्बं। एवं कते नेव सग्गावरणं न मग्गावरणं होति, पाकतिकमेव होती ति।

५३. **मिच्छादिट्ठिका** ति। विपरीतदस्सना। **मिच्छादिट्ठिकम्मसमादाना** ति। मिच्छादिट्ठिवसेन समादिन्ननानाविधकम्मा, ये च मिच्छादिट्ठिमूलकेसु कायकम्मादीसु अञ्ञे पि समादपेन्ति। एत्थ च वचीदुच्चरितग्गहणेनेव अरियूपवादे मनोदुच्चरितग्गहणेन च मिच्छादिट्ठिया सङ्गहिताय पि इमेसं द्विन्नं पुन वचनं महासावज्जभावदस्सनत्थं ति वेदितब्बं।

महासावज्जो हि अरियूपवादो, आनन्तरियसदिसत्ता। वुत्तं पि चेत्तं—"**सेय्यथापि, सारिपुत्त, भिक्खु सीलसम्पन्नो समाधिसम्पन्नो पञ्ञासम्पन्नो दिट्ठे व धम्मे अञ्ञं आराधेय्य, एवंसम्पदमिदं, सारिपुत्त, वदामि, तं वाचं अप्पहाय तं चित्तं अप्पहाय, तं दिट्ठिं अप्पटिनिस्सज्जित्वा यथाभतं निक्खित्तो, एवं निरये**" (म० नि० १/११०) ति। मिच्छादिट्ठितो च महासावज्जतरं नाम अञ्ञं नत्थि। यथाह—"**नाहं, भिक्खवे, अञ्ञं एकधम्मं पि समनुपस्सामि यं एवं महासावज्जं, यथयिदं, भिक्खवे, मिच्छादिट्ठि। मिच्छादिट्ठिपरमानि, भिक्खवे, वज्जानी**" (अं० नि० १/५१) ति।

चित्त को शान्त करें।" उस पण्डित भिक्षु को भी आर्य के गमन की दिशा की ओर हाथ जोड़कर "क्षमा करें" यों कहना चाहिये।

यदि वह परिनिर्वृत हो चुका हो, तो जिस शय्या पर वह परिनिर्वृत्त हुआ था उसके समीप जाकर एवं फिर श्मशान तक भी जाकर क्षमा करवानी चाहिये। यों कहने पर न तो स्वर्ग का और न मार्ग का आवरण होता है। जैसा था वैसा ही रहता है।

५३. **मिच्छादिट्ठिका**—विपरीत दर्शन वाले। **मिच्छादिट्ठिकम्मसमादाना**—मिथ्यादृष्टि के कारण अनेकविध कर्म को उपार्जित करनेवाले, एवं वे भी जो मिथ्यादृष्टिमूलक कायिक कर्म दूसरों को भी उपार्जित करवाते हैं।

एवं यहाँ, यद्यपि वाचिक दुश्चरित्र के अन्तर्गत आर्यों के प्रति अपभाषण भी आ जाता है, मनोदुश्चरित्र के अन्तर्गत मिथ्यादृष्टि भी आ जाती है, तथापि इन दोनों का पुनरुल्लेख उनकी महासावद्यता (अतिशय पाप) को प्रदर्शित करने के लिये है—यह जानना चाहिये।

आर्यों के प्रति अपभाषण महासावद्य (=महापाप) है, आनन्तर्य के समान होने से। एवं यह कहा भी है—"सारिपुत्र, जैसे कि कोई-शीलसम्पन्न, समाधिसम्पन्न, प्रज्ञासम्पन्न भिक्षु इसी जन्म में आज्ञा (=ज्ञान, अर्हत्त्व) प्राप्त कर सकता है, वैसे ही, सारिपुत्र, इस विषय में भी मैं कहता हूँ कि उस वचन को उस दृष्टि को विना त्यागे, नरक में पड़े हुए के समान ही होगा।" (म० नि० १/११०)। एवं मिथ्यादृष्टि से बढ़कर कोई पाप नहीं है। जैसा कि कहा है—"भिक्षुओ! मैं दूसरे किसी एक भी ऐसे धर्म को नहीं देखता जो ऐसा महापाप हो, जैसा कि, भिक्षुओ! यह मिथ्यादृष्टि है। भिक्षुओ, वर्जित कर्मों में मिथ्यादृष्टि सर्वोपरि है।" (अं० नि० १/५१)।

---

१. **परिनिब्बुतमञ्चट्ठानं** ति। पूजाकरणट्ठानं सन्धायाह।

५४. **कायस्स भेदा** ति। उपादिण्णक्खन्धपरिच्चागा। **परं मरणा** ति। तदनन्तरं अभिनिब्बत्तिक्खन्धग्गहणे। अथ वा—**कायस्स भेदा** ति। जीवितिन्द्रियस्स उपच्छेदा। **परं मरणा** ति। चुतिचित्ततो उद्धं।

अपायं ति एवमादि सब्बं निरयवेवचनमेव।

५५. निरयो हि सग्गमोक्खहेतुभूता पुञ्ञसम्मता अया अपेतत्ता, सुखानं वा आयस्स अभावा **अपायो**। दुक्खस्स गति पटिसरणं ति **दुग्गति**, दोसबहुलताय वा दुट्ठेन कम्मुना निब्बत्ता गती ति **दुग्गति**। विवसा निपतन्ति एत्थ दुक्कटकारिनो ति **विनिपातो**। विनस्सन्ता वा एत्थ पतन्ति सम्भिज्जमानङ्गपच्चङ्गा ति पि **विनिपातो**। नत्थि एत्थ अस्सादसञ्ञितो अयो ति **निरयो**।

५६. अथ वा—**अपायग्गहणेन** तिरच्छानयोनिं दीपेति। तिरच्छानयोनि हि अपायो सुगतितो अपेतत्ता, न दुग्गति; महेसक्खानं नागराजादीनं सम्भवतो। **दुग्गतिग्गहणेन** पेत्तिविसयं। सो हि अपायो चेव दुग्गति च, सुगतितो अपेतत्ता दुक्खस्स च गतिभूतत्ता। न तु विनिपातो असुरसदिसं अविनिपतितत्ता। **विनिपातग्गहणेन** असुरकायं। सो हि यथावुत्तेन अत्थेन अपायो चेव दुग्गति च सब्बसमुस्सयेहि विनिपतितत्ता विनिपातो ति वुच्चति। **निरयग्गहणेन** अवीचिआदिअनेकप्पकारं निरयमेवा ति। **उपपन्ना** ति। उपगता। तत्थ अभिनिब्बत्ता ति अधिप्पाया। वुत्तविपरियायेन सुक्कपक्खो वेदितब्बो।

---

५४. **कायस्स भेदा**—उपादिन्न स्कन्धों का परित्याग हो जाने पर। **परं मरणा**—उसके तत्काल बाद अभिनिवृत्त स्कन्ध के ग्रहण के समय। अथवा, **कायस्स भेदा**—जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद हो जाने पर, एवं **परं मरणा**—च्युतिचित्त से परे (=ऊर्ध्व)।

अपायं आदि सब (शब्द) नरक के पर्याय ही हैं।

५५. स्वर्ग एवं मोक्ष के हेतुभूत पुण्य के रूप में माने जाने वाले 'अय' (वि० म० १६-४१७) (कारण) से दूर होने से या सुखों की आय (मूल) के अभाव से नरक **अपाय** है। दुःख की ओर गति है, अतः **दुग्गति** है। पापी विवश होकर उसमें गिरते हैं, अतः **विनिपात** है। अथवा, यहाँ गिरते समय उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग विनष्ट होते रहते हैं, इसलिये भी **विनिपात** है। यहाँ आस्वाद (=तृप्ति, सन्तोष) नामक 'अय' नहीं है, अतः **निरय** है।

५६. अथवा, **अपाय** (पद के) ग्रहण से तिर्यग्योनि को बतला रहे हैं। तिर्यग्योनि (यद्यपि) सुगति से दूर होने से अपाय है, तथापि दुर्गति नहीं है; क्योंकि (इस योनि में) महाशक्तिसम्पन्न नागराज आदि भी होते हैं। **दुग्गति** (पद के) ग्रहण से प्रेतों के क्षेत्र को (बतला रहे हैं)। क्योंकि वह (क्षेत्र) अपाय भी है एवं दुर्गति भी; सुगति से दूर होने से एवं दुःख की ओर गतिरूप होने से। किन्तु जैसा असुरों (प्रेतों) का विनिपात होता है, वैसा विनिपात न होने से, विनिपात नहीं है।

विनिपात (पद के) ग्रहण से असुरकाय को (बतलाया) गया है; क्योंकि यह यथोक्त अर्थ में अपाय, दुर्गति एवं सभी अच्छे अवसरों से वञ्चित होने के कारण विनिपात कहलाता है। **निरय** (पद के) ग्रहण से अवीचि आदि अनेक प्रकार का नरक ही अभिप्रेत है। **उपपन्ना**—उपगत। अर्थात् वहाँ उत्पन्न। उक्त के विपरीत शुक्ल(पुण्य)पक्ष को जानना चाहिये।

अयं पन विसेसो—तत्थ सुगतिग्गहणेन मनुस्सगति पि सङ्गय्हति। सग्गग्गहणेन देवगतियेव। तत्थ सुन्दरा गती ति **सुगति**। रूपादीहि विसयेहि सुट्ठु अग्गो ति **सग्गो**। सो सब्बो पि लुज्जनपलुज्जनट्ठेन **लोको** ति अयं वचनत्थो।

इति दिब्बेन चक्खुना ति। आदि सब्बं निगमनवचनं। एवं दिब्बेन चक्खुना...पे०... पस्सती ति अयमेत्थ सङ्खेपत्थो।

५७. एवं पस्सितुकामेन पन आदिकम्मिकेन कुलपुत्तेन कसिणारम्मणं अभिञ्ञापादकज्झानं सब्बाकारेन अभिनीहारक्खमं कत्वा, तेजोकसिणं, ओदातकसिणं, आलोककसिणं— ति इमेसु तीसु कसिणेसु अञ्ञतरं आसन्नं कातब्बं, उपचारज्झानगोचरं कत्वा वड्ढेत्वा ठपेतब्बं। न तत्थ अप्पना उप्पादेतब्बा ति अधिप्पायो। सचे हि उप्पादेति, पादकज्झाननिस्सयं होति, न परिकम्मनिस्सयं। इमेसु च पन तीसु आलोककसिणं येव सेट्ठतरं। तस्मा तं वा इतरेसं वा अञ्ञतरं कसिणनिद्देसे वुत्तनयेन उप्पादेत्वा उपचारभूमियं येव ठत्वा वड्ढेतब्बं। वड्ढनानयो पि चस्स तत्थ वुत्तनयेनेव वेदितब्बो।

५८. वड्ढितट्ठानस्स अन्तो येव रूपगतं पस्सितब्बं। रूपगतं पस्सतो पनस्स परिकम्मस्स वारो अतिक्कमति। ततो आलोको अन्तरधायति। तस्मिं अन्तरहिते रूपगतं पि न दिस्सति। अथानेन पुनप्पुनं पादकज्झानमेव पविसित्वा ततो वुट्ठाय आलोको फरितब्बो। एवं अनुक्कमेन

किन्तु अन्तर यह है—वहाँ, सुगति के ग्रहण से मनुष्य-गति (=योनि) का भी समावेश होता है। स्वर्ग के ग्रहण से देवयोनि का ही। सुन्दरगति=सुगति। रूप आदि विषयों में भली-भाँति अग्र (अग्गो) है, अतः **स्वर्ग** (सग्गो) है। वह सभी नष्ट-भ्रष्ट होने के अर्थ में लोक **(लोको)** है—यह शब्दार्थ है।

इति दिब्बेन चक्खुना—आदि सब निष्कर्ष के रूप में कहा गया है। संक्षेप में अर्थ यह है—यों दिव्यचक्षु से ...पूर्ववत्... देखता है।

५७. यों देखने के अभिलाषी आदिकर्मिक भिक्षु को चाहिये कि कसिण को आलम्बन बनाने वाले अभिज्ञा के आधारभूत ध्यान को वह सब प्रकार से अभिनीहार (स्वीकृति) योग्य बनाये। तब तेजकसिण, अवदातकसिण, आलोककसिण इन तीन कसिणों में से किसी को (दिव्य-चक्षुर्ज्ञान के उदय का) समीपवर्ती बनाये। एवं उपचारध्यान को गोचर (=क्षेत्र) बनाकर, (कसिण को) बढ़ाता रहे। अभिप्राय यह है कि उस (ध्यान) में अर्पणा नहीं उत्पन्न करनी चाहिये। यदि उत्पन्न करता है, तो कसिण आधारभूत ध्यान का आश्रय (=निःश्रय) होगा, परिकर्म का आश्रय नहीं। किन्तु इन तीनों में आलोककसिण ही श्रेष्ठ है। अतः उसे या अन्यों में से किसी को कसिण-निर्देश में बतलायी गयी विधि से उत्पन्न कर, उपचारभूमि में ही बने रहकर बढ़ाना चाहिये। एवं इसे बढ़ाने की विधि को भी वहाँ कही विधि से ही जानना चाहिये।

५८. जहाँ तक कसिण बढ़ाया गया है, केवल वहीं तक जो कुछ रूपगत (=दिखायी देने योग्य) है, उसे देखा जा सकता है। जिस समय वह रूपगत को देखता रहता है, परिकर्म का अवसर बीत जाता है। तब आलोक अन्तर्हित हो जाता है। उसके अन्तर्हित होने पर रूपगत भी नहीं दिखलायी पड़ता। तब उसे बारम्बार आधारभूत ध्यान में प्रवेश कर उससे उठकर आलोक

आलोको थामगतो होती ति 'एत्थ आलोको होतू' ति यत्तकं ठानं परिच्छिन्दति, तत्थ आलोको तिट्ठति येव। दिवसं पि निसीदित्वा पस्सतो रूपदस्सनं होति।

रत्तिं तिणुक्काय मग्गपटिपन्नो चेत्थ पुरिसो ओपम्मं।

५९. एको किर रत्तिं तिणुक्काय मग्गं पटिपज्जि। तस्स सा तिणुक्का विज्झायि। अथस्स समविसमानि न पञ्ञायिंसु। सो तं तिणुक्कं भूमियं घंसित्वा तिणुक्का पुन उज्जालेसि। सा पज्जलित्वा पुरिमालोकतो महन्ततरं आलोकमकासि। एवं पुनप्पुनं विज्झातं उज्जालयता कमेन सुरियो उट्ठासि। सुरिये उट्ठिते 'उक्काय कम्मं नत्थी' ति तं छड्डेत्वा दिवसं पि अगमासि।

तत्थ उक्कालोको विय परिकम्मकाले कसिणालोको। उक्काय विज्झाताय समविसमानं अदस्सनं विय रूपगतं पस्सतो परिकम्मस्स वारातिक्कमेन आलोके अन्तरहिते रूपगतानं अदस्सनं। उक्काय घंसनं विय पुनप्पुनं पवेसनं। उक्काय पुरिमालोकतो महन्ततरालोककरणं विय पुन परिकम्मं करोतो बलवतरालोकफरणं। सुरियुट्ठानं विय थामगतालोकस्स यथापरिच्छेदेन ठानं। तिणुक्कं छड्डेत्वा दिवसं पि गमनं विय परित्तालोकं छड्डेत्वा थामगतेनालोकेन दिवसं पि रूपदस्सनं।

६०. तत्थ यदा तस्स भिक्खुनो मंसचक्खुस्स अनापाथगतं अन्तोकुच्छिगतं हदयवत्थु-निस्सितं हेट्ठापथवीतलनिस्सितं तिरोकुड्डपब्बतपाकारगतं परचक्कवाळगतं ति इदं रूपं

का विस्तार करना चाहिये। यों, क्रमशः आलोक सबल (सुस्थिर) होता है। यहाँ तक कि जिस स्थान तक इस प्रकार सीमा निर्धारित करता है—'यहाँ आलोक हो', वहाँ आलोक रहता ही है। यदि दिनभर बैठकर भी देखे तो रूप का दर्शन होता है।

यहाँ, रात में तृण की (घास-फूस से बनायी गगी) मशाल (उल्का) लेकर मार्ग पर चलने वाला पुरुष उपमान (दृष्टान्त) है।

५९. रात में कोई तृण की मशाल लेकर मार्ग पर जा रहा था। उसकी वह तृण की मशाल बुझ गयी। तब उसे समतल-असमतल का ज्ञान नहीं हो पाया। उसने उस तृण की मशाल को भूमि पर घिसकर पुनः जलाया। जलने पर उसने (राख झड़ जाने से) पहले से भी अधिक प्रकाश किया। यों बारम्बार बुझने पर जलाते हुए, क्रमशः सूर्य निकल आया। सूर्योदय होने पर 'मशाल का काम नहीं है'—यों सोचकर, उसे छोड़कर दिनभर भी चलता रहा।

यहाँ परिकर्म के समय कसिण का आलोक मशाल के प्रकाश के समान है। रूपगत-दर्शन के समान परिकर्म का अवसर बीत जाने पर आलोक के अन्तर्धान हो जाने पर रूपगतों का अदर्शन, मशाल के बुझ जाने पर समतल असमतल के अदर्शन के समान है। मशाल के घर्षण के समान, बार बार... करना है। पुनः परिकर्म करने से पहले अधिक आलोक का फैलना वैसा ही है जैसा मशाल का पहले से अधिक प्रकाशित होना है। सुस्थिर आलोक का निर्धारित सीमा के अनुसार ठहरना, सूर्य के उदय के समान है। परिमित आलोक को छोड़कर तेज प्रकाश में दिनभर भी रूप को देखना वैसा ही है जैसा कि तृण की मशाल को छोड़कर दिनभर भी चलना है।

६०. जब वह रूप जो कि भिक्षु के मांस-चक्षु का विषय नहीं है—जैसे उदरस्थ, हृदयवस्तु

ञाणचक्खुस्स आपाथं गच्छति, मंसचक्खुना दिस्समानं विय होति, तदा दिब्बचक्खु उप्पन्नं होती ति वेदितब्बं। तदेव चेत्थ रूपदस्सनसमत्थं, न पुब्बभागचित्तानि।

६१. तं पनेतं पुथुज्जनस्स परिबन्धो होति। कस्मा? सो हि यस्मा यत्थ यत्थ आलोको होतू ति अधिट्ठाति, तं तं पथवीसमुद्दपब्बते विनिविज्झित्वा पि एकालोकं होति। अथस्स तत्थ भयानकानि यक्खरक्खसादिरूपानि पस्सतो भयं उप्पज्जति। येन चित्तविक्खेपं पत्वा झानविब्भन्तको होति, तस्मा रूपदस्सने अप्पमत्तेन भवितब्बं।

६२. तत्रायं दिब्बचक्खुनो उप्पत्तिक्कमो—वुत्तप्पकारमेतं रूपारम्मणं कत्वा मनोद्वारावज्जने उप्पज्जित्वा निरुद्धे तदेव रूपं आरम्मणं कत्वा चत्तारि पञ्च वा जवनानि उपज्जन्ती ति सब्बं पुरिमनयेनेव वेदितब्बं। इधा पि पुब्बभागचित्तानि सवितक्कसविचारानि कामावचरानि, परियोसाने अत्थसाधकचित्तं चतुत्थज्झानिकं रूपावचरं। तेन सहजातं ञाणं **सत्तानं चुतूपपाते ञाणं** ति पि **दिब्बचक्खुञाणं** ति पि वुच्चती ति॥ चुतूपपातञाणकथा निट्ठिता॥

पकिण्णककथा

६३. इति पञ्चक्खन्धविदू पञ्च अभिञ्ञा अवोच या नाथो।
ता ञत्वा तासु अयं पकिण्णककथा पि विञ्ञेय्या॥

पर आश्रित पृथ्वी तल के नीचे, दीवार, प्राकार, पर्वत के पीछे, या दूसरे चक्रवाल का ज्ञान चक्षु का विषय बनाता है, मांस-चक्षु द्वारा दृश्यमान होने जैसा होता है, तब दिव्यचक्षु का उत्पन्न होना जानना चाहिये। एवं यहाँ वही (दिव्यचक्षु) रूपदर्शन में समर्थ होता है, पहले के (आवर्जन एवं परिकर्म) चित्त नहीं।

६१. किन्तु पृथग्जन के लिये तो यह एक बाधा ही है। क्यों? क्योंकि वह जहाँ जहाँ के बारे में 'आलोक हो जाय' ऐसा अधिष्ठान करता है, वह वह पृथ्वी, समुद्र एव पर्वत को भी भेदकर आलोकमय हो जाता है। तब वहाँ भयानक यक्ष, राक्षस आदि रूपों को देखते हुए उसे भय उत्पन्न होता है, जिससे चित्त विक्षिप्त होता है, ध्यान भङ्ग हो जाता है। अतः रूप-दर्शन में अप्रमत्त होना चाहिये।

६२. **दिव्यचक्षु का उत्पत्ति क्रम** इस प्रकार है—उक्त प्रकार के इस रूप को आलम्बन बनाकर, मनोद्वारावर्जन उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। तब उसी रूप को आलम्बन बनाकर चार पाँच जवन उत्पन्न होते हैं—आदि सब को पूर्वविधि के अनुसार ही जानना चाहिये। यहाँ भी पूर्व के चित्त 'सवितर्क-सविचार-कामावचर' होते हैं, अन्तिम अर्थसाधक चित्त चतुर्थध्यान वाला एवं रूपावचर। उसके साथ उत्पन्न ज्ञान को 'सत्त्वों को च्युति एवं उत्पाद का ज्ञान' भी, एवं 'दिव्यचक्षुर्ज्ञान' भी कहा जाता है॥ च्युत्युत्पादज्ञान का वर्णन सम्पन्न॥

प्रकीर्णक

६३. इस प्रकार, पञ्चस्कन्ध के विषय में विज्ञ नाथ (बुद्ध) ने जिन पाँच अभिज्ञाओं (द्र० विसु०, बारहवाँ परिच्छेद) को बतलाया, उन्हें जानकर, उनमें यह प्रकीर्णक कथा भी जाननी चाहिये॥

एतासु हि यदेतं चुतूपपातञाणसङ्खातं दिब्बचक्खु, तस्स अनागतंसञाणं च यथाकम्मूपगञाणं चा ति द्वे पि परिभण्डञाणानि होन्ति। इति इमानि च द्वे इद्धिविधादीनि च पञ्चा ति सत्त अभिञ्ञाञाणानि इधागतानि। इदानि तेसं आरम्मणविभागे असम्मोहत्थं—

आरम्मणत्तिका वुत्ता ये चत्तारो महेसिना।
सत्तन्नमपि ञाणानं पवत्तिं तेसु दीपये॥

तत्रायं दीपना—चत्तारो हि आरम्मणत्तिका महेसिना वुत्ता। कतमे चत्तारो? परित्तारम्मणत्तिको, मग्गारम्मणत्तिको, अतीतारम्मणत्तिको, अज्झत्तारम्मणत्तिको ति।

६४. तत्थ **इद्धिविधञाणं** परित्त-महग्गत-अतीत-अनागत-पच्चुप्पन्न-अज्झत्त-बहिद्धारम्मणवसेन सत्तसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि यदा कायं चित्तसन्निस्सितं कत्वा अदिस्समानेन कायेन गन्तुकामो चित्तवसेन कायं परिणामेति, महग्गतचित्ते समोदहति समारोपेति, तदा उपयोगलद्धं आरम्मणं होती ति कत्वा रूपकायारम्मणतो **परित्तारम्मणं** होति। (१)

यदा चित्तं कायसन्निस्सितं कत्वा दिस्समानेन कायेन गन्तुकामो कायवसेन चित्तं परिणामेति, पादकज्झानचित्तं रूपकाये समोदहति समारोपेति, तदा उपयोगलद्धं आरम्मणं होती ति कत्वा महग्गतचित्तारम्मणतो **महग्गतारम्मणं** होति। (२)

यस्मा पन तदेव चित्तं अतीतं निरुद्धमारम्मणं करोति, तस्मा **अतीतारम्मणं** होति। (३)

इनमें, यह जो च्युत्युत्पाद नामक दिव्यचक्षु है, उसके 'अनागत संज्ञान' एवं 'यथाकर्मोपगज्ञान'—ये दो आनुषङ्गिक ज्ञान होते हैं। इस प्रकार ये दो एवं ऋद्धिविध आदि पाँच—ये सात अभिज्ञा ज्ञान यहाँ आये हैं। अब, उनके आलम्बनों के वर्गीकरण के बारे में भ्रम न हो, इसलिये—

महर्षि ने चार आलम्बन-त्रिक बतलाये हैं। कौन से चार? परिमितालम्बनत्रिक, मार्गालम्बनत्रिक, अतीतालम्बनत्रिक, अध्यात्मालम्बनत्रिक। (दी० १/७१, ७२)॥

६४. इनमें, ऋद्धिविध-ज्ञान परिमित, महद्गत, अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, अध्यात्म, बाह्य आलम्बन—इन सात आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे? वह काया को चित्त पर आधारित कर अदृश्यमान काया द्वारा जाना चाहता है। उस समय चित्त के रूप में काया को परिणत करता है, महद्गत चित्त में (काय को) रखता है। आरोपित करता है। तब यह मानते हुए कि उपयोगलब्ध (कर्मकारक में पद ही) आलम्बन है, यह **परिमित आलम्बन** वाला होता है; क्योंकि इसका आलम्बन रूपकाय है। (१)

जब चित्त को काया पर आधारित करके दृश्यमान काया द्वारा जाना चाहता है, काया के रूप में चित्त को परिणत करता है, आधारभूत ध्यान चित्त को रूपकाय में रखता है, आरोपित करता है; तब यह मानते हुए कि उपयोग-लब्ध आलम्बन है, यह **महद्गत आलम्बन** वाला होता है; क्योंकि इसका आलम्बन महद्गत चित्त होता है। (२)

किन्तु क्योंकि वही चित्त अतीत, निरुद्ध आलम्बन वाला होता है; अतः **अतीत आलम्बन** वाला होता है। (३)

महाधातुनिधाने महाकस्सपत्थेरादीनं विय अनागतं अधिट्ठहन्तानं **अनागतारम्मणं** होति। **महाकस्सपत्थेरो** किर महाधातुनिधानं करोन्तो "अनागते अट्ठारसवस्साधिकानि द्वे वस्ससतानि इमे गन्धा मा सुस्सिंसु, पुप्फानि मा मिलायिंसु, दीपा मा निब्बायिंसू" ति अधिट्ठहि। सब्बं तथेव अहोसि। **अस्सगुत्तत्थेरो** वत्तनियसेनासने भिक्खुसङ्घं सुक्खभत्तं भुञ्जमानं दिस्वा उदकसोण्डिं दिवसे दिवसे पुरेभत्ते दधिरसं होतू ति अधिट्ठासि। पुरेभत्ते गहितं दधिरसं होति। पच्छाभत्ते पाकतिकउदकमेव। (४)

कायं पन चित्तसन्निस्सितं कत्वा अदिस्समानेन कायेन गमनकाले **पच्चुप्पन्नारम्मणं** होति। (५)

कायवसेन चित्तं, चित्तवसेन वा कायं परिणामनकाले अत्तनो कुमारकवण्णादि-निम्मानकाले च सकायचित्तानं आरम्मणकरणतो **अज्झत्तारम्मणं** होति। (६)

बहिद्धा हत्थिअस्सादिदस्सनकाले पन **बहिद्धारम्मणं** ति। (७)

एवं ताव इद्धिविधञाणस्स सत्तसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

६५. **दिब्बसोतधातुञाणं** परित्त-पच्चुप्पन्न-अज्झत्त-बहिद्धारम्मणवसेन चतूसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि यस्मा सद्दं आरम्मणं करोति सद्दो च परित्तो, तस्मा परित्तारम्मणं होति। विज्जमानं येव पन सद्दं आरम्मणं कत्वा पवत्तनतो पच्चुप्पन्नारम्मणं होति। तं अत्तनो कुच्छिसद्दसवनकाले अज्झत्तारम्मणं। परेसं सद्दसवनकाले बहिद्धारम्मणं ति एवं दिब्बसोतधातुञाणस्स चतूसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

महाधातुनिधान में महाकाश्यप स्थविर आदि के समान, अनागत का अधिष्ठान करने वालों के लिये **अनागत आलम्बन** वाला होता है। **महाकाश्यप** स्थविर ने महाधातुनिधान करते समय 'भविष्य में दो सौ अट्ठारह वर्ष तक ये गन्ध (इत्र आदि) न सूखें, फल न कुम्हलायें, दीपक न बुझें'—यों अधिष्ठान किया था। सब वैसा ही हुआ। **अश्वगुप्त** (अस्सगुत्त) स्थविर ने वत्तनिय (अध्व) शयनासन में भिक्षुसङ्घ को रूखा-सूखा भात खाते देखकर (यह) जल की पुष्करिणी प्रतिदिन भोजन के पहले दही हो जाय"—यों अधिष्ठान किया। भोजन के पूर्व के लिये जाने पर (जल) दही हो जाया करता था, भोजन के पश्चात् साधारण जल ही। (४)

काया को चित्त पर आधारित करके अदृश्यमान काया से जाते समय **प्रत्युत्पन्न आलम्बन** वाला होता है। (५)

काया के रूप में चित्त को, या चित्त के रूप में काया को परिणत करते समय, तथा स्वयं को कुमार आदि के रूप में निर्मित करते समय, अपने ही काया एवं चित्त को आलम्बन बनाने से **अध्यात्म आलम्बन** वाला होता है। (६)

बाहर से हस्ति, अश्व आदि दिखलाते समय **बाह्य आलम्बन** वाला होता है। (७)

यों, ऋद्धिविध ज्ञान की प्रवृत्ति सात आलम्बनों में जाननी चाहिये।

६५. **दिव्यश्रोत्रधातुज्ञान** परिमित, प्रत्युत्पन्न, अध्यात्म एवं बाह्य—इन चार आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे? क्योंकि वह शब्द को आलम्बन बनाता है एवं शब्द परिमित होता है, अतः (वह ज्ञान) परिमित आलम्बन वाला होता है। विद्यमान शब्द को ही आलम्बन बनाकर प्रवृत्त

६६. **चेतोपरियञाणं** परित्त-महग्गत-अप्पमाण-मग्ग-अतीतानागत-पच्चुप्पन्न-बहिद्धारम्मणवसेन अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि परेसं कामावचरचित्तजाननकाले परित्तारम्मणं होति। रूपावचरअरूपावचरचित्तजाननकाले महग्गतारम्मणं होति। मग्गफल-जाननकाले अप्पमाणारम्मणं होति। एत्थ च पुथुज्जनो सोतापन्नस्स चित्तं न जानाति। सोतापन्नो वा सकदागामिस्सा ति एवं याव अरहतो नेतब्बं। अरहा पन सब्बेसं चित्तं जानाति। अञ्ञो पि उपरिमो हेट्ठिमस्सा ति अयं विसेसो वेदितब्बो। मग्गचित्तारम्मणकाले मग्गारम्मणं होति। यदा पन अतीते सत्तदिवसब्भन्तरे च अनागते सत्तदिवसब्भन्तरे च परेसं चित्तं जानाति, तदा अतीतारम्मणं अनागतारम्मणं च होति।

६७. कथं पच्चुप्पन्नारम्मणं होति? पच्चुप्पन्नं नाम तिविधं—खणपच्चुप्पन्नं, सन्तति-पच्चुप्पन्नं, अद्धापच्चुप्पन्नं च। तत्थ उप्पादट्ठितिभङ्गप्पत्तं **खणपच्चुप्पन्नं**। (१)

एकद्वेसन्ततिवारपरियापन्नं **सन्ततिपच्चुप्पन्नं**।

तत्थ अन्धकारे निसीदित्वा आलोकट्ठानं गतस्स न ताव आरम्मणं पाकटं होति, याव पन तं पाकटं होति, एत्थन्तरे एकद्वे सन्ततिवारा[1] वेदितब्बा। आलोकट्ठाने विचरित्वा ओवरकं

होने से प्रत्युत्पन्न आलम्बन वाला होता है। वह (ज्ञान) स्वयं के उदर में होने वाले शब्द को सुनते समय अध्यात्म आलम्बन वाला होता है एवं दूसरों के शब्द सुनते समय बाह्य आलम्बन वाला, यों दिव्यश्रोत्रधातु ज्ञान की प्रवृत्ति चार आलम्बनों में जाननी चाहिये।

६६. **चेतःपर्यायज्ञान** १. परिमित, २. महद्गत, ३. अप्रमाण, ४. मार्ग, ५. अतीत, ६. अनागत, ७. प्रत्युत्पन्न एवं ८. बाह्य आलम्बन—इस तरह आठ आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे? वह दूसरों के कामावचर चित्त का ज्ञान करते समय परिमित आलम्बन वाला होता है। रूपावचर एवं अरूपावचर चित्त को जानते समय महद्गत आलम्बन वाला होता है। मार्ग-फल को जानते समय अप्रमाण आलम्बन वाला होता है। एवं यहाँ, पृथग्जन स्रोतआपन्न के चित्त को एवं स्रोतआपन्न सकृदागामी के चित्त को नहीं जान सकते—इसी प्रकार अर्हत् तक इसी नय को ले जाना चाहिये। किन्तु अर्हत् सबके चित्त को जानता है एवं ऊपर के (स्तर वाले) अन्य भी नीचे वाले के—यह अन्तर समझना चाहिये। जब वह मार्ग-चित्त को आलम्बन बनाता है, तब मार्ग को आलम्बन बनाने वाला होता है। किन्तु जब विगत अनागत सात दिनों के अन्तराल में दूसरों के चित्त को जानता है, तब वह अतीत को या अनागत को आलम्बन बनाने वाला होता है।

६७. प्रत्युत्पन्न आलम्बन वाला कैसे होता है? प्रत्युत्पन्न त्रिविध है—क्षण-प्रत्युत्पन्न एवं सन्ततिप्रत्युत्पन्न तथा अध्व-प्रत्युत्पन्न। इनमें, जो उत्पाद, स्थिति एवं भङ्ग को प्राप्त होता है, वह **क्षण-प्रत्युत्पन्न** है। (१)

जो सन्तति की एक-दो बारी (एक के बाद एक करके आना) के अन्तर्गत आता है, उसे **सन्ततिप्रत्युत्पन्न** कहते हैं।

अन्धकार में (कुछ समय तक) बैठने के बाद आलोकित स्थान पर गये हुए को (आँखें चौंधिया जाने के कारण) उसी समय आलम्बन प्रकट नहीं होता। जब तक वह प्रकट होता है,

---

१. **सन्ततिवारा** ति। रूपसन्ततिवारा।

पविट्ठस्सापि न ताव सहसा रूपं पाकटं होति; याव पन तं पाकटं होति, एत्थन्तरे एकद्वे सन्ततिवारा वेदितब्बा। दूरे ठत्वा पन रजकानं हत्थविकारं गण्डिभेरीआदिआकोटनाविकारं च दिस्वा पि न ताव सद्दं सुणाति, याव पन तं सुणाति, एतस्मिं पि अन्तरे एकद्वे सन्ततिवारा वेदितब्बा। एवं ताव **मज्झिमभाणका**।

६८. **संयुत्तभाणका** पन—रूपसन्तति, अरूपसन्तती ति द्वे सन्ततियो वत्वा उदकं अक्कमित्वा गतस्स याव तीरे अक्कन्तउदकलेखा न विप्पसीदति, अद्धानतो आगतस्स याव काये उसुमभावो न वूपसम्मति, आतपा आगन्त्वा गब्भं पविट्ठस्स याव अन्धकारभावो न विगच्छति, अन्तोगब्भे कम्मट्ठानं मनसिकरित्वा दिवा वातपानं विवरित्वा ओलोकेन्तस्स या अक्खीनं फन्दनभावो न वूपसम्मति, अयं **रूपसन्तति** नाम। द्वे तयो जवनवारा **अरूपसन्तति** नामा ति वत्वा तदुभयं पि सन्ततिपच्चुपन्नं नामा ति वदन्ति। (२)

६९. एकभवपरिच्छिन्नं पन **अद्धापच्चुप्पन्नं** नाम। यं सन्धाय **भद्देकरत्तसुत्ते**—"**यो चावुसो, मनो ये धम्मा उभयमेतं पच्चुप्पन्नं। तस्मिं चे पच्चुप्पन्ने छन्दरागप्पटिबद्धं होति विञ्ञाणं। छन्दरागप्पटिबद्धत्ता विञ्ञाणस्स तदभिनन्दति। तदभिनन्दन्तो पच्चुप्पन्नेसु धम्मेसु संहीरती**" (म० नि० ३/१२९८) ति वुत्तं। (३)

उस बीच सन्तति के एक-दो अवसर जानने चाहिये। आलोकित स्थान में विचरण करने के बाद बन्द स्थान में प्रविष्ट को भी रूप सहसा प्रकट नहीं होता। जब तक वह प्रकट होता है, उस बीच सन्तति के एक-दो अवसर जानने चाहिये।

दूर खड़े होकर (घाट पर कपड़े धोते हुए) धोबियों के हाथों की गतिविधि (विकार) को एवं घण्टी, भेरी आदि को पीटने की गतिविधि को देखने पर भी, उसी समय शब्द नहीं सुनायी पड़ता। जब सुनायी पड़ता है, उस बीच सन्तति के एक दो अवसर (बीत चुके—यह) जानना चाहिये। यह **मज्झिमभाणकों** का मत है।

६८. किन्तु **संयुत्तभाणक** कहते हैं कि सन्तति के दो प्रकार हैं—रूपसन्तति एवं अरूपसन्तति। **रूप-सन्तति** उतने समय तक रहती है, जितनी समय जल में किसी के चलने से हुई मटमैली एवं तट को छूने वाली लहर को स्वच्छ होने में लगता है, या जितना समय कुछ दूर चलने वाले के शरीर की गर्मी शान्त होने में लगता है, या जितना समय धूप से होकर बन्द कमरे में आनेवाले के (अस्थायी) अन्धेपन को दूर होने में लगता है, या जितना समय कमरे में कर्मस्थान का मनस्कार करने के बाद खिड़की खोलकर बाहर देखने वाले की आँखों का चौंधियाना दूर होने में लगता है; एवं **अरूप-सन्तति** जवनों की दो-तीन बारी है। यह कहकर, (संयुत्तभाणक) दोनों को ही 'सन्ततिप्रत्युत्पन्न' कहते हैं। (२)

६९. जो एक भव तक सीमित होता है उसे **अध्वप्रत्युत्पन्न** कहा जाता है, जिसे लक्ष्य करके **भद्देकरत्तसुत्त** में कहा गया है—"आयुष्मन्, जो यह मन है एवं जो ये धर्म हैं—ये दोनों ही प्रत्युत्पन्न हैं। उस प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) के प्रति विज्ञान छन्द और राग से बद्ध होता है, (वह विज्ञान) उसमें रुचि लेता है। उसमें रुचि लेते हुए वह प्रत्युत्पन्न धर्मों की ओर खिंच जाता है।" (म० नि० ३/१२९८)। (३)

सन्ततिपच्चुप्पन्नं चेत्थ अट्ठकथासु आगतं, अद्धापच्चुप्पन्नं सुत्ते।

७०. तत्थ केचि खणपच्चुप्पन्नं चित्तं चेतोपरियञाणस्स आरम्मणं होती ति वदन्ति। किं कारणा? यस्मा इद्धिमतो च परस्स च एकक्खणे चित्तं उप्पज्जती ति। इदं च नेसं ओपम्मं—यथा आकासे खित्ते पुप्फमुट्ठि अवस्सं एकं पुप्फं एकस्स वण्टेन वण्टं पटिविज्झति, एवं 'परस्स चित्तं जानिस्सामी' ति रासिवसेन महाजनस्स चित्ते आवज्जिते अवस्सं एकस्स चित्तं एकेन चित्तेन उप्पादक्खणे वा ठितिक्खणे वा भङ्गक्खणे वा पटिविज्झती ति।

तं पन वस्ससतं पि वस्ससहस्सं पि आवज्जन्तो येन च चित्तेन आवज्जति, येन च जानाति, तेसं द्विन्नं सह ठानाभावतो आवज्जनजवनानं च अनिट्ठे ठाने नानारम्मणभावप्पत्तिदोसतो अयुत्तं ति अट्ठकथासु पटिक्खित्तं।

७१. सन्ततिपच्चुप्पन्नं पन अद्धापच्चुप्पन्नं च आरम्मणं होती ति वेदितब्बं। तत्थ यं वत्तमानजनवनवीथितो अतीतानागतवसेन द्वित्तिजवनवीथिपरिमाणे काले परस्स चित्तं, तं सब्बं पि सन्ततिपच्चुप्पन्नं नाम "अद्धापच्चुपन्नं पन जवनवारेन दीपेतब्बं" ति संयुत्तट्ठकथायं वुत्तं। तं सुट्ठु वुत्तं।

७२. तत्रायं दीपना—इद्धिमा परस्स चित्तं जानितुकामो आवज्जति। आवज्जनं खणपच्चुप्पन्नं आरम्मणं कत्वा तेनेव सह निरुज्झति। ततो चत्तारि पञ्च वा जवनानि। येसं पच्छिमं इद्धिचित्तं, सेसानि कामावचरानि; तेसं सब्बेसं पि तदेव निरुद्धं चित्तं आरम्मणं होति,

---

एवं यहाँ सन्तति-प्रत्युत्पन्न अट्ठकथाओं में आया है और अध्व-प्रत्युत्पन्न सुत्त में।

७०. कोई-कोई (जैसे अनुराधपुर के अभयगिरिविहार के निवासी) कहते हैं कि क्षण-प्रत्युत्पन्न चित्त चेत:पर्याय ज्ञान का आलम्बन होता है। किस कारण से? क्योंकि ऋद्धिमान् एवं दूसरे का चित्त—दोनों एक ही क्षण में उत्पन्न होते हैं। एवं उनकी उपमा यह है—जैसे यदि आकाश में मुट्ठीभर फूल उछाले जाँय तो (कम से कम) एक फूल का वृन्त (डण्डी) दूसरे के वृन्त से अवश्य टकराता है; वैसे ही 'परचित्त को जानूँगा'—यों सामूहिक रूप में जनसमूह के चित्त का आवर्जन करने पर अवश्य ही एक का चित्त (किसी) दूसरे चित्त से उत्पादक्षण में स्थितिक्षण में या भङ्गक्षण में टकराता है।

किन्तु अट्ठकथाओं में इसका खण्डन किया गया है; क्योंकि चाहे कोई सौ वर्ष तक या हजार वर्ष तक भी आवर्जन करता रहे, फिर भी जिस चित्त से आवर्जन करता है एवं जिससे जानता है, वे दोनों एक साथ नहीं रह सकते; एवं क्योंकि आवर्जन तथा जवन दोनों (के एक ही आलम्बन) की उपस्थिति को इष्ट मानने पर नानालम्बन दोष की प्राप्ति होती है।

७१. ज्ञातव्य है कि आलम्बन 'सन्ततिप्रत्युत्पन्न' एवं 'अध्वप्रत्युत्पन्न' होता है। वहाँ, जो वर्तमान जवनवीथि से अतीत एवं अनागत के रूप में, दो-तीन जवनवीथि की कालावधि वाला परचित्त है, वह सब सन्ततिप्रत्युत्पन्न है। किन्तु संयुत्तट्ठकथा में कहा गया है कि "अध्वप्रत्युत्पन्न की व्याख्या जवनवार द्वारा की जानी चाहिये।" यह ठीक कहा गया है।

७२. इसकी व्याख्या इस प्रकार है—परचित्त के ज्ञान का अभिलाषी ऋद्धिमान् आवर्जन करता है। (उसका वह) आवर्जन क्षणप्रत्युत्पन्न को आलम्बन बनाकर, उसी के साथ निरुद्ध हो

न च तानि नानारम्मणानि होन्ति, अद्धावसेन पच्चुप्पन्नारम्मणत्ता। एकारम्मणत्ते पि च इद्धिचित्तमेव परस्स चित्तं जानाति, न इतरानि। यथा चक्खुविञ्ञाणमेव रूपं पस्सति, न इतरानी ति।

इति इदं सन्ततिपच्चुप्पन्नस्स चेव अद्धापच्चुप्पन्नस्स च वसेन पच्चुप्पन्नारम्मणं होति। यस्मा वा सन्ततिपच्चुपन्नं पि अद्धापच्चुप्पन्ने येव पतति, तस्मा अद्धापच्चुप्पनवसेनेवेतं पच्चुप्पन्नारम्मणं ति वेदितब्बं। परस्स चित्तारम्मणता येव पन बहिद्धारम्मणं होती ति एवं चेतोपरियञाणस्स अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

७३. **पुब्बेनिवासञाणं** परित्त-महग्गत-अप्पमाण-मग्ग-अतीत-अज्झत्त-बहिद्धा-नवत्तब्बारम्मणवसेन अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि कामावचरक्खन्धानुस्सरणकाले परित्तारम्मणं होति। रूपावचरारूपावचरक्खन्धानुस्सरणकाले महग्गतारम्मणं। अतीते अत्तना परेहि वा भावितमग्गं सच्छिकतफलं च अनुस्सरणकाले अप्पमाणारम्मणं। भावितमग्गमेव अनुस्सरणकाले मग्गारम्मणं। नियमतो पनेतं अतीतारम्मणमेव।

तत्थ किञ्चापि चेतोपरियञाणयथाकम्मूपगञाणानि पि अतीतारम्मणानि होन्ति, अथ खो तेसं चेतोपरियञाणस्स सत्तदिवसब्भन्तरातीतं चित्तमेव आरम्मणं। तं हि अञ्ञं खन्धं वा खन्धपटिबद्धं वा न जानाति, मग्गसम्पयुत्तचित्तारम्मणता पन परियायतो मग्गारम्मणं ति वुत्तं।

जाता है। तब चार या पाँच जवन (चित्त जवन करते हैं), जिनमें अन्तिम ऋद्धिचित्त होता है, शेष कामावचर। उन सब का आलम्बन भी वह निरुद्ध (पर-) चित्त ही होता है, एवं वे नाना आलम्बनों वाले नहीं होते; क्योंकि उनका आलम्बन अध्व के रूप में प्रत्युत्पन्न होता है। एक आलम्बन वाला होने पर भी, केवल ऋद्धि-चित्त ही परचित्त को जानता है, दूसरे नहीं; जैसे कि चक्षुर्विज्ञान ही रूप को देखता है, अन्य नहीं।

यों, यह (ऋद्धिचित्त) सन्ततिप्रत्युत्पन्न एवं अध्व-प्रत्युत्पन्न के रूप में प्रत्युत्पन्न आलम्बन वाला होता है। अथवा, क्योंकि सन्तति-प्रत्युत्पन्न भी अध्व-प्रत्युत्पन्न के ही अन्तर्गत आता है, अतः जानना चाहिये कि यह अध्वप्रत्युत्पन्न के रूप में ही प्रत्युत्पन्न आलम्बन वाला होता है। इस प्रकार चेत:पर्याय ज्ञान की प्रवृत्ति आठ आलम्बनों में जाननी चाहिये।

७३. **पूर्वनिवासज्ञान** परिमित, महद्गत, अप्रमाण, मार्ग, अतीत, अध्यात्म, बाह्य एवं अवक्तव्य आलम्बन के अनुसार आठ आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे? कामावचर (भूमि के) स्कन्धों का अनुस्मरण करते समय वह परिमित आलम्बन वाला होता है। रूपावचर एवं अरूपावचर (भूमियों के) स्कन्धों का अनुस्मरण करते समय महद्गत आलम्बन वाला होता है। अतीत काल में स्वयं या दूसरों द्वारा भावित मार्ग का या साक्षात्कृत फल का अनुस्मरण करते समय अप्रमाण आलम्बन वाला होता है। भावित मार्ग का ही अनुस्मरण करते समय मार्गालम्बन वाला होता है। किन्तु प्रत्येक स्थिति में इसका आलम्बन अतीत से ही सम्बद्ध होता है।

यद्यपि चेत:पर्याय एवं यथाकर्मोपग ज्ञान भी अतीत आलम्बन वाले होते हैं, तथापि उनमें से चेत:पर्याय ज्ञान का आलम्बन सात दिनों के भीतर का चित्त ही होता है। वह न तो दूसरे स्कन्ध को जानता है, और न ही स्कन्ध से प्रतिबद्ध नाम, उपाधि आदि को। किन्तु क्योंकि यह मार्ग-

यथाकम्मूपगञाणस्स च अतीतचेतनामत्तमेव आरम्मणं। पुब्बेनिवासञाणस्स पन अतीता खन्धा खन्धपटिबद्धं च किञ्चि अनारम्मणं नाम नत्थि। तं हि अतीतक्खन्ध-खन्ध-पटिबद्धेसु धम्मेसु सब्बञ्ञुतञाणगतिकं होती ति अयं विसेसो वेदितब्बो। अयमेत्थ **अट्ठकथा**नयो।

यस्मा पन "**कुसला खन्धा इद्धिविधञाणस्स चेतोपरियञाणस्स पुब्बेनिवासानुस्सतिञाणस्स यथाकम्मूपगञाणस्स अनागतंसञाणस्स आरम्मणपच्चयेन पच्चयो**" (अभि० ७ : ११/१२४) ति **पट्ठाने** वुत्तं। तस्मा चत्तारो पि खन्धा चेतोपरियञाणयथाकम्मूपगञाणानं आरम्मणा होन्ति। तत्रा पि यथाकम्मूपगञाणस्स कुसलाकुसला एवा ति।

अत्तनो खन्धानुस्सरणकाले पनेतं अज्झत्तारम्मणं। परस्स सन्धानुस्सणकाले बहिद्धारम्मणं। "**अतीते विपस्सी भगवा अहोसि, तस्स माता बन्धुमती, पिता बन्धुमा**" (दी० नि० २/२६६) ति आदिना नयेन नामगोत्तपठवीनिमित्तादिअनुस्सरणकाले नवत्तब्बारम्मणं होति। नामगोत्तं ति चेत्थ खन्धूपनिबन्धो सम्मुतिसिद्धो ब्यञ्जनत्थो दट्ठब्बो, न ब्यञ्जनं। ब्यञ्जनं हि सद्दायतनसङ्गहितत्ता परित्तं होति। यथाह—"**निरुत्तिपटिसम्भिदा परित्तारम्मणा**" (अभि० २/३६३) ति। अयमेत्थ अम्हाकं खन्ति। एवं पुब्बेनिवासञाणस्स अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

७४. **दिब्बचक्खुञाणं** परित्त-पच्चुप्पन्न-अज्झत्त-बहिद्धारम्मणवसेन चतूसु

सम्प्रयुक्त चित्त को आलम्बन बनाता है, अत: औपचारिक रूप से उसे मार्ग को आलम्बन बनाने वाला कहा गया है। एवं यथाकर्मोपग ज्ञान का आलम्बन तो केवल अतीत चेतना ही होती है। किन्तु पूर्वनिवासज्ञान के लिये अतीतस्कन्ध या स्कन्ध-प्रतिबद्ध—कोई भी ऐसा नहीं है, जो आलम्बन न हो। वह अतीत के स्कन्धों एवं स्कन्धों से सम्बद्ध धर्मों में सर्वज्ञ-ज्ञान के समान गतिवाला होता है—यह विशेषता जाननी चाहिये। यह यहाँ **अट्ठकथा** का नय (बतलाया गया) है।

किन्तु क्योंकि **पट्ठान** में कहा गया है कि "कुशल स्कन्ध ऋद्धिविध ज्ञान के, चेत: पर्याय ज्ञान के एवं पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान के आलम्बन प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं" (अभि० ७:१/१२४); अत: चारों स्कन्ध चेत:पर्यायज्ञान एवं यथाकर्मोपग ज्ञान के आलम्बन होते हैं। एवं यहाँ भी, यथाकर्मोपग ज्ञान के (आलम्बन) कुशल एवं अकुशल (स्कन्ध) ही होते हैं।

स्वयं के स्कन्धों का अनुस्मरण करते समय यह अध्यात्म आलम्बन वाला होता है। दूसरे के स्कन्धों का अनुस्मरण करते समय बाह्य आलम्बन वाला। "अतीत में विपश्यी भगवान् हुए थे, उनकी माता बन्धुमती, पिता बन्धुमान् थे" (दी० नि० २/२६६)—आदि प्रकार से नाम, गोत्र, पृथ्वी, निमित्त आदि के अनुस्मरण के समय अवक्तव्य आलम्बन वाला होता है। एवं यहाँ नाम एवं गोत्र को शाब्दिक अर्थ के रूप में लिया जाना चाहिये, जो कि स्कन्धों से सम्बद्ध एवं लोकव्यवहार से सिद्ध है, शब्द (व्यञ्जन) के रूप में नहीं; क्योंकि शब्द तो शब्दायतन में सङ्गृहीत होने से परिमित होता है। जैसा कि कहा है—"निरुक्तिप्रतिसम्विदा परिमित आलम्बन वाली होती है" (अभि० २/३६३)। यहाँ, यह हमें स्वीकार है। यों पूर्वनिवासज्ञान की प्रवृत्ति आठ आलम्बनों में जाननी चाहिये।

७४. **दिव्यचक्षुर्ज्ञान** परिमित, प्रत्युत्पन्न अध्यात्म एवं बाह्य आलम्बन के अनुसार चार

आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि यस्मा रूपं आरम्मणं करोति, रूपं च परित्तं, तस्मा परित्तारम्मणं होति। विज्जमाने येव च रूपे पवत्तत्ता पच्चुप्पन्नारम्मणं। अत्तनो कुच्छिगतादिरूप-दस्सनकाले अज्झत्तारम्मणं। परस्स रूपदस्सनकाले बहिद्धारम्मणं ति एवं दिब्बचक्खुञाणस्स चतूसू आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

७५. **अनागतंसञाणं** परित्त-महग्गत-अप्पमाण-मग्ग-अनागत-अज्झत्त-बहिद्धा-नवत्तब्बारम्मणवसेन अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि "अयं अनागते कामावचरे निब्बत्तिस्सती" ति जाननकाले परित्तारम्मणं होति। "रूपावचरे अरूपावचरे वा निब्बत्तिस्सती" ति जाननकाले महग्गातारम्मणं। "मग्गं भावेस्सति, फलं सच्छिकरिस्सती" ति जाननकाले अप्पमाणारम्मणं। "मग्गं भावेस्सति"च्चेव जाननकाले मग्गारम्मणं। नियमतो पन तं अनागतारम्मणमेव।

तत्थ किञ्चापि चेतोपरियञाणं पि अनागतारम्मणं होति, अथ खो तस्स सत्त-दिवसब्भन्तरानागतं चित्तमेव आरम्मणं। तं हि अञ्ञं खन्धं वा खन्धपटिबद्धं वा न जानाति। अनागतंसञाणस्स पुब्बेनिवासञाणे वुत्तनयेन अनागते अनारम्मणं नाम नत्थि।

"अहं अमुत्र निब्बत्तिस्सामी" ति जाननकाले अज्झत्तारम्मणं। "असुको अमुत्र निब्बत्तिस्सती" ति जाननकाले बहिद्धारम्मणं। "**अनागते मेत्तेय्यो भगवा उप्पज्जिस्सति, सुब्रह्मा नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी माता**" (दी० नि० ३/६०) ति

आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे १. क्योंकि वह रूप को आलम्बन बनाता है एवं रूप परिमित है, अत: परिमित आलम्बन वाला होता है। एवं २. विद्यमान रूप में ही प्रवृत्त होने से प्रत्युत्पन्न आलम्बन वाला होता है। ३. अपने उदरस्थ (पदार्थ) आदि रूप को देखते समय अध्यात्म आलम्बन वाला होता है, और ४. दूसरे का रूप देखते समय बाह्य आलम्बन वाला। यों, दिव्यचक्षुर्ज्ञान की प्रवृत्ति चार आलम्बनों में जाननी चाहिये।

७५. **अनागत संज्ञान** की प्रवृत्ति परिमित, महद्गत, अप्रमाण, मार्ग, अनागत, अध्यात्म, बाह्य एवं अवक्तव्य आलम्बन के अनुसार आठ आलम्बनों में होती है। कैसे? वह 'यह भविष्य में कामावचर में उत्पन्न होगा'—यह जानते समय परिमित आलम्बन वाला होता है। 'रूपावचर या अरूपावचर में उत्पन्न होगा'—यह जानते समय महद्गत आलम्बन वाला होता है। 'मार्ग की भावना करेगा, फल का साक्षात्कार करेगा'—यह जानते समय अप्रमाण आलम्बन वाला। एवं, 'केवल मार्ग की भावना करेगा' जानते समय मार्गालम्बन वाला होता है। किन्तु वह समान रूप से अनागत को ही आलम्बन बनाने वाला होता है।

वहाँ यद्यपि चेत:पर्याय ज्ञान का आलम्बन भी अनागत होता है, तथापि उसका आलम्बन सात दिनों के भीतर वाला चित्त ही होता है। वह दूसरे स्कन्ध को या स्कन्ध से सम्बद्ध को नहीं जानता। पूर्वनिवासज्ञान (के प्रसङ्ग) में कहे गये के अनुसार ही, अनागत में ऐसा कुछ भी नहीं है जो अनागत संज्ञान का आलम्बन न हो।

'मैं वहाँ उत्पन्न होऊँगा'—यह जानते समय अध्यात्म आलम्बन वाला होता है। 'अमुक वहाँ उत्पन्न होगा'—यह जानते समय बाह्य आलम्बन वाला। "अनागत में मैत्रेय भगवान् उत्पन्न

आदिना पन नयेन नामगोत्तजाननकाले पुब्बेनिवासञाणे वुत्तनयेनेव नवत्तब्बारम्मणं होती ति एवमनागतंसञाणस्स अट्ठसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

७६. **यथाकम्मूपगञाणं** परित्त-महग्गत-अतीत-अज्झत्त-बहिद्धारम्मणवसेन पञ्चसु आरम्मणेसु पवत्तति। कथं? तं हि कामावचरकम्मजाननकाले परित्तारम्मणं होति। रूपावचरा-रूपावचरकम्मजाननकाले महग्गतारम्मणं। अतीतमेव जानाती ति अतीतारम्मणं। अत्तनो कम्मं जाननकाले अज्झत्तारम्मणं। परस्स कम्मं जाननकाले बहिद्धारम्मणं होति। एवं यथाकम्मूपग-ञाणस्स पञ्चसु आरम्मणेसु पवत्ति वेदितब्बा।

यं चेत्थ अज्झत्तारम्मणं चेव बहिद्धारम्मणं चा ति वुत्तं, तं कालेन अज्झत्तं कालेन बहिद्धा जाननकाले अज्झत्तबहिद्धारम्मणं पि होति येवा ति॥

इति साधुजनपामोज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्गे
अभिञ्ञानिद्देसो नाम तेरसमो परिच्छेदो॥

●●

होंगे, सुब्रह्मा नामक उनके ब्राह्मण पिता होंगे, ब्रह्मवती नाम की ब्राह्मणी माता" (दी० नि० ३/६०) आदि प्रकार से नामगोत्र को जानते समय, पूर्वनिवास ज्ञान में उक्त के अनुसार ही, अवक्तव्य आलम्बन वाला होता है। यों, अनागत संज्ञान की प्रवृत्ति आठ आलम्बनों में जाननी चाहिये।

७६. **यथाकर्मोपग ज्ञान** परिमित, महद्गत, अतीत, अध्यात्म, बाह्य आलम्बन के अनुसार पाँच आलम्बनों में प्रवृत्त होता है। कैसे? वह १. कामावचर (भूमि के) कर्म को जानते समय परिमित आलम्बन वाला होता है। २. रूपावचर एवं अरूपावचर कर्म को जानते समय महद्गत आलम्बन वाला। ३. अतीत को ही जानता है, अत: अतीत आलम्बन वाला है। ४. अपने कर्म को जानने योग्य अध्यात्म आलम्बन वाला एवं ५. दूसरे के कर्म को जानते समय बाह्य आलम्बन वाला होता है। यों, यथाकर्मोपग ज्ञान की प्रवृत्ति पाँच आलम्बनों में जानना चाहिये। एवं यहाँ जो 'अध्यात्म आलम्बन एवं बाह्य आलम्बन' कहा गया है, वह कभी आन्तरिक रूप से तो कभी बाह्य रूप से जानते समय अध्यात्म भी एवं बाह्य भी होता ही है॥

यों, साधुजनों के प्रमोदहेतु विरचित विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ में
अभिज्ञानिर्देश नामक त्रयोदश परिच्छेद समाप्त॥

●●